द्वैमासिक अप्रेल १९७१

अनेकान्त

वर्ष २४ : किरण १

ग्वालियर संग्रहालय में प्रदर्शित ग्वालियर किले से प्राप्त
मध्यकालीन तीर्थंकर प्रतिमा

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दे, अन्यथा वी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहको ने अपने पिछले २३ वे वर्ष का चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अब २३वें और २४वे दोनो वर्षों का १२ रुपया मनी आर्डर से अवश्य भिजवा दें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज

दिल्ली

★

पुस्तक प्रकाशकों से

जैन समाज मे अनेक सस्थाए जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही है। वीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी थीसिस के लिए योग्य सामग्री वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते है। विद्वानों को चाहिए कि वे उससे अधिक से अधिक लाभ उठावें। प्रकाशको को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतियाँ यहाँ भिजवा कर पुण्य लाभ ले।

व्यवस्थापक

वीर सेवामन्दिर, दरियागज

●

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २४ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | अप्रेल
वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० सं० २०२७ | १९७१

जिनवरस्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे ।
सहलत्तणेण मज्झे सव्वदिणाणं पि सेसाणं ॥११॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिणं तुज्झ मह महग्घतरं ।
सव्वाणं पि सिरीणं संकेयघरं व पडिहाइ ॥१२॥
—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर शेष सबही दिनों के मध्य में आज के दिन सफलता का पट्ट बांधा गया है । अभिप्राय यह है कि इतने दिनों में आज का यह मेरा दिन सफल हुआ है, क्योंकि, आज मुझे चिरसंचित पाप को नष्ट करने वाला आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ।

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर यह तुम्हारा महा-मूल्यवान घर (जिनमन्दिर) मुझे सभी लक्ष्मियों के संकेत गृह के समान प्रतिभासित होता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ आपका दर्शन करने पर मुझे सब प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होने वाली है ।

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दे, अन्यथा वी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पडेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३ वे वर्ष का चन्दा अभी तक भी नही भेजा है, वे अब २३वें और २४वे दोनो वर्षों का १२ रुपया मनी आर्डर से अवश्य भिजवा दे।

व्यवस्थापक **'अनेकान्त'**

वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज

दिल्ली

★

पुस्तक प्रकाशकों से

जैन समाज मे अनेक सस्थाए जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही है। वीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी थीसिस के लिए योग्य सामग्री वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते है। विद्वानों को चाहिए कि वे उससे अधिक से अधिक लाभ उठावे। प्रकाशकों को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतियाँ यहाँ भिजवा कर पुण्य लाभ ले।

व्यवस्थापक

वीर सेवामन्दिर, दरियागज

●

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४ किरण १	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० सं० २०२७	अप्रेल १९७१

जिनवरस्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिरणवर वज्झइ पट्टो दिरणम्मि अज्जयरणे ।
सहलत्तणेरण मज्झे सव्वदिरणारणं पि सेसाणं ॥११॥
दिट्ठे तुमम्मि जिरणवर भवरणमिणं तुज्झ मह महग्घतरं ।
सव्वाणं पि सिरोणं संकेयघरं व पडिहाइ ॥१२॥

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर शेष सबही दिनों के मध्य में आज के दिन सफलता का पट्ट बांधा गया है । अभिप्राय यह है कि इतने दिनों में आज का यह मेरा दिन सफल हुआ है, क्योंकि, आज मुझे चिरसंचित पाप को नष्ट करने वाला आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ।

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर यह तुम्हारा महा-मूल्यवान घर (जिनमन्दिर) मुझे सभी लक्ष्मियों के सकेत गृह के समान प्रतिभासित होता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ आपका दर्शन करने पर मुझे सब प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होने वाली है ।

डा० दरबारीलाल कोठिया

भारतीयदर्शन की एक अप्रतिम कृति अष्टसहस्री

आचार्य विद्यानन्द-रचित **'अष्टसहस्री'** जैनदर्शन की ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शन की एक अपूर्व, अद्वितीय और उच्चकोटि की व्याख्या-कृति है। भारतीय दर्शन-वाङ्मय मे जो विशेष उल्लेखनीय उपलब्ध रचनाए है उनमे यह निःसन्देह बेजोड़ है। विषय, भाषा और शैली तीनो से यह अपनी साहित्यिक गरिमा और स्वस्थ, प्रसन्न तथा गम्भीर विचारधारा को विद्वन्मानस पर अंकित करती है। सम्भवतः इसी से यह अतीत मे विद्वद्-ग्राह्य और उपास्य रही है तथा आज भी निष्पक्ष मनीषियों द्वारा अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। यहा पर हम उसी का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

मूलग्रन्थ : देवागम—

यह जिस महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थ की व्याख्या है वह विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शताब्दी के महान् प्रभावक दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित **'देवागम'** है। इसी का दूसरा नाम **'आप्तमीमांसा'** है। अतः यह **'भक्तामर'**, **'कल्याणमन्दिर'** आदि स्तोत्रों की तरह 'देवागम' पद से[1] प्रारम्भ होता है, अतः यह **'देवागम'** कहा जाता है और अकलङ्क[2], विद्यानन्द[3], वादिराज[4], हस्तिमल्ल[5] आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। और **'आप्तमीमांसा'** नाम स्वयं समन्तभद्र ने[6] ग्रन्थान्त मे दिया है, इससे यह **'आप्तमीमांसा'** नाम से भी विख्यात है। विद्यानन्द ने[7] इस नाम का भी अपने ग्रन्थों मे उपयोग किया है। इस तरह यह कृति जैन साहित्य मे दोनो नामो से विश्रुत है।

इसमे आचार्य समन्तभद्र ने आप्त (स्तुत्य) कौन हो सकता है, उसमे आप्तत्व के लिए अनिवार्य गुण (असाधारण विशेषताए) क्या होना चाहिए, इसकी युक्ति पुरस्सर मीमासा (परीक्षा) की है और यह सिद्ध किया है[8] कि पूर्ण निर्दोषता, सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधिवक्तृता ये तीन गुण आप्तत्व के लिए नितान्त वांछनीय और अनिवार्य है। अन्य वैभव शोभामात्र है। अन्ततः ऐसा आप्तत्व उन्होने वीर-जिन में उपलब्ध कर उनकी स्तुति की तथा अन्यो (एकान्तवादियों) के उपदेशो—एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उनके उपदेश — स्याद्वाद की स्थापना की है[9]।

इसे हम जब उस युग के सन्दर्भ मे देखते हैं तो प्रतीत होता है कि वह युग ही इस प्रकार का था। इस काल में प्रत्येक सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हमें अन्य देव तथा उसके मत की आलोचना और अपने इष्ट देव तथा उसके उपदेश की

१. 'देवागम-नभोयान...'—देवागम का० १।
२. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'
—अष्टश० प्रार० प० २।
३. 'इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे...'
—अष्टस० पृ० २९४।
४. 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।'
—पार्श्वनाथचरित।
५. 'देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।'
—विक्रान्तकौरव।
६. 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।'
—देवा० का० ११४।
७. अष्टस० पृ० १, मङ्गलपद्य, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२।
८. दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
—देवागम का० ४, ५, ६।
९. '...इति स्याद्वाद-संस्थितिः॥'—देवागम का. ११३।

सिद्धि करता हुआ मिलता है। बौद्धदर्शन के पिता कहे जाने वाले आ० दिग्नाग ने भी ग्रन्थ के इष्टदेव तथा उनके उपदेश (क्षणिकवाद) की स्थापना करते हुए **'प्रमाणसमुच्चय'** मे बुद्ध की स्तुति की है। इसी **'प्रमाणसमुच्चय'** के समर्थन मे धर्मकीर्ति ने **'प्रमाणवार्तिक'** और प्रज्ञाकर ने **'प्रमाणवार्तिकालंकार'** नाम की व्याख्याएं लिखी हैं। आश्चर्य नहीं कि समन्तभद्र ने ऐसी ही स्थिति में प्रस्तुत **'देवागम'** की रचना की है और उस पर अकलङ्क देव ने धर्मकीर्ति की तरह **'देवागमभाष्य'** (अष्टशती) तथा विद्यानन्द ने प्रज्ञाकर की भाँति **'देवागमालङ्कार'** (प्रस्तुत अष्टसहस्री) रचा है। **'देवागम'** एक स्तव ही है, जिसे अकलङ्क ने स्पष्ट शब्दों मे **'भगवत्स्तव'** कहा है।[1] इस प्रकार **'देवागम'** कितनी महत्त्व की रचना है, यह सहज में अवगत हो जाता है।

यथार्थ मे यह इतना अर्थगर्भ और प्रभावक ग्रन्थ है कि उत्तरकाल मे इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य व्याख्या-टिप्पण आदि लिखे है। अकलङ्कदेव की अष्टशती, विद्यानन्द की अष्टसहस्री और वसुनन्दि की देवागमवृत्ति इन तीन उपलब्ध टीकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्याए और लिखी गयी हैं, जो आज अनुपलब्ध है और जिनके सकेत मिलते हैं।[2] देवागम की महिमा को प्रदर्शित करते हुए आ० वादिराज ने[3] उसे सर्वज्ञ का प्रदर्शक और हस्तिमल्ल ने[4] सम्यग्दर्शन का समुत्पादक बतलाया है।

इसमें दश परिच्छेद हैं[5], जो विषय-विभाजन की दृष्टि से स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अभिहित हैं। वह स्तवरूप रचना होते हुए भी दार्शनिक कृति है। उस काल में दार्शनिक रचनाएं प्राय: पद्यात्मक तथा इष्टदेव की गुण-स्तुति रूप में रची जाती थी, बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और विग्रहव्यावर्तनी, वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (विंशतिका व त्रिंशत्का), दिग्नाग का प्रमाण समुच्चय आदि रचनाएं इसी प्रकार की दार्शनिक हैं और पद्यात्मक शैली में रची गयी हैं। समन्तभद्र ने स्वयं अपनी (देवागम, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन) तीनों दार्शनिक रचनाएं कारिकात्मक और स्तुतिरूप में ही रची हैं।

प्रस्तुत देवागम में भावैकान्त-अभावैकान्त, द्वैतैकान्त-अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त-अनित्यैकान्त, अन्यतैकान्त-अनन्य-

---

1. '...स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—अष्टश० मंग० प० २।
2. विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० २९४) के अन्त में अकलङ्क देव के समाप्ति-मङ्गल से पूर्व **'केचित्'** शब्दों के साथ 'देवागम' के किसी व्याख्याकार की व्याख्या का **'जयति जगति'** आदि समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। और उसके बाद ही अकलङ्क देव की अष्टशती का समाप्ति-मङ्गल निबद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्क से पूर्व भी 'देवागम' पर किसी आचार्य की व्याख्या रही है, जो विद्यानन्द को प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसी पर से उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। लघु समन्तभद्र (वि० सं० १३वीं शती) ने आ० वादीभसिंह द्वारा 'आप्तमीमांसा' के उपलालन (व्याख्यान) किये जाने का उल्लेख अपने 'अष्टसहस्री टिप्पण' (पृ० १) में किया है। उनके इस उल्लेख से किसी अन्य देवागम-व्याख्या के भी होने की सूचना मिलती है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। अकलङ्कदेव ने अष्टशती (का० ३३ विवृति) में एक स्थान पर **'पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति'** वाक्य का प्रयोग किया है, जो देवागम के पाठ-भेदों और उसकी अनेक व्याख्याओं का स्पष्ट संकेत करता है। 'देवागम के महत्त्व, गाम्भीर्य और विश्रुति को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालों में अनेक टीका टिप्पणादि लिखे गये हों।
3. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्। देवागमेनसर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।—पा० च०।
4. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।—वि० कौ०।
5. विद्यानन्द ने अकलङ्क के **'स्वोक्तपरिच्छेदे'** (अ० श० का० ११४) शब्दों का अर्थ **"स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति (शास्त्रं) तत्र"** (अ० स० पृ० २९४) यह किया है। उससे विदित है कि देवागम में दश परिच्छेद स्वयं समन्तभद्रोक्त हैं।

तैकान्त, अपेक्षैकान्त-अनपेक्षैकान्त, हेत्वैकान्त-अहेत्वैकान्त, विज्ञानैकान्त - बहिरर्थैकान्त, दैवैकान्त - पौरुषेयैकान्त, पापैकान्त - पुण्यैकान्त, बन्धकारणैकान्त - मोक्षकारणैकान्त जैसे एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उनमें सप्तभंगी (सप्त-कोटियों की योजना द्वारा स्याद्वाद (कथंचिद्वाद) की स्थापना की गई है। स्याद्वाद की इतनी स्पष्ट और विस्तृत विवेचना इससे पूर्व जैन दर्शन के किसी ग्रथ में उपलब्ध नही होती।[1] सम्भवतः इसी से 'देवागम' स्याद्वाद की सहेतुक स्थापना करने वाला एक अपूर्व एवं प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है और उसके स्रष्टा आचार्य समन्तभद्र को 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'[2] कहा जाता है। व्याख्याकारों ने इसपर अपनी व्याख्याएँ लिखना गौरव समझा और अपने को भाग्यशाली माना है।

व्याख्याएँ

इस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी है, जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आए है। पर आज तीन ही उपलब्ध हैं और वे निम्नप्रकार है:—

१. देवागमविवृति (अष्टशती), २. देवागमालंकार (अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागमविवृति

इसके रचयिता आ० अकलंकदेव हैं। यह उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदों के अन्त में जो समाप्ति पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं उनमे इसका नाम 'आप्त-मीमांसा-भाष्य' (देवागम-भाष्य) भी उपलब्ध होता है।[3] विद्यानद ने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेद के आरम्भ में जो ग्रन्थ-प्रशंसा में पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।[4] सम्भवतः आठ सौ श्लोक प्रमाण रचना होने से इसे उन्होने 'अष्टशती' कहा है। इस प्रकार यह व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसाभाष्य और अष्टशती इन तीन नामों से जैन वाङ्मय में विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानों का उसमे प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को अवगत करने के लिए अष्टसहस्री का सहारा लेना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन-साहित्य में इसके जोड़ की रचना मिलना दुर्लभ है। न्याय-मनीषी उदयन की न्याय कुसुमांजलि से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है। अष्टसहस्री के अध्ययन मे जिस प्रकार कष्टसहस्री का अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशती के एक-एक स्थल को समझने मे भी कष्टशती का अनुभव उसके अभ्यासी को होता है।

२. देवागमालंकार

यह दूसरी व्याख्या ही इस निबन्ध का विषय है। इस पर हम आगे प्रकाश डाल रहे है।

३. देवागम-वृत्ति

यह लघु परिमाण की व्याख्या है। इसके कर्त्ता आ० वसुनन्दि है। यह न अष्टशती की तरह दुरवगम है और न अष्टसहस्री के समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओं का व्याख्यान भी लम्बा नही है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्यों का अर्थ तथा कही-कहीं फलितार्थ अतिसक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओं के हार्द को समझने में यह वृत्ति देवागम के प्राथमिक अभ्यासियों के लिए अत्यन्त उपकारक एव विशेष उपयोगी है। वृत्तिकार ने अपनी इस वृत्ति के अन्त मे लिखा है[5] कि 'मै मन्द बुद्धि

---

१. 'षट्खण्डागम' में 'सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता' (ध० पु० १ पृ) जैसे स्थलों में स्याद्वाद का स्पष्टतया विधि और निषेध इन दो ही वचन प्रकारों प्रतिपादन पाया जाता है। आ० कुन्दकुन्द ने इन दो में पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचन प्रकारों से वस्तु-निरूपण का निर्देश किया है। पर उसका विवरण एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया। (पंचास्ति गा० १४)।

२. विद्यानन्द, अष्टस० पृ० २९५।

३. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ०॥१०॥'

४. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि सक्षेपात्।
विलसद कलंकधिषणैः प्रपंचनिचितावबोद्धव्या॥
सष्टस० पृ० १७८।

५. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य............देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'—देवागमवृत्ति पृ० ५०, स० जैन ग्रन्थमाला, काशी।

और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकार के लिए ही 'देवागम' कृति का यह सक्षेप मे विवरण किया है।' उनके इस स्पष्ट आत्म-निवेदन से इस वृत्ति की लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि श्लोक को विद्यानन्द के निर्देशानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्य की देवागम-व्याख्या का समाप्ति-मङ्गलपद्य जानते हुए भी उन्होने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका भी विवरण किया? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन काल मे साधुओ मे देवागम का पाठ करने तथा उसे कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। जैसा कि पात्रकेशरी (पात्रस्वामी) की कथा में निर्दिष्ट चारित्रभूषण मुनि को उसके कण्ठस्थ होने और अहिच्छत्र के श्री पार्श्वनाथ मन्दिर मे रोज पाठ करने का उल्लेख है। वसुनन्दि ने देवागम की ऐसी प्रतिपर से उसे कण्ठस्थ कर रखा होगा, जिस मे ११४ कारिकाओं के साथ उक्त अज्ञात देवागम व्याख्या का समाप्ति मङ्गल पद्य भी किसी के द्वारा सम्मिलित कर दिया गया होगा और उस पर ११५ का संख्याङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दि ने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओ पर से जानकारी एव खोज बीन किये विना देवागम का अर्थ हृदयगम रखने के लिए यह देवागमवृत्ति लिखी होगी और उस मे कण्ठस्थ सभी ११५ कारिकाओं का विवरण लिखा होगा। और इस तरह ११५ कारिकाओं की वृत्ति प्रचलित हो गयी जान पड़ती है।

यह वृत्ति एक बार सन् १९१४, वी० नि० स०२४४० में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी से सनातन जैन ग्रन्थ माला के अन्तर्गत ग्रन्थाङ्क ७ के रूप मे तथा दूसरी बार निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। पर अब वह अलभ्य है। इसका पुन: अच्छे संस्करण के रूप में मुद्रण अपेक्षित है।

देवागमालंकारः अष्टसहस्री

अब हम अपने मूल विषय पर आते हैं। पीछे हम यह निर्देश कर आए है कि आ० विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री' देवागम की दूसरी उपलब्ध व्याख्या है। देवागम का अलंकरण (व्याख्यान) होने से यह देवागमालकार या देवागमलकृति तथा आप्तमीमासालकार या आप्तमीमासालकृति नामो से भी उल्लिखित है[1] और ये दोनो नाम अन्वर्थ हैं। 'अष्ट सहस्री' नाम भी आठ हजार श्लोक प्रमाण होने से सार्थक है। पर इसकी जिस नाम से विद्वानों में अधिक विश्रुति है और जानी-पहचानी जाती है वह नाम 'अष्टसहस्री' ही है: उपर्युक्त दोनों नामों की तरह 'अष्टसहस्री' नाम भी स्वयं विद्यानन्द प्रदत्त है।[2] मुद्रित प्रति[3] के अनुसार उसके दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवे, आठवे और दशवे परिच्छेदो के आरम्भ मे तथा दशवे के अन्त मे जो अपनी व्याख्या-प्रशंसा मे एक-एक पद्य विद्यानन्द ने दिए हैं उन सब मे 'अष्टसहस्री' नाम उपलब्ध है। नववें परिच्छेद के आदि में जो प्रशसा-पद्य है उसमें भी 'अष्टसहस्री' नाम अध्याहृत है[4] क्योंकि वहाँ 'सम्पादयति' क्रिया तो है, पर उसका कर्ता कण्ठत: उक्त नहीं है, जो अष्टसहस्री के सिवाय अन्य सम्भव नही है।

रचना शैली और विषय-विवेचन

इसकी रचना-शैली बडी गम्भीर और प्रसन्न है। भाषा परिमार्जित और संयत है। व्याख्येय के अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए जितनी पदावली की आवश्यकता है उतनी ही पदावली प्रयुक्त की गई है। वाचक जब इसे पढ़ता है तो एक अविच्छिन्न और अविरल गति से प्रवाहपूर्ण धारा उसे उपलब्ध होती है जिसमें वह अवगाहन कर आनन्द-विभोर हो उठता है। समन्तभद्र और अकलंक के एक-एक पद का मर्म तो स्पष्ट होता ही जाता है

१. आप्तपरीक्षा वृ. २३३, २६२; अष्टस. पृ. १ मङ्गल पद्य तथा परिच्छेदान्त में पाये जाने वाले समाप्ति पुष्पिकावाक्य।
२. 'जीयादष्टसहस्री...' (अष्ट. पृ. २१३), 'साष्टसहस्री सदा जयतु।' (अष्ट. २३१)।
३. १४५४ वि. सं. की लिखी पाटन-प्रति में ये प्रशंसा-पद्य परिच्छेदों के अन्त में हैं।
४. सम्यगवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्। दैवोपेतमभीष्टं सर्वं सम्पादयत्याशु ॥—अष्टस. पृ. २५९।

उसे कितना ही नव्य, भव्य और सम्बद्ध चिन्तन भी मिलता है। विद्यानन्द ने इसमें देवागम की कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादि का विस्तार पूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ में अकलंकदेव की उपर्युक्त 'अष्टशती' के प्रत्येक स्थल की और पद-वाक्यादि का भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में इस तरह आत्मसात् कर लिया है कि यदि दोनो को भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपों (शीषाक्षरों) में न रखा जाय और 'अष्टशती' का टाइप बड़ा न हो तो पाठक को यह भेद करना दुस्साध्य है कि यह 'अष्टशती' का अंश है और यह 'अष्टसहस्री' का। विद्यानन्द ने 'अष्टशती' के आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं प्रकृतोपयोगी सान्दर्भिक वाक्य रचना करके 'अष्टशती' को अष्टसहस्री में मणि-प्रवालन्याय से अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह 'अष्टसहस्री' न लिखते तो अष्टशती का गूढ़ रहस्य उसी में ही छिपा रहता और मेधावियों के लिए वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। इसकी रचना शैली को विद्यानन्द ने स्वय '**जियादष्टसहस्री... प्रसन्न-गम्भीर-पदपदवी**' (अष्टस० पृ० २१३) शब्दो द्वारा प्रसन्न और गम्भीर पदावली युक्त बतलाया है।

इसमें व्याख्येय देवागम का और अष्टशती प्रतिपाद्य विषयों का विषदतया विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विद्यानन्द के काल तक विकसित दार्शनिक प्रमेयों और अपूर्व चर्चाओं को भी इसमे समाहित किया गया है। उदाहरणार्थ नियोग, भावना और विधि वाक्यार्थ की चर्चा[1], जिसे प्रभाकर और कुमारिल मीमांसक विद्वानों तथा मण्डनमिश्र आदि वेदान्त दार्शनिकों ने जन्म दिया है और जिसकी बौद्ध मनीषी प्रज्ञाकर ने सामान्य आलोचना की है, जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम विद्यानन्द ने ही इसमें प्रस्तुत की एवं विस्तृत विशेष समीक्षा की है। इसी तरह विरोध[2], वैयधिकरण्य आदि आठ दोषों की अनेकान्तवाद में उद्भावना और उसका समाधान दोनों हमें सर्वप्रथम इस 'अष्टसहस्री' में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार अष्टसहस्री में विद्यानन्द ने कितना ही नया चिन्तन और विषय-विवेचन समाविष्ट किया।

महत्व एवं गरिमा

इसका सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करने पर अध्येता को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अतीव महत्त्व-पूर्ण और गरिमामय है। विद्यानन्द ने इस व्याख्या के महत्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः।
विज्ञायते यथैव स्वसमय-परसमयसद्भावः[3] ॥

'हजार शास्त्रों का पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एक मात्र इस कृति का अध्ययन एक ओर है, क्योंकि इस एक के अभ्यास से ही स्वसमय और परसमय दानों का विज्ञान हो जाता है।'

व्याख्याकार की यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वय इसकी यह निर्णायिका है। और '**हाथ कंगन को आरसी क्या**' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। हमने इसका गुरुमुख से अध्ययन करने के उपरान्त अनेक बार इसे पढ़ा और पढ़ाया है। इसमे वस्तुतः वही पाया जो विद्यानन्द ने उक्त पद्य में व्यक्त किया है।

दो स्थलों पर इसका जयकार करते हुए विद्यानन्द ने जो पद्य दिये है उन से भी अष्टसहस्री की गरिमा स्पष्ट प्रकट होती है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

(क) **जीयादष्टसहस्रीदेवागमसंगतार्थमकलङ्कम्** ।

---

१. भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ॥
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा।
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ।
—अष्टस. पृ. ५-३५।

२. 'इति किं नश्चिन्तया, विरोधादिदूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात्।...ततो न वैयधिकरण्यम्। एतेनोभयदोष प्रसङ्गोऽप्यपास्तः,...एतेन सशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः,...तत एव न संकर प्रसङ्गः,...एतेन व्यतिकर प्रसङ्गोव्युदस्तः,...तत एव नानवस्था...।'—अष्टस. पृ. २०४-२०७।

३. अष्टस. पृ. १५७।

गमयन्ती सन्नयत: प्रसन्न-गम्भीर-पदपदवी ।।[1]

(ख) स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसाम-समम् । दर्शित-समन्तभद्र साष्टसहस्री सदा जयतु ।।[2]

प्रथम पद्य में कहा गया है कि प्रसन्न और गम्भीर पदों की पदवी (उच्च स्थान अथवा शैली) को प्राप्त यह अष्टसहस्री जयवन्त रहे—चिरकाल तक मनीषिगण इसका अध्ययन-मनन करें, जिसकी विशेषता यह है कि वह देवागम मे सम्यक रीत्या प्रतिपादित और अकलङ्क समर्थित अर्थ को सन्नयों (सप्तभङ्गो) से अवगत कराती है ।

दूसरे पद्य में प्रतिपादित है कि जो पटुबुद्धियों-प्रतिभाशालियों के लिए अकलङ्कदेव के विषय—दुरूह पदों का, जिनमें स्वामी समन्तभद्र का हार्द अभिप्राय प्रदर्शित है, अर्थोद्घाटन स्पष्टतया करती है वह अष्टसहस्री सदा विजयी रहे ।

परिच्छेदों के अन्त मे पाये जाने वाले पद्यों मे विद्यानन्द ने उस परिच्छेद मे प्रतिपादित विषय का जो निचोड दिया है उससे भी व्याख्या की गरिमा का आभास मिल जाता है । एकान्तवादों की समीक्षा और पूर्व पक्षियों की आशंकाओं का समाधान इसमे जिस शालीनता एवं गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है प्राय: उत्तरदाता अशकाओं का उत्तर देते समय सन्तुलन खो देता है और पूर्व पक्षी को 'पशु', 'जड', 'अश्लील' जैसे मानसिक चोट पहुँचाने वाले अप्रिय शब्दों का भी प्रयोग कर जाता है । जैसा कि दर्शन-ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है । पर 'अष्टसहस्री' में आरम्भ से अन्त तक शालीनता दृष्टिगोचर होती है और कहीं भी असन्तुलन नहीं मिलता । और न उक्त प्रकार के कठोर शब्द । एक स्थल पर सर्व पदार्थों को 'मायोपम', 'स्वप्नोपम' मानने वाले सौगत को अकलङ्कदेव की तरह विद्यानन्द ने मात्र 'प्रमादी' और 'प्रज्ञापराधी' कहा है[3] इन दोनों शब्दों के प्रयोग में कितनी सौम्यता, सन्तुलन और सद्भावता निहित है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है । इन सब बातों से 'अष्टसहस्री' की गरिमा निश्चय ही विदित हो जाती है ।

इस पर लघु समन्तभद्र (१३वीं शती) का एक 'अष्टसहस्री विषमपद-तात्पर्य टीका' नामक टिप्पण और दूसरी श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वीं शती) की 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' सञ्ज्ञक व्याख्या उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं । इसका प्रकाशन सन् १७१५. वी. नि. सं. २४४१ में अाकलूज निवासी सेठ श्री नाथारंग जी गांधी द्वारा एक बार हुआ था । अब वह संस्करण अप्राप्य है । दूसरा नया संस्करण आधुनिक सम्पादनादि के साथ प्रकाशनार्ह है । हम इसका सम्पादनादि कर रहे है । और भारतीय ज्ञानपीठ से उसका प्रकाशन होगा ।

इसके रचयिता

हम आरम्भ में ही निर्देश कर आये हैं कि इस महनीय कृति की रचना जिस महान् आचार्य ने की वे तार्किक शिरोमणि विद्यानन्द हैं । ये भारतीय दर्शन विशेषत: जैन दर्शनाकाश के दैदीप्य मान सूर्य हैं, जिन्हें सभी भारतीय दर्शनों का तल स्पर्शी अनुगम था, यह उनके उपलब्ध ग्रन्थोंसे स्पष्ट अवगत होता है । इन का अस्तित्व-समय हम ने ई. ७७५ से ८४० ई. निर्धारित किया है ।[4] इन के और इनकी कृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार अन्यत्र किया गया है ।[5]

---

१. वही, पृ. २१३ ।

२. वही, पृ. २३१ ।

३. अष्टस० पृ० ११६ ।

४. आप्तप० प्रस्ता० पृ. ५३, वीरसेवा मन्दिर, दरिया-गंज, दिल्ली—६ ।

५. वही, प्रस्ता० पृ. ७—५४ ।

मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी

जैन शिल्प में बाहुबली

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पुत्र बाहुबली की महान व कठोर तपश्चर्या ने ही श्वेतांबरों और दिगंबरों को मंदिरों में बाहुबली के पूजन के लिए प्रेरित किया। उनके महान तपस्वी होने के कारण ही जैन शिल्प के विभिन्न माध्यमों में उनको तपस्या में लीन और लतावल्लरियों से वेष्टित कायोत्सर्ग मुद्रा में व्यक्त किया गया। यह सर्वथा स्वीकार्य तथ्य है कि बाहुबली दिगंबरों के मध्य विशेष प्रचलित हुए और उसमे भी विशेष कर दक्षिण भारत मे। श्वेतांबरों के मध्य उनके विशेष प्रचलित न होने का कारण उनका नग्न रूप मे अंकित किया जाना है। उत्तर भारत से बाहुबली की कुछ सीमित प्रतिमाएं ही प्राप्त होती है, जब कि परवर्ती मंदिरों से बाहुबली चित्रण के उदाहरण अनेकश: प्राप्त होते हैं। बाहुबली की मूर्तियों के अध्ययन के प्रारंभ के पूर्व ग्रंथो मे उनसे संबंधित प्राप्त उल्लेखों का संक्षिप्त अध्ययन अधिक समीचीन होगा, क्योंकि उन्ही कथानकों के आधार पर बाहुबली को विभिन्न युगो मे व्यक्त किया गया।

आदिनाथ और सुनन्दा के पुत्र बाहुबली के सौतेले अग्रज भरत चक्रवर्ती ही पिता के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी नियुक्त हुए, जो विनीता से शासन करता था। बाहुबली की राजधानी बहली देश मे स्थित तक्षशिला थी। दिगंबर परंपरा में बाहुबली को पोडनस या पोडनपुर का शासक बताया गया है। अनेक शासकों पर विजय प्राप्ति के उपरान्त भरत ने अपने समस्त ९९ भ्राताओं से उसके प्रति आदर व्यक्त करने की मांग की। बाहुबली के अतिरिक्त सभी भ्राता पहले ही संसार का परित्यागकर जैनधर्म की दीक्षा ले चुके थे। बाहुबली ने भरत की सत्ता स्वीकार करने से इनकार कर दिया, जिस पर क्रुद्ध होकर भरत अपनी विशाल सेना सहित बाहुबली के साम्राज्य की ओर चल पड़ा। किन्तु अनेक निरपराध व्यक्तियों के वध को रोकने की दृष्टि से दोनों ने द्वन्द्व युद्ध करने का निश्चय किया। अन्तत: जब बाहुबली की विजय निश्चित सी हो गई थी, उनके मस्तिष्क में संसार की सत्ता और साम्राज्य की निरर्थकता की बात कौंधी। फलत: बाहुबली ने उसी स्थल पर अपने केशों को लोंचकर जैन दीक्षा ले ली। स्वयं भरत को भी अपनी भूल का अहसास हुआ और वह अपनी सेना सहित राजधानी लौट आया। उधर बाहुबली ने कठोर तपस्या प्रारंभ कर दी। कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े बाहुबली ठंड, उष्ण, वर्षा, वायु और बिजली की कड़क आदि से जरा भी विचलित नही हुए। हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठिशलाका पुरुष-चरित्र में बाहुबली की तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा है, कि उनका संपूर्ण शरीर लतावल्लरियो से घिर गया था, जिसमे विभिन्न पक्षियों ने अपने घोसले बना लिये थे। उनके चरण वर्षा के कीचड़ मे धस गये थे। सर्प उनके शरीर से इस प्रकार लटक रहे थे, जो उनके हजार भुजाओं वाले होने का आभास देते थे। वल्मीक (ant hills) से ऊपर उठते सर्प चरण के समीप नुपुर की तरह बंधे थे। इस प्रकार की कठोर तपस्या के एक वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी बाहुबली को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, जिसका कारण उनका गर्व था, जो एक प्रकार का मोहनीय कर्म था। तदुपरान्त आदिनाथ ने अपनी दो पुत्रियों, ब्राह्मी व सुन्दरी, को बाहुबली के पास इस तथ्य से अवगत कराने के लिए भेजा। अपनी भूल अनुभव करने और दर्प से मुक्त हो जाने पर बाहुबली को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। प्रारम्भिक दिगंबर ग्रन्थों में ब्राह्मी व सुन्दरी के आगमन का उल्लेख अनुपलब्ध है। इन ग्रंथों में वर्णित है कि दर्प और संक्लेश के कारण बाहुबली केवलज्ञान से वंचित थे, और उनको केवलज्ञान तभी प्राप्त हुआ, जब वे वर्ष के अंत में साधु की उपासना को पहुँचे। आदिपुराण में भी बाहुबली की तपश्चर्या का विस्तृत उल्लेख प्राप्त

होता है।

बाहुबली को इस अवसर्पिणी का प्रथम कामदेव भी बताया गया है। आदिपुराण में बाहुबली को हरे रंग व हरिवंशपुराण में श्याम रंग का बताया गया है। बाहुबली को अन्य कई नामो—गोम्मटेश्वर, भुजबली, डोरबली, कुक्कुटेश्वर आदि से भी संबोधित किया गया है। दक्षिण भारत मे बाहुबली की प्रारम्भिक मूर्तियां अयहोल, बादामी व एलोरा की जैन गुफाओं मे देखी जा सकती है। पश्चिम भारत में परिवर्ती गुफाओ मांगीतुंगी और अनकाइ तनन्काई, मे भी बाहुबली की प्रतिमाये उत्कीर्ण है।

अयहोल की जैन गुफा मे बाहुबली की कायोत्सर्ग मुद्रा में खडी एक नग्न प्रतिमा अवस्थित है,[1] जिसमे लता-वल्लरियों को बाहुबली की भुजाओं व पैरों में लिपटा हुआ प्रदर्शित किया गया है। साथ ही पैरों के समीप अंकित वल्मीक से सर्पों को अपना फण उठाते चित्रित किया गया है। मुख्य आकृति के दोनों पार्श्वों में ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियां चित्रित हैं, जो राजकुमारियों के परिधानो, मुकुटों व आभूषणों से सुसज्जित है। इस चित्रण के सम्पूर्ण ऊपरी भाग मे वृक्षों और उड्डायमान गन्धर्व आकृतियां प्रदर्शित है, जो वास्तव में बाहुबली की उपासना करते हुए से प्रतीत होते है। बाहुबली की जटा के रूप में उत्कीर्ण केश लटो के रूप मे स्कन्धों तक लटक रहे है। देवता की मुखाकृति कुछ अण्डाकार है, और नेत्र ध्यान की मुद्रा में आधे खुले व आधे बन्द है। पैरो के ऊपर के भाग का मण्डन उत्कृष्ट है। देवता के स्कन्ध कुछ घुमावदार है। सभी आकृतियो की निर्मिती कठोर है इस उभड़े हुए चित्रण को छठी-सातवी शती के मध्य तिथ्यांकित किया गया है। बादामी की जैन गुफा नं० ३ के बाद की प्रतीत होती है, जिसमे ५७३ ईसवी में तिथ्यांकित मगलेश का लेख उत्कीर्ण है। बाहुबली का चित्रण करने वाले फलक[2] मे देवता की केश रचना अयहोल प्रतिमा के समान है, किन्तु निर्मिती मे यह उससे श्रेष्ठ है। अयहोल का चित्रण बादामी के कुछ पूर्व प्रतीत होता है। एलोरा की जैन गुफाओ जिनकी तिथि ८वीं से १०वी शती के मध्य निर्धारित की गयी है, में बाहुबली के कई अंकन देखे जा सकते है।[3] अंतिम जैन गुफा मे उत्कीर्ण एक विशाल चित्रण मे बाहुबली के दोनों पार्श्वों मे ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियां सनाल कमलों पर अवस्थित है। बाहुबली की आकृति के समक्ष, अर्थात् कमलासन के नीचे, दो हरिणों को चित्रित किया गया है, जो शान्तिपूर्ण वातावरण का बोध कराते है। बाहुबली के मस्तक पर एक छत्र उत्कीर्ण है। ऊपरी भाग मे पूजन के लिए आती हुई उड्डायमान गन्धर्व आकृतियो को मूर्तिगत किया गया है। साथ ही राजसी वस्त्रों व मुकुट से युक्त भरत की आकृति को समीप ही हाथ जोड़े दाहिनी ओर अंकित किया गया है। ब्राह्मी व सुन्दरी की उपस्थिति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही उल्लेख मिलता है, जब कि प्रारम्भिक दिगम्बर ग्रन्थो में पूजन करते हुए भरत के चित्रित किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

तिन्नेवेल्ली जिले के कालुमलाई गुफा में बाहुबली की ध्यान मुद्रा में खडी मूर्ति उत्कीर्ण है,[4] जिनके दोनों पार्श्वो में ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियां अवस्थित है। इसे ९वीं सदी में निर्मित बताया गया है। इस प्रकार का चित्रण किल कुड्डी, उत्तमन्नमलाई पहाडी मदुरा जिला और मदुरा जिले के ही समनर कोयिल और अन्नमलाई से भी प्राप्त होते है बाहुबली की एक कांस्य प्रतिमा (१०×"३×" ३") कन्नड रिचर्स इन्सटीट्यूट म्यूजिम, धारवाड (न० एम ७८) मे सगृहीत है।[5] एक वृत्ताकार पीठिका पर निर्वस्त्र बाहुबली को सीधा खडा प्रदर्शित किया गया है।

---

1. Shah, U.P., Bahubali : A Unique Bronze in the Museum, Bull. Prince of Wales Museum of Western India, No. 4, 1953-54, p 34.
2. Loc Cit.
3. Shah, U.P., op. Cit., p. 35; Goswami, A., Indian Temple Sculpture, Calcutta, 1956, p. 37.
4. Shah, U.P., op. Cit., pp. 34-35.
5. Annigeri, A M. A Guide to the Kannada Researeh Institute, Museum, Dharwar, 1958, p. 30.

माधवी वल्लरी उनके पैरों और हाथों में स्कन्धों तक लिपटी हैं। देवता का ध्यान निमग्न अंकन चित्ताकर्षक है। काफी कुछ भग्न मस्तक पर सभवतः घुमावदार केश रचना प्रदर्शित थी।

प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम, बबई में स्थित २०" ऊंची एक कांस्य मूर्ति मे[7] बाहुबली को मण्डल पर खड़ा चित्रित किया गया है। उसके पैरो, भुजाओं व जघो में डंठलों व पत्तियों से युक्त लतावल्लरियां लिपटी है। नियमित पंक्तियों मे चित्रित केश रचना वृत्ताकार छल्लों के रूप में देवता के स्कन्धों व पृष्ठ भाग मे प्रदर्शित है। अण्डाकार मुखाकृति, भरे व संवेदनशील निचले होंठ भारी ठुढी, तीखी नासिका, नितम्बो, सीधे पैरों व घुटनों की निर्मिती स्वाभाविक है। लम्बी भुजाओ की हथेलियां शरीर से सटी हुई हैं। पृष्ठ भाग में देवता का मण्डन काफी श्रेष्ठ है। आकृति की मुखाकृति से ही उसके अतर में होने वाले ऊर्जा के प्रवाह का भाव स्पष्ट है जो बाहुबली के गहन चिन्तन का परिणाम है। मूर्ति की निर्मिती इसके प्रारंभिक तिथि की पुष्टि करती है। डा० यू० पी० शाह की धारणा है कि इस मूर्ति को ७ वीं शती के बाद निर्मित नही बताया जा सकता है, जबकि अन्य विद्वान एलोरा-बादामी की बाहुबली प्रतिमाओं से इसकी साम्यता के आधार पर इसे आठवी शती के पूर्व निर्मित मानना उचित नहीं समझते हैं।

दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाली तीन विशाल आकृतियों में विशालतम ५६ फीट ६ इंच ऊंची प्रतिमा मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला नामक स्थल पर उत्कीर्ण है।[8] ९८१-८३ ईसवी में गंग शासक के प्रमुख चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आकृति पूर्णतः नग्न है। उत्तर दिशा की ओर खडी प्रतिमा के स्कन्ध चौड़े व भुजाएं सीधी नीचे लटक रही हैं। कटि प्रदेश संक्षिप्त है। घुटनो के नीचे का भाग तुलनात्मक दृष्टि से कुछ छोटा व मोटा है। बांबी (anthills) से घिरी आकृति से सर्पों व माधवी वल्लरियों को प्रसारित होते हुए दिखाया गया है। पीठिका एक खुले कमल के रूप मे उत्कीर्ण है। मुखमण्डल सौम्य और शांत दीख रहा है। इस आकृति का मुख्य भाग इसकी मुखाकृति है, जिसपर व्यक्त मंदस्मित व चिन्तन का भाव इस रूप में व्यक्त है मानों बाहुबली सघर्षरत ससार की ओर देख रहे हों। संसार से विरक्ति की भावना का पूर्ण निर्वाह इस चित्रण में किया गया है। देवता की केश-रचना चक्राकार घुमावों के रूप में निर्मित है। आकृति की नग्नता जहाँ देवता के आत्म-त्याग की भावना का उद्बोधक है, वही उसकी कायोत्सर्ग मुद्रा आत्म-नियन्त्रण की ओर सकेत करती है। कारकल से प्राप्त होने वाली दूसरी विशाल प्रतिमा में भी सौम्यता व आत्म-त्याग की भावना व्यक्त है। ४१ फीट ऊँची मूर्ति १४३२ ईसवी मे प्रतिष्ठित की गई थी। अन्तिम प्रतिमा मद्रास के दक्षिणी कन्नड़ जिले के वेलूर नामक स्थल से प्राप्त होती है।[9] ३५ फीट ऊंची इस प्रतिमा को तिम्म या तिम्मराज ओडिया ने १६०४ ईसवी में स्थापित किया था। श्रवण बेलगोला की प्रतिमा के विपरीत इसमें बांबी नहीं चित्रित है। इस चित्रण के बायीं ओर काफी संख्या मे सर्पों को उत्कीर्ण किया गया है, उनमें से दो काफी लम्बे व तीन फणो वाले सर्प, जो मूर्ति के काफी समीप उत्कीर्ण है, देवता के चरणों से घुटनों तक प्रसारित है। दोनों पार्श्वों में अंकित छोटे-छोटे सर्पों का उद्देश्य कुक्कुट सर्प का अंकन रहा

6. Shah, U.P., op. Cit. pp. 35-36
7. Editorial Notes, A Unique Metal Image of Bahubali, Lalit-Kala, Nos. 1-2, April 1955-March 1956, p. 37.
8. Sravana Belgola, Mysore Information Bnll., Vol. XII, No. 2, Feb. 1949, pp. 53-55; Krishna, M.H.. The Art of Gomata Colossus, Pro. & Transe. of the Eight All India Oriental Conference Mysore, Dec. 1935, Banglore, 1937, pp. 690-91; Krishna M.H. The Mastakabhisheka of Gommateswara of Sravana Belgola, Jaina Ant. Vol. V. No. IV, March 1940, pp. 101-106.
9. Pai, M Govind, Venur and its Gommata Colossus Jaina Ant., Vol. II, No. II, Sept. 1936, pp. 45-50.

होगा। लतावल्लरियो की कतार देवता के चरणों से जाघों तक लिपटी है। साथ ही कलाइयो व भुजाओं में भी लतावल्लरि देखी जा सकती है। देवता की केशसज्जा घुंघराली है। कर्ण लम्बे व नासिका कुछ झुकी हुई सी है। देवता की मुखाकृति पर प्रदर्शित मदस्मित के भाव से ऐसा प्रतीत होता है मानो वे ससार से विदा ले रहे हों।

मैसूर के १४ मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित गोम्मट-गिरी से गोम्मटेश्वर की एक १८ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त होती है,[10] जिसमे देवता को प्रभावपूर्ण मुद्रा मे खड़ा किया गया है। नग्न आकृति की मुखाकृति श्रवण वेलगोला मूर्ति के काफी कुछ समान है, मात्र कुछ विभिन्नताओ को छोड़कर। इस प्रतिमा की मुखाकृति से एक नवयुवक साधु का आभास होता है। बाबियों का इसमे पूर्णरूपेण अभाव है व हाथो की मुद्रा भी भिन्न है। लतावल्लरियो को पैरो-हाथो म लिपटा हुआ प्रदर्शित किया गया है। मुखमण्डल पर प्रदर्शित विशिष्ट प्रकार की शान्ति व सौम्यता का भाव बाहुबली के आन्तरिक आनन्द की अनुभूति और कठोर चिन्तन का परिणाम है। यह बिब १४२३ ईसवी मे प्रतिष्ठित किया गया था। दक्षिण भारत की तेरिन बस्ती से भी मच्चीकण्वे द्वारा १११५ ईसवी मे प्रतिष्ठित एक बाहुबली चित्रण (५ फीट ऊँचा) प्राप्त होता है।[11]

खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के प्रदक्षिणा पथ की भित्ति पर कठोर तपश्चरण के प्रतीक बाहुबली की एक सुन्दर प्रतिमा अकित है।[12] पैरों से लेकर हाथों तक लिपटे हुए नागो तथा शरीर पर रेगते हुए वृश्चिकों का चित्रण इस बिब की ध्यातव्य विशेषता है। दिलवाड़ा स्थित विमल वसही मन्दिर के सभा-मण्डप की इस छत पर भरत और बाहुबली के मध्य हुए युद्ध का विस्तृत चित्रण देखा जा सकता है।[13] लेख के प्रारम्भ में वर्णित कथानकों के ही कुछ वर्णित दृश्यों को इसमे उत्कीर्ण किया गया है। एक अन्य मूर्ति शत्रुंजय गिरि स्थित आदिनाथ मन्दिर के गर्भगृह मे प्रतिष्ठित है, जिसमें बाहुवली को चिन्तन की मुद्रा मे खड़ा प्रदर्शित किया गया है।[14] उनके पैरों मे लतावल्लरियां लिपटी है। साथही ब्राह्मी और सुन्दरी की आकृतियां भी उत्कीर्ण हैं। यह मूर्ति पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के आधार पर १२३४ ईसवी में निमित प्रतीत होती है। आबू और शत्रुंजय दोनों ही स्थलों पर बाहुबली को घोती पहने हुए चित्रित किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित यही दो मूर्तियाँ प्राप्त हो सकी है।

बाहुबली व भरत का अंकन करने वाले चित्रों की सख्या अधिक नही है। बड़ोदा के हस विजय जी के सग्रह में स्थित १५२२ सवत् के कल्पसूत्र के चित्र मे, और जैन चित्र कल्पद्रुम के चित्र संख्या १८१ मे भी बाहुबली का चित्र प्राप्त होता, किन्तु कल्पसूत्र में बाहुबली की कथा वर्णित नही है।[15] इस संक्षिप्त चित्र में सम्पूर्ण दृश्य को चार भागो में व्यक्त किया गया है। ऊपरी भाग में भरत व बाहुबली को दृष्टि व वाक् युद्ध करते हुए प्रदर्शित किया गया है। दूसरे में मुष्टि डण्ड युद्ध प्रदर्शित है। तीसरे भाग के प्रथम खण्ड में भरत को बाहुबली का सामना करते हुए चक्र धारण किए अकित किया गया है और द्वितीय खण्ड में बाहुबली को अपना मुकुट उतार कर फेकते हुए चित्रित किया गया है। अन्तिम भाग में बाहुबली को घोती पहने हुए चिन्तन की मुद्रा में खड़ा व्यक्त किया गया है। बाहुबली के दोनो पार्श्वों में एक वृक्ष व सर्पों को पैरों के नीचे से हाथों तक लिपटा प्रदर्शित किया गया है। बाहुबली के स्कन्धों पर पक्षियों के घोंसले देखे जा सकते है। दो जैन भिक्षुणियो, ब्राह्मी व सुन्दरी, को वाम पार्श्व मे हाथ जोड़ अकित किया गया है। भरत व बाहुबली दोनों ही की आकृतियाँ इस चित्र में स्वर्णिम हैं।

●

10. Jain, Surendranath Sripalji Colossus of Shrabanbelgola and other Jain Shrines of Decean, Nutan Jain Sahitya Series-I, Bombav, 1953, pp. 41-42.
11. Ibid., p. 32.
12. Jaina, Niraj, Khajuraho Ka Parsvanatha Jinalaya. In Hindi. Anekanta, yr. 16, No. 4, Oct. 1963, p. 153.
13. Jayantavijayaji Muni Shri, Holy Abu (trans in to Eng. by U.P. Shah), Bhavnagar, 1954, pp. 56-60.
14. Shah, U.P. op. Cit, p. 36. 15. Ibid., p. 37.

पं० रतनलाल कटारिया

दश बाह्य-परिग्रह

जैन शास्त्रों मे परिग्रह दो प्रकार का बताया है एक बाह्य और दूसरा आभ्यतर। बाह्य-परिग्रह के १० भेद बताए है और आभ्यतर के १४। नीचे—दश प्रकार के बाह्य-परिग्रह पर समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

शास्त्रो मे बाह्य-परिग्रह के दश भेद इस प्रकार बताये है :—

१. मूलाचार (पंचाचाराधिकार, प्रथम भाग पृ० ३२०)—
खेत्तं वत्थुधणं धण्णगदं दुप्पद चतुप्पद गदं च।
जाण सयणासणाणि य, कुप्पे भंडेसु दस होंति ॥२११

२. भगवती आराधना (शिवार्यकृत)—
बाहिर संगा खेत्त वत्थुं धणधण्ण कुप्पभंडानि।
दुपय चउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥१११६॥

३. हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत) सर्ग ३४—
चतुष्कषाया नव नोकषाया, मिथ्यात्वमेते द्विचतुष्पदे च।
क्षेत्र च धान्यं गृहकुप्यभांड, धनं च यान शयनासन च॥

४. ज्ञानार्णव – (शुभचन्द्राचार्य कृत) सर्ग १६—
वस्तु क्षेत्र धन धान्यं, द्विपदं च चतुष्पद।
शय्यासनं च यान च, कुप्यं भांड ममीदश ॥४॥

५. यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन)—
क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु, कुप्यं शयनमासनं।
द्विपदाः पशवो भांडं, बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥

६. चारित्रसार (चामुडराय कृत) पत्र पृष्ठ ६३—
"क्षेत्र वास्तु धनधान्य द्विपद चतुष्पद यान शयनासन कुप्य भांडानि दशविधश्चेतनाचेतन भेद लक्षणो बाह्य-परिग्रहः।"

७. संस्कृत आराधना (अमितगति कृत रूपान्तर)—
क्षेत्र वास्तु धन धान्य, द्विपदं च चतुष्पदं।
यानं शय्यासन कुप्यं, भांडं संगा बहिर्दश॥११४६॥

८. आचार सार (वीरनंदिकृत) अधिकार ५—
क्षेत्र वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।
यानं शय्यासनं कुप्य, भांडं चेति बहिर्दश ॥६१॥

९. सागार धर्मामृत (प० आशाधर कृत अध्याय ४ **श्लोक** ६२ की टीका)—
वास्तु क्षेत्र धनधान्य द्विपद चतुष्पद शयनासन यान कुप्य भांडं लक्षणं दशविध बाह्यग्रथं॥

१०. रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रभाचन्द्र कृत **टीका** (श्लोक १४५)—
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।
शयनासनं च यानं, कुप्य भांडममीदश॥

११. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (सकलकीर्ति कृत) सर्ग १६—
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।
आसनं शयन वस्त्रं, भांड स्याद् गृहमेधिनां ॥५॥

१२. त्रिवर्णाचार (सोमसेनकृत) अध्याय १०—
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्य दासी दासश्चतुष्पद।
यानं शय्यासनं कुप्य भांडं चेति बहिर्दश ॥१४०॥

१३. श्रावकाचार (उमास्वामी, पूज्यपाद के नाम से)—
क्षेत्रं वास्तु धन धान्य, द्विपदं च चतुष्पदं।
आसन शयनं कुप्यं, भांडं चेति बहिर्दश ॥१६, ७॥

१४. देवसेन कृत आराधनासार की रत्ननंदि कृत टीका (गाथा ३० मे उक्त च)—
सयणासण घर खित्त, सुवण्ण-धणधण्ण कुप्प भंडाइं।
दुपय चउप्पय जाणसु, एदे दस बाहिरा गंथा॥

१५. चर्चासमाधान (प० भूधर जी मिश्र) पृ० ५६—
भूमि यान धन धान्य गृह, भाजन कुप्य अपार।
शयनासन चौपद दुपद, परिग्रह दश परकार॥

१६. क्रियाकोश (प० दौलतराम जी)—
क्षेत्र वास्तु चौपद द्विपद, धान्य द्रव्य कुप्यादि।
भाजन आसन सेज ये, दश पर कार अनादि ॥७००॥

१७. बनारसी विलास पृ० २०६—
भूमि यान धन धान्य गृह, भाजन कुप्य अपार।
शयनासन चौपद द्विपद, परिग्रह दश परकार ॥२६॥

१८. ज्ञानानद श्रावकाचार पृष्ठ ३६ मे भी इसी प्रकार

१० परिग्रह बताए है। इन प्रमाणो मे—खेत, घर, धन, धान्य, दोपाये चौपाये, सवारी, शयनासन, कुप्य और भांड ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह बताये है। इनमे संसार के यावन्मात्र चेतन अचेतन मिश्र सभी प्रकार के पदार्थों का समावेश हो जाता है। प्रमाण न० ५, ११, १३, और १६ मे "यान"—(सवारी) नही दिया है। "शयनासन" के शयन और आसन ऐसे दो भेद करके उन्ही में 'यान' को गर्भित कर दिया है।

१६. प्रबोधसार (यश.कीर्तिकृत) अध्याय २—

भूमिर्वास्तु धनं धान्यं, वस्त्रादि शयनासनं।
द्विपदाः पशु रत्नादि, बाह्योऽयं दशधोपधिः ॥१०६॥

इसमे 'चतुष्पद' की जगह 'पशु' शब्द दिया है और 'कुप्य' की जगह 'वस्त्रादि' दिया है तथा 'भांड' की जगह 'रत्नादि' दिया है जो सब समनार्थक ही है।

३०. धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ६५ मे—"खेत्त वत्थु धण धण्ण दुवय चउप्पय जाण सयणासण सिरस कुल गण सघेहि' बाह्य परिग्रह बताये है। इनमे दश भेद की दृष्टि से कथन नही है फिर भी उन्ही का समर्थन किया गया है क्योंकि ८ नाम तो क्रमशः वे ही है।

मोक्षशास्त्र अ० ७ सूत्र २६—

क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धनधान्य, दासीदास कुप्य प्रमाणाति क्रमाः

इस सूत्र मे परिग्रह परिमाणव्रत के ५ अतिचार बताए है। जिनका खुलासा इस प्रकार है :

सागार धर्मामृत अध्याय ४—

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धन धान्ये बंधनात्कनक रूप्ये।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात् ॥६४॥

श्रावकधर्म विधि प्रकरण (हरिभद्र श्वे०)—

खेत्ताइ हिरण्णाई धणाइ दुपयाइ कुप्प पमाण कमे।
जोयण पयाण बधण कारण भावे हि नो कुणइ ॥८८॥

इनमे बताया है कि—क्षेत्र और गृह को परस्पर संबद्ध करके, हिरण्य और सुवर्ण का दान करके, धन और धान्य को बधक-गिरवी रखके, दोपाये चौपाये को गर्भाधान से और कुप्य को भाव (परिमाणान्तर) से अतिक्रम नहीं करना चाहिए। इस तरह युग्म रूप से ५ अतिचार —बताए हैं। परिग्रह के भेद नहीं बताये है। जो नाम दिए हैं उनकी संख्या भी ९ ही हैं, दस नही। ये ९ नाम भी सामान्य है परिग्रह के व्यावर्त्तक भेद रूप नहीं है क्योकि इनमे जो "हिरण्य-सुवर्ण" नाम है वे तो 'धन में गर्भित हो जाते है, 'दासीदास' 'द्विपद' मे आ जाते हैं इसके सिवा चोपाये, यान, शयनासन और भाड ये नाम हैं ही नही। फिर भी कुछ ग्रंथकारो ने परिग्रह परिमाण व्रत के इन अतिचार नामो मे "भाड" और मिलाकर कुल १० सख्या बना दी है और उन्हे दश बाह्य परिग्रह बना दिया है जो समुचित प्रतीत नहीं होता। विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए। पं० भूधर जी मिश्र को भी इस विषय मे शंका हुई है उन्होने "चर्चासमाधान" पृ० ५९ पर बाह्यपरिग्रह के वास्तविक १० भेद देते हुए (जो पूर्व म प्रमाण न० १७ मे उद्धृत किए गए हैं) लिखा है कि—"इहा कोई कहे सूत्र जी मे परिग्रह के भेद और भांति कहे है सो क्यो ? तिसका उत्तर—कुप्य नाम भेद मे सब गर्भित है"।

प० भूधर जी ने जो समाधान दिया है वह सम्यक् प्रतीत नहीं होता; क्योकि—कुप्य मे सब गर्भित नही होते अगर होत हैं तो १० भेद करने की जरूरत नही थी फिर तो १ 'कुप्य' हो दे देना चाहिए था व्यर्थ अन्य नाम क्यो दिए ? इसस अच्छा तो 'धन' रहता जिसमे सब गर्भित हो जाते।

सही बात तो यह है कि—मिश्र जो का शका समाधान ही व्यथ है कारण कि—तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २९ म परिग्रह क दश भेद नहा बताय ह वहाँ तो ५ अतिचार बताये ह जो ९ परिग्रह वस्तुओ के आधार पर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि—इस तथ्य को ठीक तरह से नही समझने के कारण कुछ अर्वाचीन ग्रथकारो ने भ्रमवश इन्हे परिग्रह के भेद समझ लिया है और इसो से इनमे 'भाड' और मिला कर बाह्य परिग्रह के १० भेद कर दिए है जो कितने गलत है यह पूर्व मे बता आए है अब उनका नीचे परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव रचित टीका (गाथा ५५)—

क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्णधन धान्य दासी दास कुप्य भांडाभिधान दशविध बहिरंग परिग्रहेण च रहितं ॥

(२) सिद्धांतसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) परिच्छेद ३—
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, दासी दासस्तथा पुनः ।
सुवर्णं रजतं भांडं, हिरण्यं च परिग्रहं ॥६३॥
बाह्यो दश प्रकारोऽयं संख्यादि विशेषतः ॥६४॥
(इसमे 'कुप्य' न देकर 'रजत' दिया है)

(३) देवसेन कृत आराधनासार की रत्ननंदि कृत टीका (गाथा ३०) पृ० ३८—
"क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्ण धनधान्य दासीदास कुप्य भांड बाह्य परिग्रहाणां" ।

(४) दर्शन पाहुड गाथा १४ और भाव पाहुड गाथा ५६ की श्रुतसागरी टीका मे—
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं ।
हिरण्य च सुवर्णं च, कुप्यं भांडं बहिर्दश ॥
—इति आगम भाषया

(दासी दास की जगह यहाँ द्विपद चतुष्पद कर दिया है और इन्हें आगम का कथन बताया है किन्तु दि० आगम में तो ऐसा कथन देखा नही जाता, सभवतः "आगम भाषया,' से तात्पर्य श्वे० आगम-ग्रन्थों से हो; क्योंकि श्वे० ग्रन्थों मे ऐसे कथन पाये जाते है) ।

(५) बोधपाहुड गाथा ४५ की श्रुतसागरी टीका मे—
केते दश बाह्य परिग्रहाः ? क्षेत्र, वास्तु, हिरण्यं, सुवर्णं, धनं, धान्यं दासी, दासः, कुप्य ।

(तत्त्वार्थ सूत्र के इन ९ नामो को ही और वह भी बिना 'भांड' नाम मिलाये ही दश परिग्रह बता दिये है और हिन्दी अनुवादक जी ने भी कुप्य का जो 'चन्दना-गुरु' अर्थ दिया उसे १०वा भेद बना डाला है) ।

(६) भावसंग्रह संस्कृत (वामदेव कृत) पृ० ११२—
क्षेत्रं गृह धनं धान्यं, सुवर्णं रजत तथा ।
दास्यो दासाश्च भांड च, कुप्यं बाह्य परिग्रहाः ॥६२५

(७) लाटीसंहिता (प० रायमल्लजी कृत) सर्ग ६ श्लोक ९८ से १०७—

(पूर्ववत् कथन ही दिया है किन्तु क्षेत्र में गृह को भी सामिल कर दिया है । **"क्षेत्रं स्याद् वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा"** । और वास्तु का अर्थ गृह न देकर वस्त्रादि दिया है "वास्तु वस्त्रादि सामान्य" । किन्तु 'वास्तु' का अर्थ वसतिस्थान 'गृह' होता है, 'वस्त्रादि' अर्थ किसी शब्दकोश में नहीं पाया जाता । शायद वास्तु को वस्तु (चीज) समझ लिया हो) ।

हिन्दी ग्रन्थ

८. उमास्वामी श्रावकाचार श्लोक ३८१ की हलायुध जी कृत हिन्दी टीका पृ० १३१ ।
९. श्रावक धर्मसंग्रह (दरयावसिंह जी सोधिया कृत) पृ० २१६, १३२ ।
१०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १० की सदासुख जी कृत वचनिका मे ।
११. धर्म शिक्षावली चतुर्थ भाग ।
१२. सरल जैनधर्म चतुर्थ भाग पृ० २३ ।
१३. वरागचरित का हिन्दी अनुवाद (गोरा वाला जी) पृ० ३४६ ।
१४. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की सत्यधर जी कृत हिन्दी टीका (श्लोक १२८) ।
१५. "विश्वशांति और अपरिग्रहवाद" पृ० २१ ।
१६. आराधनासार की हिन्दी टीका पृ० ६१ ।
१७. जैन धर्मामृत (पं० हीरालाल जी) पृ० १५० ।
१८. नागकुमार चरित हिन्दी (उदयलाल जी काशलीवाल) पृ० ६५, ६६ ।
१९. योगसार टीका (ब्र० शीतलप्रसाद जी कृत) पृ० १७६, १९६-१९७ ।
२०. जैनधर्म प्रकाश (ब्र० शीतल प्रसाद जी कृत) पृ० १५१-१५२ ।
२१. मोक्षमार्ग प्रकाश भाग २ (ब्र० शीतलप्रसाद जी कृत) पृ० ३५ ।
२२. श्री वर्धमान महावीर (दिगंबरदास जी मुख्तार) पृ० २९८ ।
२३. छहढाला—हिन्दी टीका (पं० बुद्धिलाल जी, देवरी) पृ० १९ ।
२४. छहढाला—हिन्दी टीका (पं० मनोहरलाल जी, जबलपुर) परिशिष्ट पृ० ७६ ।
२५. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्रकृत संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद पृ० २०३ और २८३ । (संस्कृत टीका मे सही है) ।
२६. पचलब्धि (मूलशंकर जी देशाई) पृ० ६४ ।

२७. रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी टीका (क्षीरसागर जी महाराज कृत) पृ० ३५।

२८. बृहज्जैन शब्दार्णव भाग २ (ब्र० शीतलप्रसाद जी) पृ० ५३१।

इन २८ ग्रन्थों में गलत दश बाह्य परिग्रह दिये गये हैं। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २९ के कथन को परिग्रह के प्राचीन भेद समझ लिया गया है जो भ्रम-मूलक है। अगर सूत्रकार १० नाम देते तो कदाचित् भ्रांति संभव थी; किन्तु सूत्रकार ने ९ ही नाम दिये हैं और वे भी अतिचार रूप में दिये हैं परिग्रह के भेद रूप में नहीं, फिर भी इस भ्रांति का प्रचार दीर्घकाल से हो रहा है और अब तो पाठ्यपुस्तकों तक में यह गलती प्रचलित हो गई है अतः विचारक विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए ताकि इस गलती की पुनरावृत्ति न हो। बाह्य परिग्रह के वास्तविक दशभेद वे ही है जो निबंध के प्रारम्भ में २० शास्त्र प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत किए गए है।

इस विषय में श्वे० शास्त्रों में कैसा कथन है वह नीचे संक्षेप में बताया जाता है :—

(i) तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र १२ की सिद्धसेन गणी कृत टीका (भाग २ पृ० ८०)—

"बहिरपि वास्तु क्षेत्र धनधान्य शय्यासन यान कुप्य द्वि त्रि चतुःपादभांडाख्य इति"।

यह उल्लेख बाह्य परिग्रह के वास्तविक दश भेदों के कथनानुसार है अतः सही है किन्तु कुछ दि० ग्रंथकारों की तरह कुछ श्वे० ग्रन्थकारों ने भी इस विषय में भूल की है, देखिए :—

(i) मोक्षशास्त्र—अध्यात्मोपनिषद् (हेमचन्द्राचार्य) द्वितीय प्रकाश के श्लोक नं० ११५ का स्वोपज्ञ भाष्य पत्र १५५—

धन धान्यं स्वर्णरूप्य, कुप्यानि क्षेत्र वास्तुनी।
द्विपाच्चतुष्पादचेतिस्यु, नंव बाह्याः परिग्रहाः॥१॥

(ii) पंच प्रतिक्रमण (प० सुखलाल जी संघवी) पृ० ३११ ३१२।

"धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सोना, **चांदी, बर्तन, द्विपद, चतुष्पद"** ये नव प्रकार के परिग्रह बताए है।

यह भूल इन ग्रन्थकारों ने निम्नांकित कथनों को भ्रमवश परिग्रह के भेद समझ कर की है जब कि ये कथन परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार है देखिए :—

पंच प्रतिक्रमण पृ० ९६—

धण धण्ण खित्त वत्थु, रुप्प सुवण्णेअ कुवि अ परिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिकम्मे देसिअं सव्वं॥१८॥

इच्छा परिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच—धण-धण्ण पमाणा इक्कमे, खित्त वत्थु पमाणाइक्कमे, हिरण्ण सुवण्ण पमाणाइक्कमे, दुपय चउप्पय पमाणाइक्कमे, कुविय पमाणाइक्कमे। (आवश्यक सूत्र पृ० ८२५)।

तत्त्वार्थ सूत्र के परिग्रह परिमाण अतिचार में और उपरोक्त में सिर्फ यह अन्तर है कि उपरोक्त के "दुपय चउप्पय" की जगह तत्त्वार्थ सूत्र में "दासी दास" है तदनुसार ही श्वे० दि० ग्रंथकारों के गलत परिग्रह भेदों में अन्तर पड गया है इस विषय में एक अन्तर और है दि० ग्रंथकारों ने तो "भांड" और मिला कर कुल १० बाह्य परिग्रह बताए है क्योंकि दि० संप्रदाय में बाह्य परिग्रह की १० संख्या प्राचीन काल से प्रचलित रही है जैसा कि रत्नकरंड श्रावकाचार कारिका १४५ से भी सूचित होता है "बाह्येषुदशसु वस्तुषु"। जब कि श्वे० ग्रन्थकारों ने बिना कोई परिवर्धन किए ९ ही बाह्यपरिग्रह बताए हैं।

यहाँ एक बात और ज्ञातव्य है कि—'परिग्रह परिमाण' व्रत में सामान्य परिग्रह का ही ग्रहण किया है शेष भोगोपभोग सामग्री, 'भोगोपभोग परिमाण' गुणव्रत में गर्भित की गई है जब कि दश बाह्य परिग्रहों में सभी परिग्रह और सभी भोगोपभोग-सामग्री गर्भित की गई है।

बाह्य परिग्रह के वास्तविक दश भेद—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद चतुष्पद, यान, शय्यासन, कुप्य, भांड का नीचे थोड़ा विवरण प्रस्तुत किया जाता है। जिससे यह जाना जा सकेगा कि किस भेद में क्या पदार्थ गर्भित हैं।

१. **क्षेत्र**—सभी प्रकार की जमीन—खेत, खला, डोहली, प्लाट, पर्वत, नदी, नाला, समुद्र, बावड़ी, कुआं, बांध, बाग, बगीचा आदि।

२. वास्तु—सभी प्रकार के मकान—मंदिर, मकान, नोहरा, (निकटगृह), महल, भवन, कोठार, तलघर, अटारी, खाई, गुफा, कोटर, घंटाघर आदि।

३. धन—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से ४ प्रकार का है यथा गणिम—रुपैया, पैसा. नोट, मोहर, नारेल, सुपारी, आम नारगी, मोसमी, चीकू, पुस्तक, कॉपी, पेन आदि सब प्रकार को गिनने योग्य वस्तुएं।

धरिम—कुंकुम, कपूर, दवाई, आदि धरने योग्य सब वस्तुएं।

मेय—तेल, लूण, घृत, दूध, दही, सब्जी, शक्कर, गुड, दाल, लकडो, आदि तोलने-मापने के सब प्रकार के पदार्थ।

परीक्ष्य—सोना, चाँदी, जवाहरात आदि जाँच कर लिए जाने वाले पदार्थ।

४. धान्य—चावल, गेहूँ, चणा जुवार, बाजरा, मक्की, जौ, मटर, मूग, उडद, तूर, मोठ, कुलथ, मसूर, तिल, मूंगफली आदि खेती की सब पैदावार और इनसे बनी खाद्य सामग्री।

५. द्विपद—दासी, दास, नौकर, चाकर, स्त्री, पुत्र, मनुष्य, तोता, मैना आदि पक्षी उपलक्षण से एक पाद वाले सभी प्रकार के वृक्ष, वेल, पौधे आदि वनस्पतियाँ।

६. चतुष्पद—हाथी, घोडा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, पाड़ा, गदहा, खच्चर, बकरी, भेड आदि चौपाये पशु। उपलक्षण से छह पांव वाले भ्रमर आदि और आठ पांव वाले अष्टापद आदि जतु।

७. यान—डोली, पालकी, गाडी, रथ, नाव जहाज, बोट, साइकिल, मोटरकार, जीप, टेम्पू, स्कूटर, रिक्सा, उडन खटोला, वायुयान आदि।

८. शय्यासन—खाट, पलंग, सोफा, तख्ता, बेंच, मेज, कुरसी, मुड्ढा, पीढा, सिंहासन, पाटा, चौकी, तिपाई, चटाई आदि सोने बैठने के सामान।

९. कुप्य—सूती, ऊनी, रेशमी, सणी, टेरेलिन, नाइलोन, मखमल आदि के वस्त्रादि। कुंकुम, चन्दन, अगुरु, इत्र आदि सुगंधित द्रव्य। सभी प्रकार की प्रसाधन सामग्री॥ चौवा चन्दन अगर सुगंध, अतर, अगरजा आदि प्रबन्ध। तेल फुलेल घृतादिक जेह, बहुरि वस्त्र सब भाँति कहेह। ये सब कुप्य परिग्रह कहे ससारी जीव नेनि गहे॥७१३॥—क्रियाकोश(दौलतरामजी)

१०. भांड—लोहा, तांबा, पीतल, कांसी, एलमोनियम, भरथ, स्टेनलेस स्टील, जरमन सिलवर आदि धातुओं के तथा पत्थर, कांच, काष्ठ प्लास्टिक आदि के बने वर्तन उपकरण-औजार-हथियार-मशीन तथा खिलौने आदि। छत्र, चमर, झाड़, फानूस आदि शोभाकारी सामग्री। रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, हारमोनियम-तबला, सारंगी, पियानो-बैंजो,-बेला-वीणा ग्रामोफोन-रेकार्ड-लाउड स्पीकर आदि वाद्य सामग्री जूते, सूट-केस, तिजोरी, आलमारी आदि। हींग मिर्च, नमक, जीरा, हलदी, धणियां, सौंफ, लौग, डोडा आदि मसाले। हेमचन्द्र कृत अनेकार्थ सग्रह—"**भांड मूल-वणिग्वित्ते तुरंगाणां च मंडने, नदीकूल द्वयीमध्ये भूषणे भाजनेऽपि च॥१२७**"

(सभी प्रकार के बर्त्तन, आभूषण और महाजनी दुकानदारी की वस्तुएं—तेल, लूण, लकडी आदि भांड, कहलाती है)। रत्नकरड की प्रभाचन्द्र टीका—"**भांडं श्री खंड मंजिष्ठा कांस्य ताम्रादि**' लिखा है। और भी अवशिष्ट वस्तुएं कुप्य एवं भांड मे ग्रहण करना चाहिए कुप्य और भांड का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

क्रिया कलाप पृ० १०१, ८० में पाँचवे महाव्रत के प्रकरण मे जो श्रमणो के योग्य न हो ऐसा "अश्रमण प्रायोग्य परिग्रह" बताया है उसमे बाह्य परिग्रह विषयक अनेक वस्तुओं के नाम दिए है।

इसी तरह तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १७ की श्रुतसागरी वृत्ति में चेतनाचेतन बाह्य परिग्रह का वर्णन किया है।

"स्त्री द्वारा जिनाभिषेक" नाम के ट्रेक्ट पृ० ९७ पर ब्र० सूरजमल जी ने पचामृताभिषेक का समर्थन करते हुए लिखा : "ये दूध दही घृतादि पदार्थ दश प्रकार के परिग्रहों में भी नहीं।"

अपने पक्ष के व्यामोह में मनुष्य सिद्धांत का भी किस तरह हनन कर देता है यह इसका ज्वलंत उदाहरण है। अगर दूध दही घृतादि परिग्रह नही है तो फिर क्या हैं। यह बताने का कष्ट ब्रह्मचारी जी सा० ने नही किया अन्यथा सिद्धांत विधान की उनकी कलई स्वयमेव खुल जाती। (शेष पृ० २० पर)

गोपीलाल अमर

(१ ला.रो, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२)

ग्वालियर में जैन धर्म

ग्वालियर ऐतिहासिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक महत्व के कारण प्रसिद्ध है। यह शहर तीन विभिन्न क्षेत्रों को मिलाकर बना है : ग्वालियर जो पहाड़ी पर किले के उत्तर में है और जो अपने मध्यकालीन स्थापत्य के लिए विख्यात है, लश्कर जो किले के दक्षिण में है और सन् १८१० में दौलतराव सिन्धिया के लश्कर या फौजी छावनी के रूप में बस गया था तथा मोरार जो किले के पूर्व में है और जिसमे पहले अंग्रेजों की छावनी थी।

यह भूतपूर्व ग्वालियर स्टेट का आदर्श नगर था। सन् १९५६ मे मध्यप्रदेश के बनने तक यहाँ मध्यभारत की शीतकालीन राजधानी रहती थी। यहाँ मध्यकाल और आधुनिक काल मे निर्मित अनेक इमारतें दर्शनीय हैं जिनमें स्टेशन, जामामस्जिद, मुहम्मद गौस का मकबरा, तानसेन की समाधि, किला, लक्ष्मण दरवाजा, हथियापौर दरवाजा, फूल बाग, जयविलास महल, मोती महल, कम्पू कोठी मुख्य है। किले मे चार हिन्दू और दो मुस्लिम इमारतें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : मान मन्दिर, गूजरी महल, करण मन्दिर, विक्रम मन्दिर, जहाँगीर महल और शाहजहानी महल। कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दू मन्दिर भी किले में दर्शनीय हैं जैसे सूर्यदेव, ग्वालिया, चतुर्भुज, जयन्ती थोरा, तेली का मन्दिर, सास-बहू (बड़ा) सास-बहू (छोटा), मातादेवी, धोन्धदेव और महादेव। इनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर भी किले में है जिसका पता सन् १८४४ में श्री कनिंघम ने लगाया था।

प्राचीन काल में ग्वालियर नाग, कुषाण, हूण, प्रतिहार और चन्देल शासकों के अधिकार मे रहा है। मध्य-काल में इस पर सुल्तान, खिलजी, तोमर, तुगलक, लोधी और मुगल शासकों का अधिकार रहा है। इसके पश्चात् यहां काफी समय तक सिन्धिया वंश का और फिर अंग्रेजों का शासन रहा। यहां के दुर्ग का अपना इतिहास है। कुछ लोगों का कथन है कि यह दुर्ग (किला) ईसा से कोई ३००० वर्ष पूर्व का बना था कुछ पुरातत्त्वज्ञ इसे ईसा की तीसरी शताब्दी में बना हुआ मानते हैं। कुछ भी हो, इस दुर्ग की गणना भारत के प्राचीन दुर्गों में की जाती है।

ग्वालियर में जैन वाङ्मय में, जैनेतर वाङ्मय की भांति गोपगिरि गोवगिरि, गोपाचल, गोपालाचल, गोवाल-गिरि, गोपालगिरि, गोवालचलदु आदि नामों से उल्लि-खित किया गया है।

बप्पभट्ट सूरि

ग्वालियर इतिहास के जैन स्रोत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध में हुए कन्नोज नरेश नागावलोक, जिसे अधिकांश स्थानों पर आम नाम से उल्लिखित किया गया है, का ग्वालियर के जैन आचार्य बप्पभट्टि सूरि के साथ इतना घनिष्ट संबंध रहा है जितना चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था।" प्रभा-चन्द्र देव के प्रभावक चरित, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोष और वाक्पतिराज के गौडवध तथा महामहविजय में आम नरेश और बप्पभट्टसूरि की विस्तृत चर्चा मिलती है। बप्पभट्टसूरि के उपदेश से आम नरेश जैन श्रावक बना। उसने कन्नोज में ४०१ गज का विशाल जैन मंदिर बनवाया और उसमें १८ भार सुवर्ण की प्रतिमा स्थापित करायी। ग्वालियर में भी उसने २३ हाथ ऊंचा जैन मंदिर बनवाकर उसमें लेप्यमयी जैन प्रतिमा स्थापित की। प्रतिष्ठा के समय जब उसने सूरि जी को नमस्कार किया तब उन्होंने ११ पद्यों के स्तोत्र द्वारा उसे आशीर्वाद दिया। यह स्तोत्र पन्द्रहवीं शती तक पाया जाता था। इस नरेश ने तीर्थराज शत्रुंजय के लिए एक यात्रासंघ निकाला जिसमें श्वेताम्बर जैनों के साथ दिगम्बर जैन भी

सम्मिलित थे। "राजा ग्राम ने एक वणिक् कन्या से विवाह किया जिसकी सन्तान कोष्ठागारिक (कोठरी) कहलायी और बाद को ओसवाल वंश मे मिल गई।" ८९० वि. में इसका देहान्त हुआ। इसके पुत्र दुन्दुक का पुत्र भोजदेव कदाचित् वही भोज था जिसका उल्लेख देवगढ़ के एक शिलालेख में हुआ है। यह भोजदेव जैनधर्मानुयायी और बप्पभट्टसूरि के गुरु भाई श्री नन्नसूरि का परम भक्त था। इसने उक्त सूरिजी के पास श्रावक के व्रत लिए और तीर्थयात्रा में संघ भी निकाला।" यह वंश १६वीं शती ई० तक विद्यमान था।

स्वयं बप्पभट्टसूरि एक अच्छे आचार्य थे। उसका जन्म ८०७ वि. में और मृत्यु ८९५ वि. में हुई। प्रभावकचरित के अनुसार इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, यद्यपि उनमें से अब सरस्वती स्तोत्र और चौवीसस्तवन ही उपलब्ध हैं। कन्नौज नरेश ग्राम के अतिरिक्त लक्षणावती के नरेश धर्मराज को भी इन्होंने जैन बनाया। धर्मराज की सभा में इन्होंने किसी बौद्ध विद्वान् वर्धनकुञ्जर को शास्त्रार्थ में पराजित कर "वादिकुञ्जरकेशरी" उपाधि प्राप्ति की। मथुरा में इन्होंने प्रतिष्ठा भी करायी। जैन साहित्य में इन्हें 'राजपूजित' के नाम से संबोधित किया गया है, कदाचित् इसलिए कि ये अपने जीवनके अधिकांश भागमें राजाओं द्वारा पूजित रहे। धर्मराज की सभाके भारत प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराजने गौडबध और महामहविजय नाम के दो काव्य-ग्रन्थों का निर्माण कर बप्पभट्टसूरि और ग्राम नरेश को अमर कर दिया।

मध्यकाल में

कच्छपघट शासक वज्रदामन (१०३४ वि०) ने ग्वालियर में एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।

आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने ११वीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा को अपनी वादशक्ति से रंजित किया और १२वीं शताब्दी के विद्वान् वादिदेवसूरि ने गगाधर द्विज को ग्वालियर मे परास्त किया, ऐसा तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है।

गुर्जर नरेश सिद्धराज द्वारा सम्मानित वीराचार्य ने ग्वालियर आकर वहाँ के राजा द्वारा भी सम्मान पाया।

मलधारी अभयदेवसूरि जो वीराचार्यके समकालीन थे, पूर्वोक्त नरेश ग्राम द्वारा निर्मित मन्दिर की दुर्व्यवस्था दूर करने के लिए स्वयं ग्वालियर आये और तत्कालीन शासक भुवनपाल कच्छपघट को प्रभावित कर उन्होंने उस मंदिर की सुव्यवस्था करवायी।

किसी संस्कृत कवि द्वारा १३वीं शती ई० में रचित सकलतर्क स्तोत्र में ग्वालियर की गणना तीर्थों में की गयी।

मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवालवंशी श्रावक दाहड़ कूकेक, सूर्पट, देवधर, महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने वि. सं. ११४५ में विशाल जैन मन्दिर का निर्माण कराया। उसके पूजन, संरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि कार्यों के लिए कच्छपवशी राजा विक्रमसिंह ने महाचक्र नाम के ग्राम में कुछ जमीन आदि भी प्रदान की।

विक्रम की १५वी शताब्दी के अन्त में भट्टारक यशःकीर्ति ने (वि. सं. १४९७ में) पाण्डव पुराण और (सं. १५०० मे) हरिवंशपुराण की रचना अपभ्रंश भाषा मे की। जिनरात्रिकथा और रविव्रतकथा भी इन्हीने बनायी है। चन्द्रप्रभचरित्र भी इन्हीं यशःकीर्ति का बनाया हुआ कहा जाता है। स्वयभूदेव के हरिवंशपुराण की जीर्णशीर्ण खण्डित प्रति का समुद्धार भी इन्होंने किया था। यह भट्टारक गुणकीर्ति के लघुभ्राता और शिष्य थे।

तोमर शासकों का योगदान

ग्वालियर पर सन् १३७५ से लगभग सवा सौ वर्ष तोमरों का शासन रहा। इस वंश के वीरसिंह, उद्धरणदेव, विक्रमदेव, गणपतिदेव, डूंगरेन्द्रसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंह के नाम अद्वितीय वीरों एवं कला के आश्रयदाताओं के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

डूंगरेन्द्रदेव अपनी राजनीतिक चातुरी एवं वीरता के लिए तो प्रसिद्ध है ही, उसका नाम ग्वालियर गढ़ की जैनमूर्तियों के निर्माता के रूप में भी अमर रहेगा। उसके राज्यकाल में इन अद्वितीय मूर्तियों का निर्माण आरम्भ हो गया था। अनेक समृद्ध भक्तों ने भी अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुरूप विशाल जैन मूर्तियों का निर्माण कराया और इन मूर्तियों के पादपीठों पर अपने साथ अपने नरेश का भी उल्लेख किया। १४९७ वि०, १५१० वि० आदि की कुछ मूर्तियों के पादपीठों पर उनके निर्माण संवत् के साथ गोपाचल दुर्ग और महाराजा डूंगरेन्द्रसिंह का उल्लेख है।

महाराज डूंगरेन्द्रदेव के तीस वर्षीय शासनकाल के पश्चात् उनके पुत्र कीर्तिसिंह का राज्य प्रारम्भ हुआ, जिसे अपने २५ वर्ष के लम्बे शासनकाल में कभी जौनपुर और कभी दिल्ली के सुल्तानों को मित्र बनाना पड़ा। इसके शासनकाल मे ग्वालियर गढ़ की शेष जैन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ।

प्रतिमाओं पर एक दृष्टि

ग्वालियर गढ़ की इन प्रतिमाओं को ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) उरवाही समूह, (२) दक्षिण-पश्चिम समूह, (३) उत्तर-पश्चिम समूह, (४) उत्तर-पूर्व समूह, (५) दक्षिण-पूर्व समूह। इनमें से उरवाही द्वार के एवं किंग जार्ज पार्क के पास के समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उरवाही समूह अपनी विशालता से एवं दक्षिण-पूर्व समूह अपनी अलकृत कला द्वारा ध्यान आकृष्ट करता है।

उरवाही समूह में २२ प्रतिमाएं हैं जिनमें ६ पर सं० १४९७ से १५१० के बीच के अभिलेख है। इनमे सबसे ऊंची खड़ी प्रतिमा २० नवम्बर की है। इसे बाबर ने २० गज का समझा था, वास्तव में यह ५७ फीट ऊंची है। चरणों के पास यह ६ फुट चौड़ी है। २२ नम्बर की नेमिनाथ जी की पद्मासन मूर्ति ३० फुट ऊंची है। १७ नम्बर की प्रतिमा पर तथा आदिनाथ की प्रतिमा की चरण चौकी पर डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल के संवत् १४९७ का लम्बा अभिलेख है।

दूसरा दक्षिण-पश्चिम समूह एकखम्भा ताल के नीचे उरवाही दीवाल के बाहर की शिला पर है। इस समूह मे पाँच मूर्तियाँ प्रधान है। दो नम्बर की लेटी हुई प्रतिमा ८ फुट लम्बी है। इस पर ओप है। यह प्रतिमा तीर्थंकर की माता की है। देवगढ़ आदि में ऐसी ही अनेक प्रतिमाएँ हैं। तीन नम्बर की प्रतिमा समूह में एक स्त्री-पुरुष तथा बालक है। कुछ लोग इसे महाराज सिद्धार्थ, माता त्रिशला तथा महावीर स्वामी की मानते है, पर यह धरणेन्द्र-पद्मावती की है, ऐसी प्रतिमाएँ भी देवगढ़ आदि में सैकड़ों की संख्या में है।

उत्तर-पश्चिम समूह में केवल एक आदिनाथ की प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इस पर सं० १५२७ का अभिलेख है। इसी प्रकार उत्तर-पूर्व समूह भी कलाकी दृष्टिसे महत्वहीन है। मूर्तियाँ छोटी है और उन पर कोई लेख नहीं है।

दक्षिण-पूर्व समूह मूर्तिकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मूर्ति समूह फूल बाबा के ग्वालियर दरवाजे से निकलते ही लगभग आध मील तक चट्टानों पर उत्कीर्ण दीखती है। इसमें लगभग २० प्रतिमाएँ २० से ३० फुट तक ऊँची हैं और इतनी ही ८ से १५ फुट तक। इनमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, सम्भवनाथ, नेमिनाथ, महावीर, कुन्थुनाथ की मूर्तियाँ हैं। इनमें से कुछ दूर पर संवत् १५२५ से १५३० तक के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

प्रतिमाओं की महत्ता

जैसा कि लिखा जा चुका है, डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के शासनकाल में ईसवी सन् १४४० तथा १४७३ के बीच ग्वालियर गढ़ की सम्पूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इस विशाल गढ़ की प्रायः प्रत्येक चट्टान को खोदकर उत्कीर्णकर्ता ने अपने अपार धैर्य का परिचय दिया है। इन दो नरेशों के राज्य में जैनधर्म को जो प्रश्रय मिला और उनके द्वारा मूर्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावनामयी प्रतिमाएँ प्रतीक हैं। तीस वर्ष के थोड़े समय में ही गढ़ की प्रत्येक मूक एवं बेडौल चट्टान भव्यता, शान्ति एवं तपस्या की भावना से मुखरित हो उठी। प्रत्येक निर्माणकर्ता ऐसी प्रतिमा का निर्माण करना चाहता था जो उसकी श्रद्धा एवं भक्ति के अनुपात में ही विशाल हो और उत्कीर्णकर्ता ने उस विशालता में सौन्दर्य का पुट देकर कला की अपूर्व कृतियाँ खड़ी करदी। छोटी मूर्तियों में जिस बारीकी और कौशल की आवश्यकता होती है वह इन प्रतिमाओं में विद्यमान है।

प्रतिमाओं का भंजन

इन मूर्तियों के निर्माण के लगभग ६० वर्ष पश्चात् ही बाबर ने अपने साथियों के साथ इन सबके मुख आदि खण्डित कर दिये। सन् १५२७ मे उसने उरवाही द्वार की प्रतिमाओं को भी नष्ट कराया। इस घटना का बाबर ने अपनी आत्मकथा में बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है।

महाकवि रइधू

महाराज डूंगरेन्द्रसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह के

शासनकाल में अपभ्रंश के उत्कृष्ट साहित्यकार महाकवि रइधू ने अपने जन्म से ग्वालियर को धन्य किया। महाकवि रइधू संघपति देवराय के पौत्र और विजयश्री तथा हरिसिंह संघपति के पुत्र थे। इनके दो भाई और थे, बाहोल और माहणसिंह। महाकवि रइधू ने प्राकृत और अपभ्रंश में लगभग २३ रचनाएँ कीं।

महाराज डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह महाकवि रइधू के परम भक्त थे। इनके समय में निर्मित पूर्वोक्त ५७ फुट ऊंची प्रतिमा की प्रतिष्ठा रइधू ने ही करायी थी। उन्होंने दिल्ली तथा हिसार तक की यात्रा की। हिसार में रहकर उन्होंने कुछ लिखना भी चाहा किन्तु ग्वालियर के प्रबल आकर्षण ने उन्हें वहाँ रहने न दिया। उन्होंने ग्वालियर को मालव जनपद के गले का हार और श्रेष्ठ नगरों के गुरुओं का भी गुरु (गुरुणं वरणपरहं एहु गुरु) कहा। यहाँ के नारी समाज के शीलव्रत, आचार, विचार, अतिथि सत्कार एवं उदार स्वभाव से वे इतने प्रभावित थे कि उसके विषय में उन्हें स्वतन्त्र रूप से ही कुछ पंक्तियां लिखनी पड़ीं। ग्वालियर में कुछ जैन उपाश्रय भी बने। इनमें से दो मुख्य उपाश्रय नेमिनाथ मन्दिर और वर्धमान मन्दिर के पास थे। इन दोनों में बैठकर रइधू ने अपनी कुछ रचनाएं लिखी, अतः उन्होंने उन आश्रयों को सुन्दर कवितारूपी रसायन से रसाल (सुकवित्त रसायण-णिहि-रसालु) कहा है।

महाकवि रइधू की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में विस्तृत प्रशस्तियाँ लिखी हैं जिनके माध्यम से ग्वालियर, पद्मावती, उज्जयनी, दिल्ली, हिसार आदि से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। अपने आश्रयदाताओं, राजाओं, नगरसेठों, पूर्ववर्ती, एवं समकालीन कवियों, विद्वानों और भट्टारकों के महत्वपूर्ण उल्लेख भी उन्होंने किये। सन्धिकालीन कवि होने के नाते उनकी रचनाएं भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत महत्व की हैं। रइधू का साहित्य अभी पूरा प्रकाशित नहीं हो सका है।

उत्तरवर्ती साहित्यकार

सं० १५३१ में ग्वालियर के एक श्रावक पद्मसिंह ने महाकवि पुष्पदन्त (१०वीं शती) के आदि पुराण की प्रतिलिपि करायी। इस प्रतिलिपि के दानकर्ता की प्रशस्ति में लिखा है कि पद्मसिंह ने आदिनाथ का एक मन्दिर बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करायी। उसने एक लाख ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी करायीं और चौबीस जैन मन्दिर भी बनवाये, वह विविध गुणों से सम्पन्न था।

सं० १५२१ में ही यहाँ के किसी लुहाड़ियागोत्रीय खंडेलवाल श्रावक ने पउमचरिउ की प्रतिलिपि करायी।

भट्टारक गुणभद्र ने १६वी शती के उत्तरार्ध में लगभग १५ कथाग्रन्थों की रचना की।

संवत् १६५१ में यहाँ के निवासी श्री परिमल आगरा चले गये और वहाँ उन्हों श्रीपालचरित्र की रचना की।

इसके पश्चात् भी ग्वालियर में जैन धर्म की अच्छी प्रभावना रही और आज भी है। ★

(शेष पृ० १६)

संसार में जितने जीव अजीव पदार्थ है वे सब परिग्रह हैं। अतः दूध दही घृतादि भी स्पष्टतः परिग्रह हैं। ये सब संसार में ही हैं संसार से बाहर नहीं। दूध तो गाय भैंस से उत्पन्न होता है और दूध से दही जमाया जाता है और दही से घृत तैयार किया जाता है। लाटी सहिता सर्ग ६ श्लोक १०७ में "कुप्प शब्दो घृतोर्थकः"। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी वृत्ति (अ० ७ सू० १७) में—"घृत तैल गुड़ शर्करा प्रभृतिरचेतनो बाह्य परिग्रहः" लिखा है तथा किया कलाप पृ० ८० मे—"तभ्य बाहिरो परिग्गहो" भत्तपाणादिभेएण अणेयविहो" (बाह्य परिग्रह भोजन पान के भेद से अनेक प्रकार का है) ऐसा लिखा है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—दूध दही घृतादि को शास्त्रकारों ने बाह्य परिग्रह माना है।

आशा है विद्वद्गण इस लेख पर गम्भीरता से विचार कर दस बाह्य परिग्रह के नामों में जो गलती प्रचलित हो रही है उसका संशोधन करने का प्रयत्न करेंगे। ●

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

सम्यग्दर्शन : एक अध्ययन

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

सम्यग्दर्शन, दर्शन, सद्दृष्टि, सम्यक्त्व, तत्त्वरुचि और तत्त्वश्रद्धा आदि शब्द समनार्थक हैं। प्रस्तुत सम्यग्दर्शन समस्त धर्माचरण का मूल—प्रधान—कारण माना गया है[1]। इस सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट ही हैं, उन्हें कभी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। कारण कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होते हैं वे ज्ञान और चारित्र से भी नियमतः भ्रष्ट होते हैं। इस प्रकार वे जब मोक्षमार्ग से ही दूर हैं तब भला उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है? जिस प्रकार मूल (जड़) के विनष्ट होने पर वृक्ष के परिवार की—शाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि की—वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार धर्म के मूलस्वरूप सम्यग्दर्शन के विनष्ट होने पर धर्म के परिवारस्वरूप ज्ञान और चारित्र आदि की भी वृद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव कभी मुक्त नहीं हो सकते[2]। जिस ज्ञान के द्वारा सेव्य-असेव्य या हेयाहेय के स्वरूप को जानकर प्राणी हेय को छोड़कर अहेय (उपादेय) में प्रवृत्त होता है—चारित्र को स्वीकार करता है—वह ज्ञान इस सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त होता है[3]।

यह उस सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है जो सम्यक्त्व से संयुक्त चाण्डालकुलोत्पन्न (हिंसक) मनुष्य को भी पूज्य तथा उस सम्यक्त्व के बिना मुनिधर्म का परिपालन करने वाले साधु (द्रव्यलिंगी) को एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की अपेक्षा भी हीन माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीव परभव में नारक आदि निकृष्ट पर्याय को भी पर्याप्त नहीं करता, यदि सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व उसने अन्य किसी आयु का बन्ध नहीं कर लिया है तो वह सम्यक्त्व के प्रभाव से उत्तम देव ही होता है[4]।

जो जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र सम्यग्दृष्टि रहकर पश्चात् उस सम्यक्त्व से च्युत हो गया है वह भी अनन्तानन्त काल संसार में नहीं रहता—अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र संसारी रहकर मुक्त हो जाता है[5]।

यह व्यवहार सम्यक्त्व का प्रभाव समझना चाहिए। निश्चयसम्यग्दृष्टि तो दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त करता है[6]। निश्चयसम्यग्दृष्टि परद्रव्य से भिन्न स्वद्रव्य में ही निरत रहता है। कर्म-मल से रहित ज्ञानस्वरूप जो शुद्ध आत्मा है वह स्वद्रव्य है तथा उस आत्मस्वभाव से भिन्न जो चेतन, अचेतन और मिश्र द्रव्य हैं उन्हें परद्रव्य जानना चाहिए[7]।

---

१. दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साणं।
द. प्रा. २

२. जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥
द. प्रा. १०

विद्या-वृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ र.क.३२

मोह-तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ र. क. ४७

ज्यज्ञानशुद्धिप्रदम्। आत्मानु. १०; अन. ध. २-४७

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥
पु. सि. २१

३. सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासुयं वियाणेदि। द. प्रा. १५

४. रत्नकरण्डक २८, ३३ और ३५.

५. भ. आ. ५३.

६. जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओऽथ परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो॥
पंचा० १५५

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥ मो.प्रा.१४

७. दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं॥ मो.प्रा.१८

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन का स्वरूप विविध ग्रंथों में अनेक प्रकार का देखा जाता है। ये प्रकार देखने में अनेक हैं, पर अभिप्राय उनका एक ही है। यह आगे निर्दिष्ट किये जाने वाले उसके लक्षणों के अध्ययन से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। यथा—

दर्शनप्रभृत और गो. जीवकाण्ड में छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनका जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है[1]।

सूत्रप्राभृत में जिनप्रणीत सूत्रार्थ, बहुत प्रकार के जीवादि पदार्थ तथा हेय-अहेय को जो जानता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है[2]।

मोक्षप्राभृत में ऐसे गृहस्थ को भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है जो उस सम्यग्दर्शन का ध्यान मात्र करता है। और जो उस सम्यक्त्व से परिणत हो जाता है वह तो आठों कर्मों को नष्ट कर डालता है[3]।

नियमसार में सम्यक्त्व की उत्पत्ति आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से निर्दिष्ट की गई है। आगे यहाँ नाना गुण-पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहा गया है[4]। पश्चात् इन्हें द्रव्य भी कहा गया है।

पंचास्तिकाय में भावों (पदार्थों) के श्रद्धानको सम्यक्त्व बतलाते हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इनको अर्थ कहा गया है। आगे यह भी कहा गया है कि धर्मादि द्रव्यों का जो श्रद्धान है, वही सम्यक्त्व है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान करने वालों को सम्यक्त्वाराधक (सम्यग्दृष्टि) बतलाया है[5]।

तत्त्वार्थसूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, पंचाशक, तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व बतलाये हुए जीव-अजीवादि सात को तत्त्वार्थ कहा गया है[6]।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे आगे यह भी स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे सर्वप्रथम उस सम्यग्दर्शन का ही आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते है[7]।

रत्नकरण्डक में परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत (गुरु) के तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अंगों से सहित और आठ मदों से रहित श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। आगे उसे यहाँ ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति व स्थिति आदि का प्रमुख कारण भी कहा गया है[8]।

आत्मानुशासन में नौ व सात तत्त्वों से श्रद्धान को सम्यक्त्व बतलाते हुए उसे तीन प्रकार के अज्ञान की शुद्धि का कारण एवं प्रथम आराधना निर्दिष्ट किया गया है। आगे वहाँ उक्त सम्यक्त्व के बिना शम (कषायों का

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं हवदि।
तं परद्रव्यं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं॥
मो. प्रा. १७

१. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥
पंचा. का. १६, गो. जी. ५६०
जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववाहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥
दर्श. प्रा. २०

२. सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी॥५॥

३. सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माणि॥८७॥

४. अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त॥५॥ (पू.)
जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता॥९

५. सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं ×××। पंचा. का. १०७ (पू.); भ. आ. ३८; जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं। संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा॥१०८॥ धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं। १६० (पू.); धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य। आणाए सद्दहंतो सम्मत्ताराहओ भणिदो॥ भ. आ. ३६.

६. त. सू. अ. १, सू. २ व ४; श्रा. प्र. ६२-६३; पंचा. १-३; त. सा. १-४ व १-६; पु. सि. २२.

७. पु. सि. २१.

८. र. क. ४ व ३२.

दमन), ज्ञान, चारित्र और तप को निरर्थक भार (बोझ) स्वरूप बतलाया गया है।[1]

उपासकाध्ययन में आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है।[2] पूर्वोक्त रत्नकरण्ड में जो आप्त, आगम और तपस्वी के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है उसका अनुसरण करते हुए यहां 'तपोभृत्' के स्थान में 'पदार्थ' को ग्रहण किया गया है। रत्नकरण्डक में तीन मूढ़ताओं से रहित और आठ अंगों से सहित ये जो दो विशेषण श्रद्धान के लिए दिए गए हैं वे यहां भी है। विशेष यहां इतना है कि रत्नकरण्डक में श्रद्धान का तीसरा विशेषण जहां अस्मय (आठ मदों से रहित) है, वहां प्रकृति उपासकाध्ययन में वह तीसरा विशेषण प्रशमादिभाक्—प्रशम-संवेगादि गुणों से युक्त—है।

प्रज्ञपना (पण्णवणा) और उत्तराध्ययन सूत्र में निर्दिष्ट सरागदर्शनार्यों के दस भेदों में प्रथम निःसर्गरुचि है। इसके स्वरूप का निरूपण करते हुए वहां कहा गया है कि जीवाजीवादि पदार्थ जिसे भूतार्थरूप से—'ये पदार्थ सद्भूत हैं इस प्रकार—सहसमति (आत्मसंगतमति)—परोपदेशनिरपेक्ष जातिस्मरण व प्रतिभा आदि रूप मति से—अधिगत (ज्ञात) हैं उसे निसर्गरुचि कहा जाता है[3]। यहां जिस गाथा द्वारा यह स्वरूप कहा गया है उसका पूर्वार्ध आ० कुन्दकुन्दविरचित समयप्राभृत की गा० १५ के पूर्वार्ध से सर्वथा समान है[4]। प्रज्ञापना की उस गाथा में बन्ध, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का निर्देश नहीं है। उसकी टीका में आचार्य मलयगिरि ने उन्हें 'च' शब्द से सूचित बतलाया है।

गो. जीवकाण्ड में कहा गया है कि जो न तो इन्द्रिय-विषयों से विरत है और न त्रस-स्थावर जीवों के विषय में भी विरत है, पर जिन भगवान् के द्वारा प्ररूपित तत्त्व पर श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है[5]।

यहां तक जो सम्यग्दर्शन का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप है, निश्चय नया की अपेक्षा यह सम्भव नहीं है। उक्त लक्षणों में जो भिन्नता दिखती है उसका कारण विवक्षाभेद है, अभिप्राय में कुछ भेद नहीं है। सामान्य से सात तत्त्व व नौ पदार्थ जीव और अजीव इन दो के ही अन्तर्गत है, उनसे भिन्न नहीं है। नौ पदार्थों में जो पुण्य और पाप अधिक हैं वे आश्रव और बन्ध के अन्तर्गत हैं, विशेष विवक्षा से उन्हें पृथक् स्वीकार कर नौ पदार्थ माने गये है। सात तत्त्व या नौपदार्थरूप यह विभाग आत्मप्रयोजन को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

आत्मा का प्रयोजन मोक्ष है, जो जन्म-मरणरूप संसार का प्रतिपक्षी है उस ससार के कारण हैं आस्रव और बन्ध तथा मोक्ष के कारण हैं संवर और निर्जरा। उक्त आस्रव और बन्ध ये जीव और अजीव के आश्रित हैं। इस प्रकार आत्मप्रयोजन की सिद्धि में उक्त सात तत्त्व या नौ पदार्थ उपयोगी ठहरते हैं। अतएव इनके श्रद्धान को सम्यक्त्व कहना सर्वथा उचित है।

इसी प्रकार छह द्रव्यों में जीव के अतिरिक्त शेष पांच अजीव ही हैं। अतः उक्त छह द्रव्य भी जीव और अजीव के ही अन्तर्गत हैं। उनकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता को प्रकट करने के लिए ही उक्त भेद स्वीकार किये गये हैं।

आप्त, आगम और गुरु या पदार्थ की श्रद्धा को जो सम्यक्त्व कहा है वह भी अन्य लक्षणों से भिन्न नहीं है। कारण यह कि जब आप्त के ऊपर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है तब उसके द्वारा प्ररूपित गुरु और पदार्थ विषयक श्रद्धा तो स्वमेव होने वाली है।

इन सबके मूल में एक यही अभिप्राय रहा है कि आत्महितैषी इस तत्वव्यवस्था को समझ कर स्व और

---

१. आत्मानु. १० व १५.

२. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्। मूढाद्यपोढमष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक्॥ ४८, पृ. १३.

३. भूयत्थेणहिगया जीवाजीवे य पुण्णपावं च। सहसंमुइया आसव-संवरे य रोएइ उ निसग्गो॥ प्रज्ञाप. गा. ११६, पृ. ५६; उत्तरा. ३८-१७.

४. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णं-पावं च। आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्त॥ समयप्रा. १५; मूलाचार ५-६.

५. गो. जी. २६; सागारधर्मामृत (१-१३) में भी लगभग यही अभिप्राय प्रगट किया है।

पर के भेद को समझें और पर में राग-द्वेष को छोड़ कर पर से भिन्न शुद्ध आत्मा के विषय में रुचि करें। यही तो निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही तो यथार्थस्वरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को सम्यक्त्व कहा गया है[1]।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। जीव का स्वभाव निरावरण ज्ञान-दर्शन है जो उससे अभिन्न है। ज्ञान-दर्शनरूप इस स्वभाव में जो नियम से अनिन्दित—राग-द्वेष से रहित—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप अस्तित्व है, यह निश्चय मोक्षमार्ग है। जो अभिन्नस्वरूप आत्मा का स्वयं आचरण करता है—स्वभावनियत उस अस्तित्व का अनुभव करता है (चारित्र), स्वप्रकाशकस्वरूप से जानता है (ज्ञान) और देखता है—यथार्थस्वरूप का अवलोकन करता है (सम्यग्दर्शन) वही निश्चयसे चारित्र, ज्ञान और दर्शन है—आत्मा से भिन्न वे चारित्र, ज्ञान व दर्शन नहीं है[2]। इन तीनों स्वरूप आत्मा को ही, जो कि अन्य कुछ भी नहीं करता है, निश्चयनय की अपेक्षा मोक्ष मार्ग कहा गया है। इसी को स्वचरित या स्वसमय कहा जाता है। यह निश्चय मोक्ष मार्ग साध्य है और उसका साधक है पूर्वोक्त व्यवहार मोक्षमार्ग। आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय गा. १६० की उत्थानिका में निश्चय और व्यवहार में साध्य साधकभाव को प्रगट करते हुए पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना को उक्त दोनों नयों के अधीन बतलाया है[3]।

आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में भी स्पष्टरूप से यह कहा है कि निश्चय और व्यवहाररूप से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें प्रथम (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य और दूसरा साधन है। शुद्ध आत्मविषयक जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा होती है; यह सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है[4]। अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में उक्त अमृतचन्द्र सूरि ने किसी एक धर्म को प्रधान और दूसरे धर्म को गौण करके वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाली इस अनेकान्तमयी जैनी नीति के विषय में, एक ओर से मथानी की रस्सी को खींचने वाली और दूसरी ओर से उसे ढीली करने वाली ग्वालिन का, उदाहरण देते हुए उस जैनी नीति का जयकार मनाया है[5]।

सम्यक्त्व की प्राप्ति

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्ध पुद्गलपरिवर्तन मात्र के शेष रहने पर सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के अभिमुख हुआ जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, भव्य और पर्याप्त होता है एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त जीव उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि भी उक्त प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं होते। पूर्वोक्त जीव भी जब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन प्रकार की विशुद्धि से विशुद्ध होता है तब वह अनिवृत्तिकरणरूप विशुद्धि के अन्तिम समय में उस प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है। सम्यक्त्वग्रहण के पूर्व जीव के ये पाँच लब्धियां होती हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि। पूर्वसंचित कर्मों के अनुभागस्पर्धक जब विशुद्धि के बल से उत्तरोत्तर प्रत्येक समय में अनन्तगुणे हीन होते हुए उदय को प्राप्त होते है तब क्षयोपशमलब्धि होती है।

---

१. सम्यक्प्रा. १५.

२. पंचास्तिकाय गा. १५४ व १६१-६२.

३. यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत् स्व-परप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद्विप्रतिषिद्धम्, निश्चय-व्यवहारनयोः साध्य-साधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत्। अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।

४. निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः॥
त. सा. उपसं. २-४.

५. एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥
पु. सि. २२५.

प्रतिसमय अनन्तगुणे हीन क्रम से उदय को प्राप्त होनेवाले उक्त अनुभागस्पर्धकों से सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो के बन्ध का कारणभूत तथा असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियो के बन्ध का विरोधी जो परिणाम होता है उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेशरूप देशना मे व्यापृत आचार्य आदि की प्राप्ति के साथ उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण एवं चिन्तन योग्य शक्ति की प्राप्ति को देशनालब्धि कहा जाता है। कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के होने पर प्रथमोपशम-सम्यक्त्व का प्राप्त होना सम्भव नही है। इसलिए सब कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति को घातकर जब उन्हे अन्तः-कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण स्थिति मे स्थापित कर दिया जाता है तथा उनके उत्कृष्ट अनुभाग को भी घातकर जब लता और दारुरूप (अप्रशस्त अघाति कर्मों के अनुभाग को नीम और काजीररूप) दो स्थानो मे स्थापित कर दिया जाता है तब प्रायोग्यलब्धि होती है।

ये चार लब्धियाँ साधारण है—वे भव्य के समान अभव्य के भी सम्भव है। पर पाचवी करणलब्धि भव्य के ही होती है, अभव्य के वह नही होती।

भव्य के भी वह तभी होती है जब वह सम्यक्त्व-ग्रहण के समुख होता है। करण का अर्थ परिमाण है। पूर्वोक्त चार लब्धियो के होने पर जीव करणलब्धि के योग्य भाववाला हो जाता है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकार के परिणामो की प्राप्ति का नाम ही करणलब्धि है।

उक्त करणलब्धि मे प्राप्त होने वाले वे अधःप्रवृत्त आदि परिणाम उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि को प्राप्त करते है[1]। इस विशुद्धि के बल से प्रायोग्यलब्धि मे जो अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों का अनुभाग दो स्थानों में स्थापित किया गया था, उसे अब प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणा हीन बांधता है तथा प्रशस्त प्रकृतियो के चतुःस्थान वाले अनुभाग को प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अधिक बांधता है। इस प्रकार अधःकरण और अपूर्वकरणकाल (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण) के बीत जाने पर जब अनिवृत्तिकरण के काल का भी संख्यात बहुभाग बीत जाता है तब मिथ्यात्व का अन्तरकरण किया जाता है। इस अन्तरकरण के द्वारा उदय मे आने योग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड कर ऊपर की अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वाले निषेकों का परिणामविशेष के द्वारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की (प्रथमस्थिति) और ऊपर की (द्वितीयस्थिति) स्थिति मे मिला कर बीच मे अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व के उदय को रोक दिया जाता है। इस अन्तरकरण के अन्तिम समय मे मिथ्यादर्शन को तीन भागों विभक्त करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीनों के साथ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के भी उदय का अभाव हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल के लिए प्रथमो-पशम सम्यग्दर्शन होता है[2]।

वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व चारों गतियों मे से किसी भी गति मे प्राप्त किया जा सकता है। विशेष इतना है कि नारकियों और देवो मे वह पर्याप्त होने के अन्तमुहूर्त बाद प्राप्त किया जा सकता है। तिर्यचो मे गर्भज सज्ञी पचे-न्द्रिय तिर्यच जीव ही पर्याप्त होते हुए दिवसपृथक्त्व के बाद उसे प्राप्त कर सकते है। मनुष्य यदि उसे उत्पन्न करते है तो वे पर्याप्त होकर आठ वर्ष की आयु के बाद ही उत्पन्न कर सकते है।

पूर्वनिर्दिष्ट दर्शनमोहनीय का उपशम उसका अन्तरंग कारण है। उसके साथ यथासम्भव कुछ पृथक्-पृथक् बाह्य कारण भी है। जैसे—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदनाभि-भव, जिनबिम्बदर्शन व देवर्द्धिदर्शन आदि[3]।

बिशेषावश्यक भाष्य में इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के विषय में कहा गया है कि आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से एक भी प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार उक्त कर्मों की जघन्य स्थिति मे भी उनका लाभ नही होता। किन्तु जब उक्त कर्मों की स्थिति

१. जिज्ञासुओं को इन करणों का विशेष विवरण षट्-खण्डागम की धवला टीका (पु. ६, पृ. २१४ आदि) में देखना चाहिए।

२. त. वा. ६, १, १२.

३. देखिये षट्खण्डागम १, ९-९, १-४३, पु. ६, पृ. ४१८-३७; त. वा. २ ३, २.

को कोडाकोड़ि के भीतर करके उस अन्तःकोडाकोडि मे भी जब पल्योपम का असख्यातवां भाग क्षीण हो जाता है तब ग्रन्थि का आविर्भाव होता है। यह ग्रन्थि उत्कट राग-द्वेष परिणामरूप है। जिस प्रकार किसी लकडी की कठोर गांठ कठिनता से तोड़ी जा सकती है, उसी प्रकार प्रकृत सघन राग-द्वेष को भी कठिनता से नष्ट किया जा सकता है। इसी से उन्हे ग्रन्थि के समान होने से 'ग्रन्थि' नाम से कहा गया है। इस ग्रन्थि के विदीर्ण होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत उक्त सम्यक्त्वादि का लाभ होता है[१]।

उस ग्रन्थि का विदारण करणविशेष के द्वारा होता है। करण से अभिप्राय परिणाम का है। वह तीन प्रकार का है—अथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनमें अथाप्रवृत्तकरण भव्य के समान अभव्य के भी सम्भव है। पर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये दो करण तो भव्य के ही होते हैं, अभव्य के नही। प्रथम अथाप्रवृत्तकरण ग्रन्थिस्थान तक रहता है। जिस प्रकार पहाड़ी नदी के अन्तर्गत पाषाण परस्पर के सघर्षण से बिना किसी प्रकार के अभिप्राय के स्वयमेव अनेक आकारों मे परिणत होते है उसी प्रकार अथाप्रवृत्तकरण के द्वारा ग्रन्थिस्थान तक कर्मो की अतिशय दीर्घ स्थिति की हीनता भी स्वयमेव होती है। पर अपूर्वकरण परिणाम उस ग्रन्थि के भेदन करने वाले के ही होता है। और अनिवृत्तिकरण परिणाम उसी के होता है जो सम्यक्त्व के अभिमुख है। इन तीनों करणों के लिए चीटियो के दृष्टान्त इस प्रकार दिये गये है—जिस प्रकार चीटियों का स्वाभाविक गमन पृथिवी के ऊपर होता है इसी प्रकार पूर्वप्रवृत्त या अथाप्रवृत्तकरण स्वभाव से होता है। वे ही चीटियां जिस प्रकार ठूंठ के ऊपर चढती है, इसी प्रकार से अपूर्वकरण परिणाम ग्रन्थि के भेदन करने वाले के होता है। जिस प्रकार चीटियां उड़कर ठूंठ के ऊपर जा बैठती हैं उसी प्रकार अनिवृत्तिकरण परिणाम के द्वारा जीव सम्यक्त्व-शिखर पर जा बैठता है। ठूंठ ग्रन्थि के समान है। जिस प्रकार चीटियां ठूंठ से लौट कर पुनः पृथिवी पर परिभ्रमण करती हैं उसी प्रकार उक्त ग्रन्थि के भेदने मे अशक्त जीव पुनः कर्मों की स्थिति को वृद्धिगत करते है[२]।

दूसरा दृष्टान्त तीन पथिकों का भी दिया गया है—जिस प्रकार कोई तीन पथिक स्वाभाविक गमन करते हुए किसी सघन वन को प्राप्त होते हैं। वे वहां भयस्थान को देखकर शीघ्रगति से लबा मार्ग लांघने में उद्यत होते है। इतने में दो चोर प्राप्त होते हैं। उन्हें देखकर उक्त तीन पथिकों मे से एक तो पीछे लौट पड़ता है, दूसरा उनके द्वारा पकड़ लिया जाता है, तथा तीसरा उनसे अस्पृष्ट होकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त हो जाता है। प्रकृत मे यहाँ तीन पथिकों के समान तीन प्रकार के ससारी प्राणी है, मार्ग के समान अतिशय दीर्घ कर्मस्थिति है, भयस्थान ग्रन्थिदेश है, दो चोर राग-द्वेष है, लौटने वाले पथिक के समान कर्मस्थिति को बढाने वाला अनिष्ट परिणाम है, चोरों से पकडा गया प्रबल राग-द्वेषयुक्त ग्रन्थिकसत्त्व है—ग्रन्थिभेदन में अशक्त अथवा उसके भेदन मे संलग्न जीव है, और अभीष्ट स्थान को प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव है[३]।

जिस प्रकार कोई ज्वर तो स्वय नष्ट हो जाता है, कोई औषधि के प्रयोग से नष्ट होता है, और कोई ज्वर नष्ट होता ही नही है; इसी प्रकार कोई मिथ्यादर्शनरूप ज्वर स्वय नष्ट हो जाता है, कोई जिनवचनरूप औषधि के प्रयोग से नष्ट होता है, और कोई नष्ट होता ही नही है[४]।

सम्यक्त्व के अभिमुख जीव अपूर्वकरण परिणाम के द्वारा कोदो (एक प्रकार का छोटे दाने वाला धान्य) के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है—अनुभाग की अपेक्षा उसे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व मे परिणत करता है। और अनिवृत्तिकरण के द्वारा वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है[५]।

सम्यग्दर्शन के भेद

वह सम्यग्दर्शन निसर्गज व अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जो सम्यग्दर्शन स्वभाव से—परोपदेश के

१. विशेषा. (ला. द. भा. सं. विद्यामन्दिर अहमदाबाद) से ११८८-९३.

२. विशेषा. १२०५-७.

३. वही १२०८-११.

४. वही १२१३.

५. वही १२१५.

बिना—उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशपूर्वक जीवादिविषयक अधिगम (ज्ञान) के निमित्त से होता है उसे अधिगमज कहा जाता है। अन्तरग कारण जो दर्शनमोहनीय का उपशमादि है वह इन दोनों ही मे समान है—आवश्यक है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से वह तीन प्रकार का भी है। इनमे औपशमिक दो प्रकार का है, प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम का स्वरूप कहा जा चुका है। सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव जब उपशमश्रेणिपर आरूढ़ होने के अभिमुख होता है तब वह अनन्तानुबन्धिचतुष्टय का विसयोजन करता हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जिस उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।

दर्शनमोहनीय के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है। इस दर्शनमोहनीय की क्षपणा को अढ़ाई द्वीपों में वर्तमान कर्मभूमि का मनुष्य ही प्रारम्भ करता है। अढ़ाई द्वीपो मे भी जहाँ तीर्थंकर केवली जिन (अथवा जिन—श्रुतकेवली, सामान्य केवली या तीर्थंकर केवली) विद्यमान हों वहाँ उनके पादमूल मे ही वह उसे प्रारम्भ करता है। परन्तु उस क्षपणा की समाप्ति चारों गतियो में भी सम्भव है, प्रारम्भ उसका केवल मनुष्य-गति मे होता है[1]।

अनन्तानुबन्धिचतुष्टय, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व के उदयक्षय से, सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है। इसमें चूंकि सम्यक्त्वप्रकृति का वेदन (अनुभवन) होता है, अतः क्षायोपशमिक के समान उसकी वेदक सज्ञा भी सार्थक है।

उक्त सम्यग्दर्शन दस प्रकार का भी है—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन। वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा मात्र के आश्रय से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे आज्ञा-सम्यक्त्व कहते है। निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जो रुचि होती है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहा जाता है। तीर्थंकर व बलदेव आदि के पवित्र चरित्रविषयक उपदेश के आलम्बन से जो श्रद्धा होती है वह उपदेशसम्यक्त्व कहलाता है। दीक्षा और मर्यादा के प्ररूपक आचार-शास्त्र के सुनने मात्र से उत्पन्न होने वाले तत्त्वश्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहा जाता है। बीजपदों के निमित्त से जो सूक्ष्म तत्त्वो का श्रद्धान उत्पन्न होता है, इसका नाम बीजसम्यक्त्व है। जीवादि पदार्थों का सक्षिप्त ज्ञान कराने से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा को संक्षेपसम्यक्त्व कहते है। अंग-पूर्वों के विषयभूत जीवादि पदार्थों का प्रमाण व नयादि के साथ विस्तार से निरूपण करने पर जो तत्त्वश्रद्धा होती है उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते है। वचनविस्तार के बिना अर्थ के ग्रहण से जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है उसे अर्थसम्यग्दर्शन कहा जाता है। द्वादशांग के विषय में जो स्थिर अभिप्रायपूर्वक श्रद्धान होता है उसे अवगाढसम्यग्दर्शन कहते है। परमावधि, केवलज्ञान और केवलदर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के आश्रय से जो आत्मा मे निर्मलता होती है, इसका नाम परमावगाढ़सम्यग्दर्शन है[1]।

सम्यक्त्व के दस भेद प्रज्ञापनासूत्र और उत्तराध्ययन मे भी उपलब्ध होते है, पर उनमे वे इनसे कुछ भिन्न भी हैं। यथा—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेप-रुचि और धर्मरुचि। जैसे तत्त्वार्थवार्तिक में दर्शनआर्यों के प्रसंग मे उक्त दस भेद निर्दिष्ट किए गये है वैसे ही यहाँ भी सराग दर्शनआर्यों के ये सम्यक्त्वगर्भित दस भेद कहे गये हैं। उनका स्वरूप यहां इस प्रकार कहा गया हैं—ये पदार्थ सद्भूत है, इस प्रकार से जिसे जीवाजीवादि नौ पदार्थ आत्मसंगतमति से—जातिस्मरणादिरूप बुद्धि से—ज्ञात हैं, उसे निसर्गरुचि कहा जाता है। इसी को

१. दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि ? अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्दे सु पण्णारसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ॥ णिट्ठवओ पुण चदुसु वि गदीसु णिट्ठवेदि ॥ (षट्खं. १, ९-८, ११-१२. पु. ६, पृ. २४३-४७.)

१. त. वा. ३-३६, पृ. २०१; आत्मानु. ११-१४; उत्तर-पु. ७४, ४३९-४९; उपासका. पृ. ११३-१४; अन. ध. २-६२.

स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया है कि द्रव्य-क्षेत्रादि अथवा नाम-स्थापनादि के भेद से चार भेदों मे विभक्त उक्त जीवाजीवादि पदार्थ जिस प्रकार से जिनदेव के द्वारा देखे गये है वे उसी प्रकार है, अन्यथा नही है; इस प्रकार से जो स्वय—परोपदेश के बिना—श्रद्धान करता है उसे निसर्गरुचि जानना चाहिए। २. जो पर से—छद्मस्थ अथवा जिनसे—उपदिष्ट इन्ही पदार्थो का श्रद्धान करता है उसे उपदेशरुचि जानना चाहिए। ३. जो विवक्षित अर्थ के ज्ञापक हेतु को न जानता हुआ आज्ञा मात्र से आगमोक्त पदार्थो का श्रद्धान करता है उसे आज्ञारुचि कहा जाता है। ४. जो सूत्रों को पढता हुआ अग और अगबाह्य श्रुत से सम्यक्त्वका अवगाहन करता है उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए। ५. जिस प्रकार तेल की एक बूद जल के एक देश में गिरकर समस्त जल के ऊपर फैल जाती है इसी प्रकार जो सम्यक्त्व—सम्यग्दृष्टि जीव—एक पद से जीवादि अनेक पदो मे फैलता है—उन्हे जानता है—वह बीजरुचि कहलाता है। ६. जिसका श्रुतज्ञान अर्थतः ग्यारह अगो, प्रकीर्णको (उत्तराध्ययनादि) और दृष्टिवाद को विषय करता है उसका नाम अधिगमरुचि है। ७. जिसे द्रव्यों की सब पर्यायें प्रमाण और नयों के आश्रय से उपलब्ध (ज्ञात) है उसे विस्ताररुचि जानना चाहिए। ८. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय तथा सब समितियो व गुप्तियो के आचरण मे जिसे भाव से रुचि है उसे क्रियारुचि कहा जाता है। ९. जो मिथ्याबुद्धि से गृहीत नही है तथा जो प्रवचन (जिनागम) में निपुण नही है, पर शेष मे—कपिलादिप्रणीत दर्शनों में—अनभिगृहीत है—उन्हे उपादेय मानकर ग्रहण नही करता है—उसे संक्षेपरुचि जानना चाहिए। १०. जो जीवादि अस्तिकायों के धर्म (स्वभाव) का, श्रुतधर्म का और चारित्रधर्म का श्रद्धान करता है उसका नाम धर्मरुचि है[१]।

इनके अतिरिक्त उक्त सम्यग्दर्शन के कारक, रोचक और दीपक आदि अन्य भी कुछ भेद देखे जाते है। जिस सम्यग्दर्शन के होने पर आगम मे जहाँ जैसा अनुष्ठान कहा गया है उसे उसी प्रकार से जो किया जाता है, इसका नाम कारक (कराने वाला) सम्यक्त्व है। जो आगमोक्त अनुष्ठान मे रुचि मात्र कराता है उसे रोचक सम्यग्दर्शन कहते है[२]। स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर भी जिस परिणाम के द्वारा धर्मकथा (धर्मोपदेश) आदि के निमित्त से श्रोता को सम्यक्त्व प्रगट कराता है उसे कारण मे कार्य के उपचार से दीपक सम्यग्दर्शन कहा जाता है[३]।

उस सम्यग्दर्शन के सामान्य से सराग और वीतराग ये दो भेद भी निर्दिष्ट किये गये है। सराग जीव के—असंयतसम्यग्दृष्टि से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक—जो प्रशम-संवेगादि गुणों की अभिव्यक्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है उसे सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उपशान्तकषाय आदि वीतराग जीवों के जो आत्मविशुद्धिस्वरूप है उसका नाम वीतरागसम्यग्दर्शन है[४]।

प्रज्ञापनासूत्र मे दर्शनआर्यो के दो भेद निर्दिष्ट किये गये है—सरागदर्शन-आर्य और वीतरागदर्शन-आर्य। इनमे सरागदर्शन-आर्यो के जो दस भेद निर्दिष्ट किये गये है वे ऊपर कहे जा चुके है। वीतरागदर्शन-आर्यो के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं, उपशान्तकषायवीतरागदर्शन-आर्य और क्षीणकषायवीतरागदर्शन-आर्य। आगे इनके भी अवान्तरभेदों को गिनाते हुए क्षीणकषाय-वीतरागदर्शन-आर्यो के छद्मस्थक्षीणकषाय-वीतरागदर्शन-आर्य और केवलिक्षीणकषायवीतरागदर्शन-

---

१. प्रज्ञापना १, गा. ११५-२६; उत्तराध्ययन २८, १६–२७.

२. दर्शनप्राभृत में (२२) कहा गया है कि जो अनुष्ठान शक्य है—किया जा सकता है—उसे किया जाता है, पर जो शक्य नही है उसका श्रद्धान करना चाहिए—उसमे रुचि अवश्य रखना चाहिए। इस प्रकार से श्रद्धा या रुचि रखने वाले जीव के सम्यक्त्व कहा गया है।

३. श्रा. प्र- ४९-५०; धर्मसंग्रहणी ८०२-३.

४. तद्द्विविधम्—सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मशुद्धिमात्रमितरत्। स. सि. १-२; त. वा. १, २, २९-३१; तत् सरागं विरागं च द्विधा× × ×॥ ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्ष्म्। विरागे दर्शनं स्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम्॥ अन. ध. २, ५०–५१

आर्य ये दो भेद कहे गये है। इनमे भी केवलिक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य सयोगिकेवलिक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य और अयोगिकेवलिक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य के भेद से दो प्रकार कहे गये है[1]।

सम्यक्त्व को पहिचान

सम्यक्त्व यह अमूर्तिक आत्मा का परिणाम है, अतएव उसे छद्मस्थ देख तो नही सकता,[2] पर सम्यग्दृष्टि मे जो कुछ विशेष गुण हुआ करते है उनके द्वारा उसका—सराग सम्यक्त्वका—अनुमान किया जा सकता है। वे गुण है प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। रागादि की तीव्रता का न होना, इसका नाम प्रशम है। ससार से भयभीत रहना, इसे सवेग कहा जाता है। समस्त प्राणियो में मित्र जैसा स्नेह रखना, इसे अनुकम्पा कहते है। जीवादिक पदार्थ यथायोग्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार है, ऐसा निश्चय करना; इसका नाम आस्तिक्य है[3]। ये ऐसे हेतु है, जिनके द्वारा उस सम्यक्त्व के अस्तित्व का अनुमान मात्र किया जा सकता है। पर उनके अभाव मे सम्यक्त्व के अभाव का निश्चय अवश्य किया जा सकता है।

श्रावकप्रज्ञप्ति[4] और धर्मसंग्रहणी[5] में सम्यग्दृष्टि जीव की परिणति को प्रगट करते हुए कहा गया है कि सम्यक्त्व, जो आत्मा का परिणाम है, वह उपशम (प्रशम) और संवेग आदि (निर्वेद, अनुकम्पा व आस्तिक्य) प्रशस्त व्यापारस्वरूप बाह्य उपायो के द्वारा जाना जाता है। यहाँ उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कीट-कालिमा से रहित सुवर्ण कभी मलिन नही होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का परिणाम दर्शनमोहादिरूप मल-कलक से रहित हो जानेके कारण कभी अशुभ—रागद्वेषादि रूप—नही होता है, किन्तु वह प्रशमादिरूप शुभ ही होता है। वह स्वभाव से कर्मो के अशुभ परिपाक को जानता हुआ अपराधी के भी ऊपर कभी क्रोध नही करता। यह उसके उपशम (प्रशम) गुण का परिणाम है। वह चक्रवर्ती और इन्द्र के सुख को परिणामतः दुख ही मानता है। इस प्रकार से वह सवेग गुण से विभूषित होकर मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही चाहता है। नारक आदि चारो गतियो मे रहता हुआ वह परलोक में हितप्रद अनुष्ठान को छोड़कर अन्य सबको असार मानता है। इस निर्वेद गुण के कारण वह ममत्वभाव से रहित होता है। वह ससार मे परिभ्रमण करते हुए दुखी जीवों के विषय मे स्वकीय और परकीय की कल्पना से रहित होकर शक्ति के अनुसार सबसे दयापूर्ण व्यवहार करता है। वह निःशक होकर उसी को सत्य मानता है, जिसे जिनेन्द्र ने कहा है। वह काक्षा आदि सम्यक्त्वविरोधी प्रतिकूल परिणामों से दूर रहता है। इस प्रकार की शुभ परिणति वाला सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े ही समय मे मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अन्त में यहाँ इस प्रकार के सम्यक्त्व को ही मुनिधर्म और मुनिधर्म को ही सम्यक्त्व निर्दिष्ट किया गया है।

गुण-दोषविचार

सम्यक्त्व के परिचायक उपर्युक्त प्रशमादि गुणो के अतिरिक्त उसको विशुद्ध बनाने वाले निःशकित आदि आठ अगो या गुणों का परिपालन भी सम्यग्दृष्टि के लिए आवश्यक बतलाया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि जिस प्रकार एक आध अक्षर से विहीन मंत्र कभी सर्पादि के विष की वेदना को दूर नही कर सकता है उसी प्रकार निःशंकितादि अगों से रहित सम्यग्दर्शन ससार-परिभ्रमण को नष्ट नही कर सकता है[6]। इसे दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है — जिस प्रकार हमारे शरीर का यदि कोई अग—हाथ-पांव आदि—खण्डित हो जाता है तो उससे सम्पन्न होने वाले कार्य को हम नही कर सकते है, इसी प्रकार सम्यक्त्व के अगभूत उक्त निःशंकितादि अंगों में किसी एक के न होने पर वह सम्यक्त्व जन्म-मरण के विनाशरूप अपने कार्य को पूरा नही कर सकता है। अतः दर्शनविशुद्धि के लिए अगों का परिपालन आवश्यक है। वे अंग आठ ये है—निःशकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

---

१. प्रज्ञापना सूत्र ३७, पृ. ५६-५७.

२. इदं च सम्यक्त्वमात्मपरिणामरूपत्वाच्छद्मस्थेन दुर्लक्ष्यमिति लक्षणमाह—श्रा. प्र. टीका (गा. ५३ की उत्थानिका)

३. त. वा. १, २, ३०.

४. श्रा. प्र. ५३-६१.

५. ध. स. ८०६-१४.

६. रत्नकरण्डक २१.

निःशंकित—समयप्राभृत मे निःशकित का स्वरूप दिखलाते हुए कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव शंका से रहित होने के कारण निर्भय होते है। और चूकि वे सात भयों से रहित होते है, अतएव निःशक होते है[1]। शका का अर्थ सन्देह और भय भी होता है। सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ जिन प्ररूपित आगम पर श्रद्धा रखता है, अतएव वह अमुक तत्त्व ऐसा ही है, अन्यथा नही है; ऐसा दृढ श्रद्धानी होता है[2]। इसके अतिरिक्त वह इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिकभय—इन सात भयों से[3] भी रहित होता है। कारण यह कि उसने बाधा के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग; इन चारों को नष्ट कर दिया है।

सम्यग्दृष्टि के उक्त सात भय किस कारण से नही होते हैं, इसका सुन्दर विवेचन अमृतचन्द्र सूरि ने नाटक समयसार-कलश में[4] इस प्रकार से किया है—१-२ शुद्ध आत्मा का जो यह एक केवलज्ञानरूप चेतनलोक है उसे स्वयं ही अकेला देखता है—अनुभव करता है, इसके अतिरिक्त आत्मा का और कोई दूसरा लोक नही है। ऐसी अवस्था मे शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि को भला इस लोक और परलोक से कैसे भय हो सकता है? नही हो सकता। वह सदा उस स्वाभाविक ज्ञान को ही प्राप्त करता है—अनुभव करता है।३ निश्चल जो ज्ञान है, जहां वेद्य-वेदक का भी भेद नहीं है, यही एक वेदना है और उसी एक का वेदन निराकुल सम्यग्दृष्टि किया करते है। पर पदार्थों से सम्बद्ध अन्य कोई वेदना है ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के अन्य किसी भी वेदना का भय नही रहता, वह तो अपने स्वाभाविक ज्ञान का ही वेदन किया करता है।४ जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, यह वस्तुस्थिति है—अकाट्य नियम है। अब जब ज्ञान स्वयं सत् है तब उसका नाश असम्भव है। इस प्रकार से वह स्वय सुरक्षित है, फिर भला उसे अत्राण (अरक्षण) का भय कहाँ से हो सकता है?५ वस्तु का जो निजी रूप है वही उसकी उत्कृष्ट गुप्ति है। अपने उस स्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता है। आत्मा का स्वरूप अनादि-निधन ज्ञान है। उसके लिए गुप्ति (दुर्ग आदि) की आवश्यकता नहीं है। फिर भला उसे अगुप्तिभय कैसे बाधित कर सकता है?।६ प्राणो के विनाश को मरण कहा जाता है। आत्मा के प्राण वह ज्ञान है जो स्वय शाश्वत (अविनश्वर) है, वह किसी के द्वारा छेदा भेदा नही जा सकता है। इस प्रकार जब ज्ञानी का मरण सम्भव नही है तब उसे उसका भय कहाँ से हो सकता है? असम्भव है वह।७ अनादि, अनन्त व स्थिर जो एक ज्ञान है वह स्वतः सिद्ध होने से सदा ही रहने वाला है, यहां दूसरे किसी का उदय नहीं है। इसलिए यहाँ आकस्मिक—अकस्मात् प्राप्त होने वाला—कुछ भी नहीं है। ऐसी अवस्था मे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के आकस्मिक भय असम्भव है। वह तो निर्भय होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञान का स्वयं वेदन किया करता है। इस प्रकार ज्ञान-सर्वस्व से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि के परिचायक ये निःशंकितत्व आदि गुण उसके कर्म को नष्ट करते है। उसके नवीन कर्म का वन्ध तो होता नहीं, साथ ही पूर्वोपार्जित कर्म की अनुभवपूर्वक निर्जरा भी होती है।

निष्कांक्षित—समयप्राभृत[5] तत्त्वार्थवार्तिक[6] और पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे[7] निष्कांक्षित के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो कर्म के फल मे—विषय-भोगजनित सुख के विषय मे—तथा सब धर्मों मे—वस्तुस्वभावों के विषय मे—इच्छा नहीं करता है उसे कांक्षा से रहित (निष्कांक्षित) सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। रत्नकरण्डक मे पराधीन, विनश्वर, दुखप्रद और पाप के

१. समयप्रा. २४६. २. रत्नक. ११.

३. त.वा. (६,२४,१) में ये सात भय इस प्रकार निर्दिष्ट किए गये है—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, असंयमभय, अरक्षणभय और आकस्मिकभय। आवश्यक सूत्र की हरि. वृत्ति (भा. १८४, पृ. ४७२ व ४७३) मे ये सात भय इस प्रकार कहे गये हैं—इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, अश्लोकभय, आजीविकाभय और मरणभय।

४. नाटक समयसारकलश (प्रथम गुच्छक) ७,२३-२८.

५. समयप्रा. २४८. ६. त. वा. ६,२४,१.

७. पु. सि. २४.

कारणभूत सुख में विश्वास न करना—उसे हेय समझना, इसे अनाकांक्षणा (निष्कांक्षित) अग कहा गया है[१]।

निर्विचिकित्सा—समयप्राभृत मे निर्विचिकित्सा का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो सभी धर्मों में—विविध प्रकार के वस्तुस्वभावो के विषय मे—घृणा नही करता है उसे निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[२]। रत्नकरण्डक में उसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—शरीर यद्यपि स्वभाव से ही अपवित्र है, फिर भी वह (मनुष्यशरीर) चूकि रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण है, अत: उससे घृणा न करके गुणों के कारण जो तद्विषयक अनुराग होता है इसे निर्विचिकित्सा अग माना गया है[३]। तत्त्वार्थवार्तिक मे उसके लक्षण को दिखलाते हुए कहा गया है कि शरीर आदि के अपवित्र स्वभाव को जानकर 'वह पवित्र है' इस प्रकार की मिथ्या कल्पना न करना, अथवा 'यहां तपश्चरण आदिविषयक घोर कष्ट का विधान है जो योग्य नही है, यदि यह न होता तो सब संगत था' इस प्रकार आर्हत मतके विषय में निन्द्य बिचार न करना, इसे निर्विचिकित्सता कहा जाता है[४]। पुरुषार्थसिद्धचुपाय मे भूख, प्यास, शीत व उष्ण आदि अनेक प्रकार के भावों मे तथा मल-मूत्रादि द्रव्यो में घृणा न करने को निर्विचिकित्सित अंग कहा गया है[५]।

अमूढदृष्टि—जो सब कर्मभावो मे—कर्मजनित बाह्यविषयों मे—मूढता को प्राप्त नहीं होता है वह अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि कहलाता है[६]। रत्नकरण्डक में कहा गया है कि दु:खो के मार्गभूत कुमार्ग—मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र—की तथा उक्त कुमार्ग के आराधकों की मन, वचन व काय से प्रशंसा व स्तुति आदि न करना, इसे अमूढदृष्टि कहा जाता है[७]। एकान्तवादियो के द्वारा प्रणीत मिथ्या मतों की योग्य परीक्षा करते हुए उनमे युक्तिहीनता को देखकर मोह को प्राप्त न होना—उन्हे अग्राह्य समझना, यह तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार उक्त अमूढदृष्टि का स्वरूप है[८]।

उपगूहन या उपबृंहण—समयप्राभृत में कहा गया है कि जो सिद्धभक्ति से युक्त होकर समस्त धर्मों को—आत्मशक्तियों को—बढाता है अथवा मिथ्यात्व आदि विभाव भावों का आच्छादन करता है उसे उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[९]। रत्नकरण्डक के अनुसार स्वयं शुद्ध मोक्षमार्ग के विषय मे यदि अज्ञानी या असमर्थ जनों के कारण निन्दा होती हे तो उसे दूर करना, इसका नाम उपगूहन है[१०]।

तत्त्वार्थवार्तिक मे मार्दव आदि की भावना से आत्मधर्म के बढाने को तथा पुरुषार्थसिद्धचुपाय में उसके साथ दूसरों के दोषों के आच्छादित करने को भी उपबृंहण कहा गया है[११]।

स्थितिकरण—जो कुमार्ग मे जाते हुए अपने को (आत्मा को) मोक्षमार्ग में स्थापित करता है उस सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण से युक्त जानना चाहिए[१२]। पुरुषार्थसिद्धचुपाय मे अपने साथ परके भी स्थितिकरण का निर्देश किया गया है[१३]। रत्नकरण्डक के अनुसार सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र से च्युत होते हुए प्राणियो को जो धर्मानुरागी विद्वज्जनो के द्वारा पुन. उसमे स्थापित किया जाता है, इसे स्थितिकरण कहा गया है[१४]।

वात्सल्य—जो मोक्षमार्ग के विषय में साधकभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो मे अनुराग करता है, अथवा मोक्षमार्ग के साधक साधु जनो से अनुराग करता है उसे वात्सल्य गुण से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[१५]। रत्नकरण्डक के अनुसार अपने समूह मे वर्तमान—साधर्मिक—जनों का भक्तिपूर्वक निष्कपटता से यथायोग्य आदर-सत्कार करना, यह वात्सल्य का लक्षण है[१६]। तत्त्वार्थवार्तिक मे जिनप्रणीत धर्मविषयक अनुराग को तथा पुरुषार्थसिद्धचुपाय में अहिंसाधर्म के साथ सार्धमिकविषयक अनुराग को भी वात्सल्य कहा गया है[१७]।

१. रत्नक. १२. २. समयप्रा. २४९. ३. रत्नक. १३.
४. त. वा. ६, २४, १. ५. पु. सि. २५.
६. समयप्रा. २५०. ७. रत्नक. १४.
८. त. वा. ६, २४, १.

९. समयप्रा. २५१. १०. रत्नक. १५
११. त. वा. ६, २४, १; पु. सि. २७.
१२. समयप्रा. २५२; त. वा. ६, २४, १.
१३. पु. सि. २८. १४. रत्नक. १६. १५. समयप्रा. २५३.
१६. रत्नक. १७; दशवै. नि. हृ. वृत्ति १८२, पृ. १०३.
१७. त. वा. ६, २४, १; पु. सि. २९.

प्रभावना—जो स्वात्मोपलब्धिरूप ज्ञान-रथ पर चढ़ कर मनोरथ के वेगों को—राग-द्वेषादिरूप अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पों को—नष्ट करता है उसे जिनज्ञान-प्रभावी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[1]। रत्नकरण्डक के अनुसार जैनमतविषयक अज्ञान को दूर करके उसके माहात्म्य को प्रकाशित करना, यह प्रभावना का लक्षण है। दशवैकालिक निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित टीका मे भी लगभग ऐसा ही उसका लक्षण देखा जाता है[2]। तत्त्वार्थवार्तिक मे उसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना, इसे प्रभावना कहते हैं[3]। पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे आत्मप्रभावना के साथ ही दान, तप, जिनपूजा और ज्ञान के अतिशय द्वारा जिनधर्म को भी प्रभावित करना अभीष्ट रहा है[4]।

इस प्रकार यहाँ जिन कुछ ग्रन्थों के आधार से उक्त निःशकितादि अगो के लक्षण दिये गये है उनमे समयप्राभृत एक अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ है। कर्ममलीमस आत्मा को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कराना, यह उसका एक ही लक्ष्य रहा है। यहाँ भेद को गौण रखकर अभेद की प्रधानता से उक्त लक्षण किये गये है। निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा के अन्यत्र कही भी शकाकाक्षा आदि सम्भव नही है।

शेष ग्रन्थ व्यवहारप्रधान है, अतः वहां अभेद को गौण कर भेद की प्रधानता से उक्त लक्षण निर्दिष्ट किये गये है। हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक निर्युक्ति की टीका में गुण-गुणी के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उक्त निःशंकितादिकों का यह पृथक्-पृथक् निर्देश गुण की प्रधानता से गुण और गुणी में कथचित् भेद के ज्ञापनार्थ किया गया है। सर्वथा उनमे अभेद मानने पर गुण के अभाव का प्रसग प्राप्त होता है, और तब वैसी अवस्था मे गुण के बिना गुणी के भी अभाव का प्रसग प्राप्त होने पर शून्यता की आपत्ति दुर्निवार होगी[5]।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के निर्माता अमृतचन्द्र सूरि यद्यपि आध्यात्मिक सत रहे है, पर उन्होने भी व्यवहार की उपेक्षा नही की है। यथास्थान उसको भी उन्होने प्रधानता दी है। उनके द्वारा जो वे लक्षण किये गये है उनमे प्रायः प्रथमतः आत्मा को प्रधानता दी गई है और तत्पश्चात् बाह्य को भी। अन्तिम उद्देश्य सबका यही रहा है कि ससारी प्राणी अपने आत्मस्वरूप को पहिचाने और फिर यथासम्भव पर की ओर से निर्ममत्व होकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

उक्त गुणों के अतिरिक्त सम्यक्त्व को मलिन करने वाले कुछ दोष भी है, जिनसे बचकर उसे निर्मल रखा जा सकता है। वे दोष २५ है जो इस प्रकार है—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और उक्त आठ अगो के विपरीत आठ शका आदि[6]।

रत्नकरण्डक में जो सम्यग्दर्शन का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमें इन दोषो की भी सूचना की गई है। कारण कि वहाँ जिस आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है उसे आठ अगसहित तथा तीन मूढ़ताओ और आठ मदों से रहित बतलाया है। यहाँ तीन मूढ़ताओ और आठ मदो का तो स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। साथ ही आठ अंगों के निर्देश से उनके विपरीत आठ दोषो की भी सूचना कर दी गई है। अब केवल छह अनायतन रह जाते है सो आगे जाकर जहा सम्यग्दृष्टि के लिए भयादि के वश भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को प्रणाम एवं उनकी विनय करने का निषेध किया गया है[7] वहां इन अनायतनो की भी सूचना कर दी गई समझना चाहिए।

---

१. समयप्रा. २५४.

२. रत्नक. १८; दशवै. नि. ह. वृत्ति १८२, पृ. १०१-३.

३. त. वा. ६, २४, १.

४ पु. सि. ३०.

५. प्रकाराश्चोक्ता एव निःशङ्कितादयः। गुणप्रधानश्चायं निर्देशो गुण-गुणिनोः कथंचिद् भेदख्यापनार्थः, एकान्तभेदे तन्निवृत्तौ गुणिनोऽपि निवृत्तेः शून्यतापत्तिः। नि. १८२, पृ. १०३।२.

६. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पचविंशतिः॥ उपासका. २४१. (प. आशाधर ने इसे अनगारधर्मामृत (२-१०३) की अपनी टीका में उद्धृत किया है)

७. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥

मूढतायें ३

१ लोकमूढता—लोकरूढ़ि के अनुसार नदी या समुद्र को पवित्र मानकर उसमें स्नान करने में, बालु व पत्थरो आदि का ढेर करने मे, पर्वत से गिरने में और अग्निप्रवेश (सती आदि की प्रथा) में धर्म मानना इत्यादि लोकमूढता के अन्तर्गत हैं।

२ देवमूढता—अभीष्टप्राप्ति की इच्छा से राग-द्वेष आदि से मलिन देवताओं—काली, दुर्गा, भवानी एवं अन्य भूत-पिशाचादि की आराधना करना; इसे देवमूढता समझना चाहिए।

३ गुरुमूढ़ता—आरम्भ व परिग्रह में आसक्त रहकर हिंसादि में प्रवृत्त धूर्त साधुओं का आदर-सत्कार करना, यह गुरुमूढता कही जाती है।

पं. आशाधर ने श्रावक को भी संयमविहीन माता-पिता, गुरु, राजा, वेषधारी साधु (तापस व पार्श्वस्थ आदि) और कुदेवों (रुद्र आदि व शासन देवता) की वन्दना करने का निषेध करते हुए संयतों को तो उक्त माता-पितादि के साथ शास्त्रोपदेश के अधिकारी श्रावक की भी वन्दना करने का निषेध किया है[१]।

मद ८

ज्ञान प्रतिष्ठा, कुल (पितृवश), जाति (मातृवश), बल (शारीरिक शक्ति), धन-सम्पत्ति, अनशन आदि तप और शरीर की सुन्दरता; इन आठ के आश्रय से जो अभिमान हुआ करता है वह ज्ञानमद व प्रतिष्ठामद आदि के भेद से आठ प्रकार का मद माना जाता है।

शंका-कांक्षा आदि ८

निःशंकित आदि आठ अंगों के लक्षण निर्दिष्ट किए जा चुके हैं। उनके विरुद्ध क्रमशः शंका आदि के लक्षण समझना चाहिए।

अनायतन ६

आयतन का अर्थ स्थान होता है। जो धर्म के आयतन नहीं हैं, वे अनायतन कहलाते है। वे छह हैं—कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और इन तीनों के भक्त। अथवा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र और इन तीनों के आराधक; इन्हें भी अनायतन कहा जाता है[२]। कहीं पर असर्वज्ञ देव, असर्वज्ञ का आयतन, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञज्ञान-सहित पुरुष, असर्वज्ञानुष्ठान और असर्वज्ञानुष्ठान सहित पुरुष; इन्हें अनायतन माना गया है[३]।

अतिचार

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव; ये उक्त सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं[४]। अतिचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम और स्खलन ये समानार्थक शब्द हैं[५]। अभिप्राय यह है कि व्रत का जो कुछ अंश में भंग हो जाना है अथवा उससे कुछ स्खलित होना है, उसे अतिचार जानना चाहिए[६]।

उक्त शंकादि अतिचार यद्यपि पूर्वोक्त शंकादि दोषों के अन्तर्गत हैं, फिर भी विशेष विवक्षा से उनका उल्लेख कहीं-कहीं पर पृथक् से भी किया गया है[७]। तत्त्वार्थसूत्र

---

१. श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतैः॥
अन. ध. ८-५२.

२. भ. आ विजयो. टी. ४४; अन. ध. २-८४.

३. षडनायतनानि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि त्रीणि, त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः। अथवा असर्वज्ञ-असर्वज्ञायतन-असर्वज्ञज्ञान - असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषाऽसर्वज्ञानुष्ठानाऽसर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषलक्षणानि। आत्मानु. टीका १०, पृ० ११; चा. प्रा. टीका ६.

४. त. सू. ७-२३; भ. आ. (४४) में अन्यदृष्टिसंस्तव के स्थानमें 'अनायतनसेवना' को ग्रहण किया गया है।

५. अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलितमित्यनर्थान्तरम्। त.भा. ७ १८; दर्शन मोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतीचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। त. वा. ७, २३, ३; अतिचारः व्रतशैथिल्यम् ईषदसंयमसेवनं च। मूलाचार वृत्ति ११-११. (आचार्य अमितगतिने द्वात्रिंशिका [९] में विषयो में वर्तन को अतिचार बतलाया है।)

६. सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्।
मंत्र-तंत्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः॥
सा. ध. ४-१८

७. यथा—उपासकाध्ययन (१४६) में शंकादि अतिचारों का निर्देश किया गया है। इसी मे आगे (२४१) पच्चीस दोषों का भी निर्देश किया गया है।

और उसकी टीकाओं में पूर्वोक्त २५ दोषों का उल्लेख उपलब्ध नही होता। वहाँ केवल निःशंकित आदि आठ अंगों और इन पाँच अतिचारों का ही उल्लेख किया गया है[१]। वहाँ इन दोषों का अन्तर्भाव उन पाँच अतिचारों मे समझना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित दर्शन-प्राभृतादि ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख देखने में नहीं आता। आठ अंगों का उल्लेख समयप्राभृत[२] और चारित्र-प्राभृत[३] मे भी देखा जाता है। शंकादि दोषों का सामान्य निर्देश चारित्रप्राभृत मे[४] किया गया है। उक्त शंकादि दोषों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. शंका—तत्त्वार्थभाष्य में शंका के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि जिसने जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो भगवान् महावीर के शासन को भावतः स्वीकार चुका है, तथा जिसकी बुद्धि परकीय आगम की प्रक्रिया से अपहृत नही है—अर्थात् जो अरहंत के द्वारा प्रणीत तत्त्वों पर ही श्रद्धा रखता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के भी केवलज्ञान और आगम से गम्य अतिशय सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय मे 'ऐसा होगा कि नही' इस प्रकार का जो सन्देह होता है, उसे शंका कहते है। इसमे सम्यक्त्व मलिन होता है। श्रावकप्रज्ञप्ति मे इसकी अतिचारिता को दिखलाते हुए कहा गया है कि उक्त प्रकार की शंका से चूंकि अन्तःकरण मे मलिनता उत्पन्न होती है और साथ ही जिन भगवान् के विषय मे अश्रद्धा भी होती है जो सम्यक्त्व के योग्य नही है, अतएव इसे उसका अतिचार जानना चाहिए[५]।

तत्त्वार्थवार्तिक में इन शंकादि अतिचारों के विषय में यह कहा गया है कि उनका स्वरूप पूर्वोक्त निःशंकितादि के विपरीत समझना चाहिए[६]।

वह शंका देशशंका और सर्वशंका के भेद से दो प्रकार की है। आत्मा क्या असंख्यातप्रदेशी है अथवा प्रदेशों से रहित निरवयव है, इस प्रकार की देशविषयक शंका को देशशंका कहा जाता है। और समस्त अस्तिकायविषयक जो शंका होती है वह सर्वशंका कहलाती है[७]। देशशंका और सर्वशंका के दूसरे उदाहरण इस प्रकार भी उपलब्ध होते है—जीवत्व के समान होने पर भी एक भव्य और दूसरा अभव्य कैसे होता है? यह देशशंका का उदाहरण है। सर्वशंका—प्राकृतनिबद्ध होने से यह सब ही परि-कल्पित होगा। इस प्रकार की शंका करने वाला यह विचार नही करता है कि कुछ पदार्थ हेतुग्राह्य है और कुछ अहेतुग्राह्य भी है। जीव के अस्तित्वादि हेतुग्राह्य है, किन्तु भव्यत्व आदि हेतुग्राह्य नही है, क्योंकि उनके जो हेतु है वे हम जैसों की अपेक्षा प्रकृष्ट ज्ञान के विषयभूत हैं। प्राकृतनिबन्ध भी बाल आदि के लिए साधारण है। कहा भी है—बालक, स्त्री और मूर्ख तथा चारित्र की इच्छा रखने वालों के अनुग्रहार्थ तत्त्वज्ञो द्वारा प्राकृतनिबन्ध स्वीकार किया गया है[८]।

योगशास्त्र के स्वो. विवरण मे सर्वशंका का उदाहरण यह दिया गया है—धर्म है अथवा नही है? एक वस्तु-धर्म को विषय करने वाली देशशंका का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जीव केवल सर्वगत है या असर्वगत, अथवा वह प्रदेश सहित है या प्रदेश रहित[९]।

२ कांक्षा—तत्त्वार्थभाष्य मे इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की आकांक्षा को कांक्षा नामक सम्यग्दृष्टि का अतिचार बतलाया है। कांक्षा के अतिचार होने का कारण यह बतलाया गया है कि विषयाभिलाषी चूंकि गुण-दोष के विचार मे शून्य होता है, अतः वह इस प्रकार से—निषिद्ध के सेवन से—सिद्धान्त का उल्लंघन करता है[१०]।

---

१. स. सि. ६-२४ व त. वा. ६, २४, १.
२. समयप्रा. २४६-५४.
३. चा. प्रा. ७.
४. चा. प्रा. ६.
५. श्रा. प्र. ८६.
६. निःशंकितादयो व्याख्याता दर्शनविशुद्धिरित्यत्र, तत्प्रतिपक्षभूताः शंकादयो वेदितव्याः। त. वा. ७-२३
७. श्रा. प्र. टीका ८७; पंचाशक चूर्णि पृ. ४५.
८. दशवै. नि. हरि. वृत्ति १८२, पृ. १०१-२; धर्मबिन्दु मुनि-टीका २-११, पृ. १८.
९. सर्वविषया अस्ति वा नास्ति वा धर्म इत्यादि। देशशङ्का एकैकवस्तुधर्मगोचरा। यथा—अस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति। यो. शा. २-१७, पृ. १८६-८७.
१०. ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा कांक्षा। सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः। कुतः? कांक्षिता ह्यविचारितगुण-दोषः समयमतिक्रामति। त. भा. ७-१८.

श्रावकप्रज्ञप्ति मे अन्य-अन्य दर्शनो के ग्राह को कांक्षा का लक्षण बतलाया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उसकी टीका मे कहा गया है कि सुगतादि प्रणीत दर्शनों के विषय मे अभिलाषा करना, इसे कांक्षा कहते हैं। यह सम्यक्त्व का दूसरा अतिचार है। उक्त कांक्षा देश व सर्व के भेद से दो प्रकार की है। सौगत (बौद्ध) दर्शन में चित्तजय का प्रतिपादन किया गया है और वही चित्तजय मुक्ति का प्रधान कारण होने से संगत है व दूरापेत—अतिशय विरुद्ध—नही है। इस प्रकार विचार करते हुए एक ही बौद्ध दर्शन की आकांक्षा करना, इसे देशकांक्षा कहा जाता है। कपिल, कणाद और अक्षपादादि प्रणीत मत ही दर्शन अहिंसा के प्रतिपादक है। उनमें इस लोक-सम्बन्धी क्लेश का प्रतिपादन सर्वथा नही किया गया है, इसी से वे उत्तम दर्शन है। ऐसा मानकर सभी दर्शनो की इच्छा करना, यह सर्वकांक्षा कहलाती है[१]।

तत्त्वार्थभाष्य के उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए उसका आ. हरिभद्र और सिद्धसेन गणि विरचित वृत्तियो मे कहा गया है कि इस लोक सम्बन्धी विषय शब्दादिक है। सुगत ने भिक्षुओ को स्नान, अन्न-पान, आच्छादन और शयनीय आदि के सुखानुभव द्वारा क्लेशरहित धर्म का उपदेश दिया है। वह भी घटित होता है, दूरापेत नही है। तथा परिव्राजक आदिको के उपदेशानुसार ऐहिक विषयो का उपभोग करने वाले ही परलोक मे भी सुख से युक्त होते है। अतः यह धर्म का उपदेश बहुत ठीक है। इसी प्रकार परलोक—स्वर्ग व मनुष्यादि जन्म—सम्बन्धी शब्दादि विषयो की अभिलाषा करना।

पक्षान्तर मे यहाँ अन्य-अन्य दर्शनों के ग्रहण या उनकी अभिलाषा को भी कांक्षा अतिचार कहा गया है। तथा इसके लिए आगम का प्रमाण भी दिया गया है[२]।

विचिकित्सा—तत्त्वार्थभाष्य में विचिकित्सा के लक्षण मे कहा गया है कि 'यह भी है' इस प्रकार का जो बुद्धि-भ्रम होता है उसे विचिकित्सा कहते है[३]।

श्रावकप्रज्ञप्ति मे इस विचिकित्सा अतिचार का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि 'यह मेरा अर्थ सिद्ध होगा या नही' इस प्रकार सत् (समीचीन) अर्थ मे भी जो बुद्धिभ्रम होता है उसका नाम विचिकित्सा है। टीका मे इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है कि युक्ति और आगम से सगत भी अर्थ मे जो फल के प्रति संमोह या भ्रान्त बुद्धि होती है वह विचिकित्सा कहलाती है। इस प्रकार भ्रान्ति को प्राप्त हुआ व्यक्ति विचार करता है कि बालुके भक्षण के समान क्लेश को उत्पन्न करने वाले इन कनकावली आदि तपों का फल भविष्य मे कुछ प्राप्त होगा या नहीं, क्योकि खेती आदि की क्रियाये फल वाली और फल से रहित दोनो ही प्रकार की देखी जाती है। आगे वहाँ विचिकित्सा को विद्वज्जुगुप्सा भी बतला कर उसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो संसार के स्वभाव के ज्ञाता व सर्व परिग्रह से रहित है ऐसे विद्वान् साधुओं की निन्दा करना, यह विद्वज्जुगुप्सा है। जैसे—उनका शरीर स्नान न करने के कारण पसीने से मलिन और दुर्गन्ध से युक्त रहता है। यदि वे प्रासुक जल से स्नान कर लिया करें तो कौनसा दोष है[४]?

अन्यदृष्टिप्रशंसा—आर्हत मत से भिन्न मत के मानने वाले क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानिक और वैनयिक मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना—ये बहुत पुण्यशाली है, इनका जन्म सफल है; इत्यादि प्रकार से स्तुति करना, यह अन्यदृष्टिप्रशंसा नाम का सम्यग्दृष्टि का अतिचार कहा जाता है[५]।

श्रावकप्रज्ञप्ति मे इसका निर्देश 'परपाषण्डप्रशंसा' नाम से किया गया है। उसको स्पष्ट करते हुए वहां कहा गया है कि शाक्य (रक्तभिक्षु) और परिव्राजक आदि

---

१. श्रा. प्र. टीका ८७
२. दर्शनेषु वा, तथा चागमः—कखा अण्णण्णदंसणग्गाहो। त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति ७-१८.
३. विचिकित्सा नामेदमप्यस्तीति मतिविप्लुतिः। त. भाष्य ७-१८.

४. श्रा. प्र. टीका ८७. (लगभग यही अभिप्राय दशवैकालिक निर्युक्ति की टीका [१८२, पृ. १०२], श्रा. पंचाशक चूर्णि [पृ. ४६-४७] और धर्मबिन्दु की टीका [२-११, पृ. १८-१९] में भी प्रगट किया गया है।
५. अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह। सा द्विधा—अभिगृहीता चानभिगृहीता च। तद्युक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैनयिकानां च प्रशंसा-स्तवौ सम्यग्दृष्टेरतिचार इति। त.भा.७-१८

रामवल्लभ सामाणी

सेन परम्परा के कुछ अज्ञात साधु

जयपुर के समीप स्थित पुराने घाट के हनुमान जी के मन्दिर से हाल ही मे २ शिलालेख मुझे मिले है। ये लेख अब तक अज्ञात है। इनमें सेन परम्परा के कुछ अज्ञात साधुओं के नाम है। जयपुर और आस-पास के क्षेत्र में दिगम्बर जैन धर्म का प्रचलन लम्बे समय से रहा है। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता रहा है कि यहाँ जैन धर्म १६वीं शताब्दी से ही विशेष रूप से प्रकाश मे आया है किन्तु इन लेखों के मिल जाने से यह स्पष्ट हो गया है कि जैन धर्म का प्रचलन यहा १२वी शताब्दी के पूर्व भी था। आमेर के एक मन्दिर में पीतल की १२वीं शताब्दी की तिथियुक्त मूर्ति है किन्तु सामान्यतः मूर्तियों का आदान-प्रदान होता रहता है। अतएव यह कहना कठिन है कि यह मूर्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी।

जयपुर के आस-पास जहाँ से ये शिलालेख मिले हैं सम्भवतः प्राचीन स्थल रहा होगा। इस स्थल का नाम आजकल "झामड़ोल्यी" कहा जाता रहा है। यह जयपुर से २ मील दूर है और पुराने घाट के पास है। यह मन्दिर प्राचीन स्थापत्य कला का अच्छा नमूना है। इस समय इसे शिव मन्दिर मे परिवर्तित कर दिया गया है। इसके स्तम्भों पर घट पल्लव आदि फलक अंकित है।

की 'ये पुण्यशाली है, इनका मनुष्यजन्म पाना सफल है' इत्यादि प्रकारसे प्रशंसा (वर्णवाद) करना, इसका नाम परपाषण्डप्रशंसा है[1]।

अन्यदृष्टिसंस्तव—उक्त क्रियावादी आदि मिथ्यादृष्टियों के साथ रहकर परस्पर सभाषण आदि रूप परिचय बढाना, इसका नाम अन्यदृष्टिसस्तव है[2]।

तत्त्वार्थभाष्य मे प्रशसा और संस्तव मे विशेषता दिखलाते हुए कहा गया है कि भाव से (मन से) ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रकर्ष को प्रगट करना, इसे प्रशसा कहा जाता है तथा सोपध और निरोपध भूत गुणो को वचन से कहना, इसे सस्तव कहा जाता है[3]।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में उक्त दोनों में भेद दिखलाते हुए कहा गया है कि मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों के प्रगट करने का नाम प्रशंसा तथा उनके भूत-अभूत गुणो के कथन का नाम संस्तव है, यह उन दोनों में भेद है[4]।

इस प्रकार उक्त पाच शंकादि उस सम्यग्दर्शन के अतिचार है, जो उसे मलिन करने वाले है। कारण कि शकादि के रहते सर्वज्ञ व वीतराग जिन पर अविचल श्रद्धा रह नही सकती, और बिना श्रद्धा के उस सम्यक्त्व के रहने की भी सम्भावना नही रहती। कहा तो यहां तक गया है कि जिसे सूत्रनिर्दिष्ट केवल एक पद व अक्षर भी नही रुचता है, भले ही उसे शेष सब क्यों न रुचता हो; फिर भी उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए[5]। ★

१. परपासंडपसंसा सक्काइणमिह वन्नवाओ।
उ. श्रा. प्र. ८८

२. संस्तवः—तैः सहैकत्र सवासात् परिचयः परस्परालापादिजनितः। त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१८; श्रावकप्रज्ञप्ति में इसका निर्देश 'परपाषण्डसंस्तव' नाम से किया गया है। यथा—तेहिं सह परिचओ जो संथवो होइ नायव्वो ॥८८॥

३. ज्ञान-दर्शनगुणप्रकर्षोद्भावन भावतः प्रशसा। सस्तवस्तु सोपधं निरुपधं च भूतगुणवचनमिति। त. भा. ७-१८, पृ. १०२.

४. वाङ्-मानसविषयभेदात् प्रशंसा-सस्तवभेदः। मनसा मिथ्यादृष्टि ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा। भूताभूतगुणोद्भावनवचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः।
त. वा. ६, २३, १.

५. संशयो मिथ्यात्वमेव। यथाह—पयमक्खरं पि एक्कंपि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयतो विहु मिच्छद्दिट्ठी मुणेअव्वो॥ त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति (७-१८) में उद्धृत।

अतएव यह पूर्व-मध्य कालीन कृति कही जा सकती है। इसके स्तम्भों के अतिरिक्त उत्तरंग का भाग भी प्राचीन है। इसमें शिलालेख छ बातों पर अंकित है। पहला लेख वि० सं० १२१२ का है। इसमें कई साधुओं के नाम है। इसमे चन्द्रप्रभ चैत्यालय में गोष्ठियो द्वारा कुछ निर्माण कार्य का उल्लेख है। इसमे भट्टारक सागरसेन का नाम है। उनके शिष्य मंडलाचार्य ब्रह्मसेन का नाम है। इसके बाद छत्रसेन आदि साधुओं का उल्लेख है। छत्रसेन नामक एक साधु का उल्लेख अर्थूणा के लेख मे भी है। किन्तु दोनों का क्या सम्बन्ध है, कहा नहीं जा सकता। इन्हे उक्त लेख में "माथुरान्वयी" कहा गया है। दूसरे लेख मे तिथि अंकित नहीं है। इसमे अमृतसेन, सयमसेन, ब्रह्मसेन, योगसेन, निष्कलंक और अकलक नामक साधुओ के नाम है। इसमे ५ श्लोक हैं और अन्त मे 'पंडित निष्कलक सेनस्य कृतिरियम्" पद अंकित है।

सेन परम्परा की पट्टावली मे इनका नाम अंकित नही है। इसी तरह अन्य अनेक आचार्य और विद्वानों का उल्लेख यत्र तत्र मिलता है। इस तरह की अप्रकाशित सामग्री का सकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इतिहास अधूरा ही रहेगा।

इन सब साधुओ को सेन परम्परा का कहा गया है। लेखो का मूल पाठ इस प्रकार है :—

लेख स० १

१. ॥ई०॥ स्वस्ति श्री संवत् १२१२ वर्षे मार्गसिर (शीर्ष) वदि ११ देव श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालये आचार्य श्री भट्टारक. सागरसेन(:) तस्य सि(शि)ष्यमय मण्डलाचार्यधुर्य ब्रह्मसेन

(२) बा श्री छत्रसेन देवपादरा···(?) तस्य धर्म्मभ्राता पंडित श्री अम्बरसेन तस्य भ्राता श्री uuuuu सर्व्व संघसेनाम्नाय प्रणमनि नित्य······

३. णमेधर : पउत्र (पुत्रः) खेमधर साचदेव घोलण श्रीधर। समस्त गोष्ठि कारापित।

लेख स० २

१. ॐ साश्चर्य प्रतिबिबता (बिम्बिता) शुभतरा जन्मांतरश्रीक्षणा। भास्वाद्दोर्न्नखदर्प्पणेषु नितरां तारा व तारा दशा। दिक्ष्वन्ता (···) तथानता: क्रमनखो···

२. चच्चचंद्र रूपाततरा। यस्य घ्यानमितो स भवत: श्रीनाभिभूतः प्रभु: ॥१॥ रेजे यस्य शरीरदीप्तिरनघा सतप्त हेमोज्व(ज्ज्व) ला। मूर्द्धस्थेद्धजटा कला-

३. प विलसद्धूमर्द्धि रेखाकिता। कर्म्मारातितर्ति प्रभो: प्रदहतो घ्यानानलार्च्चिर्यथा। देया त्केवल सपदं जिनवरो सौमेपि मौनश्चरी ॥२॥ अमृत—

४. सेन बुधो जनि संयतो, यतिसमाज जनस्तुतपद्युगः। अमृतसूरि व चः सुतपोनिधिः सकल शास्त्र पयोनिधिपारगः ॥३॥ वादी संयम सेन सु—

५. रि रजनि रजनि क्षेत्राधिपेय: सुधीः। स्याद्वादामृत वारिधिर्ग्गुणनिधिः श्री ब्रह्मसेनस्ततः। श्री संघाशी(?)त...गुरु गुर्णा vv ण योगी ग्रणी ॥ रो(रौ)-द्रारातिं तुरुष्क वंदित पद:

६. श्री योगसेनो गुणी ॥४॥ निष्कलंकाकलंकाख्यौ सेनांतौ विदुषां विदौ।...पुष्कर जातीयौ सोदर्यौ विश्रुतौ भुवि ॥५॥ पंडित निष्कलक सेनस्य कृति रियम्......

—: ० :—

बड़ा बनने का उपाय

"क्या तू महान् बनना चाहता है। यदि हो तो तू अपनी आशा-लताओं पर नियंत्रण रख। उन्हें बे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दे। मानव की महत्ता इच्छाओं के दमन करने में हैं, गुलाम बनने में नहीं। एक दिन आयेगा जब तेरी इच्छाएँ ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी।"

डा० गंगाराम गर्ग

अज्ञात जैन कवि और उनकी रचनाएँ

जैन पुरातत्व, संस्कृति, इतिहास और साहित्य की खोज के प्रसंग मे विविध क्षेत्रो की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हो जाने पर भी कई क्षेत्र अभी तक अछूते भी पड़े है। पूर्वी राजस्थान के टोडारायसिंह, चाकसू, निवाई, टोंक, झिलाय, सवाई माधोपुर आदि नगर दिगम्बर जैन सस्कृति के प्राचीन केन्द्र है। इन केन्द्रो मे अत्यन्त प्राचीन, व कलात्मक नसियाओं और प्रतिमाओं के अतिरिक्त समृद्ध शास्त्र भण्डार भी है। इन शास्त्र भण्डारों में संस्कृत, अपभ्रश व हिन्दी की महत्वपूर्ण और अज्ञात कृतियाँ भी उपलब्ध हो सकती है। यहाँ पर उक्त शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हिन्दी के कुछ अज्ञात कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है :—

१ खड़गसेन :

ये आगरा के रहने वाले थे। इनके पिता ठाकुरसी और पितामह लूनराज थे। खड़गसेन के पूर्वजों का मूल स्थान बागड़ प्रदेश का नारनोल शहर था। आगरा निवासी चतुर्भोज ने खड़गसेन को धन-धान्य से बडी सहायता की। संवत् १६८५ के बाद कवि ज्ञान-वृद्धि की ओर अधिक आकृष्ट हुए। इनकी ज्ञान गोष्ठी के साथी जनजीवन सघी, अनूपराय, दामोदर, माधोदास, हीरानद, त्रिलोकचद, मोहनदास और प्रतापमल थे। ये सभी चैत्यालय मे बैठकर पूजा करते थे और शास्त्र श्रवण करते थे। खड़गसेन की एकमात्र रचना 'त्रिलोक सार' रेणजी का मन्दिर, टोड़ा रायसिंह मे विद्यमान है। त्रिलोक सार मे २००० से अधिक दोहे और चोपाइयां हैं। इस रचना मे कवि ने अधः मध्य और ऊर्ध्व लोक के सभी जैन धामो का विवरण दिया है :—कवि ने अपने ग्रन्थ की महत्ता इन शब्दों मे प्रकट की है—

दर्पन में मुख देखिए, या मैं तीनूं लोक।
यह हिर्दै को आरसी, दीसै लोका लोक॥

२ सेवाराम :

यह प्रसिद्ध जैन कवि बखतराम शाह के कनिष्ठ पुत्र थे। इन्होने अपने बड़े भाई जीवनराम के भक्तिपरक पदों की चर्चा की है[1] किन्तु अभी तक जीवनराम के पद अज्ञात ही हैं। सेवाराम का साधना-स्थल जयपुर का लश्करी मन्दिर था। वहाँ भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति भी विराजते थे। सेवाराम ने संवत् १८२४ मे 'चतुर्विशति तीर्थंकर पूजा' की रचना की। यह रचना टोडारायसिंह के प्राचीन जैनमन्दिर रेणजी का मन्दिर मे उपलब्ध है।

३ तीकम :

यह कालस गाँव के रहने वाले थे। वहां भोजराज खगारोत का राज्य था। सुखमल शाह 'हुजदार' ने तीकम को कालख गाँव मे बसाया। कवि अपने गाँव मे प्रतिदिन श्रावकों के साथ 'प्रतिमा चौबीसी' के समक्ष ज्ञान-चर्चा करते थे। इन्होने सवत् १७१२ में 'चतुर्दशी कथा' लिखी। ३५५ दोहे-चौपाइयो की यह प्रबन्ध रचना तेरहपंथी मन्दिर टोंक के एक गुटके मे सकलित है। प्रस्तुत रचना में चपापुरी के राजा हरिनाम के गुणभद्राचार्य मुनि द्वारा शील की महत्ता समझाई गई है।

ग्रन्थान्त में कवि ने चतुर्दशी के व्रत की महत्ता प्रतिपादित की है—

भाव सहित यह व्रत धर्यो होइ मुक्ति को साज।३५॥
ज्येष्ठ भ्रात मेरे कवि, जीवनराम सुजानि।
प्रभु की स्तुति के पद रचे, महाभक्ति वर आनि।६॥

४ लालचंद 'विनोदी'

'लालचंद विनोदी' की दो रचनाएं राजुल पच्चीसी' और 'चौबीसी' पुरानी टोंक और चाकसू के जैन मन्दिरों में मिली है। काव्यत्व की दृष्टि से 'राजुल पच्चीसी' उत्कृष्ट रचना है। इसमे कवि ने सरस्वती और मुनियो को प्रणाम करते हुए नेमिनाथ जी के विरक्त होने की

कथा कही है। माता-पिता के मना करने पर भी नेमिनाथ का विरक्ति के साथ ही राजुल भी आर्यिका बन गई है। राजुल की विरहोक्तियो के अतिरिक्त दार्शनिक विचार भी इस रचना मे बिखरे पड़े है—

बावे बे यह संसार असार, ताते रहीयै मौन में जी।
बावे वे ई संगति दुष अपार, लष चौरासी जौन में जी।
बावे लष चौरासी जौन, बावे बहु दुष पाइया।
रोग सोग वियोग भरि करि, जरा मरन सताइया जी।
यह संसार दुष भंडार, देष्यो क्यौं न मन समझाइये।
बेगि मुझहि पठाइ बावे, पीव अपनें संग जाइयै।

कवि की दूसरी रचना 'चौबीसी' में २४ तीर्थंकरों के प्रति दैन्य निवेदन है।

५ जसलाल 'विनोदी'

'विनोदी' उपनाम के दूसरे कवि जसलाल है। तेरहपंथी मन्दिर टोक के एक गुटके ५० ब मे इनकी एक रचना 'सुमति कुमति को झगडो' संकलित है। इसमे सुमति रूपी नारी अपनी दौरानी कुमति को अपने प्रियतम चेतन' से नेह न करने की शिक्षा देती है, न मानने पर उसे फटकारती भी है—

जिण तो सौं नेह लगायो, जाको तै मूल गमायो।
जसलाल विनोदी गावै, तोहि तउ सरम न आवै।६।

६ खेतसी विलाला :

यह विलाला गोत्रिय खंडेलवाल जैन थे। इनकी 'सील जखडी' नामक रचना तेरहपंथी मन्दिर टोक के गुटका नं. ५० ब मे सकलित है। 'सील जखडी' में संकलित है। 'सील जखड़ी' मे नारी की निन्दा करते हुए सयम रखने की प्रेरणा दी है—

नारी रूप दीप दीवलो जिसौजी, कामी पुरुष पतंग,
पर नारी के कारणं जी, होम्यौ आपणों अग,
सुग्यानी नाह नारी रूप नै जोय।

७ दिव सुन्दर :

यह आमेर गच्छ के मुनि देव सुन्दर के शिष्य थे। इनकी एक रचना 'राणापुर स्तवन' तेरहपंथी मन्दिर टोंक के ग्रन्थांक १५० ब में संकलित है। संवत् १४६२ में कवि ने प्रसिद्ध तीर्थ 'राणापुर' की यात्रा की; उसी का वर्णन इसमे किया गया है। 'राणापुर की एक अलौकिक झांकी दृष्टव्य है—

पंच सै बावन पुतली रे लाल, अपछर नें अनिहारि।
रंभादेवी उलसै रे लाल, चहुंदिसि च्यार्‌ज पौलि।
पांच तीरथ मांहे भला रे लाल, सेवुं जो गिर नारि।
तोरण एक सो जाणियें रे लाल, थांभा दोइ हजार।

८ आल्हू :

इनकी एक दार्शनिक रचना 'द्वादशानुप्रेक्षा' तेरहपंथी मन्दिर टोंक के गुटका नं. ५० में पृ. ७१-७८ पर अंकित है। इसमें कुल ३९ छंद है। इसमें १२ अनुप्रेक्षाओं को बड़ी सरल विधि से समझाया है। पुदगल द्रव्य से आसक्ति हटाने के सम्बन्ध में कवि कहते हैं—

ए संसारह भाव, परसौ कीजै प्रीति।
सुष दुष सब मानियो हो, देषि पुद्गल की रीति।
पुदगल दरब्व की रीति देषी, जद सुष दुष सब मानिया।
चहूं गति चौरासी लष्ष जोणिह, आपणा पद जानिया।
इह आपनौं पद सुद्द चेतन, तृपति दृष्टि जु दीजिए।
अनादि नाट जु नटत पुदगल, तासु प्रीति न कीजिए।

९ सभाचंद :

इनकी एक रचना 'परमार्थ लहरी में २० छद है। यह रचना जैन मन्दिर निवाई के एक गुटके मे सकलित है। 'परमार्थ लहरि' शास्त्र-निष्ठा, गुरु-भक्ति सम्यक्त्व भावना, सप्त व्यसन, अणुव्रत, आदि नैतिक विषयो को चर्चा है। शैली उपदेशमयी है—

पर धन परत्रिया परहरो, कीज्यौ रे उपकार।
ज्यों सुख पावै सुरगां तणाजी, अनोक्रम उतरै पार॥

१० दास :

सोरठ राग मे लिखित एक गीत 'जीव जखड़ी' में कवि ने चेतन को अपना स्वरूप समझने की ओर प्रेरित किया है—

जीव लाय मन विषयन सेयी, चहुंगति मैं अति भ्रम्यो।
जिन धर्म तजि मिथ्यात सेयो, रहियो सु बांध्यो दुष मन्यो।
संसार मैं सब सार जाण्यो, मोह परिग्रह तुम कीया।
कवि 'दास' कुवास छांड़ो, तुम त्रिभुवन पति हो जीव॥

कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए.

त्रिपुरी की कलचुरि-कालीन जैन प्रतिमाएँ

कलचुरि कालीन ज्ञात प्रतिमाओं में एक जैन प्रतिमा नागपुर संग्रहालय में संग्रहीत बताई गई है। प्रतिमा काले पाषाण से निर्मित मस्तक खण्डित अवस्था में है। चौकी पर संस्कृत भाषा में नागरी लिपि द्वारा छोटा सा एक पक्ति का अभिलेख भी अंकित मिला है जिसमे बताया गया है कि माथुर अन्वय से साधु धौलु नामक किन्ही व्यक्ति के पुत्र देवचन्द्र द्वारा संवत् ९०० (कलचुरि संवत्) मे उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई गई थी। प्रतिमा पर कोई लाञ्छण नही है जिससे प्रतिमा किस तीर्थंकर की है, यह ज्ञात नहीं होता है। अभिलेख मे उल्लिखित संवत् को लेख की लिपि के आधार पर कलचुरि संवत् बताया गया है जिससे प्रतिमा ११४९ ईस्वी मे निर्मित हुई प्रतीत होती है। अंकित लेख निम्न प्रकार है :—

माथुरान्वय साधु धौलु सुत देवचन्द्र संवत् ९००।

माथुरान्वय से सम्बन्धित इसी संवत् की एक जैन प्रतिमा का और भी उल्लेख मिलता है जो मथुरा निवासी किन्हीं जसदेव और जसधवल के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[१] प्रतिष्ठा कराने वाले श्रावकों के नामों से ज्ञात होता है कि दोनों प्रतिमाएँ थी तथा उनकी प्रतिष्ठा भी अलग-अलग हुई अलग-अलग थी। प्रतिमा किस तीर्थंकर की है, यह नहीं बताया गया है।

त्रिपुरी से उपलब्ध तृतीय जैन प्रतिमा नागपुर में संग्रहीत है (संग्रहालय क्रम ३३) जो १०वी शती की बताई गयी है। प्रतिमा को महावीर की प्रतिमा कहा गया है।[३]

एक जैन प्रतिमा हनुमान ताल के दि० जैन मन्दिर मे जबलपुर मे भी विराजमान रहने का उल्लेख मिलता है।[४] वैसे तो मन्दिर के अनेक बार दर्शन किए परन्तु इस बार उक्त प्रतिमा का ही मैने बारीकी से अवलोकन किया तो प्रतिमा के दर्शन कर हर्ष विभोर हो गया। कलाकृति देखते ही बनती है।

यह प्रतिमा जबलपुर के दि. जैन पार्श्वनाथ बड़ा मन्दिर हनुमान ताल के मन्दिर क्रमांक ४ में विराजमान है। प्रतिमा करीब ५ फुट ऊँचे और ३-३।। फुट चौड़े पत्थर पर अंकित है। वर्ण कुछ लाल सा है। शिरोपरि तीन छत्र बहुत ही बारीक कलाकृति से अलकृत है। छत्र के दोनो ओर दो हाथी खडे है जिनकी सूड छत्र का आधार बनी हुई है। गजों के आगे का एक पैर कुछ मुड़ा हुआ है। दोनों गजों की पीठ पर घोड़ों की पीठ पर कसी जाने वाली जीन जैसी आकृति है। आधार एक विकसित पुष्प है।

इस पुष्प के नीचे प्रतिमा के दोनों ओर दो देव अंकित है जो बारीक खुदाई से अलंकृत किरीट धारण किए हुए है। दोनों देव उडते हुए दिखाये गये हैं। दोनों के हाथों मे मालायें हैं। दोनों देवो के साथ स्त्री मूर्तियां भी अंकित हैं जो सम्भवत: उनकी स्त्रियां है। स्त्रियो के मुख देवों के विपरीत दिशा मे है। कानों में वर्तुलाकार कुण्डल है। गोल जूड़ा बँधा हुआ है। जूड़े के मध्य दो मालाएँ गुथी हुई हैं जो गोल गुरियों से निर्मित दिखाई देती है। कघी बीच मे माँग निकाल कर की गई है। माँग की दोनों ओर बालों को उठाया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों बालों में सामने की ओर फुग्गे बनाए गए हों। वक्षस्थल पर खजुराहो की स्त्री मूर्तियों जैसा अंकन हैं। गले में एक छोटी और एक बड़ी दो

---

१. श्री बालचन्द्र जैन, उपसंचालक संग्रहालय रायपुर, रेवा पत्रिका : सं. २०२३ अक २, पृ. २७

२. डा. मोरेश्वर दीक्षित, मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व की रूपरेखा, सागर विद्यापीठ

३. मध्यवर्ती संग्रहालय नागपूर स्मरणिका ई० १९६४ पृ० ३९

४. पं. परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त : वर्ष १९, कि. १-२ पृ. ५४

मालाएं पहने हुए हैं। मालाएँ दोनों स्तनों पर से होती हुई नीचे लटक रही है। भुजाओ मे भुजबन्ध अकित है। हाथों में ४-४, ६-६ कंगन और कंगनों के मध्य चूडियाँ हैं। दोनों हाथों मे अलकृत माला के दोनों छोर दिखाए गए हैं।

दोनो देव भी गले में दो दो मालाएँ पहने हुए है। इनमे एक माला गले से नीचे कमर तक लटकती हुई दिख ई गयी है। भुजाओं मे भुजबन्ध भी है। भुजबन्धो की आकृति वर्तमान मे भगवान रामादि के चित्रों मे दर्शाये जाने वाले भुजबधो के समान है। हाथों मे एक देव एक हाथ मे एक और दूसरे मे दो कगन पहने हुए है। दूसरे देव के दोनों हाथों मे दो-दो कगन है। दोनों देव दोनों हाथों से मालाओ के छोर सम्हाले हुए है। कटि मे भी कमरपट्टे जैसी आकृति है। पैरों मे पायल और अंगुलियों में (हाथ की) मुद्रिकाए पहने कुछ दिखाई देते है।

इन दोनों स्त्री पुरुष मूर्तियों के मध्य सामने की ओर मुख किये हुए बालिकाओ की आकृतियाँ अकित है। उरोज अंकन से वे उन्हीं देवों की बालिकाएं प्रतीत होती है। बालिकाओं के गले मे दो-दो मालाएं एक माला दोनों उरोजों से होकर नीचे लटक रही है। हाथों में मालाओ के दोनों छोर हैं।

उनके नीचे दोनों ओर दो देव अपनी पत्नियो सहित अकित हैं। देवों के शिरों पर बारीक छैनी से खुदे हुए किरीट हैं। कानों में कुण्डल, गले मे हार, तथा पेट पर लटकता हुआ तीन लड़ी की आकृति का कोई अलंकरण है। हाथों में एक एक कंगन है। प्रतिमा की दायी ओर वाले देव के बायें हाथ मे एक विकसित पुष्प है तथा दाये हाथ में चवर है। हाथ के अंगूठे मे मुद्रिका है। भुजाओ में भुजबंध, कटि कमरबन्द तथा पैरों मे पायल हैं।

देव की कमर से सटी हुई एक स्त्री मूर्ति अकित है। इस मूर्ति में अन्य सभी अलंकारों के साथ कमरपट्टा भी है। जो दो दो लड़ियों से निर्मित है। दायें हाथ में टेहुनी से लटकती हुई एक मनोवेग भी अंकित है। कमर से दांयीं जांघ पर एक सूत्र लटकता हुआ दिखाया गया है जो संभवतः चाबी का द्योतक है। हाथों में माला के दोनों छोर हैं। कपड़े भी दिखाई देते है।

प्रतिमा को बायी ओर के देव के दाये हाथ मे चवर है। बायां हाथ नीचे की ओर झुका हुआ है। हाथ के अगूठे तर्जनी तथा कनिष्ठा में मुद्रिकाए है। अन्य अलकरण प्रथम देव के समान है। स्त्री आकृति भी दायी ओर अकित स्त्री के समान है। ये स्त्री पुरुष गधर्व ज्ञात होते जो मानो नाचने के लिए लिए तैयार है।

जैनप्रतिमा

प्रतिमा के शिर पर तीन छत्र है जो क्रमश. सामने की ओर निकले हुए हैं। प्रतिमा के पीछे अलंकृत भामण्डल है। बाल घुंघराले हैं। कान कधों से जुडे हुए है। श्री वत्सचिन्ह नही है किन्तु चिन्हाङ्कित स्थल से ऐसा अनुमान लगता है कि श्रीवत्स चिन्ह अवश्य ही यथास्थान अंकित रहा है। प्रतिमा नासाग्रदृष्टि पद्मासन मुद्रा मे है। प्रतिमा की आसन पर अलंकरणों के मध्य एक कमल के फूल जैसी आकृति है। जिससे प्रतिमा भ. पद्मप्रभु की ज्ञात होती है। पुजारी श्री हल्कूलाल से ज्ञात हुआ कि यह आसन इस प्रतिमा का नहीं है। प्रतिमा का आसन तो मिला ही नहीं था। प्रतिमा महावीर भगवान की है। आसन को देखने से वर्तमान आसन मूल आसन प्रतीत होता है क्योंकि आसन का अलग रहना पत्थर के जोड से ज्ञात होता है जबकि यहां कोई जोड दिखायी नहीं देता है।

आसन पर कमल के फूल की तीन आकृतियाँ हैं। दो कमल दोनों ओर एक मध्य में अंकित है। अतः प्रतिमा भ० पद्म प्रभु की ही ज्ञात होती है। बालों तथा गले में अकित तीन रेखाओं से कुण्डलपुर के महावीर याद आते है। मेरी समझ से महाकोशल में ऐसी बहुत कम मूर्तियाँ उपलब्ध होंगी जिनमें कला की सूक्ष्म भावना एव बारीक छैनी का ऐसा आभास दिखाई देता हो।

देवी पद्मावती :

इसी मन्दिर मे ऐसी प्रतिमा है जो लाल पत्थर से (संगमर्मर) निर्मित है। प्रतिमा पालथी मारकर बैठी है। दायाँ पैर सामने की ओर है। हाथ चार है। ऊपर के दाएं हाथ मे एक अकुश जैसी आकृति है। बायें हाथ मे कोई फूल धारण किए हुए है। नीचे के दायें हाथ मे माला और बायें हाथ मे गोल लम्बी आकृति की कोई

(शेष टाइटल के तीसरे पेज पर)

पं० बलभद्र जैन

मानव की स्वाधीनता का संघर्ष

मनुष्य में स्वतन्त्रता की इच्छा स्वाभाविक है। स्वतन्त्रता उसका सहज अधिकार है। अधिकार कर्तव्य में से निजपते हैं। मनुष्य मे मनुष्यता है, इसलिए वह अपने कर्तव्य का पालन करके इस अधिकार को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। स्वतन्त्र रहने के अपने अधिकार को जो समझता है वही सही मायनो मे इन्सान है। जो अपने आपको परतन्त्र और दूसरे को अपना स्वामी मानता है, वह इन्सान नही हैवान है। परतन्त्र होना अलग बात है और अपने को परतन्त्र मानना अलग बात है। लेकिन जो दूसरों की स्वतन्त्रता छीनता है, तोप तलवार लेकर दल बनाकर दूसरों की आजादी के अधिकार पर डकैती डालता है, वह न इन्सान है, न हैवान। वह तो शैतान है। ऐसे शैतान को सही मार्ग पर लाने का उपाय यह नही कि हम उसे पुचकारें। ऐसे शैतानो के लिए एक ही उपाय है कि उसकी शैतानियत को कुचल दिया जाय।

जो स्वतन्त्र रहना चाहते है या जो स्वतन्त्र होना चाहते है, उन्हे कोई शैतान—चाहे वह कितना ही बडा क्यों न हो—गुलाम नही बना सकता।

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः। तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्यचला धृतिः॥

निश्चय ही वह आजाद होगा, जिसमे अविचल धीरज है। जिसमे यह धीरज नही, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

मानव की स्वतन्त्रता के संघर्ष का इतिहास उसके त्याग और बलिदान की स्याही और धीरज की कलम से लिखा जाता रहा है। दुनिया मे शैतानों की कभी कमी नही रही। लेकिन ऐसे इन्सानों की भी कमी नहीं रही है, जो दूसरों के स्वतन्त्र रहने के अधिकार को मानते है और उनकी स्वतन्त्रता के लिए जो सहायता करते है। वे मनुष्य नही देवता है। दुनिया ने सच्चे मनुष्य का सम्मान किया है, लेकिन देवता की तो वह पूजा करता आया है।

जैन धर्म तो मनुष्य ही नही, प्राणी मात्र की स्वतन्त्रता का समर्थक है। उसकी मान्यता है कि सब प्राणियो मे परमात्मा बनने की शक्ति है।

परमात्मा अर्थात् संसार के सभी बन्धनों से मुक्त, दुनिया के माया विकारों से निर्लिप्त। हम ऐसे स्वतन्त्र परमात्मा का स्मरण करते है; क्योंकि हम भी ऐसे स्वतन्त्र बनना चाहते हे। जो दुनिया से सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहता है वह दूसरों की पराधीनता देखकर चुप कैसे रह सकता है।

लोग पूछते हैं—जो दूसरो की स्वाधीनता पर बलात्कार करते हैं, जो उस बलात्कार की प्रशंसा करते है और तोप तमंचे दे-देकर ऐसे लोगो की सहायता करते है, वे किस धर्म के अनुयायी है? मेरा उत्तर है—वे सब एक ही धर्म के अनुयायी है और वह धर्म है शैतान का। यह कैसा आश्चर्य है कि एक परमात्मा को मानने वाले परस्पर मे लडते-झगडते है और शैतान को रहनुमा मानने वाले एक हो जाते है—चाहे उनके देश और वेश, चेहरे और चमड़े जुदे-जुदे क्यों न हों। आज दुनिया मे दो ही तरह के लोग है—एक वे जो परमात्मा मानते है और खुद इन्सान है। दूसरे वे जो शैतान की पूजा करते है और खुद भी शैतान है। दूसरे शब्दो मे कहें तो लड़ाई है इन्सानियत और शैतानियत के बीच मे।

जानता हूँ, शैतान की फौज बड़ी है, शैतानियत के तौर तरीके की कोई सीमा नहीं। दूसरी ओर इन्सानियत जिसमें है, ऐसे इन्सान कम हैं—उँगलियो पर शायद गिने जा सके। लेकिन दुनिया शैतानियत के पाये पर नहीं टिकी, वह टिकी है इन्सानियत की धुरी पर।

फिर शैतान अकेला हैं। धर्म अनेक नाम रखकर दुनिया मे फैले हुए है। ससार के सभी धर्मों ने इन्सान की सोई हुई इन्सानियत को ही जागृत करने का प्रयत्न किया है।

आज इन्सानियत का तकाजा है कि दुनिया के सब इन्सान एक होकर शैतान को चुनौती दें और दूसरों की स्वतन्त्रता को काटने वाले उसके नुकीले दाँतों को तोड़ डालें।

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दीके कुछ अज्ञात जैन कवि और उनकी अप्रकाशित रचनाएँ

भारतीय जैन साहित्य मे हिन्दी भाषा के जैन कवियो का पूरा इतिवृत्त अभीतक प्रकाश मे नही आ पाया है। और न उनकी कोई शताब्दीवार सूची ही बन सकी है। अनेक कवियो की रचनाओ का पता भी नही चल रहा है। जो कुछ थोड़े से जैन कवि और उनकी कृतिया का परिचय प्रकाशित हो सका है उनसे कुछ नवीन तथ्य प्रकाश मे आए है। फिर भी जैन इतिहास की कड़ी अपूर्ण ही रह गई है। जैन ग्रन्थागारों मे अनेक कवियो की रचनाएँ अनेक गुच्छकों (गुटको) मे उपलब्ध होती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय जैन कवियो की सख्या पाँच सौ से भी अधिक होगी। इस लेख द्वारा हिन्दी के कुछ अप्रकाशित जैन कवियो और उनकी कृतियो का परिचय कराया जाता है। सबसे पहले कविवर शकर और उनकी एकमात्र कृति का परिचय कराया जाता है:—

कवि शकर मूलसघ सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण का विद्वान था। कवि ने अपने समसामयिक होने वाले दो भट्टारकों का उल्लेख किया है। भ० प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति का। संवत् १५२६, १५२७ और सवत् १५३० की लिपि प्रशस्तियों मे भट्टारक प्रभाचन्द्र और उनकी कीर्ति का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही भट्टारक जिनचन्द्र की आम्नाय के विद्वान् थे। कवि शंकर का वश गोलापूर्व[1] और पिता का नाम पण्डित भीमदेव था। कवि शकर की एकमात्र कृति 'हरिषेण चरित' है जिसमें कवि ने २०वे तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के समय होने वाले दशवे चक्रवर्ती हरिषेण की जीवन गाथा को अंकित किया गया है। कवि ने इस ग्रन्थ को संवत् १५२६ में बनाकर समाप्त किया था जैसा कि ग्रथ के अन्तिम पद्यों से प्रकट है:—

"गोलापुव्व वंश सुपवित्त,
भीमदेव पंडित कउ पुत्त।
सकर कथा पुरइ यह कही,
दिक्खा कारण कीसउ चोपही।
संवत् पन्द्रह सइ हो गए,
वरिस छब्बीस अधिक तँह भए।
भादव सुदि परिवा ससिवार,
दिक्खा परवु तह अक्खियउ सारु।
अब यह कव्वु सपूरण भयउ,
सिरि हरिसेणु संघ कहु जयउ॥

---

१. जैन समाज की चौरासी उपजातियो मे से गोलापूर्व भी एक उपजाति है, जिसका निकास गोल्लागढ (गोलाकोट) से हुआ है। उसकी पूर्व दिशा मे रहने वाले गोलापूर्व कहे जाते हैं और उसके समीपवर्ती इलाके मे रहने वाले गोलालारे तथा सामूहिक रूप मे रहने वाले गोलसिंघारे कहे जाते हैं। इन तीनों जातियों के निकास का कारण होने से इस स्थान की महत्ता स्पष्ट ही है। गोलापूर्वों का अधिकतर निवास बुन्देलखण्ड में पाया जाता है। इनका निकास कब हुआ? यह निश्चित नही है। हाँ, इसके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां सं० ११९९ स अबतक की पाई जाती है। अनेक मन्दिर प्रतिष्ठा महोत्सव और गजरथों का सचालन किया है। ये प्राचीन मूर्तियाँ मध्यभारत के प्राचीन स्थानों—महोबा, छतरपुर, पपौरा, अहार, नावई और बुढ़ीचन्द आदि स्थानो मे पाई जाती है। १६वीं १७वी शताब्दी की रचनाएँ भी उपलब्ध होती है, सचित्र विज्ञप्ति पत्र और भक्तामर स्तोत्र का हिन्दी-सस्कृत मे अनुवाद करने तथा उसकी सचित्र प्रति लिखाने का श्रेय भी उन्हे प्राप्त है। वर्तमान मे इस जाति मे अनेक प्रतिष्ठित विद्वान और श्रीमान् पाये जाते है। यदि अन्वेषण किया जाय तो इस उपजाति के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख और तथ्य प्राप्त हो सकते हैं, जिनपर से उसके इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

ग्रन्थ में ७१२ पद्य दिए हुए हैं। ग्रन्थ की प्रति केवल एक जीर्ण-शीर्ण गुच्छक मे उपलब्ध होती है। प्रति अशुद्ध है, जान पड़ता है लेखक प्रति की लिपि से अधिक परिचित नही था। अतः अन्य प्रतियो के अन्वेषण की जरूरत है। संभव है अन्य किसी ज्ञान भडार मे उसकी उपलब्धि हो जाय। ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य है।

चक्रवर्ती हरिषेण का जीवन बड़ा पावन और धार्मिक रहा है। क्षत्रिय होते हुए भी दीन-दुखीजनो की रक्षा द्वारा उसे सार्थक किया है। वे अपनी माता के आज्ञाकारी सुपुत्र थे। उन्होने अपनी माता की धार्मिक भावना को पूरा किया था। माता जन रथ निकालना चाहती थी, परन्तु वह अपनी सौत के कटु एव द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण उसमे सफल न हो सकी। सौत का आग्रह था कि पहले मेरा रथ निकलेगा। इस विवाद मे कितना ही समय व्यतीत हो गया। इससे हरिषेण की माता को बड़ा कष्ट हुआ, परन्तु वह अपनी धार्मिक भावना मे दृढ रही। हरिषेण ने दिग्विजय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया, प्रजा का पुत्रवत् पालन किया और अपनी माता की धार्मिक भावना को पल्लवित पुष्पित किया। अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और उनके प्रतिष्ठा महोत्सव भी किए।

चक्रवर्ती पुत्र हरिवाहन एक दिन कैलाश पर्वत पर गया, और वहाँ उसने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनवाए हुए मन्दिरों मे स्थित जैन प्रतिमाओ के दर्शन किए और कैलाश के चारो ओर खुदी हुई गहरी खाई देखी तथा भगीरथ द्वारा गंगा के लाने का वृत्तान्त भी सुना। और धरणेन्द्र के कोप से सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों के मूर्छित हो जाने का समाचार भी सुना। उन्हीं सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने कैलाश की रक्षा के लिए खाई खोदी थी। इन सब कथानकों से हरिवाहन को संसार की इस परिवर्तनशीलता, अनित्यता और अशरणता का परिज्ञान हुआ। उसने सांसारिक देह-भोगो से विरक्त हो दीक्षा लेने का विचार किया और निश्चय किया कि भव-बन्धन के दुःखों से छूटने का एकमात्र कारण जिन दीक्षा है। मुनि जीवन द्वारा कठोर आत्म-साधना से कर्म क्षय हो सकता है। तपश्चरण और इन्द्रिय निरोध द्वारा आत्म-शक्ति को जागृत किया जा सकता है जिससे भव-बन्धन की कड़ियाँ सहज ही टूट पड़ें। संसार के दुःखों से छूटने के लिए आत्म-शोधन करना नितान्त आवश्यक है। उसके लिए जिन मारग ही उत्कृष्ट है, पंच परमेष्ठी ही मेरी शरण है। अतः दीक्षा अवश्य ग्रहण करूँगा। ऐसा विचार कर हरिवाहन ने मन्त्री को बुलाकर कहा कि हे मन्त्री, तुम चक्रवर्ती से जाकर यह निवेदन करो कि हरिवाहन ने कर्मबन्धन से छूटने के लिए तप ग्रहण कर लिया है। अतएव मुझसे जो कुछ अनुचित कहा गया हो सो तुम क्षमा करो और स्वयं दीक्षा ले आत्म-साधना में निरत हो गया। शल्यत्रय से हीन हो गया।

मन्त्री ने बहुत अनुनय विनय की, किन्तु हरिवाहन ने स्पष्ट शब्दों मे कह दिया कि अब मैं यहाँ से वापस नही जाऊँगा और मन्त्री को चक्रवर्ती के पास भेज दिया। मन्त्री ने डरते-डरते सब समाचार चक्रवर्ती से निवेदन किया जिसे सुनकर चक्रवर्ती पुत्रमोहवश अत्यन्त शोक को प्राप्त हुआ, जो कवि के शब्दों मे निम्न प्रकार है:—

एतहि जहि चक्कवइ कुमारु,
हरिवाहण बहु गुण सारु।
गहि संवेउ चवइ तहि वयणु,
णिसुणि वप्प वर मंतिय रयणु ॥६१८

हउं संसार सरणि भय भीऊ,
दुख अणंतु सहियउ इहि जीऊ।
चउ गइ फिरत भयउ खिद खिण्णु,
कि वि समत्थु कवि जाय उविण्णु ॥६१९

इट्ट वियोग-सोय-दुह भरिउ,
अणिट्ट जोग वेयण अणु सरिउ।
कवहिक दुख नय असराल,
छिदणाइ बहु पंच पयार ॥६२०

× × ×

तो जिण उत्तु करउं तव रयणु,
मण णिरोध इंदिय वस करणु।
हउं ससंक जम्मण-जण-मरणु,
अब महि पंच परम गुरु सरणु ॥६२१

× × ×

अपने चित जिनि कर सन्देहु,
जिनि मारगु उत्तम इइ एकु ।
हउं तपु लेउं आपने काज,
इमि कहत तुही नाहीं लाज ॥६३३
जं चिरकाल वयण मइ वुत्तु,
हास-कोडि इह कोह संजुत्तु ।
त महु अज्जु खमहु णिरु सव्वु,
चढ़ि विमाण जाहि घर बप्पु ॥६३४
इह संबोह मति पाठयउ,
आपुणु दिक्ख लइ वि संठियउ ।
हार टोर अंवर सुविशेष,
उत्तारिय आभरण निश्शेष ॥६३५
ओंकार मंत्तु उच्चरिउ,
पंच मूठ लोचु वि सिर करिउ ।
होइ निग्गंथ सल्लतय हीणु,
परमप्पह कियउ मण लीणु ॥६३६
दुद्धरु महा उग्गतउ चरिउ,
एतहिं मति णयर सचरिउ ।
बहु संवेहु चित्त सासउ धरिउ,
खिलख वदन रावल संचरिउ ॥६३७
लहुडी दीठि सभामहि जाइ,
खूंट एक बइठउ दुचिताइ ।
चक्क वट्टि अवलोवइ जाय,
हरिवाहणु णवि पेखइ ताम ॥६३८

× × ×

नाहि तउ केम सभी विणु रहइ,
जिहि विणु सयल सभाणवि सहइ ।
अह णिसु चित्तु विलंविउ जहा,
सो हरिवाहणु रहियउ कहा ॥ ६४०
तब चक्कवइ मति पुंछियउ,
तुहि संग हरिवाहण थियउ ।
विलख वयण मंती तव होइ,
णिय कर मलइ वत्थु मुंह देइ ॥ ६४१
अंसु पवाह-णयण परिचवइ,
गह भरि आयउ किंपि ण लवइ ।
नाम णरेसरु दिढु कर चित्तु,
पुच्छइ मति कहइ जं चित्तु ॥ ६४२
तब मंती सयलुवि अक्खियउ,
एकु व गुज्झ ण तह रक्खियउ ।
जिम कइलास सिहरि सपत्तु,
तिम संसारह - भयउ - विरत्तु ॥ ६४३
पुणु अति गाहु अप्पु ज कियउ,
जिम तहि दिक्ख लेवि संठियउ ।
जिम खमितव्वु कहिय घर जाइ,
तं सवु तिहि कहिय निकुताइ ॥ ६४४
मंती वयण सुणि वि णिरु जाम,
मुच्छिउ राउ धरणि पडियउ ताम ।
सभा माहि हा हाकार जु भयउ,
तवहि अंतेवरु मण विंभियउ ॥ ६४५
कि बि सुयगु पुंछियउ बुलाइ,
तिहि पभणिउ कि अक्खउ माइ ।
णिविण्ण दइय कियउ जु अणिट्ठु,
हरिवाहण तउ लयउ गरिट्ठु ॥ ६४६
सुणिवि णरेसरु सोयह भरिउ,
मच्छिमाइ धरणीयल पडिउ ।
इय णिसुणि वि जयचंदा माइ
पडिय धरणि अत्ति कुम्हिलाइ ॥ ६४७
जणु कमलिणि तुसारइ हई,
खण इक माहि विकल हुइ गई ।
ताम वयंसी आकउ भरइ,
जलसिंचई किवि वाउसु करइ ॥ ६४८
इयर अंतेवर पंहुती आइ,
जयचन्दा कहु लेहु बचाइ ।
करुण - पलाउ करंती तहां,
चक्कवट्टि हइ मुच्छिउ जहां ॥ ६४९
हा ! पिय किं कियउ अजुत्तु,
जइ वि तवोहण संठिउ पुत्तु ।
काहे राज भंगु तुम कियउ,
पुत्त वियोग जीउ कि थियउ ॥६५०

चक्रवर्ती हरिषेण और रानी जयचन्दा ने पुत्र-वियोग से दुखी हो अत्यन्त विलाप किया। वह विलाप करती

हुई कहती है कि हे पुत्र, तेरे बिना मुझे सर्वत्र अंधकार दिखाई देता है। हे कुलचन्द ! तेरे बिना मेरा मन नही लगता, तूने मेरा मन-मन्दिर सूना कर दिया। नगर के लोगों ने दोनों को समझाने का यत्न किया, और कहा कि यह सम्बन्ध इस प्रकार से होना था, आप क्यों व्यर्थ मोह कर दुखी हो रहे हैं। आपके पुत्र ने बड़ा सुन्दर उपाय किया है। हे नाथ ! आप छह खण्ड पृथ्वी के पालक हैं अतः अपने मन में विषाद न कीजिए। इस तरह लोगों के समझाने पर भी चक्रवर्ती के मन में सन्तोष नहीं होता था और बार-बार मोहवश वत्स पुकारता था। राजा रानी ने खान पान भोग और शृंगार आदि का त्याग कर दिया, केवल एक पुत्र से ही अनुराग रहा। इतने में ही उन्हें महा तपस्वी मति सागर नामक साधु का समाचार मिला, और वे उनकी शरण में गए। उन्हे देखकर मुनि ने धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद दिया। तब चक्रवर्ती ने कहा कि मेरे धर्मवृद्धि क्या होगी ? महाराज ! मैं पुत्र वियोग के शोक से संतप्त हूँ। मेरे पुत्र हरिवाहन ने कैलाश पर्वत पर जाकर तप धारण कर लिया है[१]।

१. एतहि सीलवंतु गुण सहिउ,
सल्ल कसाय-दोस णिरु रहिउ।
दंसण-णाण - चरण सम जुत्तु,
मइसागर णामे मुणि पत्तु॥
बहु तप-तेय तवउ जिम तरणि,
दिठु णेरस सार धम्म धरणि।
तिण्णि पयाहि य देपिणु जाइ,
पुणि लागउ मुणिवर के पाइ॥ ६६६
मुणिवर धम्म विद्धि हो सवण,
ताम पयंपइ पहु मिहि धनी।
मुहि किम धम्म विद्धि हो सवण,
पुत्त वियोग दिट्ठु मइ णयण॥ ६६७
हरिवाहणु जु पुत्तु मण हरणु,
तिहि कइलास लयउ तव यरणु।
ता णिसुणि वि जंपइ मुनि राउ,
चक्कवट्टि मा करहि विसाउ॥६६८ —हरिषेण चरित

मुनिराज ने चक्रवर्ती से कहा कि तुम विषाद मत करो, वह वश स्थान, क्षेत्र और माता पितादि धन्य है जहाँ इस जीव ने आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न किया है, वे चक्षु धन्य है जिन्होंने कुरूप नहीं देखा किन्तु केवल स्वरूप की ओर ही दृष्टि दी है। वे हाथ धन्य है जिनसे जिन पूजा और सत्पात्रों को दान दिया है। हरिवाहन ने जिन निर्दिष्ट तप का आचरण किया, इसमें विषाद का कोई कारण नहीं है। ससार के समस्त पदार्थ अनित्य है— देखते-देखते विनष्ट होने वाले है, रूप लावण्यादि क्षणभंगुर हैं, इन्द्र विद्याधरादि की पर्याये भी क्षण मे नाश होने वाली है। इस जीव का कोई शरण नही है मरते हुए जीव को कोई बचाने वाला नही है मणि मत्र-तत्र औषधि आदि भी रक्षा नही कर सकती। जिन प्रतिपादित धर्म ही इस जीव का शरण है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ही धर्म है वही ससार बन्धन का नाश कर मोक्ष पा सकता है। यह अकेला ही जीव सुख तथा दुःख भोगता है। इस तरह गुरु उपदेश से चक्रवर्ती का शोक दूर हो गया और उसकी आत्मा में निर्मल धर्म का प्रकाश हुआ। मिथ्या मोह धुल गया और अन्तर्मानस पावन हो गया चक्रवर्ती चद्रकुंवर को राज्य देकर साधु हो गया और तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन करने लगा।

हरिवाहन ने घोर तपश्चरण द्वारा आत्मशक्ति से जो अग्नि प्रज्वलित की, उससे घाति कर्म का क्षय हो गया और विशुद्ध केवल ज्ञान प्राप्त किया, पश्चात् अघाति कर्म का विनाश कर अविनाशी अनुपम सिद्ध पद प्राप्त किया[१]। चक्रवर्ती भी आत्म-साधना द्वारा सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र बना। इस तरह चक्रवर्ती हरिषेण का चरित्र बड़ा पावन है। ग्रन्थ की भाषा हिन्दी होते हुए भी उसमे अपभ्रंश और देशी शब्दों की भरमार है, उससे हिन्दी के विकास क्रम के जानने में सहायता मिल सकती है।

१. देखो हरिषेण चरित

साहित्य-समीक्षा

१. षड्दर्शन समुच्चय सटीक (संस्कृत हिन्दी टीका संयुक्त —मूलकर्ता हरिभद्रसूरि, संस्कृत टीकाकार गुणरत्नसूरि। सम्पादक स्व. डा. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्डमार्ग वाराणसी –५, बडा साइज, छपाई, सफाई, गेटप सुन्दर, पृष्ठ सं० ५५८ सजिल्द प्रतिका मूल्य २२) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। आचार्य हरिभद्र ने ८७ कारिकाओ द्वारा षड्दर्शनो का सामान्य परिचय कराते हुए प्रत्येक दर्शन के मूल सिद्धान्तो को सन्तुलित रूप मे प्रस्तुत किया है और षड्-दर्शनों मे वैदिक और अवैदिक दर्शनो को समाविष्ट किया है। छह वैदिक दर्शन (सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, पूर्वमीमासा और उत्तर मीमासा) माने जाते थे, किन्तु हरिभद्र ने उनमे बौद्धदर्शन और जैन दर्शन को शामिल किया है, अतएव छह दर्शनो की सख्या – बौद्ध, नैयायिक, साख्य जैन, वैशेपिक और जैमिनीय इस रूप मे की गई है।

टीकाकार गुण रत्नसूरि ने षडदर्शन ग्रन्थ पर सुन्दर टीका लिखकर उसके मर्म को खोलने का प्रयत्न किया है, उन्होंने ही उसके विभाग किये है। टीका ग्रन्थ के हार्दका उद्घाटन करती है। भाषा की दृष्टि से वह दुरूह नही है।

स्व० न्यायाचार्य डा० महेन्द्रकुमार जी ने उसका हिन्दी अनुवाद कर ग्रन्थ को और भी सुगम बना दिया है। तुलनात्मक टिप्पणियां तो ग्रन्थ की महत्ता को प्रकट कर ही रही है। दुःख इस बात का है कि ग्रन्थका सम्पादक और अनुवादक अल्पायु मे ही स्वर्गवासी हो गया है। उनसे समाज को बडी आशाए थी। उन्होंने जैन संस्कृति की जो सेवा की, वह उनकी कीर्ति को अमर बनाएगी। ग्रन्थान्त में दो परिशिष्टो मे लघुवृत्ति और षड्दर्शन समुच्चय और अवचूर्णि दे देने से ग्रन्थ की महत्ता बढ गई है। ग्रन्थ की प्रस्तावना दल सुखमालवणिया ने लिखी है जिसमें ग्रन्थादि विषयक अच्छा परिचय दिया है, ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर हुआ है। इसके लिए भारतीय ज्ञान-पीठ के संचालक धन्यवाद के पात्र है। ग्रंथ उपयोगी है, दर्शनशास्त्र के अभ्यासियो को मगा कर अवश्य पढना चाहिए।

२ प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश— लेखक सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्रकाशक डा० दरबारीलाल जी, मंत्री वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट। पृष्ठ संख्या ७०, छपाई-सफाई सुन्दर। मूल्य एक रुपया पचास पैसा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। लेखक ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के छठे सूत्र प्रमाण नयैरधिगमः—सूत्रगत नयदृष्टि के अभिप्राय को खोलने का प्रयत्न किया है। क्योकि देवसेन ने लिखा है कि जो नयदृष्टि विहीनहै उन्हे वस्तुतत्त्व की उपलब्धि नही होती, और वस्तुस्वरूप की उपलब्धि के बिना वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते है? नयदृष्टि से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि होते है। प० कैलाशचन्द्र जी प्रसिद्ध विद्वान और अच्छे लेखक है, उनकी अनेक कृतियां साहित्यको के सम्मुख आ चुकी है। उन्होने अपने अनुभव से प्रमाण नय और निक्षेप पर अच्छा प्रकाश डाला है। भाषा सुगम और सरस है, वह पाठकों के लिए अत्यन्त रुचिकर होगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट दोनो ही धन्यवाद पात्र है।

३. उत्तराध्ययन-सूत्र एक परिशीलन—लेखक डा० सुदर्शनलाल जैन, प्रकाशक सोहनलाल, जैनधर्म प्रचारक समिति गुरु बाजार, अमृतसर। पृष्ठ सख्या साढ़े पांचसौ, मूल्य सजिल्द प्रतिका २५) रुपया।

उत्तराध्ययन एक सूत्र ग्रन्थ माना जाता है उस पर यह शोध प्रबन्ध लिखा गया है जिस पर लेखक को बनारस विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की डिगरी मिली है। लेखक ने उत्तराध्ययन का परिचय कराते हुए उसके अर्थ पर भी विचार किया है शोधकर्ता ने मूलग्रन्थ के पद्यो का दोहन करके उसके नवनीत को पाठको के सामने रखने का प्रयत्न किया है। ग्रन्थ में आठ प्रकरण है जिनमे विविध विषयों पर विचार किया गया है। द्रव्य विचार, संसार, रत्नत्रय, कर्मबन्ध और मुक्ति

समाज और संस्कृति और सामान्य-विशेष साध्वाचार में साधु के आहार-विहार आदि पर विचार किया गया है, तपश्चर्या परिषह जय, साधु की प्रतिमाए और सल्लेखना पर विशेष विचार किया गया गया है। साथ ही विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त एवं सरलरूप में वस्तु तत्त्व को रखने का उपक्रम किया गया है। चार परिशिष्टों द्वारा उसे और भी सरल करने का प्रयत्न किया है। इस तरह सारा ही ग्रन्थ लेखक की भावना और परिश्रम से सुन्दर बन पडा है। भाषा मुहावरेदार है उसमें गति है—प्रवाह है। इसके लेखक महानुभाव धन्यवादार्ह हैं। ग्रन्थ के इस सुन्दर प्रकाशन के लिए विद्याश्रम के सचालकगण धन्यवाद के पात्र है। आशा है भविष्य मे जैनाश्रम से और भी अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन हो सकेगा।

४. **तत्त्वार्थसार**—आचार्य अमृतचन्द्र सम्पादक पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य। प्रकाशक मत्री गणेश वर्णी-ग्रन्थमाला डुमराब बाग अस्सी वाराणसी ५। डेमीसाइज मूल्य ६) रुपया।

ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। प्रस्तुत ग्रंथ मे आचार्य अमृतचन्द ने तत्त्वार्थ सूत्र के सार को पल्लवित एव विकसित करते हुए वस्तुतत्त्व का विवेचन किया है। और कहीं-कही तो उन्होंने अनेक नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिससे विषय को समझने मे सरलता हो गयी है। आचार्य अमृतचन्द्र बहुश्रुत विद्वान थे, भाषा और विषय पर उनका अधिकार था। आ. कुन्दकुन्द के सारत्रय ग्रन्थों की जो टीका बनाई है वह कितनी महत्त्वपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नही है उसके रसिकजन उसकी महत्ता से स्वय परिचित है। टीकाकार ने ग्रंथ के हार्द को उद्घाटित करने का पूरा प्रयत्न किया है। भाषा गभीर और सरस है, पढ़ने में बड़ी रुचिकर प्रतीत होती है। जान पड़ता है ग्रथकार के भाव को टीकाकार ने आत्मसात् किया है, वे अध्यात्म विषय के महान विद्वान थे। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नाम की २२६ श्लोकों की प्रसाद गुणयुक्त रचना है, जो श्रावकाचारों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, उसमे रत्नत्रय का सुन्दर कथन किया है और अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन किया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दशवी शताब्दी है[1]। तत्त्वार्थसार की हिन्दी टीका पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने बनाई है टीका सरल और अपने विषय की अभिव्यंजक है, ३८ पृष्ठ की प्रस्तावना मे सम्पादक ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध मे अच्छा प्रकाश डाला है। प्रस्तावना में तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध १२ टीकाओं का उल्लेख किया है, निम्न दो टीकाओं का उसमें उल्लेख नही है।

श्रवण वेलगोला के शिलालेख नं० १०५ में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य और तत्त्वार्थसूत्र की टीका का कर्ता उद्घोषित किया है[2] जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

तस्यैव शिष्यो शिवकोटि सूरि स्तपोलतालम्बव देहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

दूसरी टीका उन प्रभाचन्द की है जो भ० धर्मचन्द्र के पट्टधर थे। जिसे उन्होने जैताख्य नाम के ब्रह्मचारी के सम्बोधनार्थ संवत् १४८९ में भाद्रपद शुक्ला पचमी के दिन बनाकर समाप्त किया था[3]। इनके अतिरिक्त अन्वेषण करने पर और भी टीकाओं का उल्लेख प्राप्त हो सकता है।

ग्रन्थ का प्राक्कथन पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य ने लिखा है, जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र के सम्बन्ध मे अच्छा प्रकाश डाला है। इसके लिए पंडित जी और सम्पादक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ का प्रकाशन गणेश वर्णी ग्रन्थमाला से हुआ है। ग्रन्थमाला के मत्री डा० दरबारीलाल जी ने प्रयत्न करके ग्रन्थमाला को पुनरुज्जीवित किया है। आशा है डा० सा० के सद् प्रयत्न से ग्रन्थमाला और भी पल्लवित होगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिए मंत्री महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ कि०
२. अनेकान्त वर्ष २ किरण ६ पृ० ३७५.
३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग १ पृ० १७३

पं० मिलापचन्द जी कटारिया का देहावसान

पडित मिलापचन्द जी कटारिया अच्छे विद्वान और लेखक थे। जैन समाज उनके खोजपूर्ण लेखों से भली भाँति परिचित है। वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे, अनेक मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा उन्होंने कराई थी, पर उन्होने प्रतिष्ठानों से कभी धन कमाने की इच्छा नही की। प्रतिष्ठाशास्त्र के अच्छे विद्वान तथा शास्त्र प्रवक्ता थे। अनेक शंकाओ का समाधान करते हुए मैंने उन्हे देखा है। वे वस्तु की तह मे प्रविष्ट होकर उसके हार्द को समझाने मे कुशल थे। उनकी परिणति शान्त थी। अपना कार्य करते हुए भी वे सामाजिक कार्यों मे भी भाग लेते रहते थे। केकडी की जैन समाज मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे आज नही है, वैशाख सुदी १० वी बुधवार को उनका स्वर्गवास बोलते-बोलते हो गया। **उनके सुपुत्र प० रतनलाल जी कटारिया अपने पिता के समान ही विद्वान और लेखक हैं। उनके खोजपूर्ण लेख अनेक पत्रों में तथा अनेकान्त में** प्रकाशित हुए हैं। मै और अनेकान्त परिवार उनके इस वियोग जन्य दु:ख मे समवेदना व्यक्त करते हुए दिवगत आत्मा के लिए सुख-शान्ति की कामना करता हूँ। आशा है प० रतनलाल जी अपने पिता जी की कीर्ति को चिर स्थायी बनाये रखेंगे।

(पृ० ४१ का शेष)

वस्तु है। गले में माला है। किरीट भी दिखाई देता है। सप्त फणावली भी सिर पर अकित है। इस फणावली के ऊपर एक पद्मासन मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमा है। देवी की प्रतिमा के दोनों ओर ऊपर नीचे दो देव है। ऊपर के देव चवरधारी है। नीचे के देव कुत्तो पर सवार दिखाई देते है। प्रतिमा का आसन एक कमल के फूल पर बनाया गया है।

इसी मन्दिर मे सेठ गोपाली साव पूरन साहब सिवनी द्वारा निर्मित म० न० ११ मे एक पाषाण निर्मित चौवीसी है जिसके आसन पर एक लेख भी अकित है जो इस प्रकार है—

संवत् १८७२ साके १७३(८) भादो सुदि १४ श्री मूलसघे सरस्वती गने णे (गच्छे) बलात्कारगणे कुन्द-कुन्दान्वये बदली···प्रतिष्ठितं सु(शु)भ भवतु।

चौवीसी में दोनों ओर खड्गासन मुद्रा मे ५-५ उनके नीचे पद्मासन मुद्रा मे पुन: ५-५ इनके मध्य मे एक के नीचे एक चार प्रतिमाए, जिनमे तीन पद्मासन मुद्रा मे और एक खड्गासन मुद्रा मे है। अन्तिम प्रतिमा पर छत्र है। यह सबसे आकार मे बड़ी भी है। आसन पर हिरण चिन्ह अकित है जिससे यह शान्तिनाथ भगवान की चौवीसी ज्ञात होती है। इसी मन्दिर मे एक चौवीसी ऐसी भी है जिसमें २५ प्रतिमाए अकित है, सभवतः इसमें मूल नायक प्रतिमा को अलग से बनाया गया है जबकि प्रथम चौवीसी मे ऐसा नही है। लेख दो पक्तियों में संस्कृत भाषा मे नागरी लिपि में अकित है। म० नं० १५, १८, १९, २०, २२ मे विराजमान प्राचीन प्रतिमाएँ भी दृष्टव्य है। किन्तु शिल्प कला की दृष्टि से म० न० ४ की मूर्ति ही श्रेष्ठ है।

इस भांति कलचुरि काल मे जैनधर्म की स्थिति ठीक बनी रही ज्ञात होती है। तत्कालीन जैनी कला पुजारी भी रहे है। ●

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना मे अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक ·१६

अध्यात्म रहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक जून १९७१

अनेकान्त

वर्ष २४ : किरण २

वीरशासन जयन्ती महोत्सव

बायें से दायें १. श्री लाला राजेन्द्रकुमार जी अध्यक्ष वीरशासन जयन्ती, २. ला० पारसदास, जी
३. श्री ला० उलफतराय जी, ४. श्री ला० श्यामलाल जी उपाध्यक्ष वीरसेवामन्दिर,
५. श्री प्रेमचन्द जैनावाच कम्पनी, ६. श्री यशपाल जी भाषण देते हुए,
७. श्री ला० प्रेमचन्द जी मंत्री वीर सेवा मन्दिर।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

वीरशासन जयन्ती के अवसर पर उपस्थित श्रोताओं के समूह का एक दृश्य

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० सं० २०२७ | जून १९७१

अभिनन्दन जिनस्तवन

नन्द्यनन्तर्ध्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टेऽभिनन्द्यन ॥२२

—आचार्य समन्तभद्र

अर्थ—समृद्धि-सम्पन्न, अनन्त ऋद्धियों से सहित और अन्त रहित हे अभिनन्दन स्वामिन् ! आपको नमस्कार करने वाला पुरुष (आपके ही समान सबका) ईश्वर हो जाता है। जो बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारी हैं वे आपके विषय में अनम्र नहीं हैं—आपको अवश्य ही नमस्कार करते हैं और जो आपकी स्तुति कर नम्र हुए हैं वे कभी नष्ट नहीं होते—अवश्य ही अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो सच्चे हृदय से भगवान को नमस्कार करते हैं वे अनेक बड़ी ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं। और अन्त में कर्मों का क्षय कर अविनाशी मोक्षपद पा लेते हैं। इसलिए आचार्य ने ठीक ही कहा है कि आपको नमस्कार करने वाले पुरुष आपके समान संसार के ईश्वर हो जाते हैं ॥२२॥

—:०:—

गुणकीर्ति कृत चौपदी

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

मराठी में जैन साहित्य की परम्परा के अग्रदूत गुणकीर्ति—जो पन्द्रहवीं शताब्दी के गुजराती साहित्यकार ब्रह्म जिनदास के शिष्य थे—उनके कुछ पद देउल गांव (जिला बुलडाणा, महाराष्ट्र) के जिनमन्दिर को एक जीर्ण पोथी में मिले हैं। इन्हीं में से एक यहां दिया दिया जा रहा है। इसमें एक ध्रुपद और चार छंद हैं जिनमें मराठी का गुजराती—प्रभावित स्वरूप स्पष्ट देखा जा सकता है। कवि के शब्दों का सरल रूपान्तर इस प्रकार होगा :—

हम श्री गुरु के शिष्य हैं, उनके चरण प्रक्षालन कर वह जल पिएंगे। अब तक योग का अभ्यास करने में समय गंवाया, अब आनन्द का रस लेकर जिएंगे। योगी लोगो, बाबू लोगो, अवधूत पुत्रों, समझ लो! जो सद्गुरु के वचनों से ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अनन्त मुक्ति सुख में मग्न होते हैं। हमारे गुरु के कोई गुरु नहीं हैं, उनके आसन निराले ही हैं। वे शुक्ल ध्यान की भूमि पर बैठे हैं, ओंकार रूपी सींग बजाते हैं जिससे सारा आकाश गूंज रहा है, उनके मुख में अनादि वेद (जिनवाणी) के दर्शन हुए हैं। वे साकार रूप में उन्मन हुए और उनके सारे कार्य रुक गये। संकल्प और विकल्प दोनों का अस्त हुआ और सार रूप आत्मतत्त्व ही बचा रहा। उनका शरीर तो दिखता है किन्तु छाया नहीं दिखती; क्योंकि उनके दिव्य शरीर से सप्तधातु क्षीण हो गये और उन्हें नौ केवललब्धियां प्राप्त हुई हैं।

मूल पद

हमें तो चेला श्रीगुरु केरा चरण पखाला नीर पिऊ।
योग अभ्यासे कालु वेंचियला आनंद रसेवि जीवो ।।ध्रु०।।
बुझो जोगीलो बुझो बाबुलो बुझो अवधूत पुता।
सद्गुरुवचने जे नर बुझले अनंत सिव सुखा मुता ।।१
निगुरो गुरु मोरा निरालो आसन शुक्लध्यान भूमी बैठा।
ओंकार सींगी बाजे गगन मंडल गाजे अनादि वेद मुखी दीठा ।।२
साकाररूपी उनमन भइले खुटले व्यापार व्यापार।
संकल्प विकल्प दोन्ही मावलले निजतत्वा राहिले सार ।।३
काया तो दीसे छाया न दीसे सप्त धात गेले खीन।
नव केवल लब्धी प्रापति-पावले गुनकीर्ती म्हने देव जिन ।।४

—:०:—

भारत कला भवन का जैन पुरातत्व

मारुति नंदन प्रसाद तिवारी

वाराणसी स्थित भारत कला भवन में विभिन्न युगों से सम्बन्धित कई जैन प्रस्तर और कांस्य प्रतिमायें संगृहीत हैं, किन्तु इस लेख मे हम मात्र प्रस्तर प्रतिमाओं का ही अध्ययन करेंगे, क्योकि कास्य प्रतिमाओं का अपना स्वतंत्र महत्व होने के कारण उस पर एक अलग लेख अपेक्षित है।

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के एक कुषाण युगीन शीर्षभाग (नं. २०७४८) को शैली के आधार पर प्रथम शती ईसवी में तिथ्यांकित किया गया है। मथुरा से प्राप्त होने वाले इस शीर्ष में देवता के मस्तक पर सप्त फणों से युक्त नाग का घटाटोप प्रदर्शित है, जो पार्श्वनाथ अंकन की विशेषता है। देवता की केश रचना सीधी रेखाओं से प्रदर्शित सहायक आकृति की अवशिष्ट भुजा के ऊपरी भाग में चांवर चित्रित है।

भारत कला भवन में शोभा पा रहे गुप्त युगीन प्रतिमाओं में एक महावीर शीर्ष (नं. २६४) का चित्रण करता है। राजघाट से प्राप्त इस मनोज्ञ शीर्ष में देवता की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है। लम्बे कर्ण, अर्धनिमिलित नेत्र, मुख पर मंदस्मित का भाव, अन्तर्दृष्टि, लम्बी नासिका आदि इस शीर्ष की ध्यातव्य विशेषताएं हैं। यह शीर्ष समस्त गुप्त युगीन कलात्मक विशेषताओं का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। तीर्थंकर आकृति के ऊर्ध्वभाग में उड्डायमान गन्धर्व आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है, जिनकी भुजाओं में पुष्पहार प्रदर्शित है। देवता के मस्तक के ऊपर छत्र रूप में वृक्ष का अंकन प्रशसनीय है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे छठी शती ईसवी में तिथ्यांकित किया जा सकता है। यद्यपि यह शीर्ष संग्रहालय में महावीर अंकन के नाम से स्थित है, पर मैं किसी निश्चित प्रमाण या लांछन के अभाव में ऐसा करना उचित नहीं समझता।

तीर्थंकर का चित्रण करने वाली एक अन्य गुप्तयुगीन (६ठी शती ईसवी) मूर्ति (नं० १६१) में देवता को एक ऊची पीठिका पर ध्यान मुद्रा मे आसीन चित्रित किया गया है। पीठिका के नीचे विश्वपद्म का अंकन चित्ताकर्षक है। पीठिका के मध्य में उत्कीर्ण धर्मचक्र के दोनों ओर दो सिंहों का प्रदर्शन तीर्थंकर के सिंहासन पर आसीन होने की पुष्टि करते हैं। वाराणसी से प्राप्त इस मूर्ति के पादपीठ के दोनों घेरों पर चित्रित दो तीर्थंकर इस अंकन की विशिष्टता है। इस नयनाभिराम चित्रण में मुख्य आकृति के दोनों पार्श्वों में दो आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है, जो सभवत: शासन देवता है। मुख्य आकृति के पृष्ठभाग मे प्रदर्शित अलकरण हीन प्रभामण्डल के दोनों ओर गुप्तयुगीन शिरोभूषा से युक्त दो उड्डायमान गन्धर्वों का चित्रण ध्यानाकर्षक है। देवता की केश रचना गुच्छकों के रूप मे निर्मित है। मूलनायक के वक्षस्थल पर श्रीवत्स उत्कीर्ण है। गुप्तयुगीन समस्त विशेषताओं से युक्त इस प्रतिमा के मुखमण्डल पर प्रदर्शित मंदस्मित, शांति व विरक्ति का भाव प्रशसनीय है। संग्रहालय में यह प्रतिमा महावीर मूर्ति के नाम से स्थित है, पर मेरी दृष्टि में तीर्थंकर के लाछन या किसी लेख आदि के अभाव में इसकी निश्चित पहचान सभव नहीं है। यद्यपि डा. यू. पी. शाह हिरणों के स्थान पर धर्मचक्र के दोनों ओर प्रदर्शित सिंह आकृतियों के आधार पर इसे महावीर अंकन बतलाते हैं, क्योंकि धर्मचक्र के दोनों ओर तीर्थङ्करों के लांछनों के चित्रण की परम्परा गुप्तयुग में सर्वथा प्रचलित थी। यह मूर्ति ४'.५½' लम्बी व ३½' चौड़ी है।

भारत कलाभवन में स्थित जैन प्रतिमाओं में एक विशिष्ट अंकन कल्पवृक्ष पर आसीन तीर्थङ्कर का चित्रण

अकलंक सामि सिरि पायपूय,
इंदाइ महाकइ अट्ठ हूय ।
सिरि णेमिचन्द सिद्धंतिमाइ,
सिद्धंतसार मुणि णविवि ताइ ।
चउमुहु सुयंभु सिरि पुप्फयंतु,
सरसइ णिवासु गुणगण महंतु ।
जसकित्ति मुणीसरु जसणिहाणु,
पंडिय रइधू कइ गुण अमाणु ।
गुणभद्दसूरि गुणभद्द ठाणु,
सिरि सहणपालु बहु बुद्धि जाणु ।

पूर्वकवियों के कीर्तन के उपरांत कवि अपनी अज्ञानता को स्पष्ट प्रकट करता हुआ कहता है कि मैंने शब्दशास्त्र नहीं देखा, मैं कर्ता, कर्म और क्रिया नहीं जानता। मुझे जाति (छद), धातु और सन्धि तथा लिंग एवं अलकार का ज्ञान भी नहीं है। कवि के शब्दों में:—

णउ दिट्ठा णउ सेविय सुसेय,
मइं सद्दसत्थ जाणिय ण भेय ।
णो कत्ता कंमु ण किरिय जुत्ति,
णउ जाइ धाउ णवि संधि उत्ति ।
लिंगालंकारु ण पय समत्ति,
णो बुज्झिय मइ इक्कवि विहत्ति ।
जो अमरकोसु सो मुत्तठाणु,
जाणिउ मइ अण्णु ण णाम माणु ।
णिग्घंटु वियाणिवउ णवि गहंदु,
सुछंदि ण ठहिउ मणु मइंदु ।
पिंगल सुवण्णु तं बइ रहिउ,
जाणिउ मइ अण्णु ण कोवि गहिउ ।

इसलिए ज्ञानी जन इस काव्य-व्यापार को देखकर कोप न करें?

यहाँ पर सहज ही प्रश्न उठता है कि जब तुम अज्ञानी हो और इस काव्य-व्यापार को जानते-समझते नहीं हो तब काव्य-रचना क्यों कर रहे हो? रचनाकार का उत्तर है—

जइ दिणयरु णहि उज्जोउ करइ,
ईं ता कि खुज्जोयउ णउ फुरइ ।
जइ कोइल रसइ सुमहुरवाणि,
किटिट्टिर इह तुण्हउ ठाणि ।
जइ वियसइ सुरहिय चंपराउ,
कि णउ फुलइ किंसुय वराउ ।
जइ वज्जइ विवज्जइ गहिरणाउ,
ता इयरु म वज्जउ तुच्छ भाउ ।
जइ सरवहि रामइ सुहंसु लील,
कि णउ घरि अंगणि बहु सवील ।
मण मित्त मुयहि तुहु कायरत्तु,
करि विणहु भत्ति हय दुव्वरित्तु ।
बहु विणउ पयासिवि सज्जणाह,
कि ण्हाण णु करि खलयणगणाह ।

अर्थात् यदि दिनकर (सूर्य) प्रकाश न करे तो क्या खद्योत (जुगनू) स्फुरण न करे? यदि कोयल सुमधुर वाणी मे आलाप भरती है तो क्या टिटहरी मौन रहे? यदि चम्पक पुष्प अपनी सुरभि चारों ओर प्रसारित करता है तो क्या बेचारा टेसू का फूल नहीं फूले? यदि नगाड़े गम्भीर नाद करते हैं तो क्या अन्य वाद्य वादित न हों? यदि सरोवर में हंस लीला करते हैं तो क्या घर के आंगन मे अनेक सवील (अबाबील)? पक्षी क्रीडाए न करें? इत्यादि।

कवि ने अपने परिचय के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं लिखा। केवल सन्धि के अन्त में उल्लेख से यह पता चलता है कि वे इल्लिराज के पुत्र थे। इसी प्रकार से अन्तिम प्रशस्ति से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि वे दिल्ली के आसपास के किसी गांव के रहने वाले थे। उन्होंने इस काव्य की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) के श्रावक विद्वान् साधारण की प्रेरणा से की थी। उन दिनों दिल्ली के सिंहासन पर शहनशाह बाबर का शासन था। ग्रन्थ का रचना काल विक्रम संवत् १५८७ है[1]। इस

---

१. आयडू गथपमाणु वि लक्खिउ,
ते पाल सयइं गणि कइय ण अक्खिउ ।
विण्हेण वि ऊधा पुत्तएण, भूदेवेण वि गुणगणजुएण ।
लिहियाउ चित्तेण वि सावहाणु,
इहु गंथु विबुह सँर जाय भाणु ।
विक्कमरायहु ववगय कालइ,

काव्य रचना का ग्रन्थ प्रमाण लगभग ५००० हजार कहा गया है : पांच सहस्र श्लोकप्रमाण से रचना अधिक हो सकती है, कम नहीं है। क्योंकि तेरह सन्धियों की रचना अपने काय में कम नहीं है।

काव्य में निबद्ध तेरह सन्धियों में वर्णित संक्षिप्त विषय वस्तु इस प्रकार हैं—

१. प्रथम सन्धि में मगध देश के सुप्रसिद्ध शासक राजा श्रेणिक और उनकी रानी चेलना का वर्णन है। राजा श्रेणिक अपने युग के सुविदित तीर्थङ्कर भ० महावीर के समवसरण (धर्म-सभा) मे धर्म-कथा सुनने के लिए जाते है। वे भगवान की वन्दना कर गौतम गणधर से प्रश्न पूछते हैं। १२ कडवकों में समाहित प्रथम सन्धि मे इतना ही वर्णन है।
२. दूसरी सन्धि में विजयार्थ पर्वत का वर्णन, श्री अकलंककीर्ति की मुक्ति-साधना का वर्णन तथा श्री विजयांक का उपसर्ग-निवारण वर्णन है। इस सन्धि में कुल २१ कडवक है।
३. तीसरी सन्धि मे भगवान् शान्तिनाथ की भवावलि का २३ कडवकों में वर्णन किया गया है।
४. चतुर्थ सन्धि २६ कडवकों मे निबद्ध है। इसमे भ० शान्तिनाथ के भवान्तर के बलभद्र के जन्म का वर्णन किया गया है। वर्णन बहुत सुन्दर है।
५. पाँचवी सन्धि मे १६ कडवक है। इसमे वज्रायुध चक्रवर्ती का वर्णन विस्तार से हुआ है।
६. छठी सन्धि २५ कडवकों की है। श्री मेघरथ की सोलह भावनाओं की आराधना और सर्वार्थसिद्धि-गमन का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है।
७. सातवी सन्धि मे भी २५ कडवक हैं। इसमें मुख्यत: भ० शान्तिनाथ के जन्माभिषेक का वर्णन है।
८. आठवीं सन्धि २६ कडवकों की है। इसमें भगवान् शान्तिनाथ के कैवल्य-प्राप्ति से ले कर समवसरण-विभूति-विस्तार तक वर्णन है।
९. २७ कडवकों की इस नौमी सन्धि में भ० शान्तिनाथ की दिव्य-ध्वनि एवं प्रवचन-वर्णन है।
१०. दसवीं सन्धि में केवल २० कडवक हैं। इसमें तिरेसठ महापुरुषों के चरित्र का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है।
११. ३४ कडवकों की इस ११वीं सन्धि भौगोलिक मायामों के वर्णन से भरित है, जिसमें केवल इस क्षेत्र का ही नहीं सामान्य रूप से तीनों लोकों का वर्णन है।
१२. १८ कडवकों की इस १२वीं सन्धि में भ० शान्तिनाथ के द्वारा वर्णित चारित्र अथवा सदाचार का वर्णन किया गया है।
१३. अन्तिम तेरहवी सन्धि में भगवान् शान्तिनाथ का निर्वाण-गमन का वर्णन १७ कडवको में निबद्ध हैं।

इस प्रकार इस काव्य का वर्ण्य-विषय पौराणिक है, जो लगभग सभी पौराणिकता से भरित रचनाओं मे एक साचे मे रचा गया है। इसमें कथा-वस्तु उसी प्रकार सम्पादित है। उसमे कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नही होता।

कथा-वस्तु की दृष्टि से भले ही कोई नवीनता लक्षित न हो, किन्तु काव्य-कला और शिल्प की दृष्टि से यह रचना वास्तव में महत्वपूर्ण है। आलोच्यमान रचना अपभ्रंश के चरितकाव्यों की कोटि की है। चरितकाव्य के सभी लक्षण इस कृति मे परिलक्षित होते हैं। चरितकाव्य कथा-काव्य से भिन्न हैं[1]। अतएव पुराण की विकसन शील प्रवृत्ति पूर्णतः इस काव्य में लक्षित होती है। प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में साधारण के नाम से अकित संस्कृत श्लोक भी विविध छन्दों मे लिखित मिलते है। जैसे कि नवीं सन्धि के आरम्भ मे—

सुललितपदयुक्ता सर्वदोषैर्विमुक्ता,
जडमतिभिरगम्या मुक्तिमार्गे सुरम्या।
जितमदनमदानां वाग्वाणी जिनानां,
परचरितमयीनां पातु साधारणानां।

रिसिवसु सर भुवि अंकालइ।
कत्तिय पढम पक्खि पंचमि दिणि,
हुउ परिपुण्णा वि उग्गतइ इणि।
—ग्रन्थ प्रशस्ति

---

१. कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर जानने के लिए लेखक का शोधप्रबन्ध दृष्टव्य है : 'भविसयत्त-कहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य', पृ० ७६–७९.

इसी प्रकार ग्यारहवीं सन्धि के आरम्भ में उल्लिखित है—

कनकमयगिरीन्द्रे चारुसिंहासनस्थः
प्रमुदित सुरवृन्दैः स्नापितो यः पयोभिः।
सदिशतु जिननाथः सर्वदा सर्वकामा-
नुपचितशुभराशेः साधु साधारणस्य ॥१०॥

जिस समय शान्तिनाथ के मानस में वैराग्य भावना हिलोरे लेने लगती है और ये घर-द्वार छोड़ने का विचार करते हैं तभी स्वर्ग से लौकान्तिक देव आते हैं और उन्हे सम्बोधते हैं:—

चिंतइ जिणवरु णिय मणि जामवि।
लोयंतो सुर आगइ तामवि।
जय जयकारु करंति णविय सिर।
चंगउ भाविउ तिहुयण णेसर।

क्या भगवन्! आप तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले है और भक्तजनों के मोह-अन्धकार को दूर करने वाले हैं।[१]

अपभ्रंश क अन्य प्रबन्धकाव्यो की भाँति इस रचना में भी चलते हुए कथानक के मध्य प्रसगतः गीतो की सयोजना भी हुई है। ये गीत कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए:—

अइ महसत्ती वर पण्णत्ती,
मारुयगामिणि कामवि रूविणि।
हुय वह थंभणि णीरणिसुंभणि,
अंधीकरणी आयहु हरणी।
सयलपवेसिणि अविआवेसिणि,
अप्पडिगामिणि विविहविभासिणि।
पासवि छेयणि गहणीरोयणि,
वलणिद्दाडणि मंडणि ताडणि।
मुक्करवाली भीमकराली,
अविरल पहयरि विज्जुल चलयरि।
देवि पहावइ अरिणिट्ठावइ,
लहुवर मंगी भूमि विभंगी।

१. तित्थपवत्तणु करहि भडारा, भवियहं फेडहि मोहंधारा।
गय लोयंतिय एम कहेविणु,
ता जिणवरिण भरहु घर देविणु।
—सन्धि ६, कडवक १६

एक अन्य प्रकार के गीत का निदर्शन है:—

सरोवरं पफुट्ट कंजरेण पिंजरं,
समोयरं सगज्ज उब्भडं सुसायरं।
वर सुआसणं मयारि रूव भीसयं,
सरं मयंस दित्तय सुदेव गेहयं।
अहिव मंदिरं सुलोयणित्त सुंदर,
पकंति जुत्तयं सुरण्ण सचय वरं।
ण तित्ति इधण हुयासण पज्जलंतयं
अधूमजाल देवमग्गु ण गिलतय ॥७.१२

एक अन्य राग का गीत पठनीय है:—

हुल्लरु सुरवइ मण रंजिएण
हुल्लरु उवसग्ग विहंजिएण।
हुल्लरु मुणिमण संतोसिएण
हुल्लह भवियण गण पोसिएण।
हुल्लरु तिल्लोयहु विहिय सेव
हुल्लरु ईहिय दय विगय लेव ॥८.२

इस प्रकार के अन्य गीतो से भी भरित यह काव्य साहित्य का पूर्ण आनन्द प्रदान करता है। एक तो अप-भ्रंश भाषा मे और विशेषकर इस भाषा मे रचे गए गीतों मे बलाघातात्मक प्रवृत्ति लक्षित होती है। आज तक किसी भी भाषा-शास्त्री तथा अपभ्रंश के विद्वान् का ध्यान इस ओर नहीं गया है। किन्तु अपभ्रंश के लगभग सभी काव्यों मे सामान्य रूप से यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। उदाहरण के लिए—

इक्के वुल्लाविउ मुक्खगामि,
इक्के विहसाविउ भुवणसामि।
इक्कें गलिहारु विलवियउ,
इक्कें मुहेण मुहु चुम्बियउ।

किन्तु बलाघात उदात्त न होकर किंचित् मन्द है। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण है:—

सुय सिरिवत्ता जणिय पहिल्ला,
पत्तुं कुंटि अणिवक्क गहिल्ली।
पुणु बहिरी कण्ण ण सुणइ वाय,
पुणु छट्ठी लुज्जिय पुत्ति जाय।

तथा—

आराहिवि सोलहकारणाइ, जे सिवमंदिरि आरोहणाइ।

तिल्लोयचक्क संखोहणाइ, संपुण्ण तवें अज्जिय विसेण।

एवम्—

जेट्ठ बहुल बारसि जाणिज्जहु,
माहहु सिय तेरसि माणिज्जहु।
जेट्ठहु बहुन चउद्दसि जाणहु,
बइसाहउ सिय पडिव पमाणहु।
मग्गसिरहं सिय चउदसि जाणिया,
पुणु एयारसि जिणवर काणिया।

संगीतात्मक ताल और लय से समन्वित पद-रचना देखते ही बनती है। यथा—

झरंति दाण वारि लुद्ध मत्त भिंगय,
णिरिक्ख एसु दतु वेयदंत संगयं।
अलद्ध जुज्झु ढिक्करतु सेयवण्णयं,
घरम्मि मह संपविस्समाणु गोवयं।
पउब्भियं खमं चलं च पिंगलोयणं,
विभा सुरंघु लंतकध केसरं घणं।
सणंकरं तुयंतु संतु लबं जीहयं,
पकोवयं पलित्तु पिच्छए सुसीहयं।

काव्य भाव और भाषा के सर्वथा अनुकूल है। भावों के अनुसार ही भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है। फिर भी भाषा प्रसाद गुण से युक्त तथा प्रसगानुकूल है। जैसे कि—

कालाणलि अप्पउ किणि णिहित्तु,
आसीविसु केण करेण छित्तु।
सुरगिरि विसाणु किणि मोडियउ,
जनमहिसिंसिगु किणि तोडियउ।
जो मह विमाण थंभणु करेइ,
सो णिच्छय मह हत्थ मरेइ।

प्रसगतः अमर्ष सचारी भाव विभाव से संयुक्त होकर रोष के आवेग के साथ वीर रस का स्फुरण कर रहा है। इसी प्रकार अन्य रसों से युक्त होने पर भी रचना शान्तरस की है।

—:०.—

पृ० ५२ का शेषांस)

वाली एक चतुर्विंशति मूर्ति (नं० २२०७३) स्थित है। श्रीवत्स चिन्ह से युक्त मूलनायक को मध्य में ध्यान मुद्रा में पद्मासनस्थ प्रदर्शित किया गया है। देवता की कलाई के नीचे का भाग व वामपाद संप्रति खण्डित हो चुका है। तीर्थंकर की पीठिका के नीचे उत्कीर्ण दो सिंह सिंहासन के सूचक हैं। देवता की केश रचना गुच्छको के रूप में निर्मित है और स्कन्धो पर केश की लटे लटकती हुई उत्कीर्ण है। पादपीठ के नीचे देवता का लाछन वृषभ उत्कीर्ण है। देवता के दोनों पार्श्वों मे आभूषणों से सुमज्जित द्विभुज सेवक आकृतियाँ चित्रित है। दोनों आकृतियो की एक भुजा मे वृत्ताकार वस्तु प्रदर्शित है, किन्तु दूसरे भुजा की वस्तु अस्पष्ट है। देवता के मस्तक ऊपर चित्रित त्रिछत्र के दोनों ओर सवाहन गज आकृतियाँ अकित है। त्रिछत्र के ऊपर दो कतारो में शेष २३ तीर्थंकरो की सक्षिप्त पद्मासनस्थ व कायोत्सर्ग आकृतियाँ चित्रित है, जिसमें से काफी खण्डित है। सम्पूर्ण अकन के दोनों ओर व्याल आकृतियाँ उत्कीर्ण है। पीठिका के अन्तिम भाग में दोनों ओर उपासक आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। खजुराहो से प्राप्त होने वाली इस मूर्ति को शैली व प्रतिमाशास्त्रीय विशेषताओ के आधार पर ११वीं—१२वी शती मे तिथ्यांकित किया जा सकता है।

गोदाम में सगृहीत चौमुखी (सर्वतोभद्रिका) प्रतिमा ($10\frac{1}{2}' \times 1' \times 8''$) मे चारों दिशाओं में एक नग्न तीर्थंकर आकृति को खडा उत्कीर्ण किया गया है। लांछन व श्रीवत्स चिन्ह रहित सभी आकृतियों की भुजाएं काफी कुछ भग्न है। इस चित्रण की विशिष्टता है चार प्रमुख तीर्थंकरों के अतिरिक्त प्रत्येक कोने पर दो आसीन तीर्थंकरों का चित्रण। इस प्रकार यह मूर्ति कुछ १२ तीर्थंकरो का अकन करती है। इस मूर्ति का प्राप्ति स्थल अज्ञात है। इसकी शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे परवर्ती मध्य युग में तिथ्याकित किया गया है। ★

हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म रायमल मूलसंघ सरस्तीगच्छ के मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे, जो भ० रत्नकीर्ति के पट्टधर थे। रायमल संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान थे। इनका वंश हूमड़ था और पिता का नाम मह्य तथा माता का नाम चम्पादेवी था[1]। कवि ने इससे अधिक अपना परिचय नही दिया। कवि १७वीं शताब्दी के विद्वान थे। कवि ने अनेक देशों मे भ्रमण किया और कितने ही स्थानों के जैन मन्दिरों में बैठ कर रासा साहित्य की अभिवृद्धि की। तथा उपदेश द्वारा विविध लोगों को सम्बोधित किया। कवि की रचनाएं यद्यपि साधारण कोटि की है परन्तु कोई-कोई रचना बहुत सुन्दर और भावपूर्ण एवं सरस हुई है। लोग इन रचनाओं को संगीत के साथ गाते थे, उससे जनता आनन्द विभोर हो उठती थी। उनसे जनता का जहाँ मनोरंजन होता था वहाँ उससे शिक्षा भी मिलती थी। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—नेमीश्वररास, हनुवंत कथा, प्रद्युम्न रास, सुदर्शनरास, श्रीपालरास, भविसयत्तकहा रास, और भक्तामर स्तोत्र वृत्ति, परमहंस चोपई जंबूस्वामी चौपई, चंद्रगुप्त चोपई, आदित्यवार कथा और चिन्तामणि जयमाल।

ब्रह्म रायमल की सबसे पहली रचना नेमीश्वर रास है। जिसमे नेमिनाथ का जीवन परिचय अंकित है। रास की भाषा हिन्दी और गुजराती मिश्रित है। रचना काल सं० १६१५ श्रावण कृष्णा त्रयोदशी है[2]।

दूसरी कृति हनुवत कथा है। जिसमें पवनञ्जयपुत्र हनुमान का जीवन परिचय दिया हुआ है। पवनंजय हनुमान के पिता थे। और अंजना देवी उनकी माता थी, जो राजा महेन्द्र की पुत्री थी। कवि की रचना यद्यपि साधारण है किन्तु कथानक सुन्दर है। दिन बीत गया सूर्य अस्त हो गया। पक्षी आकाश में शब्द कर रहे हैं। राजा पवनंजय अपने मित्रों के साथ महल की छत पर बैठे हुए है। उन्होने सरोवर के किनारे पक्षी देखे, जो गम्भीर शब्द कर रहे थे। दशो दिशाओं मे अंधेरा छा गया और चकवा चकवी मे अन्तर हो गया—वे जुदे-जुदे हो गये। कवि के इस वर्णन मे स्वाभाविकता है।

दिन गत भयो आथयो भान, पंखी शब्द करै असमान।
मित्र सहित पवनंजयराय, मन्दिर ऊपर बैठो जाय।
देखे पंखी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहिर गहीर।
दसों दिशा मुख कालो भयो, चकवा चकवी अन्तर लयो॥

कवि ने बालक हनुमान का ओजस्वी चित्र खीचा है। कवि कहता है कि जब बालक रूपी रवि (सूर्य) का उदय होता है तब सब अंधकार दूर भाग जाता है। सिह छोटा भी हो, तो भी वह दन्तियों के मारने में समर्थ होता ही है। सघन वृक्षों से व्याप्त वन कितना ही

---

१. मूल सघ जगतारणहार, शारदगच्छ तणो शुभसार।
आचाराज सकलकीर्ति मुनि गुणवन्त,
तास माहि गुण लहो न अन्त॥
तिह को अमृत नाव अति चंग,
रत्नकीर्ति मुनि गुणी अभग।
अनन्तकीर्ति तास शिष्य जान,
बोलै मुखतें अमृत वान॥
तास शिष्य जिन चरणा लीन,
ब्रह्म रायमल बुध को हीन।
× × ×
श्रीमद् हूवंड वंश मण्डन मणि,महिचेतिनामा वणिक्।
तद्भार्या गुणमंडिताव्रतयुक्ता, चम्पा मितीताऽभिधो॥
तत्पुत्रो जिन पाद पकंज मधुपो रायादि मल्लो वृती।
—भक्तामरस्तोत्र वृत्ति।

२. सोलहसै पद्रोहत्तरै रच्यो जी रासु।
सांवली तेरसि सावणमासु, वरतै जीव धुवासर भलो॥

विस्तीर्ण क्यों न हो, तो भी अग्नि का एक कण उसे जलाने मे सक्षम होता है। उसी तरह बालक भी अपने शूर-वीर स्वभाव को नही छोड़ता।

बालक जब रवि उदय कराय,
अन्धकार सब जाय पलाय।
बालक सिंह होय अति सूरो, दन्ति घात करे चकचूरो।
सघन वृक्ष वन अति विस्तारो, रत्ति अग्नि करे वह छारो।
जो बाल क्षत्रिय को होय, सूर स्वभाव न छांडे कोय ।।

इस तरह कवि ने कथा को सुन्दर एव सरस बनाने का यत्न किया है। कथा का रचना समय सवत् सोलह सै सोलह वैशाख कृष्णा नवमी शनिवार है[३]।

तीसरी रचना प्रद्युम्नरास है, जिसमे यदुवंशी राजा श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार की जीवन कथा दी हुई है। जिसे कवि ने हरसौरगढ़ मे सं० १६२८ मे भाद्रपद शुक्ला दोइज बुधवार के दिन बनाकर समाप्त किया है। हरसौरगढ मे जिनेन्द्र का मन्दिर बना हुआ था और वहां के श्रावकदेव-शास्त्र गुरु के भक्त थे[४]।

चौथी रचना सुदर्शन रास है, जिसमें चम्पापुर के सेठ सुदर्शन के पावन जीवन की झाँकी का निदर्शन है। ग्रथ सूचियों में इसे शील रास कहा गया है। सेठ सुदर्शन शीलव्रत के संपालन में विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर भी अडिग रहा—अपने व्रत से जरा भी नही डिगा। उसी का कवि ने विस्तृत वर्णन दिया है। कवि ने उसे सवत् १६२९ में वैशाख शुक्ला सप्तमी के दिन समाप्त किया है[५]।

पांचवीं रचना श्रीपाल रास है, जिसमें श्रीपाल और मैना सुन्दरी के चरित्र का चित्रण हुआ है। साथ मे सिद्धचक्र व्रत के माहात्म्य का भी उल्लेख किया गया है। रास के पद्यों की संख्या २९७ है। ग्रन्थ सवत् १६३० के शुभवर्ष के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को बनाकर समाप्त किया गया है[६]।

छठवीं रचना भविष्यदत्त कथा है। भविष्यदत्त कथा पर अपभ्रंश संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। ग्रन्थ का कथानक प्रिय रहा है। इसमे श्रुत पचमी व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है, जिनेन्द्र भक्ति के प्रसाद से भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त द्वारा दिये गए भीषण दुखो का उन्मूलन कर सका। इस रास की रचना सांगानेर (जयपुर) मे हुई है। कवि ने सांगानेर का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। उस समय वहाँ भगवानदास नामक राजा राज्य कर रहा था। वहाँ की प्रजा सुखी थी वहाँ के श्रावक धनी थे और अरहंत देव की पूजा करते थे। वहाँ का सघी जी का मन्दिर कलात्मक और मनोहर है, वहाँ और भी मन्दिर है। खेद है कि इस समय सांगानेर वीरान-सा नजर आता है। खण्डहरों को देख कर लगता है कि १६वीं १७वीं शताब्दी मे यह एक अच्छा सम्पन्न नगर रहा होगा। कवि ने इस ग्रन्थ को सं० १६३३ कार्तिक सुदी चतुर्दशी शनिवार के दिन बनाकर समाप्त किया है[७]।

सातवीं रचना परमहस चौपई है, जो एक रूपककाव्य है। ब्रह्म जिनदास ने भी परमहंस नामक रूपककाव्य लिखा है, संभव है उसका कुछ प्रभाव इस पर भी हो, क्योकि यह रचना बाद मे रची गई है। इसमें परमहंस की विजय मोहादि शत्रुओं पर हुई है, उसका सविस्तर वर्णन दिया हुआ है। कवि ने इस ग्रंथ की रचना सं. १६३६ की ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी शनिवार के दिन

---

३. भणई कथा मनि धरि हरष,
सोला सै सोलोत्तर शुभ शाख।
रुति वसत मास वैशाख, नवमी शनि अधारै पाख ।।

४. हो सोलह सै अठवीस विचारो,
भादवा सुदि दुतिय बुधवारो।
गढ हरसौर महा भलो जी,
तिह मैं भला जिनेसुर थान।
श्रावक लोग वसै जी देव-शास्त्र, गुरु राखै मानतो ।।

५. अहो सोलहसै गुणतीसइ जी वर्ष,
वैशाख सातै जी ऊजलो पाख।
साहि अकब्बर राजई अहो,
भोगवै राज अतिइंद्र समान ।।

६. हो सोला सै तीसा शुभ वर्ष, तिथि तेरस सित सोभिता।
हो अनुराधा नषित्र सुभसार, वटन जोग दीसै
भलहो ? भनै वार सनीचरवार।

७. सीलासै तेतीसासार कातिगसुदी चौदसि सनिवार।

तक्षकगढ़ (टोडा नगर) में की है[८]। ग्रन्थ मे ६५१ पद्य है, ग्रन्थ की यह प्रति दोसा भडार की है। कवि ने तक्षकगढ़ का वर्णन करते हुए लिखा है कि तक्षक गढ विशाल नगर था जो कूप बावड़ी, वाग आदि से अलकृत था। चारो दिशाओ मे बाजार था जिसमे कपड़ा, मोती आदि सभी जीवनोपयोगी सामान मिलता था। बड़ा ऊंचा जिन चैत्याल था, जो ध्वजा, चदोवा व तोरण द्वारों से सुशोभित था। वहां श्रावकगण जिनपूजादि कार्यों में संलग्न रहते थे। कवि का विहार अनेक नगरों मे हुआ है, सांगानेर, हरसोरगढ़, तक्षकगढ़ (टोडा नगर) आदि। कई रचनाओं मे तो स्थान का नाम नहीं मिलता, जिससे यह बतलाना कठिन है कि वह कहाँ पर रची गई।

आठवीं रचना 'भक्तामरस्तोत्र वृत्ति' है। जिसे कवि ने महासागर के तट भाग मे समाश्रित ग्रीवापुर के चन्द्रप्रभ जिनालय मे वर्णी कर्मसी के वचनों से भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति की रचना वि. सं. १६६७ आषाढ़ शुक्ला पंचमी बुधवार के दिन की है[९]।

इनके अतिरिक्त कवि की निम्न रचनाएं और ज्ञात हुई हैं। जंबूस्वामी चौपई, चन्द्रगुप्त चौपई। आदित्यवार कथा और चिन्तामणि जयमाल, कवि की अन्य रचनाएं भी अन्वेषणीय हैं।

लक्ष्मीचन्द—कवि ने रचना मे अपना कोई परिचय नहीदिया, आपकी एक मात्र कृति 'दोहा अनुप्रेक्षा' है, जिसमे ४७ दोहे दिये हुए है। जिनमे अनित्यादि बारह भावनाओं का सुन्दर विवेचन किया गया है जो आत्म-प्रबोधन के लिए उपयोगी है। ग्रन्थ मे रचना काल भी नहीं है, किन्तु उक्त रचना जिस गुच्छक में लिपिबद्ध है वह सं. १५७० का लिखा हुआ है। अतएव रचना उसके बाद की नहीं हो सकती, किन्तु उससे पूर्ववर्ती है और वह संभवतः १५वी शताब्दीकी जान पडती है। रचना सुन्दर और गतिशील है। पाठकों की जानकारी के लिए उसके कुछ दोहे नीचे दिये जाते है, जिनमें अनित्य, अशरण संसार, अशुचि भावना और एकत्व का स्वरूप दिया गया है।—

जल बुब्बउ जीविउ चवलु, धणु जोव्वण तडि-तुल्लु।
इसउवियाणि वि मा गमहि, माणुस जम्मु अमुल्लु ॥५
जइ णिच्चु वि जाणियइ, तो परिहरहि अणिच्चु।
ते काइं णिच्चु वि मुणहि, इय सुयकेवलि वुत्तु ॥६

अशरणभावना—

असरणु जाणहि सयलु जिय, जीवहं सरणु न कोइ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा अप्पउ जोइ ॥७
दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा सरणु मुणेइ।
अण्णु ण सरणु वियाणि तुहुं, जिणवर एम भणेइ ॥८

एकत्वभावना—

इक्किल्लउ गुण-गण-निलउ, बीयउ अत्थि ण कोइ।
मिच्छा दंसण मोहियउ, चउगइ हिंडइ सोइ ॥११
जइ सद्दंसणु सोलहइ, जो परभाव चएइ।
इक्किल्लउ सिव-सुह लहइ, जिणवरु एम भणेइ ॥१२

अशुचिभावना—

सत्त धाउमउ पुग्गलवि, किमि कुलु असुइ निवासु।
तहिं णाणिउं किमइं करइ, जो छंडइ भव-पासु ॥१५
असुइ सरीर मुणेहि जइ, अप्पा णिम्मल जाणि।
तो असुइ वि पुग्गलचयहिं एम भणंतिहु णाणि ॥१६

अनुप्रेक्षा की भाषा पुरानी हिन्दी है, दोहा भावपूर्ण और रोचक हैं। यह मूल रूप मे अनेकान्त में प्रकाशित हो गई है, किन्तु उसे सम्पादित कर आधुनिक रूप में प्रकाशित करना चाहिए। कवि ने ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नही दिया और न कही अपना नाम ही अकित किया, किन्तु गुच्छक में अकित होने से उसे लक्ष्मीचन्द्र के नाम से दिया है। कवि की गुरु परम्परा अन्वेषणीय है।

कवि पाहल—ने अपना कोई परिचय और गुर परम्परा एव ग्रन्थ का रचना समय नही दिया, जिससे उनके

---

८. सोलासै छत्तीस वखान, ज्येष्ठ सांवली तेरसि जान।
सौभे वार सनीचरवार, गृह नक्षत्र योग शुभसार।

९. चक्रेवृत्ति मिमां स्तवस्य नितरां नत्वा (सु १) वादीदुकम् ॥७

सप्त षष्ठयकितें वर्षे षोडशाख्ये हि संवते।
आषाढश्वेत पक्षस्य पंचम्या बुधवार के ॥८
ग्रीवापुरे महासिन्धो स्तटभागं समाश्रिते।
प्रोत्तुंग-दुर्ग-सयुक्त चद्रप्रभ-सद्मनि ॥९

सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता। आमेर भंडार के एक गुच्छक मे उनकी एकमात्र कृति 'मनकरहा रास' उपलब्ध है। जिसमे आठ कडवक दिये हुये है, कवि ने मगलगान के साथ ही अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपने को बुद्धि रहित बतलाते हुए लक्षण और छन्द से रहित काव्य को अपने सम्बोधन निमित्त बनाने की सूचना की है। रचना सुन्दर और प्रसाद गुण को लिये हुए है। और रूपक द्वारा मन रूपी ऊंट को समझाने का प्रयत्न किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि जब एक-एक इन्द्रिय का विषय उस उस इन्द्रिय वाले जीव का घातक है, तब जो पाचो इन्द्रियों का भोगी है उसकी क्या दशा होगी[1] सो देख। मन की चंचलता से इन्द्रियाँ विषय की ओर दौडती हैं, उनमे संलग्न होकर जीव अर्जित अशुभ कर्मवश निम्न गतियो मे जन्म लेता है, मरता है, दुख उठाता है। अतः उस दुख से छूटने और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए मन, वचन और काय को दण्डित करते हुए, उनकी एकाग्रता बनाने के लिए आत्मा को शुभ ध्यान मे लगाने की आवश्यकता है। तपश्चरण से ही स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। ग्रन्थ की भाषा हिन्दी के विकसित रूप को लिए हुए है। ग्रन्थ का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है :—

सयल वि जिण वंदि वि मुणि अहिणंवि,
वि लक्षण छद विवज्जियउ।
अप्पउ आहासमि कव्वु पयासमि,
जइ हउं बुद्धि विवज्जियउ ॥
जसु विसयहं उप्परि ठाइं बुद्धि,
तसु धम्म सुणत हं कवण सुद्धि।
एक्कल्लउ इंदिय जिणइं जासु,
पंच वि पुणु णरय हो दिंति वासु ॥
जिहि इंदी पसए णिवारियओ,
जल मज्झिमप्पु णीसारियओ।
करि करणि पसंगो अइ पवंडु,
मोग्गर घायं किउ खंडु खंडु ॥
महुयर घाणिंदिय गंध लुद्ध,
सो मुवउ सरोरुह मज्झि छुडु।
णयणिंदिय दोस पसंगएण,
अप्पाणउ दट्ठु पयंग एण ॥
परिभमइ कुरंगउ तामरणि(ण्णि),
गेयहो झुणि जम्म ण देइ कण्णु।
पंचेदिय जीवहो दुक्खु दिंति,
पंचेदिय दुग्गइ गमण लिंति ॥
पंचेदिय पुट्ठु अणिट्ठ भाव,
पंचेंदिय चंवल चल सुभाव ॥
अहवा पंचिंदिय कवणु दोसु,
मणु हिंडइ तिहुवणि णिरवसेसु।

घत्ता—
मणु चंचलु भावइ उप्पहि धावइ बंधिवि जो ण धरेसइ।
भविसायर पडियउ कम्में णडियउ बुद्धि वि तित्थु मवेसइ ॥१

अन्तभाग :—
जइणीरिउ संजम डालहइं, तो मण करहु ण रइ करइ।
सा विसय महावण वेल्लडी, तहिंकारणि यहु सुणु हणइं।
जिणु ण बहु पयत्ते भवियजणा, जिणकुमुअचद अविसण्णमणा।
मण वयण काय एकी करेइ, सुहझाणें पुणु अप्पा धरेइ।
गइ चउविह करइ करंतु सोइ,
सो करहु भाउ जं अचलु लोइ।
लोय हो मइ कहियउ करहु धम्मु,
धम्में फेडिज्जइ असुह कम्मु।
कम्मेण कोण णर सिविय जंति,
जंति वि पंचिंदिय तउ करंति।
तउ कर वि जिणेसर संभवंति,
सग्गाऽपवग्ग हु वहि रमंति।
संभरणु करहु सम्मत्त लेहु,
लहु सग्गि पयाणउ जेम देहु।
घत्ता—**सम्मत्त धरिज्जहु मणु खंचिज्जहु,**
करि वि सुणिम्मल विमलमई।
पाहलु कवि बोलइ जसु मणु डोलइ,
सो किम पावइ परम गई ॥८

———————

१. अली मातंग मृग सलमीन विषय इक इक मे मरते है।
नतीजा क्या न पावें वे विषय पाँचों जो करते है।

★

संत कबीर और द्यानतराय

डा० गंगाराम गर्ग

हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य अपनी विपुलता और व्यापकता की दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थान रखता है। मध्ययुग मे भारतीय जीवन और साहित्य मे क्रान्ति लाने वाले दो प्रमुख साधक अवतीर्ण हुए—कबीर और तुलसी। दोनों के पथो मे पर्याप्त भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य मे एकता थी। जन्म से ही क्रान्तिकारी, अक्खड़, फक्कड़ और मस्तमौला फकीर कबीर की विचारधारा से प्रभावित उत्तर भारत मे दादूपंथ, रामस्नेही, रैदासी आदि अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव होता रहा। सत और वैष्णव काव्य परम्पराओ के साथ-साथ मध्ययुग मे तीसरी काव्य-परम्परा और विकसित हुई, वह थी जैन भक्ति काव्य परम्परा। बनारसीदास, जगजीवन, जगतराम, द्यानतराय, पार्श्वदास और बुधजन आदि अनेक जैन कवि अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओ से इस काव्य-परम्परा को विकसित करते रहे। आगरा निवासी द्यानतराय (सं० १७३३—१७८३) अपनी सौ रचनाओं के अतिरिक्त ३२३ भक्ति-पूर्ण पदों के कारण जैन भक्ति परम्परा की प्रमुख कड़ी है। सत कबीर और द्यानतराय के काव्यालोचन के माध्यम से दो भिन्न-भिन्न काव्य परम्पराओ मे व्याप्त समान दृष्टिविन्दुओं को समझने से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिता भी प्रमाणित हो सकेगी।

ब्रह्म

कबीर आदि सभी सत निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उन्होने ब्रह्म को अजर, अमर, निराकार, निरंजन, अक्षय और अचल कहा है। वह परमात्मा और परमानन्द भी हैं। ब्रह्म नित्य, निर्मल, अनादि और अनन्त है। द्यानत राय के ब्रह्म का स्वरूप निर्गुणियों के समान भी है :—

तुम तार करुणाधार स्वामी, आदिदेव निरंजनो।
सार जग आधार नामी, भविक जन मन रंजनो।
निराकार जमी, अकामी, अमल देह अमंजनो।
करो 'द्यानत' मुकति गामी, सकल भव-भय-भंजनो।२०८।

... ...

परमातम परमेस परमगुरु, परमानन्द प्रधान।
अलख अनादि अनन्त अनूपम, अजर अमर अमलान।
निरविकार अविकार निरंजन, नित निरमल निरमान।
जती व्रती मुन ऋणी सुखी प्रभु, नाथ धनी गुन ज्ञान।

कबीर और उनके सभी अनुयायियों ने इस्लाम धर्म से प्रभावित होकर ब्रह्म को समस्त खलक का कर्ता भी कहा है तथा उसे वैष्णवशाली प्रमाणित किया है। इस्लाम की तरह उन्होंने भी एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। द्यानतराय आदि जैन कवियो ने ब्रह्म को न तो सृष्टि का कर्ता ही कहा और न वैभवशाली। एकेश्वरवाद की अपेक्षा उनकी आस्था अनेकेश्वरवाद में रही। अवतारवाद, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि का तर्कसम्मत विरोध करते हुए द्यानतराय कहते है—"शुद्ध, निरजन और अविकारी ब्रह्म गर्भ मे क्यो आयेगा? अविनाशी ब्रह्म अंशो मे कैसे विभाजित हो गया? यदि सभी प्राणियो मे एक ही ब्रह्म अंश है तो एक सुखी और दूसरा दुःखी कैसे अथवा एक धनवान और दूसरा गरीब कैसे?"[१]

द्यानतराय ने जैन परम्परा के अनुसार जिनेन्द्र के ४६ मूल गुणों की चर्चा भी की है।

सतगुरु और साधु

सतगुरु और साधु दोनों को ही ईश्वर के समान आदर देना निर्गुण और जैन दोनों ही भक्तों की विशेषता रही है। दोनों ही भक्तों ने गुरू और साधुओं में क्रोध, मान, छल, लोभ, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों का अभाव पाया है तथा उनको सत्य, तप, अपरिग्रह, सरलता, सत्यता व

---

१. अनेकान्त, अक्टूबर १९६७, पृ० १७७, पं० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख।

२. जैन पद सग्रह, चतुर्थ भाग, पद १७८।

मधुरता आदि गुणों से विभूषित देखा है। महात्मा कबीर ज्ञानी गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं—

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाडिया, अनंत दिखावणहार।
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय।

द्यानतराय भी गुरु को ही उद्धारक मानते हुए उनके चरण-कमलों को नित्य प्रति हृदय मे बसाने की प्रेरणा देते है:—

तारन तिरन जिहाज सुगुरु हैं,
सब कुटुम्ब डोबै जग तोई।
द्यानत निशिदिन निरमल मन में,
राखो गुरु-पद-पंकज दोई।

कबीर साधु-सेवा के अतिरिक्त दूसरी कोई हरि-सेवा ही नहीं मानते:—

जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नाहिं।

द्यानतराय साधुओं के गुण-गान को भी मोक्षप्रदायक मानते है:—

द्यानत भवि तिनके गुणगावैं,
पावै-शिव-सुख दुःख नसाहीं।

नाम स्मरण

भारतीय भक्ति साधना मे नाम स्मरण का महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थ, व्रत आदि मे श्रद्धा रखने वाले सगुण भक्तों ने भी समस्त जप, तप, व्रत, तीर्थ, भोग, ज्ञान, वैराग्य आदि को धूप मानकर नामरूपी कल्पवृक्ष के नीचे बैठने में ही सुख और आनन्द माना है।[३] निर्गुण काव्य मे तो उपासना की पद्धति ही एक है—नाम-स्मरण। कबीर अपनी भक्ति, सेवा, पूजा, बान्धव, भाई और उद्यम सर्वस्व राम के नाम-स्मरण को ही मानते है। उनके विचार से राम के नाम का स्मरण ही अज्ञान और तीनो तापो का विनाशक है, अत: उसे अमूल्य जानकर हृदय मे धारण करना चाहिए—

राम नाम हिरदै धरि निरमोलिक हीरा।
सो भौ तिहूं लोक तिमिर जाय त्रिविध पीरा।

३. विनय पत्रिका पद १५५।

जैन भक्त द्यानतराय भी जिनेन्द्र के नाम-स्मरण को सुखद, दुःख भंजक, त्रय ताप-विनाशक, मंगलकारी और शान्तिदाता मानते हैं।[४] उनका कहना है—

जैन नाम भज भाई रे।
जा दिन तेरा कोई नहीं, ता दिन नाम सहाई रे।
अगनि नीर ह्वै शत्रु वीर ह्वै, महिमा होत सवाई।
दारिद जावै धन बहु आवै, जो मन नाम दुहाई रे।१२८।

नाम-स्मरण की पद्धति के सम्बन्ध में सगुण भक्तों का दृष्टिकोण कुछ उदार रहा। तुलसी का मत है कि भाव या कुभाव, उपेक्षा या आलस्य से—कैसे—भी राम का नाम लेने से तीनो लोको मे मंगल हो जाता है।[५] सन्त कवियो के नाम-स्मरण के ढग में इतनी सरलता की गुंजायश नही। कबीर के अनुसार नाम के प्रभाव के लिए उसके स्मरण में निरन्तरता, इकतारता और हृदय की पवित्रता होना अनिवार्य है। नाम-स्मरण के सम्बन्ध में द्यानतराय की भी यही धारणा है:—

द्यानत उत्तम भजन है कीजै मन रट कं।
भव भव के पातक सबै, जैहैं तो कट कं।७१।

... ...

ऐसा सुमरन कर मेरे भाई,
पवन थंभै मन कितहूं न आई।१०१।

बाह्याचार खंडन

बाह्याचार का खडन कबीर आदि सभी सन्तों के काव्य का प्रमुख आदर्श था। वैष्णव, इस्लाम, बौद्ध और जैन आदि विविध धर्मों के अनुयायी वेष तीर्थ आदि बाह्याचार मे उलझ कर परस्पर सौहार्द की भावना को बिल्कुल भूल गए थे। अत: सन्तो ने बाह्याचार का तीव्र खडन कर मन की पवित्रता पर जोर दिया। जैन कवि बाह्याचार का उग्र विरोध तो नहीं कर सके, किन्तु बाह्याचार की अपेक्षा मन की पवित्रता को श्रेष्ठ अवश्य कहते रहे। द्यानतराय अपने कई पदों मे प्रमुख जैन तीर्थ हस्तिनापुर और गिरिनार को जाने की प्रेरणा देते हैं,

४. द्यानत पद संग्रह, पद २३२।
५. भाव कुभाव अनख आलसहूं,
राम जपत मंगल दिसि दसहूं।
—रामचरित मानस, बाल

जिनवाणी को मोक्ष की दात्री बतलाते हैं तथा स्वयं ही मन, वचन और कर्म से भगवान जिनेन्द्र की पूजा करते हैं। इन धार्मिक विधानो में रत रहते हुए भी प्रधानता मन की पवित्रता और निष्कामता को ही देते है:—

प्राणी ! लाल छांडो मन चपलाई।
धारं मौन दया जिन पूजा, काया बहुत तपाई।
मन को शल्य गयो नहिं जब लौं, करनी सकल गंवाई।

वैष्णव, काजी, ब्राह्मण आदि की बाह्याचार की निन्दा करते समय कबीर की वाणी मे उग्रता और तीखापन आ गया था। बुराई से घृणा करने वाले संत बुराई मे लिप्त व्यक्तियो के प्रति अपना हृदय साफ नही कर सके। अस्पृश्यता की भावना को मिटाने के उद्देश्य से ब्राह्मण पर उबल पडते है—'अरे ब्राह्मण, यदि तू ब्राह्मण का जाया है तो अन्य मार्ग से क्यो नहीं आया?[६] पोथी पढने वाले पंडित को कोसते हुए वे कहते है—'अरे अभागे, तू किस दुर्बुद्धि का शिकार हुआ है जो राम का नाम नही लेता।'[७] कबीर के तीखे उपालम्भो से कुरान पढ़ने वाले काजी भी नहीं बच पाते :—

काजी कौन कतेब बखानं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानं।५६॥

कबीर की इन तीखी उक्तियो मे कितनी ही सच्चाई रही हो; किन्तु उनके कहने के ढग से उन्ही के प्रति समाज मे कटुता बनी। इसी कारण मुल्ला और पडित शायद अनुकूल प्रभाव भी ग्रहण न कर सके। जैन कवि जानते थे कि धार्मिक कृत्यो मे विदित कर्मकाण्ड को कोस कर कटुता पैदा करने की अपेक्षा धर्मावलम्बियो को मन की पवित्रता की ओर प्रेरित करना अधिक लाभदायक होगा। यही उन्होने किया। वैदिक युग मे यज्ञ और हिंसा का विरोध करते हुए भी उनके प्रतिपादक ब्राह्मणो के प्रति उन्होने कूटोक्तियाँ कभी नही कही। जैन कवि द्यानत राय मन की स्थिरता के बिना आसन, उपवास, ध्यान, योग की स्थिरता को बड़े सरल ढग से समझाते है :—

कर मनका लो आसन मार्‌यो, बाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक-ध्यान धरेतें, जो मन थिर न रहाई।
मास मास उपवास किए तें, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई।
मन वच काय जोग थिर करके, त्यागो विषय-कषाई।
'द्यानत' सुरग मोरव सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई।४७

सदाचार :—

संत सुधारवादी थे। सम्प्रदाय और जाति सम्बन्धी विविध भेदो को मिटाकर मानव को एक दूसरे के अधिक निकट लाने के लिए ही उनके काव्य का सृजन हुआ था। लोक सुधारक कबीर और अन्य संतों के काव्य में क्षमा, संतोष, निर्मोह, अक्रोध आदि विविध मानवीय प्रवृत्तियों पर प्रचुर मात्रा मे साखिया और पद विद्यमान है। एक-एक मानवीय प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे प्रत्येक सत ने अलग-अलग 'अंग' लिखे है। आचार धर्म को प्रधानता देने वाले जैन धर्म के अनुयायी द्यानत, बुधजन, पार्श्वदास आदि जैन भक्त इस क्षेत्र मे कैसे पीछे रहते। उन्होंने अपने पदों मे भी सदाचार की बाते कही है। द्यानतराय शील के बिना जप और तप को भी निरर्थक समझते है —

रे जिय ! सील सदा दिढ़ राखि हिये !
जाप जपत तप तपत विविध विध,
सील बिना धिक्कार।१३६॥

वह मन को पवित्र करने की एकमात्र औषधि सत्सग को मानते हुए उसके आचरण की प्रेरणा देते है—

दोष घटै प्रगटै गुन मनसा, निर्मल ह्वै तजि चपलाई।
'द्यानत' धन्य धन्य जिनके घट, सतसंगति सरधा आई।

सभी संत और सगुण भक्तो ने तन-धन को नश्वर और परिजनो को स्वार्थी बतलाते हुए संसार की निन्दा की थी। उन्होने सभवतः भौतिकता मे अधिक लिप्त न हो जाने की धारणा से ही ऐसा कहा था। यदि ऐसा न होता तो उनमे कई सत और वैष्णव भक्त गृहस्थ न होते ! ससार से निवृत्त हो जाने अथवा उसे पूर्णतः त्याग देने का सकेत उनकी उक्तियो मे ढूढना हमारी ही भूल होगी। सभी जानते है कि धन पुत्रादि मे अधिक आसक्ति रखने से मानव कितना दानव बन जाता है। भौतिकता के प्रति अत्यधिक आसक्ति को दूर करने की

६. जो तू बाभन बभनी जाया,
आन बाट ह्वै क्यो नहि आया।
७. पाडे कौन कुमति तोहि लागी।
तू राम न जपत अभागी। कबीर ग्रन्थावली

भावना से जैन भक्तों ने भी तन, धन और परिवार के सम्बन्ध मे सतों की सी उक्तियां कही। द्यानतराय कहते है—

जुवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे।
यह संसार सुपन की माया, आँख मींच दिखराव रे।

भक्ति :

रूढियों का विध्वस कर सदाचार का प्रचार करने वाले निर्गुण सतो के काव्य मे अनुरागमूलक भक्ति भी अन्तर्निहित है। उन्होने अपने उपास्य की आराधना प्रमुखत: दो भावो से की है—दास्यभाव और पत्नी भाव। दोनो ही भावो की चरम परिणति सगुण काव्य मे हुई है। *अपने आराध्य के प्रति कबीर की दास्यभावी अनन्यता* देखिए :—

तारण तिरण तिरण तू तारण और न दूजा जानों।
कहै कबीर सरनाई आयो, आन देव नहि मानो ।।११२।।

यह अनन्य भाव द्यानतराय म भी विद्यमान है :—

मात तात तू ही बड़ भ्राता, तो सौ प्रेम घनेरा।
'द्यानत' तार निकार जगत तै, फेर न ह्वै भव फेरा।

कबीर ने ईश्वर का अपना पति मानकर उसकी प्राप्ति के लिए पत्नी जन्य व्याकुलता और तडपन की प्रत्यक्ष अनुभूति की थी।

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया।

द्यानतराय की तडपन जैन भक्ति के परम्परा अनुसार राजमती के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई है :—

भूषण वसन कुसुम न सुहावै कहा करूं कित जाऊँ।
'द्यानत' कब मैं दरसन पाऊँ लागि रहौं प्रभु पाऊँ **।।२३६**

ब्रह्म का निरूपण, नाम स्मरण की महत्ता, बाह्याचार का खडन, सदाचार, भक्ति आदि विविध तत्वों की दृष्टि से कबीर और द्यानतराय की तुलना करने पर स्पष्ट है कि जैन काव्य का एक पक्ष अपनी सस्कृति और दर्शन की मौलिकता को सभाले हुए भी सत काव्य से भी समकक्षता रखता है। वस्तुत: जैन भक्ति काव्य वह प्रयाग राज है जहाँ निर्गुण और सगुण काव्य की पवित्र धाराए अभिन्न भाव से मिल गई है। भारतीय सस्कृति की समग्रता और मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिकाव्य की पूर्णता के लिए समन्वयवादी द्यानतराय पार्श्वदास आदि जैन भक्तो की रचनाओ का अध्ययन और विवेचन परम अनिवार्य है—

●

सदोपता

मुनि श्री कन्हैयालाल

स्वर्णकार अपनी दुकान मे तन्मयता से कार्य कर रहा था। सहसा एक ग्राहक सोना खरीदने आ पहुँचा। स्वर्णकार गुजा के साथ सोना तोलने लगा। गुजा से रहा नही गया। तडककर अपनी मानसिक व्यथा सुनाते हुए स्वर्णकार से कहने लगी—स्वामिन्! मुझे इस अधम सोने के साथ क्यो तौल रहे हो? कहाँ मै कुलीन और कहाँ यह पातकी सोना। मेरा निवास सघनतम कानन है। मेरा घर (बेल) सर्वदा रहा-भरा रहता है। मेरी जाति ऊंची है। मै उस घर मे आनन्द की बहार लूट रही थी। सहसा एक दिन दुर्भाग्यवश इस नीच की संगति प्राप्त हुई और उसी समय मेरा मुह काला होगया।

स्वर्ण को यह सब कब सह्य था। उसने कठोर शब्दो मे गुंजा से कहा—मेरे विरुद्ध व्यर्थ ही इतना विष क्यों उगल रही हो? तुझे इतना गुमराह किसने कर दिया। यदि तेरे मे हो कोई गुण है तो मेरे साथ अग्नि कुड मे एक छलांग भर। तेरे अहंकार का नशा कुछ ही क्षणों में धूलिसात हो जायगा।

स्वर्ण की चुनौती का प्रत्युत्तर देते हुए गुंजा ने कहा—अरे अधम! तू मेरी समानता कर सकता है? कहाँ मेरा गुरुत्व और कहाँ तेरा लघुत्व। मेरे बिना तेरा मोल भी नहीं होता। मदान्ध! संसार उसी को जलाता है जो अवगुणी होता है। मुझ निर्दोष को तेरे साथ अग्नि कुण्ड मे कूदने की क्या आवश्यकता? सभी स्वर्णकार तुझे धधकते हुए अगारों में इसीलिए तो जलाते है कि तू अवगुण का पुतला है।

पांडे जीवनदास का बारहमासा

गिन्नीलाल जैन

हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान और उनका साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही है। प० जीवनराम पाण्डे भी उन्ही में से एक है। वे २०वीं शताब्दी के दिल्लीके विद्वान भट्टारकों के शिष्य हैं। वे भट्टारक ललितकीर्ति की शिष्य परम्परा में हुए हैं। यह भट्टारकीय पंडित थे और हिन्दी भाषा के विद्वान थे। इनकी बारहमासा नाम की एक रचना है। यद्यपि वह साधारण है, फिर भी उद्बोधक है।

पं० रूपरामजी के शिष्य पाण्डे जीवनराम जी थे, जो अन्तिम भट्टारक राजेन्द्रकीर्ति जी के समय मे फतेहपुर शेखावटी के दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर जी मे रहते थे। वे जाति के ब्राह्मण थे और ज्योतिष व वैद्यक के अच्छे जानकर थे। वे मन्दिर जी में पूजापाठ भी किया करते थे। उनका लिखा हुआ एक गुटका[1] मन्दिर जी में है। उसमे ज्योतिष व वैद्यक की बहुत सी चीजें लिखी हुई हैं। समय-समय पर कितने ही विद्वान उसको देखकर कितनी ही चीजे उतारकर ले जाते है। उनका ही लिखा हुआ एक दूसरा गुटका अभी मेरे देखने मे आया जिसमे जीवनदास, खुशालचन्द, बुधसूरदास, कनककीर्ति और विनोदीलाल के पद है; हेमचंद मुनि लिखित राजमती की चूनड़ी है। उसी में पाण्डे जीवनराम जी का लिखा हुआ स० १६१० ज्येष्ठ वदी १० का बनाया हुआ नेमनाथजी का बारहमासा है जो आप सबकी जानकारी के लिए नीचे दे रहा हूँ…

प्रथम मनावूं शारदा, गुरु के लागों पांय।
नेमनाथ व्याहन चढ़े, हरषे रानो राय ॥१॥
छप्पन कोडि जादव मिले, इक दइयां महाराज।
देखत उपजे हर्ष अति, घन ज्यों चाले गाज ॥२॥
उग्रसेन द्वारै गया, गये बधाई दार।
सज्जन जन हरष्यो हियो, बटी बधाई सार ॥३॥
हीरा, पन्ना बहु दिया, अस चुन्नी बहुलाल।
दिया, बधाई वार कों, बहु आभरण भुभाल ॥४॥

१. अने० वर्ष ११ किरण १२ फतेहपुर के जैन मूर्ति लेख।

नोबत बाजे अति सुभग, भरे नगारा ढोल।
तुरही संख सुहावणां, बहु बांटत तंबोल ॥५॥
नेमि जिनन्द ढूकण चले, उग्रसेन घरि जाय।
नारी पुर की एक होय, गावें गीत रसाय ॥६॥
सब सखियन के झूलरे, राजुल बैठी आय।
देख नेमि मन भावना, अंग-अंग विगसाय ॥७॥
पशु सबद सुन नेम जी, रथ सुं उतरे वेग।
ककण डोरे तोरि के, रिपु जीतन लई तेग ॥८॥
पशु छुड़ाये तुरत ही, वार कछू न लगाय।
उज्जंती गिर चढ़ गये देव रिषि सब आय ॥९॥
टोंक पचमी ऊपरे, दीनो ध्यान लगाय।
मोह जीत रिपु दल हने अंतर सुरत सलाय ॥१०॥
राजुल सुन ये बातड़ी, गिरे तेवालो (मूछित) षाय।
सखियां चदन छिटकियो, वेग लई ज उठाय ॥११॥
राजल चाली नेमि पै, गिर पर पहुँची जाय।
हाथ जोड़ स्तुति करि, बहु विध शीश नवाय ॥१२॥
यह सजम बय है नहीं, तुम समझो चित मांहि।
द्वादश मास कैसे षमो, समझावो हम जांहि ॥१३॥

बारहमासा

दोहा—आसाढ मास सुहावणों, कुछ वरषे कुछ नाहिं।
नेमि पिया घर आइये, क्यूं तुम लोग हंसाहि ॥१४

चाल—आयोजु मास असाढ प्रीतम,
पहले व्रत तुम नहि लियो।
छप्पन कोड भये जनेती दुष्ट जन कपै हियो ॥
वलभद्र और मुरारि संग ले बहुत सब सरभर करै।
गिरनारगढ़ सुं चलो नेमिजी राजमति चितवन करै ॥१५

उत्तर—आयो मास असाढ ही, मन नहिं उलसै मोहि।
मुकत रमण हित कारणें, छाड़े घर सब तोहि ॥१६
यह जीव तो निस सुपन जानों कहा बढाई कीजिये।
ये बंधु, भगनी, मात-पिता ही, सर्व स्वारथ लीजिये ॥
तिह बात हम सब त्याग दीनों, मोक्ष मारग पग धरो।

कहे नेमिनाथ सुनों जु राजुल, चित अपनो बसि करो ।।
प्रश्न—श्रावण आयो उमगि कें, घन आयो विग्साय ।
तुम विन डर लागै सरस घर चालो हरषाय ।।१८
श्रावण आयो सब न भायो कंथ चायो कामिनी ।
चहुं ओर पवन झकोरि करि है लवै दर्दुर सामनी ।।
कोकिल बोलै हिया डोलै बीज चमकै मन डरै ।
गिरनारि गढ़ सुं चलो नेमजी राजमति चितवन करै ।।
उत्तर—दोहा—श्रावण आयो अति भलो हमको कहा विगार ।
जीव जतन बहुतें करो, कोउ न राखन हार ।।२०
यह जीव कोईयन राख सक्कै कालवलि सब घेर है ।
इंद्र और नरेन्द्र चक्री, देव नर पशु लेर हैं ।।
तातै कहा उर सुनो राजुल चित अपनो सरवरो ।
कहे नेमिनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो ।।
प्रश्न—भादव वर्षा लग रही, पवन चले अति जोर ।
नेमि पिया चलिये घरां, विरह जगावत मोर ।।२२
भाद्रव बरसै देह तरसै, बहुत पवन झकोर ही ।
ये बूंद आवै मन न भावै, बीज करिहै सोर ही ।।
घरे आय के व्रत क्यों न धारो, बहुत वन में दुष धरै ।
गिरनार गढ़ सुं चले नेमजी, राजमति चितवन करै ।।२३
उत्तर—भादव आयो समझि कें, करस्यों, तप बहु भांत ।
मुक्ति रमण के कारणे, देह अपावन सात ।।२४
जग मांहि सुष न एक राजुल, दुःख मांहि भ्रम्यो फिरै ।
गति च्यार मांहि अनंत मलि है, कालबसि जग यो फिरै ।
सब रोग-सोग-वियोग भरि है मरन जामन बहु धरी ।
कहे नेमिनाथ सुनोजु राजुल, चित अपनो वसि करो ।२५
दोहा—आयो मास आसोज ही कैसे धरस्यों ध्यान ।
घर चालो तुम वेग ही, करो न हठ सुग्यान ।।२६
चाल—आसोज लागे सुख भागे, बूंद शीतल अति झरै ।
कहुँ बरसै कहुँ नांहि बरषै, पवन बाजे ठंड परै ।।
तुम देह प्रासुक रहो कैसे, चित छिन में डुले परै ।
गिरनार गढ़ सुं चलो नेमिजी, राजमति चितवन करै ।२७
दोहा—आवो मास आसोज ही, चित्त डुले नहिं मोहि ।
ध्यान लगावूं सरस बहु, किस विधिमें सुष होहि ।।२८
चाल—कैसे जु चित डुले राजुल समाधि योग लगायस्यूं ।
परमेष्ठि पञ्चम ध्यान ल्याऊं, मुक्ति पर ज्यूं पायस्यूं ।।
जीव निसदिन फिरै हंडित, नर्क दुष यों में परचो ।
कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल, चित अपनो वसि करो ।२९
दोहा—कातिक आयो फौज ले, मंगल गावत नारि ।
कहुँ खेले कहुँ हंसि परै, कैसे धरिस्यों भार ।।३०
चाल—कातिक आयो फौज ल्यायो, कैसे चित तुम वसि करो ।
त्रिया गावे गीत सुरग मधुरे, आवो घर अब चित धरो ।।
निस मांहि दीपक देष तुमरो, तसि जिवरो चले परै ।
गिरनार गढ़ सुं चलो नेमजी, राजमति चितवन करै ।।
दोहा—कातिक आवो आज ही, मन नहीं तरसे मोहि ।
पुद्गल स्यूं भिन्न में रहों, कहा सीखवूं तोहि ।।३२
चाल—तो जीव तरसे सुन्न राजुल, तन्न अपनों जानिये ।
पुद्गल स्यूं भिन्न भिन्न रहस्युं, नीर क्षीर समानिये ।
हंस जल को भिन्न करि है, तैसे तन को मैं करचो ।
कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो ।।
दोहा—मगसिर आयो जोर स्यूं, लेय कटारी हाथ ।
कसे अब तुम जायस्यों, मुक्ति रमण के साथ ।।३४
चाल—आयोजु मगसर मास प्रीतम, पवन शीतल अति बहै ।
जब धांन पांन स्वाद लगि है नीर शीतल बहु वहै ।।
तुम वाल वय में कैसे रहस्यो मोह दुठ कैसे अरै ।
गिरनारगढ सुं चलो नेमिजी, राजमति चितवन करै ।।
दोहा—मृगसिर आयो क्या भयो, तन वसि कीनों आज ।
या घर को कछु हित नहीं, सिद्धन सों हम काज । ३६
चाल—यह देह षेह अपान है अति याह में कछु सार है ।
यह चर्म चादर ढंढ राषी, मूत्र मल को ठार है ।।
यह हाड़ पिंजर माहि लागे, नेह या को हम टरचो ।
कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो ।।३७
दोहा—आयो पोस उछाहस्यूं, घणों परेगो शीत ।
मुकत रमण तुम भूलि हो, आसो घर बहु भीत ।।३८
चाल—आया जु पोस उछाह सेती, शीत अति देही दहै ।
कहा उठोगे जब प्राण प्यारे, कौन विध देही सहै ।।
तुम तन कोमल है घनेरो, फौज काम की अति लरै ।
गिरनारगढ़ सुं चलो नेमिजी राजमति चितवन करै ।।
दोहा—पोस मास आवो तुरत नांहीं हमरो काज ।
अंतर ध्यान लगायस्यूं मुक्ति रमण हित साज ।।४०
चाल—आस्रव होय कहा प्रसोभै पवन शीतल अति लगै ।
इन्द्रिय पंच पयार जहां तहां, राग-द्वेष स्यूं चित भगै ।।

मद अठ पापी फिरै जु साथी, द्रव्य पर चित न धरो।
कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपना वसि करो।।
दोहा—माघ महीना अति कठन, पत्थर से गलि जात।
तुम शरीर कोमल बहुत, कैसे धीर रहात ।।४२
चाल—आयोजु मास सु माघ प्रीतम, वैर जमे है सागरा।
यह मनुष देह कहां परी है, समझ चितमें तुम धरा।।
जब शीत दाहै, आग चाहै कैसे मन में थिर रहे।
गिरनार गढ़ सु चलो नेमजी, राजमति चितवन करे।[1]
दोहा—माघ ज आवो भावस्युं, रहस्युं संवर छाय।
मन थिर राखो आपणों, मुकत रमण हित लाय।।
चाल—संवर अवर वाय राखो, सीत पालो ना लगे।
जहाँ छान छाऊं छीमा केटी, पच इंद्री नही जगे।।
मद अष्ट पापी वार जारु, शीत स्यु में कहा डरो।
कहे नेमिनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो।।
दोहा—फागुण मदस्यूं गहगह्यो, आयो है सिरताज।
गौरी गावै गीत भी, कैसे रहसी लाज।।४५
चाल—आयो जु फागुण मास, प्रीतम, गौरी आवे गावती।
पिचकारी हाथां काय माता ढफ बजावत ध्यावती।।
गावत गीत धमाल मधुरे, ध्यान तुम सबही हरै।
गिरनारगढ सुं चलो नेमजी राजमति चितवन करै।।
दोहा—फागुन आयो हर्ष के हमरो कहा बिगार।
मुकतरमण स्यूं खेलस्युं, सब साधयन स सार।।४७
चाल—हु होरि खेलूं सुनो राजुल घर अपने चावस्यूं।
सखी पंच अपने संग लेकर अष्ट करम उडावस्यूं।।
समकित कीच क्यारि भरि २ मुक्ति कामनी से परो।
कहे नेमिनाथ सुनो जु राजल चित अपनो वसि करो।।
दोहा—चैत्र मास बहु विध भलो, घर घर मंगलाचार।
रुत वसंत फूलै सरस, घर चालो पिय सार।।४६
चाल—चैत्र जु आयो सबन भायो, कंथ चायो कामनी।
फूलैगी कांमन कंथ घर में, खेले घर में रामनी।।
सब बाल और गोपाल कन्हई तुमस्यूं अब हेत करै।
गिरनारगढ स्यूं चलो नेमिजी राजमति चितवन करै।।
दोहा—चैत्र मास में खेलस्यूं मुकत रमणि के साथ।
तीन लोक जानें हमें असे ख्याल कटात।।५१
चाल—लोक तीन में जानै राजुल, पंच इंद्रि वस करों।
मद अष्ट कों चित टार देई, सिद्ध सुमरण में धरों।।
जब होय कर्म को नास हितनी चित्त संजम तुम धरो।
कहे नेमिनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो।।
दोहा—आयो मास वैसाख ही ग्रीषम ऋतु दुखदाय।
गिरस्यूं उतरो नेमिजी, घरां चलो सुखदाय।।५३
चाल—आयो जु मास वैशाष ग्रीषम नीर शीतल सुख करै।
तुम देह कोमल रहो कैसे घाम स्यू अति तन जरै।।
असे कठोर भये जु कब से, ममत ताजों के सिव वरै।
गिरनारगढ सुं चलो नेमजी राजमति चितवन करै।।
दोहा—आयो अति उछाहस्यों, मास वैशाख महान।
धर्म करत तन नां जरै राजुल निहचै जान।५५।
चाल—करै धर्म जो नर भाव सेती कहो नहीं कहा पाहवी।
दर्शन ज्ञान चारित्र धारै, तातें सिव-मग ध्यावहीं।
जहाँ दया धारै धर्म पालै, मोह रालै जीव हो।
कहे नेमिनाथ सुनो जु राजुल चित प्रपनो वसि करो।
दोहा—आयो जेठ जु चितस्यू, नर्म जु नहि रहात।५६।
घाम परै अति दुख करै, संवर सब भाग जात।
चाल—आयो जु जेठ कठिन प्रीतम, धर्म कहो कैसे राखिये।
लूव बाजै वदन दाजै, नहिं झूठ किंचित भाषिये।
नहिं चले पथी देश मारग भूष त्रषा अति दुख करै।
गिरनार गढ़ सुं चलो नेमिजी राजमति चितवन करै।
दोहा—जेठ मास आयो तुरत कायर जावे भाग।
सूरवीर पहुँचै तुरत अरि सिर धावै धाग।५६।
चाल—नर जनम होणों बहुत दुर्लभ जौन श्रावक नहिं परी।
दुर्लभ धर्म धरत जे नर, रत्नत्रय व्रत फुनि धरी।
दुर्लभ षोड़श भावना पुनि, मुक्तिमार्ग कहा परचो।
कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो वसि करो।
दोहा—बारह मास पूरा हुआ, नेम न पघल्यो कोई।
राजुल कूं समझावई, तुरत अर्जिका होई।६१।
चाल—राजुल तब ही होय अर्जिका, सिद्ध ध्यान लगाईयो।
मद मोह त्यागो काम भागो, स्वर्ण षोडश पाइयो।।
प्रभु कर्म अष्ट जराय कै, तुम मोक्ष मारग जावही।
पांडे जीवन सुनो भविजन, रैन दिन जिन ध्यावही।
इति : नेमनाथजी को बारहमासा सम्पूर्ण।
सं. १६१० का मीती जेठ वदि १०।। ★

कलिङ्ग का इतिहास और सम्राट् खारवेल : एक अध्ययन

परमानन्द जैन शास्त्री

कलिङ्ग का इतिहास :

प्राचीन समय में कलिङ्ग भी एक जनपद था[1]। परन्तु सोलह जनपदों की सूची मे उसका नाम नही है। उसका विकास और समृद्धि क्रमश: बढ़ती गई और वह अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। उसकी समृद्धि का कारण जैन राजाओ का प्रजापालन, वात्सल्य और अहिंसक प्रवृत्ति थी। जैन शासको की नीति सुखात्मिका और निर्भय बनाने वाली थी। यही कारण है कि वहा के निवासी परस्पर सगठन और एकता के हामी थे। कलिङ्ग का इतिवृत्त बतलाता है कि वह एक शक्तिशाली देश था। कलिङ्ग की सम्पन्नता, स्वाधीन वृत्ति और बलवत्ता ईर्षा की वस्तु थी। उसके बढ़ते हुए वैभव को कोई प्यार की दृष्टि से नही देखता था। कोई भी सम्पन्न देश उसके उत्कर्ष को सहन करना नही चाहता था। यही कारण है कि दूसरे राज्यो ने कलिंग पर आक्रमण किये, किन्तु कलिङ्गवासी इतने स्वातन्त्र्य प्रिय और स्वाभिमानी थे कि अवसर पाते ही स्वतन्त्र हो जाते थे। उनकी एकता अनुकरणीय थी। कलिङ्ग का उल्लेख महाभारत और रघुवश आदि मे भी पाया जाता है। कलिङ्ग पर जरत कुमार और उसके वशज अनेक राजाओ ने राज्य किया था। इस कारण कलिङ्ग की प्राचीनता स्पष्ट है।

कहा जाता है कि कलिङ्ग का भू-भाग गगा से लेकर गोदावरी तक और समुद्र से लेकर दण्डकारण्य तक फैला हुआ था[2]। उड़ देशके उत्तर में कलिङ्ग लोक में प्रसिद्ध है[3]। कोल ब्रुक साहब के मत मे गोदावरी नदी के तट का प्रदेश कलिङ्ग कहलाता था[4]। टालेमि ने गंगासागर के निकट कलिङ्ग राज्य बतलाया है[5]। जगन्नाथ के पूर्व भाग से लेकर कृष्णा नदी के तीरान्त में कलिङ्ग देश है और उसे वाममार्ग परायण बतलाया है[6]। पूर्वी समुद्रतट पर कलिङ्ग देश था, जहाँ इस समय महानदी बहती है[7]।

महाभारत आदि मे कलिङ्ग के दो नगरों का उल्लेख है मणिपुर और राजपुर। बौद्ध ग्रन्थो मे कलिङ्ग के दन्तपुर और कुम्भवती नाम के दो प्राचीन नगरो के नाम का उल्लेख मिलता हैं। पुन्नाटसघी जिनसेनाचार्य के हरिवश पुराण में कलिग का केवल उल्लेख ही नहीं है, किन्तु वहाँ के शासको का भी नामोल्लेख हुआ है। और उसी पुराण के २४वें पर्व के ११वे श्लोक में कलिग के जितशत्रु नामक राजा का उल्लेख करते हुए कांचनपुर नामक नगर का नाम दिया है[7]। हरिषेण के जैन कथाकोष मे दन्तपुर और धर्मपुर नगरो का नामोल्लेख हुआ है। भारतीय साहित्य मे कलिग के अन्य नगरो के नाम अन्वेषणीय है।

कलिग मे दक्षिण कौशल का समस्त राज्य भी शामिल था, किन्तु कुछ समय बाद उसका कुछ भाग

---

१. कलिग पाणिनी के समय मे जनपद राज्य था, परन्तु १६ जनपदो की सूची में उसका नाम नही है। पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ. ७५

२. कूर्मपुराण आदि।

३. ओड्रदेशादुत्तरे च कलिंगो विश्रुतो भुवि।
—कविराम दिग्विजयप्रकाश १८१

४. Colbrookes Essoges Vol. II P. 178

५. Indian Antiquary Vol. XIII, P. 363

६. जगन्नाथात् पूर्वभागात् कृष्णा तीरान्तगं शिवे।
कलिंगदेश: सम्प्रोक्तो वाममार्गपरायण:।।
—शक्ति संगमतन्त्र

कलिंग देश को वाममार्ग परायण लिखने का कारण वहाँ जैन साम्राज्य का होना है।

७. आसीन्नृप: कलिंगेषु पुरे कांचन नामनि।
जितशत्रु गणा ख्यातो जितशत्रुरभिख्यया।।
—हरिवंशपुराण २४—११

कलिंग से अलग हो गया था। इस कारण उसका नाम त्रिकलिंग पड़ गया था। मेगस्थनीज आदि विदेशी पर्यटकों ने अपने भू-भ्रमण वृत्तान्तों में उसे उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग के नाम से उल्लिखित किया है। इन तीन विभागो की सीमाओ का वर्णन इस प्रकार है :—

कलिंग की सीमाएँ—वंशधारा नदी के किनारे से लेकर दक्षिण मे गोदावरी तक सब प्रदेश दक्षिण कलिंग कहलाता था। इसकी राजधानी कलिंगपत्तन थी। ऋषिकुल्या नदी से लेकर वंशधारा नदी तक का भू-भाग मध्य कलिंग कहा जाता था। इसकी राजधानी समापपुरी थी, जिसे वर्तमान मे जौगढ कहते हैं। उत्तर कलिंग कुल्या नदी से प्रारम्भ होकर उत्तर मे गगा नदी के किनारे तक विस्तृत था जिसमे सिंहभूमि, मेदिनीपुर और बाकुरा जिला भी शामिल था। इसकी राजधानी वर्तमान भुवनेश्वर के निकटवर्ती खण्डगिरि और धौली के मध्यवर्ती स्थान में थी। उसका नाम तोषालि या तोषली था[८]। इससे कलिंग की समृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।

मेगस्थनीज ने कलिंग देश को महानदी और गोदावरी के बीच बतलाया है और लिखा है कि "कलिंग के लोग समुद्र के सबसे निकट रहते थे। इस देश की राजधानी पार्थलिस थी। इसके प्रबल राजा के पास ६०,००० पैदल, १०,००० घोड़े और ७०० हाथी थे[९]।

कलिंग में जैन संस्कृतिः—कलिंग पर जैन राजाओं ने सभवत: सात सौ वर्षों तक राज्य किया है। जैन संस्कृति चूंकि अहिंसा प्रधान है इसलिए उसका दूसरो से वैर-विरोध होना बहुत कम सभव है। जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ के समय से लेकर सम्राट् खारवेल के समय तक तथा उसके कुछ बाद तक जैन साम्राज्य रहा है। यद्यपि बीच में कुछ समय तक दूसरों का भी राज्य रहा है किन्तु कलिंगवासी पुन: स्वतन्त्रता प्राप्त करते गए।

भगवान पार्श्वनाथ ने अंग, बंग और कलिंगादि देशों में विहार कर जैनधर्म का खूब प्रचार किया। पार्श्वनाथ के विहार स्थल देशों में अंग, बंग के साथ कलिंग का भी उल्लेख मिलता है[१०]। आर्यमञ्जु श्री मूलकल्प ९८३ ई० में तिब्बतीय भाषा में अनुवादित हुआ था। उसके एक अध्याय मे ७७० ई० तक के भारतीय राजवंशों का वर्णन है। उसमे ऊँचे साधकों की गिनती मे कलिंग के ऋषभ का नाम लिखा है[११]।

जैन तीर्थङ्करों के साथ जैन संस्कृति का सुदृढ़ सम्बन्ध रहा है। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के साथ कलिंग की प्राचीन संस्कृति का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। खण्डगिरि मे भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं को मूलनायक के रूप में सम्मान प्राप्त है। पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक राजा जैन संस्कृति के उपासक थे, जिन्होंने कलिंग पर शासन किया है। पार्श्वनाथ की परम्परा में होने वाले राजा करकण्डु ने, जिसकी राजधानी दन्तपुर थी,[१२] राज्य किया और तेरापुर में जैन मन्दिर बनवाए और पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। कपिष्ट, अजातशत्रु, शत्रुसेन, जितारी और जितशत्रु नामक राजाओ ने राज्य किया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया[१३]। इनमें जितारी का पुत्र राजा जितशत्रु

८. प्राचीन कलिंग या खारवेल पृ० २

९. देखो, भारत के प्राचीन राजवंश भाग २ पृ० ९९

१०. अंग, बंग कलिंगे च कर्णाटे कोंकणे तथा। सकलकीर्तिकृत पार्श्वनाथ चरित्र।

११. देखो भारत के प्राचीन राजवंश, भाग २ पृ० ९९

१२. दन्तपुर या दन्तिपुर कलिंग का ही एक उपनगर है। 'कलिंग विषये दिव्ये पुरं दन्तिपुरं गतः।' हरिषेण कथा कोश २०७ पृ० ९४। बौद्ध ग्रंथों मे लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनका एक दांत कलिंग के राजा ब्रह्मदत्त को दिया गया था उन्होंने उसे सुवर्ण मन्दिर में रखा था। इसी दन्त के कारण कलिंग की राजधानी ने दन्तपुर नाम पाया। हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्र वसुकृत पृ० १९७

महावस्तु के अनुसार दन्तपुर कलिंग का प्रधान नगर था।

१३. कपिष्टनामान्वयभूषणस्त्वभूदजातशत्रुतनयो स्ततोऽभवत्।

स शत्रुसेनोऽस्य जितारिरङ्गजस्तङ्गजोऽयं जितशत्रुरीश्वरः॥ —हरिवंश पुराण ६६-५

कलिग का शासक था। वैशाली गणतंत्र के राजा सिद्धार्थ की छोटी वहिन यशोदया से उसका विवाह हुआ था। इस कारण वह भगवान महावीर का फूफा था।

जितशत्रु भगवान महावीर के जन्मोत्सव के समय कुण्डपुर आया था। राजा सिद्धार्थ ने इसका खूब आदर-सत्कार किया था। उसके यशोदा नाम की पुत्री थी, जिसका विवाह वह महावीर के साथ करना चाहता था। परन्तु भगवान महावीर ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उस समय राजा श्रेणिक ने जितशत्रु मुनि के सम्बन्ध में पूंछा तब गौतम गणधर ने कहा कि पृथिवी में प्रसिद्ध यह जितशत्रु राजा हरिवश रूपी आकाश का सूर्य था और जिसने अन्य राजाओं की स्थिति को तिरस्कृत कर दिया था और उसने राज्य लक्ष्मी का स्वयं परित्याग कर जिनेन्द्र देव के समीप प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण की। और अन्य लोगों के द्वारा कठिन बाह्य और आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान किया था। आज उसने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया है। अतएव जिनमार्ग की प्रभावना करने वाले देवो ने उनकी पुजा की है§, और मुनिराज ने कर्म-बन्धन से मुक्त हो अविनाशी पद प्राप्त किया[१४]। जितशत्रु ने कुमारगिरि पर दीक्षा ली और भगवान महावीर से पहले मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान महावीर का समवसरण अनेक बार कुमार गिरि पर गया और उनके उपदेश से कलिंग की जनता में जैनधर्म का प्रचार और प्रसार हुआ। जैन संस्कृति में उनकी सुदृढ आस्था हुई। उस समय कलिंग में जैनधर्म अत्यधिक रूप में प्रचलित था। उसके अधिष्ठाता श्रावकों की सख्या अन्य लोगों की अपेक्षा अत्यधिक थी और वहाँ के पहाडों में जैन श्रमणों का निवास था। उनके तप-तेज से कलिग गौरवान्वित हो रहा था।

मगध और कलिंग दोनों प्रतिद्वन्दी राज्य थे। कलिंग की समृद्धि और सम्पन्नता मगध की ईर्ष्या का कारण बनी, उससे मगध नरेशों ने अपनी समृद्धि में रुकावटे अनुभव की।

नन्द की कलिंग पर विजयः—फलतः मगध के राजा नन्दिवर्धन ने कलिंग पर आक्रमणकर विजय प्राप्त की। नन्दिवर्धन अथवा कालाशोक एक दिग्विजयी सम्राट् था।

वह मगध के दक्षिण-पूरब समुद्र-तट पर कलिंग देश को जीत कर उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया। कलिग या उड़ीसा उस युग मे जैनधर्म का अनुयायी

§ जितशत्रुः क्षितौ ख्यातो धरित्रीपतिरत्र यः।
प्राप्त एव धरित्रीश! भवतः श्रोत्र गोचरम्॥१८७
हरिवश नभो भानुरभिभूतनृपस्थितिः।
राज्यश्रिय परित्यज्य प्राव्राजीज्जिन सन्निधौ॥१८८
तपो दुष्करमन्येषा बाह्यमाध्यात्मिक च सः।
कृत्वा प्राप्तोऽद्य घात्यन्ते केवलज्ञानमद् भुतम्॥१८९
तेनायममरैः सर्वैर्जनमार्गोपबृंहकैः।
स पुनर्बोधिलाभार्थं भक्तितोऽत्यर्चितो यतिः॥१९०
—हरिवंशपुराण

१४. भवान्न कि श्रेणिक वेत्ति भूपति,
नृपेन्द्रसिद्धार्थ कनीयसी पतिम्।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया,
प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम्॥ ६
जिनेन्द्र वीरस्य समुद्भवोत्सवे,
तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता,
नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रमः॥
यशोदयायां सुतया यशोदया,
पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम्।
अनेक कन्या परिवारयारुह-
त्समीक्षितुं तुङ्ग मनोरथं तदा॥ ८॥
स्थितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि,
प्रजातकैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं,
क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययम्॥
अमुष्य जाताद्य तपोबलान्मुनेरवाप्त,
कैवल्य फला मनुष्यता।
मनुष्यभावो हि महाफल भवे,
भवेदयं प्राप्त फलस्तपः फलम्॥
विहृत्य पूज्योऽपि मही महीयसां,
महामुनिर्मोचित कर्मबन्धनः।
इयाय मोक्षं जितशत्रु केवली,
निरन्तर सौख्य प्रतिबद्ध मक्षयम्॥
हरिवंश पुराण ६६—६, ७, ८, ९, १०, ११

हो चुका था। नन्द राजा वहाँ से विजय के चिन्ह रूप मे जिन प्रतिमा ले आया था[15]। उस समय कलिंग मगध सम्राट् नन्द का अंग हो गया, नन्दिवर्धन विजय स्वरूप कलिंग में पूजी जाने वाली आदि जिन की प्राचीन मूर्ति को ले गया। यह मूर्ति पटना में पौने तीन सौ वर्षों तक रही। इससे स्पष्ट है कि नन्द राजा जैनधर्म के उपासक थे। यदि वे जैन धर्म के उपासक न होते, तो उतने सुदीर्घ काल तक पाटलीपुत्र में वह मूर्ति सुरक्षित नही रह सकती थी। उक्त दीर्घकाल के बाद सम्राट् खारवेल उसे वापिस कलिंग ले गया और कुमारगिरि पर उसे महोत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया और स्मृति मे विजय-स्तम्भ भी बनवाया। उस समय कलिंग में जैन धर्म प्रतिष्ठित था।

नन्द के आक्रमण के पश्चात् कलिंग का जैन राजवंश सम्पन्न हो गया था। प्लिनी ने तत्कालीन कलिंगराज की शक्तिशाली सेना का वर्णन किया है[16]। कलिंग की सम्पन्नता और स्वतन्त्रता अशोक से सहन नहीं हुई। परिणाम स्वरूप ईस्वी पूर्व २६२ में उसने कलिंग पर आक्रमण कर दिया। अशोक की फौजों के साथ कलिंग की सेनाओं का दो वर्ष तक युद्ध चला। जब अशोक ने विजय के आसार धूमिल देखे तब अन्याय अत्याचार का आश्रय लिया। अनेक नगर अग्नि मे भस्म हो गए, नगर के नगर वीरान करा दिए, भारी नर-संहार किया, तब किसी तरह उसे विजय मिल सकी। अशोक ने युद्ध में अपनी उच्छृंखल और बर्बर वृत्ति से कलिंग के जन-धन का बुरी तरह से विनाश किया। इस भीषण युद्ध मे एक लाख आदमी मारे गए और डेढ़ लाख बन्दी हुए। और युद्धोत्तर उपरांत होने वाली महामारी आदि दुर्विपाक से लाखों व्यक्ति अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अशोक ने स्वयं १३वें लेख में यह स्वीकार किया है कि कलिंग युद्ध में श्रमण और ब्राह्मण उभय सम्प्रदाय की जनता को बहुत दुःख भोगने पड़े। जिस राजाने अशोक की सेनाओं के साथ रक्षात्मक युद्ध किया था उसका नाम तक अशोक ने कहीं उल्लिखित नहीं किया।

अशोक के पश्चात् कलिंग दो सौ वर्षों में बहुत कुछ सम्पन्न हो गया था। अपना सब कुछ बलिदान करने के बाद भी कलिंगवासी अपनी स्वतन्त्रता को नही भूले। इससे स्पष्ट है कि कलिंगवासी अपनी स्वतन्त्रता के कितने हामी थे। उनकी स्वतन्त्रप्रियता और एकता स्पृहणीय थी। कलिंगवासियों का स्वाभिमान और परस्पर का वात्सल्य भी अनुकरणीय था।

ईस्वी पूर्व दूसरी या पहली शताब्दी मे कलिंग का प्रतापी सम्राट् खारवेल हुआ। खारवेल जैन था। उड़ीसा का सारा राष्ट्र उस समय मुख्यतः जैन ही था[17]। जिसे अभिलेखों कलिंगाधिपति और कलिंग चक्रवर्ती कहा गया है। इसकी राजधानी कलिंग नगर थी। शिशुपालगढ नामक प्राचीन स्थान है, जो भुवनेश्वर से १॥ मील दक्षिण-पूर्व से अभिन्न माना गया है। अभिलेख के अनुसार कलिंग नगर के द्वार, प्राकार, भवन और उपवन तूफान में नष्ट हो गए थे। जिनकी मरम्मत खारवेल ने कराई थी। खारवेल ने दिग्विजय करके अपने राज्य को बहुत विस्तृत कर लिया था और उसकी प्रसिद्धि कलिंग सम्राट् के नाम से हुई। खारवेल के बाद उसके पुत्र ने राज्य किया।

सन् १९४७ में शिशुपालगढ़ मे जो पुरातात्विक भू-उत्खनन हुआ था, उसमे उड़ीसा के जैन मुरुंड राजाओ के राजत्व का स्पष्ट प्रमाण मिल गया है। इस भू-उत्खनन में मिली हुई एक स्वर्णमुद्रा के सम्बन्ध मे आलोचना करते हुए डा० अल्तेकर ने कहा है कि 'यह मुद्रा महाराजाधिराज "धर्मदामधर" नामक किसी मुरुण्ड राजा द्वारा प्रचलित की गई थी।' उन्होंने आगे बताया कि 'तब मुरुण्ड राजा उड़ीसा में ईसा की तीसरी शताब्दी में शासन करते थे और वे जैन थे[18]।

डा० नवीनकुमार साहू ने प्रमाणित किया है कि

१५. कलिंग से जिनकी मूर्ति को विजय के चिह्न रूप में ले जाने वाला नन्दिवर्धन था। खारवेल ने पौने तीन सौ वरस पीछे मगध से उसका बदला चुकाया। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पृ० ४१३।

१६. देखो, हिन्दी विश्वकोष भाग २ पृ० ३८२

१७. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१६

१८. एन्सियेन्ट इंडिया नं. ५ शिशुपाल गढ़ उत्खनन रिपोर्ट

उड़ीसा के मुरुण्ड राजाओं का राज्य ईसा की दूसरी शताब्दी के शेष भाग से ईसा की चौथी शताब्दी तक प्रचलित था[19]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी सन् की चतुर्थ शताब्दी तक वहाँ जैनियों का राज्य प्रचलित था।

चतुर्थ शताब्दी मे कलिंग छोटे-छोटे राज्यो मे बट गया था। जो गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गए थे। पाँचवीं शताब्दी के मध्य कलिंग में पितृ भक्त कुल के तथा दक्षिण कलिंग मे माठर और वशिष्ट वशों के राजा क्रमश: सिंहपुर (वर्तमान सिंगपुरम्) और पूर्व मे गोदावरी से राज करते थे। पर इनसे अधिक पराक्रमी गग राजा थे जिनका कलिंग पर छठी शताब्दी से ८वी शताब्दी तक और बाद मे १०वीं से १३वी सदी तक अधिकार रहा है। इनके समय में यद्यपि किसी जैन राजा का पता नही चलता किन्तु जैन धर्म के धारक श्रावक अवश्य थे। छटी और सातवीं सदियों में कुछ समय के लिए शशाक हर्षवर्धन की भी सत्ता वहाँ रही है। उसी समय वहाँ चीनी यात्री युग्रानच्यांग आया था। गंगो की राजधानी कलिंग नगर थी, जिसकी पहिचान वंशधारा नदी पर स्थित श्रीकाकुलम् जिले के मुखलिंगम् और कलिंग पत्तनम् से की गई है[20]। कलिंग मे समय समय पर अनेक छोटे-छोटे राज्य होते रहे जिनकी राजधानियाँ विभिन्न स्थानों मे थी।

गुप्तोत्तर मध्य युग में उडीसा के विभिन्न प्रान्तों में प्रसिद्ध राज वशों ने राज्य किया। उनमे गंगवंश, तोषल का भौमवश, खिजलो मंडल का भजवंश और कोशलोत्कल का सोमवंश थे। यह समय बौद्धों और जैनों के अधःपतन का था। बौद्धधर्म तो अपने अस्तित्व के संरक्षण के लिए तांत्रिकता का आश्रय लेकर वज्रयान और सहजयान पंथों में परिणत हो गया। किन्तु जैन धर्म उस समय भी अपने संरक्षण मे गतिशील बना रहा। उस समय कलिंग मे उद्योत केशरी का राज्य था। यद्यपि वह शैव धर्मानुयायी था फिर भी जैन धर्म मे उसका आकर्षण था। उस समय खण्डगिरि मे नवमुनि गुफा और ललाटेन्दु केशरी गुफाओं का निर्माण हुआ था। ललाटेन्दु केशरी गुफा से यह भी ज्ञात होता है कि देशीगण के आचार्य कुमुदचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र वहाँ यात्रार्थ आये थे[21]।

कलिंग में जैनधर्म का ह्रास

उद्योत केशरी के बाद वहां शैवों का प्रभुत्व अधिक बढ़ा, उससे जैन संस्कृतिको बड़ा धक्का लगा। अकेले भुवनेश्वर नगरमें ईसवी सन् की ७वी शताब्दी में सैकड़ों शिव मन्दिर बन गये थे[22]। कुछ समय बाद वहाँ ऐसी विकट परिस्थिति बनी, जिसमें जैनधर्म का निर्वाह करना भी कठिन हो गया। शैवधर्म का वह विषाक्त वातावरण दूसरे बौद्ध और जैन सम्प्रदायों की संस्कृति को नष्टभ्रष्ट करने पर कटिबद्ध हो रहा था, अब उन्हें धर्म परिवर्तन करना या अपना सर्वस्व छोड़ कर अन्यत्र चले जाना ये दो मार्ग ही शेष रह गये थे। जिन्होने धर्म परिवर्तन कर लिया वह वहां रहे, और जिन्होंने धर्म परिवर्तन करने से इंकार किया उन्हें वहाँ से भागना पड़ा, या जीवन का बलिदान करना पडा। दक्षिण भारत में शैवों ने जो कुछ किया, इतिहासज्ञ उससे भलीभाँति परिचित है। उससे बदतर व्यवहार यहां किया गया। उडीसा मे जैनों की संस्कृति और धर्म के विनष्ट होने के बावजूद धार्मिक और सांस्कृतिक सम्प्रदाय के साथ स्वोपार्जित सम्पत्ति से भी हाथ धोना पड़ा। वहाँ जैनियों के साथ जो गुजरा उसका किंचित् आभास निम्न उल्लेखों से स्पष्ट है :

वामनघाटी प्रान्त के (१२वी सदी) के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि मयूरभंज के भंजवंशी राजाओं ने श्रावकों को बहुत ग्राम दिये थे। उक्त वंश के सस्थापक वीरभद्र एक करोड़ साधुओं के गुरु थे। ये जैन थे और वहाँ की तांबे की खानि में इस स्थान के श्रावक काम करते थे। वहाँ के गाँवों मे बहुत सी प्राचीन कीर्तियां अब भी मौजूद है। यह अंचल श्रावकों के आधीन था[23]।

---

१९. डा० साहू ए०, हिस्ट्री आफ उड़ीसा भाग २, पृ० ३३४

२०. हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्र वसु भाग ३, पृ. १९५

२१. ओं श्रीमत उद्योत केशरी देवस्य प्रवर्द्धमाने विजयराज्ये संवत् १८ श्री आर्य सघे ग्रहकुल विनिर्गत देशीगणाचार्य्य श्रीकुलचन्द्र भट्टारकस्य तस्य शिस्य शुभचन्द्रस्य। —नवमुनि गुफालेख

२२. हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रवसु भाग ३, पृ. १९५।

२३. बगाल जर्नल ए० एस० ई० १८७१ पृ० १६१-६२।

मैजर टिकल ने लिखा है कि सिंहभूमि श्रावकों के हाथ में थी किन्तु अब नहीं है, उस समय उनकी संख्या अन्य लोगों से कहीं अधिक थी। उनके देश का नाम शिखर भूमि था और पांचेत। उनको बड़ी तकलीफ देकर निकाल दिया गया[1]।

कर्नल डाल्टन ने बेंगल एथनोलोजी में लिखा है कि सिंहभूमि के कई हिस्से ऐसे दल के हाथ में थे, जो मानभूम में अपने प्राचीन स्मारक छोड़ गए। वहाँ पुराने लोग रहा करते थे। उनको श्रावक या जैन कहा जाता था। अब भी कोलहन को 'हो' जाति के लोग तालाबों को 'सरावक' (श्रावक सरोवर) कहते हैं। यहाँ के गृहस्थ श्रावकों ने जंगल के भीतर ताँबे की खानों का अन्वेषण किया था और उसमें अपनी शक्ति लगा दी थी[2]।

बेणुसागर में कई प्राचीन जैन मन्दिर है।

सौ साल के पहले सिंहभूमि के बहुत से स्थानों में खासकर 'पोड़ाहाट' में बहुत जैन लोग थे। इन्हे वहाँ के आदम निवासी लोग 'सराखु' (सराओगी) कहते है। उस समय के प्राचीन मन्दिर, मूर्ति, गुहा, पुष्करिणी आदि के अवशेष देखकर मालूम होता है कि वे ऐश्वर्यशाली और स्वाधीन थे। वहाँ मिट्टी के अन्दर रुपये, मोहरे, चित्रित, टूटे हुए कांच की चूड़ियां और मूल्यवान पत्थर की मालाएं मिलती थीं।

सराकलोग डिम्बरी डूमर (गूलर) आदि फल में कीड़ा रहने के कारण उन्हें नहीं खाते है। और प्याज, गोभी, आलू भी नहीं खाते हैं। वे खण्डगिरि की यात्रा को आते हैं[3]। इनके यहाँ एक कहावत प्रसिद्ध है 'डोंह डूमर पोढो छाती। एइ चार नही खांए श्रावक जाति।" इससे स्पष्ट है कि वे अहिंसा प्रेमी हैं। सराक लोग पार्श्वनाथ की पूजा करते हैं।

सम्राट् खारवेल—यह उस वंश का सबसे प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा था। इसके चरित्र की उज्ज्वलता, कार्य-पटुता और सहनशीलता अद्भुत थी। खारवेल चेदि वंश[4] (महामेघवाहन वंश) का तीसरा राजा था। वह प्रारम्भसे ही वीर, निर्भय, धर्मनिष्ठ, विद्वान, रणकुशल और कलाप्रिय था। वह देखने मे प्रभावशाली और सुन्दर था, उसका शरीर प्रशस्त लक्षणों से संयुक्त था। और वह अपूर्व तेजपुञ्ज का धारक था। उसका प्रकाश चारों दिशाओं मे बिखर रहा था। सभी विद्याओ और कलाओं में पारगत था। खारवेल के पिता का नाम 'वक्रदेव'[5] था। हाथी गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक १५ वर्ष राज्योचित शिक्षा प्राप्त करने मे व्यतीत किये थे। खारवेल के पिता का स्वर्गवास उस समय हो गया था जब वे सोलह वर्ष के थे। प्राचीन काल मे सोलह वर्ष की अवस्था मे पुरुष बालक समझा जाता था। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि खारवेल ने सोलह वर्ष की अवस्था मे युवराज पदवी प्राप्त की। पश्चात् आठ वर्ष में उसने मुद्रा गणना, व्यवहार विधि (मीमासा तर्क आदि) तथा अन्य विद्याओं के सीखने में बिताये। और चौबीस वर्ष की अवस्था में वह कलिंग का युवराज हो गया। खारवेल सम्राट वेण की तरह एक विजयी सम्राट् था। उसका गृहस्थ जीवन भी राष्ट्रीय जीवन के समान सुखमय था। वह अशोक से भी बढ़कर था; क्योंकि उसने अशोक से भी अधिक विजय प्राप्त की थी, परन्तु अशोक जैसा नरसंहार नही किया था। वह एक प्रजावत्सल और कर्तव्यपरायण शासक था। उसने थोड़े समय मे जो कार्य कर दिखाया, उसे अच्छे-अच्छे राजा लोग भी उतने अल्प समय मे नही कर सके। २५वे वर्ष मे खारवेल का राज्याभिषेक हुआ। खारवेल जब सिंहासनारूढ हुए, उस समय कलिंग का राज्य वर्त-

---

१. जर्नल ए० एस० बंगाल ई० १८४० संख्या ६८६।

२. ए० एस० बी० १८६६ पृ० १७६-५।

३. उड़ीसा में जैनधर्म पृ० १४४-४५।

४. कलिंग का यह नया राजवश चेदि-चेदि क्षत्रियों का था। यह चेदिवंश ऐर या ऐल कहलाता था। वैदिक लोग वास्तव मे ऐल थे, आधुनिक बुन्देलखण्ड उनका जनपद होने से ही चेति या चेदि कहलाने लगा था। बुन्देलखण्ड से दक्षिण कौशल (छत्तीसगढ) द्वारा चेदिवंश का कलिंग तक चले आना स्वाभाविक था।
—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१६।

५. वेणीमाधव बरुआ ओल्ड ब्राह्मी इंन्सक्रुपसंस पृ० ३००।

मान उड़ीसा प्रान्त जितना था और जनसंख्या ३५ लाख के लगभग थी। जनगणना कराने का यह कार्य संभवतः मौर्यों के समय से अथवा उससे पूर्व प्रचलित था। कलिंग की राजधानी अशोक के समय से तोषली थी। खारवेल ने अपनी नई राजधानी बनाने का कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु प्रशस्ति मे राजधानी का उल्लेख कलिंग नगर के नाम से हुआ है[1]।

खारवेल को कलंगाधिपति, कलिंग चक्रवर्ती कहा गया है। क्षेमराज, बुद्धिराज, भिक्षुराज, धर्मराज और राजर्षिकुल विनिसृत महाराजा आदि उसके विरुद है।

खारवेल का विवाह कब हुआ इसका उल्लेख नहीं मिलता। उसकी दो रानियाँ थीं। एक वजिर घरवाली, जो पट्टमहिषी के नाम से ख्यात थी। और दूसरी सिंधुला —राजा लालकस की पुत्री थी—जो हाथी सहस के पौत्र थे। ये दोनों ही रानियाँ बडी सती, साध्वी, रूप-शील सम्पन्न और धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का सेवन करती थीं। खारवेल ने सिंहप्रस्थ सिंधुला रानी के नाम पर हाथी गुफा के पास गिरिगुहा (रानी गुफा) नाम का प्रासाद बनवाया था यह गुफा अपने ढंग की एक ही है। जो महत्वपूर्ण है। इसका परिचय आगे दिया गया है। खारवेल ने अपने १३ वर्ष के राज्य काल में अपनी दिग्विजय द्वारा भारतवर्ष मे ऐसी धाक जमा दी थी, जिससे कोई भी राजा उसकी ओर आख उठाकर नही देख सकता था। जहाँ वह वीर और पराक्रमी था वहाँ वह प्रजा हितैषी और उदार भी था। उसने प्रजा के हित के लिए जो-जो कार्य किये थे वे सब उसकी महत्ता के द्योतक है। वह जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धालु होता हुआ भी अन्य सभी धर्म वालों के साथ समभाव रखता था। जैसा कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से स्पष्ट है–"**सवपासंड पूजिको सवदेवायतन संस्कारकारको**" ये वाक्य उसकी महानता और समान धर्मता के सूचक है। खारवेल सबकी सहायता करता था और मन्दिरों का जीर्णोद्धार आदि कार्यों मे सहयोग देता था। उसने अपनी प्रजा को कभी कष्ट नही होने दिया। यद्यपि वह बाहर दिग्विजय करने भी गया, तो भी राज्य व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी। पौर और जानपद संस्थाएं राज्य का कार्य इस तरह से सम्पन्न करती थीं, जिसमें प्रजा का हित सन्निहित रहता था। राज्य में प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। खारवेल का जीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण था। उसने राज्य सम्पदा की अभिवृद्धि करते हुए भी उसमें उसकी आसक्ति नहीं थी। इसीसे उसने १३ वर्ष राज्य करने के उपरान्त उससे विरक्त हो गया और आत्म-साधना के पथ की ओर अग्रसर हो गया था। तथा व्रतादि के अनुष्ठान द्वारा इन्द्रिय दमन करने और कषायों को शमन करने तथा उनके रस को सुखाने का प्रयत्न करने लगा। यह कार्य उसने कितने वर्ष किया इसका कोई इतिवृत्त नहीं मिलता।

खारवेल के ऐतिहासिक महत्वपूर्ण कार्य

खारवेल के १३ वर्ष के राजत्व काल का विवरण और जीवन की खास घटनाओं का अंकन हाथी गुफा के शिलालेख मे हुआ है। हाथी गुफा एक अकृत्रिम गुफा है जिसमें खारवेल का शिलालेख उत्कीर्ण हुआ है। शिलालेख में वर्षानुक्रम से राजत्व की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है। शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ पढ़ने में नहीं आई—वे घिस गई है, जो पंक्तियाँ पढ़ी जा सकीं उनसे बहुत कुछ सामग्री प्रकाश में आ पाई है। फिर भी कुछ पंक्तियाँ अभी अस्पष्ट हैं। इतिहास की दृष्टि से लेख बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

१—खारवेल ने राजधानी की तूफान से ध्वस्त प्राचीन इमारतों, कोट दरवाजों की मरम्मत कराई, खिबिर ऋषि के बड़े तालाब का पक्का बांध बंधवाया और उद्यान लगवाए।

२—खारवेल ने आंध्र के सातवाहन वंश के तृतीय राजा सातकर्णी के विरुद्ध आक्रमण कर उसे पराजित किया। उसने खारवेल का आधिपत्य स्वीकार किया। सातकर्णी को विजित करने के बाद खारवेल की सेना कलिंग वापिस नहीं आई, किन्तु दक्षिण में कृष्णा नदी के तट पर बसे हुए असिक नगर में जा पहुँची। यद्यपि वहाँ के राजा बड़े पराक्रमी और शूरवीर थे, किन्तु वे खारवेल की शक्ति का मुकाबला न कर सके। असिक नगर पर अपना आधिपत्य जमा, खारवेल ससैन्य वापिस आ गया।

---

१. शिलालेख की पंक्ति ३ में उल्लेख है।

तीसरे वर्ष वह कही नही गया परन्तु राजधानी मे बहुत उत्सव एव मनोरंजन के अनेक कार्य किये।

३—चतुर्थ वर्ष के प्रारम्भ मे ही खारवेल ने अपने सैन्य सहित विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान किया। उससे वह क्षुभित हो उठा। अरकडपुर मे विद्याधरों के आवास को, जो कलिंग के पूर्व राजाओं ने बनवाये थे। उनका जीर्णोद्धार कराया। खारवेल ने रथिकों के भोजको को परास्त कर अपने आधीन किया। वे छत्र भृंगार छोड़कर खारवेल के चरणों मे झुकने को बाध्य हुए। रथिकों के भोजक—अर्थात् महाराष्ट्र के भोजपदवी वाले सरदार जिनका प्राचीन लिच्छवियों और शाक्यों आदि की तरह गणराज्य था, इसी कारण शायद प्रत्येक सरदार छत्र धारण करता था[1]।

४—पचम वर्ष में खारवेल अपनी राजधानी की शोभा एवं सज्जा बढ़ाने के लिए तनसुलिवाट नहर को बढ़ाकर राजधानी तक लाया, जिसे नन्द राजा ने तीन सौ वर्ष पूर्व बनवाया था।

५—छठवें वर्ष में खारवेल का राजसूय अभिषेक हुआ। तब उसने पौर और जानपद सघो को विशेष अधिकार दिये। यद्यपि खारवेल सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारी सम्राट् था, फिर भी उसने प्रजा की भलाई के लिए अनुग्रह किया—डा० जायसवाल जी के अनुसार उसने कानूनी वे सब रियायतें जो पौर और जनपदों को दी जाती थी, प्रजा हित की दृष्टि से प्रदान कीं।

सातवें वर्ष में खारवेल अपनी आयु के ३१ वर्ष पूर्ण कर चुका था।

६—आठवें वर्ष मे खारवेल ने बडी सेना के साथ मगध पर आक्रमण किया और ससैन्य गोरथगिरि[2] तक पहुँच गया, और उसे विजित कर, सेना ने राजगिर को घेर लिया। राजगिर के घेरे की बात सुनकर यवन राज देमित्रियस (Demetruis) इतना भयभीत हुआ, कि दिमित या दिमेत्र घबड़ाई सेना और वाहनों को मुश्किल से बचा कर मथुरा को भाग गया। खारवेल भी मथुरा पहुँचा, इससे पता चलता है कि खारवेल कितना पराक्रमी और प्रतापी था, उसका देशप्रेम और भुजविक्रम निस्सन्देह अद्वितीय था। खारवेल ने मथुरा में ब्राह्मणों को दान भी दिया था। और राजधानी को लौट आया।

७—नौवें वर्ष में खारवेल ने 'कल्पद्रुम' नामक महापूजा की और लोगों को किमिच्छिक दान दिया तथा घोड़े, रथ, हाथी आदि योद्धाओं को भी भेंट किये। ब्राह्मणों को भी दान दिया। यह पूजा चक्रवर्ती सम्राट् ही कर सकता है[3]। खारवेल ने प्राची नदी के दोनों तटों पर महाविजय नाम का प्रासाद बनवाकर अपनी दिग्विजय को चिरस्थायी बना दिया। इसके निर्माण में अड़तीस लाख रुपया व्यय हुआ।

दसवें वर्ष में सेना को उत्तर भारत की ओर भेजा।

८—ग्यारहवे वर्ष मे आव राजा द्वारा बसाई हुई पिथुंड या पिहुंड मण्डी (बाजार) को गधो के हल से जुतवा डाला[4] और ११३ वर्ष पुराने तिमिरदेष (तामिलदेष) संघात को तोड़ डाला। इसी वर्ष खारवेल के प्रताप की आन मानकर दक्षिण के पाण्ड्य नरेश ने खारवेल का सत्कार किया और रत्नादि मूल्यवान वस्तुएँ भेट स्वरूप उनकी सेवा मे प्रेषित की।

९—बारहवे वर्ष खारवेल ने मगध पर पुनः आक्रमण किया, जिससे मगध में आतंक छा गया। यह आक्रमण अशोक के कलिंग आक्रमण के प्रतिशोध रूप में था। मगध नरेश वृहस्पति मित्र (पुष्प मित्र) खारवेल के पैरों मे नतमस्तक हुए। उन्होने अंग और मगध की मूल्यवान भेट के साथ कलिग के राज चिन्ह और कलिंग

१. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१७।

२. गोरथगिरि गया की सुप्रसिद्ध बाराबर पहाड़ी है, यह उसके एक अभिलेख से सिद्ध हुआ है, भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७२०।

३. किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्यय:।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हयज्ञः कल्पद्रुमो मतः।
—सागारधर्मामृत २-२८

४. कलिंग तट के साथ-साथ दक्खिन की ओर बढ़ने पर आव नाम का एक छोटा-सा राष्ट्र था, जिसकी राजधानी पिथुंड या पिहुंड थी। दूसरी शताब्दी ई० के रोमन भूगोल लेखकने लिखा है कि उक्त नगरी तमिल देश का द्वार मानी जाती थी।
—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, पृ० ७२३।

जिनकी प्राचीन मूर्ति, जिसे राजा नन्दि वर्द्धन मगध ले गया था प्रदान की। खारवेल उस सातिशय आदि जिन की मूर्ति को वापिस लेकर कलिंग आ गया और उसे महोत्सव के साथ विराजमान किया।

१०—तेरहवे वर्ष मे खारवेल ने अर्हत् निषीदी के समीप पर्वत पर श्रेष्ठ प्रस्तर खानो से निकाले हुए और अनेक योजनों से लाये गए पाषाणोसे सिंह प्रस्थ वाली रानी सिंधुला के लिए निश्रय बनवाए।……खारवेल ने वैडूर्यगठित चार स्तम्भ भी स्थापित किये, इसके निर्माण में पचहत्तर लाख रुपये व्यय हुए। सम्राट् खारवेल दिग्विजय से सन्तुष्ट होकर राज्य लिप्सा से विरक्त हो धर्म साधन की ओर अग्रसर हुए। उन्होने कुमारगिरि पर्वत पर जहाँ भगवान महावीर ने धर्मोपदेश दिया था। श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते हुए जीवन को आत्म-साधना में लगाया। उसके बाद वह कब तक जीवित रहा, यह कुछ ज्ञात नही हो सका, खारवेल कम से कम १०-१५ वर्ष तो अवश्य ही जीवित रहा होगा।

उदयगिरि और खण्डगिरि

भुवनेश्वर से ५ मील शिशुपालगढ के उत्तर पश्चिम मे उदयगिरि खंडगिरि नाम के दो छोटे-छोटे पहाड़ है। उनकी ऊंचाई क्रमशः ११० फीट और १२३ फीट है। इन पहाड़ियों पर जैन श्रमणों के तपश्चरण करने के लिए अनेक गुफाए बनी हुई हैं। जिनकी संख्या १०० के लगभग है। इनमें दो बड़ी गुफाएं है जो भगवान महावीर के समय से ही अर्हन्तो के ससर्ग से पावन हो चुकी थीं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण हाथी गुफा है जिसमे चेदिवश के राजा खारबेल का लेख अंकित है। उस काल में यहाँ हजारों की संख्या में श्रमण तपश्चरण करते थे। भगवान महावीर के समय कुमारी पर्वत पर चतुर्विध सघ अनेक बार आया था। हजारों साधु यहाँ रहकर आत्म-साधना द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। सुधर्म स्वामी भी अपने ५०० शिष्यों के साथ कुमारगिरि पर और धर्मपुर आदि मे विहार करते हुए आये थे। उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमारगिरि था जिसके सम्बन्ध मे कुछ विचार किया जाता है। हाथी गुफा की प्रशस्ति में भी कुमारगिरि का उल्लेख है। उस समय समूचा पर्वत कुमारगिरि कहलाता था। कुमारगिरि प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है—निर्वाण भूमि है। जिसे उदयगिरि भी कहा जाता है। भगवान महावीर ने कुमारगिरि पर उपदेश दिया था। कलिंग के राजा जितशत्रु ने इसी पर्वत पर दीक्षा ली थी। और तपश्चरण द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया और अघातिया कर्म का नाशकर मुक्ति पद प्राप्त किया'। यह प्राचीन गाथाओं से स्पष्ट है :—

> जिवसत्तूरायाणं जितारिपुत्तं कलिंग वासम्मि।
> वेहादि णि विण्णो कुमारगिरिम्हि पव्वइया॥
> किच्चा तवं स घोरं झाणग्गिणा दड्ढघाइ-कम्ममलं।
> पप्पा केवलणाण अणतरं णिव्वाणसुहं लहइ॥

(प्राचीन गुट के से उद्धृत)

कलिंग के धर्मपुर नगर मे भगवान महावीर के द्वितीय गणधर सुधर्म स्वामी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ आए थे। इनके उपदेश से वहाँ के राजा यम ने गर्दभ पुत्र को राज देकर अपने पाँच सौ पुत्रों के साथ जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तथा तपश्चरण द्वारा बीजादि अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त की। और अन्त मे उन्होंने कुमारगिरि से स्वर्ग प्राप्त किया था'। सम्राट् खारवेल ने इसी पर्वत पर जैन श्रमणों के लिए अनेक गुफाओ का निर्माण किया था। और विशाल मन्दिर बनवाया था और उसमें आदि जिन की उस सातिशय मूर्ति को, जिसे कलिंग विजय के समय

---

१. अन्यदा विहरन क्वापि शिष्य पञ्चशतावृतः।
धर्माख्यपुरसामीप्यं सुधर्मा मुनिरायर्यो॥६

× × ×

आहूय गर्दभाभिख्यं पुत्रं प्राप्त स भूपतिः।
राजपट्टं बबन्धास्य समस्तनृपसाक्षिकम्॥१५
शतैः पञ्चिभिरायुक्तः स्वपुत्राणा नृपै सह।
अन्यैः सुधर्मसामीप्ये राजेन्द्रः स तपोऽगृहीत॥१६

× × ×

एताभिलब्धिनिर्युक्ता श्रामण्यं परिपाल्य च।
धर्मादिनगरासन्नो कुमारादिगिरि मस्तके॥६७
शतैः पञ्चभिरायुक्तो मुनीनां धर्मशालिनां।
आराधना समाराध्य यमः साधु दिवे ययौ॥६८

—हरिषेण कथाकोष पृ० १३४

तथा भगवती आराधना गाथा ७७२

नन्द राजा ले गया था, पौने तीन सौ वर्ष बाद ला कर खारवेल ने महोत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया था। सम्राट् खारवेल ने स्वयं भी इस पर्वत पर व्रत उपवासादि द्वारा आत्म-साधना का अनुष्ठान किया था। इन सब उल्लेखों से कुमारगिरि की महत्ता का आभास सहज ही मिल जाता है।

उदयगिरि पर जो महत्वपूर्ण गुफाएं हैं, उनमें से कुछ खास गुफाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

रानीगुफा—उदयगिरि की गुफाओं के मध्य में रानी हंसपुर नामक गुफा सबसे बड़ी और चित्ताकर्षक है। इसकी बनावट बड़ी सुन्दर है, इसे रानीगुफा के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि सम्राट् खारवेल ने इसे सिंधुला-रानी के लिए बनवाई थी। यह गुफा दोमंजली है। इसकी कोठरियाँ दो पंक्तियों में सुशोभित है। गुफा का दक्षिण-पूर्व पार्श्व खुला हुआ है। नीचे की पंक्तियों मे आठ और ऊपर की पक्ति में छः प्रकोष्ठ हैं। ऊपर की मंजिल में २० फुट लम्बा बरामदा है जो गुफा की विशेषता का निर्देशक है। इन्ही बरामदों मे प्रतिहारियों की मूर्तियां अत्यन्त स्पष्ट रूप मे उकेरी गई है। बरामदे की छत को थांभने के लिए प्रस्तर स्तम्भ बनाए गये है। किन्तु वे अधिकांशतः जीर्ण-शीर्ण हो गए है। गुफा मे पौराणिक आख्यानो, कथाओ, और मूर्तिकला को अभिव्यक्त करने वाले अनेक चित्र उत्कीर्णित है। दोनो ही मंजिलों में महत्वपूर्ण तक्षण कार्य हुआ है। नीचे की मंजिल के तक्षण कार्य का शिल्प भरहुत से भी सुन्दर है। मूर्तियों का तक्षण कार्य उनकी सजीवता और ओजस्विता का परिचायक है। जैसाकि सांची के द्वारों में अंकित है। इन सब बातों से रानी गुफा की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है।

मंचपुरीगुफा—इस गुफा में तीन कमरे है जिनका फर्श कुछ उभारको लिए हुए बनाया गया है। जिससे शयन करने वाले श्रमणो का शिर ऊचा रहे। इसमे दो कमरे कुदेपश्री[1] और कुमार वडुख[2] ने बनवाए थे। जैसा कि उनके लेखों से स्पष्ट है। और तीसरा कमरा शायद खारवेल ने बनवाया था। गुफा के मध्य में एक महत्वपूर्ण उत्कीर्ण एक चित्र था जो अब नष्टप्राय हो गया है। इसका सम्बन्ध उस ऐतिहासिक घटना से जान पड़ता है, जब सम्राट् खारवेल मगध विजय करके कलिंग जिनकी मूर्ति लाये और कलिंग नगर मे उत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया था। यह चित्र इसी घटना को सद्योतित करता है। इससे उसकी महत्ता का स्पष्ट भान होता है।

गणेशगुफा—इसमें दो कमरे है, इस गुफा के चित्रों में रानी गुफा के चित्रों का; जो पौराणिक आख्यानों, कथाओं और मूर्तिकला को अभिव्यक्त करने वाले है उन अनेक चित्रों का सूक्ष्म रूप दिया हुआ है जिनका विषय और भाव वही है।

स्वर्गपुरी गुफा—इसमे दो बड़े कमरे और एक छोटा कमरा है, कमरों के बीच में गुफा का निर्माण कराने वाली रानी का लेख उत्कीर्णित है[3]। यह गुफा हाथी गुफा के बाद बनी मालूम होती है। इस तरह उदयगिरि पर और भी अन्य गुफाएं हैं, जिनका परिचय लेख के भय से नही दिया जा सका।

खण्डगिरि

खण्डगिरि पर जितनी गुफाएं है उनमे कई गुफाएं बड़ी महत्वपूर्ण है। उनमे तत्त्व गुफा और अनन्त गुफा सबसे अधिक महत्व की है।

तत्त्वगुफा में तीन द्वार और प्रस्तरासन, पार्श्वस्थ छिद्र और चोकोर स्तम्भ है। मध्य टोडियों पर भी अलंकरण दृष्टिगोचर होते है। नर्तकी और वीणापाणिनर, पुष्पमाल सहित अलंकृत नारी, तथा स्तम्भ के ऊर्ध्व भाग के शृगो पर दाहिनी ओर सिंह और बाई ओर हाथी है। और भी अनेक अलंकरण दिखाई देते है। इस कारण यह गुफा अपनी खास विशेपता रखती है।

अनन्तगुफा—इस गुफा के तोरणो के ऊपर दोनों ओर नाग है, इसी कारण इसे अनन्त गुहा कहते है।

---

१. ऐरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महा......वाह कुदेपसिरिनो लेणम् ॥

२. कुमार वडुखस लेणम्।

३. अरहत प्रसादाना(म्) कालिगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं राजिनो ल (।) लाक (स) हथिसहस-पयोतसधुनाकलिंग-च [खा] रवेलस अग महषीया का लेण।

प्रयाग

श्री पं० बलभद्र जैन

तीर्थ क्षेत्र:—

आद्य तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ देशों की रचना की थी, उनमें कोशल देश भी था। उसके अन्तर्गत ही पुरिमताल नामक एक नगर था। भगवान् ने दीक्षा लेने से पूर्व अपने सौ पुत्रों को विभिन्न नगरों के राज्य दिए थे। उनमें वृषभसेन नामक पुत्र को पुरिमताल-पुर का राज्य दिया। जब भगवान ने नीलांजना अप्सरा की नृत्य करते हुए मृत्यु देखी तो उनके मन में ससार, शरीर और भोगों के प्रति निर्वेद हो गया। लौकान्तिक देवों ने इस पुण्य अवसर पर आकर भगवान के वैराग्य की सराहना की, अनुमोदन किया और प्रेरणाप्रद निवेदन किया, भगवान राजपाट त्यागकर दीक्षा लेने अयोध्या से देव निर्मित पालकी 'सुदर्शन' मे चल दिए। पालकी को सर्वप्रथम भूमिगोचरियों ने उठाया और सात कदम चले। पश्चात् विद्याधरों ने पालकी को उठाया। तदनंतर देवो ने पालकी को उठा लिया और आकाश मार्ग से चले।

आकाश में देव और इन्द्र हर्ष विभोर हो चल रहे थे और भूमि पर भगवान की स्त्रियों—नन्दा और सुनन्दा, अन्य परिवारी जन और जनता शोकाकुल चल रही थी। साथ भगवान के माता-पिता मरुदेवी और नाभिराय भगवान का दीक्षा कल्याणक देखने चल रहे थे।

भगवान पुरिमतालपुर के बाहर सिद्धार्थ नामक वन मे पहुँच कर पालकी से उतर पड़े और सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करके एक वटवृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख होकर अपने हाथों द्वारा केश लुंचन किया। इस प्रकार चैत्र कृष्णा नवमी के दिन सायंकाल को उत्तराषाढ़ नक्षत्र मे दीक्षा ले ली। और छह मास का योग लेकर उस वट वृक्ष के नीचे एक शिला पट्ट पर आसीन हो गए। दीक्षा लेते ही भगवान को मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। चार हजार राजा भगवान के साथ दीक्षित हो गए। उनमे सम्राट भरत का पुत्र मरीचि भी था। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

इसी समय से पुरिमताल नगर के उस स्थान का नाम प्रयाग पड़ गया। आचार्य जिनसेन ने इस सम्बन्ध मे बड़े स्पष्ट शब्दों में कथन किया हैं।

वे लिखते है:—

एकमुक्त्वा प्रजायत्र प्रजापति मपूजयत्।

प्रदेशः स प्रजागाख्यो यतः पूजार्थ योगत: ।६-६६

अर्थात् 'तुम लोगों की रक्षा के लिए मैंने चतुर भरत को नियुक्त किया है। तुम उसकी पूजा करो' भगवान के

इसके अलंकरणों को बारीकी से अध्ययन करने पर कई महत्व की बातों की जानकारी मिल सकती है। गुफागत अलंकरण बड़े ही सुन्दर और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करते है।

इस पर्वत पर नवमुनि गुफा है जिसमें इसकी दीवाल पर नौ तीर्थकरो की पद्मासन मूर्तिया अंकित हैं। उनके नीचे यक्षिणी देवियां है। मूर्तियों के साथ तीन छत्र और दो चमरेन्द्र हैं। इसमे चार लेख है जिनमें १ लेख दशवीं शताब्दी का राजा उद्योतकेशरी के १८वें वर्ष का है। दूसरा लेख श्रीधर नाम के विद्यार्थी का है। और दो लेख और है।

ललाटेन्दु केशरीगुफा—भी दो मंजिली थी किन्तु उसका अग्रभाग और दीवालों का कुछ भाग गिर गया है। दीवालों पर तीर्थंकरों की मूर्तियां उत्कीर्णित हैं। इसमें एक संस्कृत का खंडित अशुद्ध लेख है, जिसमें लिखा है कि उद्योतकेशरी के राज्य के पांचवें वर्ष में कुमार पर्वत पर जीर्ण जलाशय और मन्दिरों का जीर्णो-द्धार कराया और चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कीं। इस तरह यह गुफा भी बहुमूल्य सामग्री को लिये हुए है जो दर्शकों के लिए उत्प्रेक्षणीय है। ★

ऐसा कहने पर प्रजा ने उनकी पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण 'प्रयाग' इस नाम को प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में कहा है:—

प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः।३-२८६।

भगवान वृषभदेव प्रजा से दूर हो उस स्थान पर पहुँचे थे, इस लिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया। अथवा भगवान ने उस स्थान पर बहुत भारी त्याग किया था इस लिए उसका नाम 'प्रयाग' भी प्रसिद्ध हुआ।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव के कारण ही इस स्थान का नाम 'प्रयाग' पड़ा और फिर पुरिमताल नगर भी प्रयाग कहलाने लगा। क्योंकि जैन साहित्य में ऋषभदेव के पश्चात् पुरिमताल नामक किसी नगर का नाम देखने में नही आया। भगवान प्रजापति कहलाते थे और प्रजा उन्हे हृदय से प्रेम करती, उनपर श्रद्धा रखती थी। इसलिए भगवान के सर्वस्व त्याग जैसी अपूर्व घटना के कारण 'प्रयाग' नाम पड़ा और वही स्थायी हो गया।

दीक्षा लेने के बाद भगवान यहाँ पर केवल छह मास तक ही रहे। इसके पश्चात् वे विभिन्न देशों में विहार करते रहे। ठीक एक हजार वर्ष पश्चात् वे पुनः इसी स्थान पर पधारे। भगवज्जिनसेनाचार्य के शब्दों में 'मौनी, ध्यानी और मान से रहित वे अतिशय बुद्धिमान भगवान धीरे-धीरे अनेक देशो मे विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नामक नगर के समीप जा पहुँचे। वहाँ शकट नामक वन में वट वृक्ष के नीचे एक शिला पर पर्यङ्कासन में विराजमान हो गए। उन्होंने ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर दिया और फाल्गुण कृष्णा एकादशी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सम्पूर्ण देवों और इन्द्रों ने वहाँ आकर केवलज्ञान की पूजा की और केवलज्ञान का महोत्सव मनाया, इन्द्र की आज्ञा से देवों ने उसी स्थान र समवसरण की रचना की। उस समय उस नगर का नरेश वृषभसैन अनेक राजाओं के साथ भगवान के पास पहुँचा और दीक्षा लेकर भगवान का प्रथम गणधर बना। तब इस युग में प्रथम तीर्थंकर का प्रथम उपदेश यही पर हुआ। भगवान ऋषभदेव ने धर्मचक्र प्रवर्तन प्रयाग मे ही किया।

भगवान की दीक्षा के कारण इस नगर का नाम बदल कर प्रयाग हो गया और जिस वट वृक्ष के नीचे उन्हें अक्षय ज्ञान लक्ष्मी प्राप्त हुई वह वट वृक्ष 'अक्षयवट' कहलाने लगा।

नन्दि संघ की गुर्वावली में अक्षय वट का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—"श्री सम्मेदगिरि—चम्पापुरी—ऊर्जयन्तगिरि—अक्षय वट—आदीश्वर दीक्षा सर्वसिद्ध क्षेत्र कृत यात्राणा। इसमे अक्षय वट को तीर्थ स्थान माना है।

इस प्रकार दीक्षा और ज्ञान कल्याणक यहाँ मनाए गए। इसलिए यह सदा से जैन तीर्थ क्षेत्र के रूप मे प्रसिद्ध रहा है।

यह स्थान प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध है। गगा-यमुना और सरस्वती का यह सगम स्थल है। इन तीन नदियों की श्वेत, नील और रक्त धाराएं मिलकर एक दूसरे मे समाहित हो गई है। यह अक्षयवट इस त्रिवेणी संगम के तट पर खड़े हुए किले के भीतर है। इसमे तो सदेह नही है कि वह मूल अक्षयवट समाप्त हो गया, किन्तु उसकी वंश परम्परा के द्वारा अब तक एक अक्षयवट विद्यमान है। पहले पातालपुरी गुफा मे कुछ पंडे लोग एक सूखी लकडी को कपड़े मे लपेट कर और उसे अक्षयवट कहकर भक्त जनता को उसका दर्शन कराते थे। किन्तु अब कहते हैं, अक्षयवट का पता चल गया और अब सप्ताह मे दो दिन उसके दर्शन कराये जाते है। यमुना किनारे के फाटक से यहाँ आ सकते है।

इस स्थान की यात्रा करने से भगवान ऋषभदेव की स्मृति मन में जाग उठती है और मन अनिवर्चनीय भक्ति-भाव से प्लावित हो उठता है।

पुरातत्त्व—यहाँ किले में एक प्राचीन स्तम्भ है। भगवान ऋषभदेव की कल्याणक भूमि होने के कारण मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने इसका निर्माण कराया था। उस स्तम्भ को मूल से अशोक स्तम्भ कहने लगे हैं। इसके

ऊपर प्रियदर्शी—जो सम्प्रति की उपाधि थी—उसकी रानी, सम्राट् समुद्रगुप्त, बीरबल और जहांगीर के लेख भी खुदे हुए है ?

यहाँ चाहचन्द मुहल्ला सरावगियान में एक पार्श्वनाथ पचायती मन्दिर है। इसके सम्बन्ध मे यह अनुश्रुति है कि इस मन्दिर का निर्माण नौमी शताब्दी मे हुआ था। इस प्रकार यह मन्दिर ११०० वर्ष प्राचीन है। यद्यपि समय समय पर मन्दिर का जीर्णोद्धार होता रहा है, अतः प्राचीनता के चिह्न पाना कठिन है। किन्तु परम्परागत अनुश्रुति इस प्रकार की है।

कुछ वर्ष पूर्व किले की खुदाई मे कुछ जैन तीर्थंकरों और यक्ष यक्षिणियों की मूर्तियाँ निकली थीं। जैन समाज ने सरकारसे लेकर ये मूर्तियाँ इसी मदिरमें विराजमान कर दी हैं। ये मूर्तियां केवल पुरातत्त्व की दृष्टि से ही, नही बलिक कलाकी दृष्टिसे भी बड़ी मूल्यवान है। शासन देवताओं में क्षेत्रपाल, मातृरूपिणी अम्बिका की पाषाण मूर्तियां है तथा छह शासन देवियों की धातु मूर्तियां हैं।

इनके अतिरिक्त पाच तीर्थङ्कर प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई थीं। ये सभी प्रतिमाएं चतुर्थकाल की कही जाती हैं। इनमें एक प्रतिमा पार्श्वनाथ की है। इसकी अवगाहना प्रायः साढ़े चार फुट की है। इसका पाषाण रवादार है ऊपर फण है। फण के अगल-बगल मे पुष्पमाल धारिणी देवियां है। और फण के ऊपर ऐरावत हाथी है। किम्वदन्ती है कि यह प्रतिमा किले में खुदाई करते समय निकली थी। हिन्दुओं ने इसे अपने भगवान की मूर्ति कहकर ले जाना चाहा। किन्तु जब जैनों को इसका पता चला तो हिन्दू लोग इसे लेने नही आये। किन्तु अधिकारी ने यह शर्त लगा दी कि यदि यह जैनों की प्रतिमा है तो इसे एक ही व्यक्ति उठाकर ले जाय। तब एक धार्मिक सज्जन रात भर सामायिक करते रहे और सुबह भगवान की पूजा करने के बाद मूर्ति लेने पहुँचे। और शुद्ध भाव से भगवान का स्मरण करके इसे उठाया तो यह आसानी से उठ आई। किले के बाहर से वे उसे गाड़ी में रखकर ले आये और इस मन्दिर मे लाकर विराजमान कर दिया। प्रतिमा काफी विशाल और वजनदार है और साधारणतः एक आदमी इसे किसी प्रकार उठा नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त शेष चार प्रतिमाएं भगवान ऋषभदेव की है, सभी बलुए लाल पत्थर की हैं। अवगाहना प्रायः चार से पांच फुट है। इन प्रतिमाओं की विशेषता इनके जटाजूट है, जो सहज ही दर्शक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इनकी केश विन्यास शैली विविध प्रकार की है। किसी की जटायें स्कन्धों पर छितरी हुई है किसी का जटाजूट शैव साधुओं जैसा है; किसी का जटा जूड़ा ऐसा है, जिस प्रकार स्त्रियाँ स्नान के पश्चात् गीले बालों का जूड़ा बाध लेती है। किन्तु लहराती हुई केश-राशि अथवा जटाजूट का तक्षण-कौशल इतना बारीक और वैविध्यपूर्ण है कि केशों की रेखाएं स्पष्ट परिलक्षित होती है।

समान्यतः तीर्थंकर प्रतिमाओं के केशकुन्तल घुंघराले और छोटे होते है, उनके जटा एवं जटा जूट नहीं होते। किन्तु भगवान ऋषभदेव की कुछ प्रतिमाओं में इस प्रकार के जटा-जूट अथवा जटा देखने में आती है। इसका कारण यह है कि तीर्थंकरों के बाल नही बढते, ऐसा नियम है किन्तु ऋषभदेव के तपस्यारत रूप का वर्णन करते हुए कुछ आचार्यों ने उन्हे जटायुक्त बताया है। आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण में उल्लेख आया है।

सप्रलम्ब जटाभार भ्राजिष्णु जिष्णु राबभौ।
रूढ़ प्रारोह शाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः ॥९-२०४

लम्बी लम्बी जटाओं के भार मे सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे वट वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे, जिसकी शाखाओं से पाये लटक रहे हों।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण पद्मपुराण मे वर्णन करते है :—

वातोद्धुता जटातस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
धूमालय इव सद्ध्यान वन्हि सक्तस्य कर्मणः ।३-२८८

हवा से उड़ती हुई उनकी जटाएं ऐसी जान पड़ती थीं, मानों समीचीन ध्यानरूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पंक्ति हो।

इस प्रकार हम देखते है कि ऋषभदेव की प्रतिमाओं का जटाजूट संयुक्त रूप परम्परानुकूल रहा है। इन प्रतिमाओं की रचना शैली, तक्षण कौशल, भावाभिव्यक्ति

और अलंकरणादि का सूक्ष्म अध्ययन करने पर लगता है कि ये सभी प्रतिमाएं एक ही काल की है और उस काल की हैं, जब मूर्तिकला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

किले के भूगर्भ से इतनी प्रतिमाओं के मिलने से अवश्य ही निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है :—

१—अत्यन्त प्राचीन काल मे इस स्थान पर जैन मन्दिर था। यह मन्दिर भगवान के दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणकों के रूप में स्थान पर उनकी स्मृति में बना था। जैन जनता में तीर्थ क्षेत्र के रूप में मान्य रहा और जैन लोग तीर्थ-यात्रा के लिए यहाँ आते रहे। किन्तु बाद में किस काल में इस मन्दिर का विनाश हो गया या किया गया यह कहना कठिन है।

२—प्राचीन काल मे तीर्थंकर प्रतिमाओं के साथ शासन देवताओं की मूर्ति बनाने का भी रिवाज था और उनकी मान्यता भी करते थे।

३—मूर्तियों के पाठ-मूल में लेख अंकित करने की प्रथा कुषाण काल मे निश्चित रूप से प्रचलित हो गई थी। साधारण अपवादों को छोड़कर मूर्तियो पर लेख अंकित किये जाने लगे थे। कुषाण काल मूर्ति-कला के विकास की दृष्टि से स्वर्ण युग कहा जाता है। इस काल की मूर्तियां पर्याप्त विकसित अवस्था में पाई जाती हैं। अग-सौष्ठव, केशविन्यास और शरीर के उभारो मे रेखाओं का सूक्ष्म अंकन कुषाण कालीन प्रतिमाओं में मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कि जहां सम्राट् सम्प्रति ने स्तम्भ निर्मित कराया और जहाँ प्राचीन जैन मन्दिर था, वहीं प्राचीन वट वृक्ष था। वहीं भगवान के दोनों कल्याणक मनाये गये। और त्रिवेणी संगम का निकटवर्ती प्रदेश— जहाँ किला खडा हुआ है जैन तीर्थ क्षेत्र था।

राजनैतिक इतिवृत्त—प्रयाग प्राचीन काल में काफी समय तक कौशल राज्य के अन्तर्गत रहा। पश्चात् यह पाटलिपुत्र साम्राज्य का एक अग बन गया। सम्भवतः राजनैतिक इकाई के रूप मे प्रयाग का स्वतन्त्र अस्तित्व कभी नही रहा, किन्तु शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से इसका महत्व अवश्य रहा है। शाहशाह अकबर ने अपने राज्य को बारह सूत्रों में विभाजित किया था। शासन की दृष्टि से उसने सगम पर एक मजबूत किला भी बनवाया। वह वहाँ बहुत समय तक रहा भी और उसी ने प्रयाग का नाम बदलकर इलाहाबाद कर दिया।

हिन्दू तीर्थ—हिन्दू भी प्रयाग को अपना तीर्थ मानते है। त्रिवेणी सगम मे स्नान करने को वे बडा पुण्यप्रद मानते है। हर छह वर्ष पीछे अर्ध कुम्भ और बारह वर्ष पीछे कुम्भ होता है। उस समय लाखों यात्री यहा स्नान करने आते है। ●

खण्डार के सेन परम्परा के लेख

रामवल्लभ सोमाणी

खण्डार सवाईमाधोपुर के पास है। यहाँ के दुर्ग के पास चट्टान में ५ शिलालेख है। इनमे से एक वि० सं० १२३० और शेष लेख १५वीं और १६वी शताब्दी के है। इन लेखों को ढूंढ़ने का श्रेय डा० रामचन्द्र राय को है। जयपुर के पास झामडोली ग्राम से वि० सं० १२१२ का मुझे जो शिलालेख मिला था उसे मैंने महावीर जयन्ति स्मारिका १९७१ के पृष्ठ सं० ७७-७८ पर प्रकाशित करवाया है और इसका मूल भाग अनेकान्त वर्ष २४... अंक १ पृ० ३७ पर भी प्रकाशित हुआ है।

खण्डहर के वि० सं० १२३० के २ पंक्तियों के लेख मे सागरसेन, कुमारसेन और छत्रसेन के नाम है। यहाँ पहाड़ी को काट कर जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बनी हुई हैं। इस १२३० वि० के लेख को मैं महत्वपूर्ण मानता हूं। इसका सुपाठ्य अंश इस प्रकार है :—

१—ॐ श्री मूलसघे परमानन्दाद्याचार्य श्री सागरसेनस्य शिष्यस्यां।

२—कुमारसेन छत्रसेन स्या कारित देव-स्थानं। सं० १२३०।

इस लेख से कुमारसेन और छत्रसेन की तिथि वि० सं० १२३० स्पष्ट हो गई है। वि० सं० १२१२ के झामड़ोली जयपुर के लेख मे आगे का आधा भाग बहुत ही बुरी तरह से घिस जाने से अस्पष्ट हो गया है। इसमे जो साधुओं का वर्णन है वह इस प्रकार है :—

"आचार्य श्री भट्टारक: सागरसेन। तस्यशिष्य मय मण्डलाचार्य धुर्य ब्रह्म (सेन)........वा श्री छत्रसेन देव पादार (?) तस्य धर्म्मभ्राता पंडित अम्बरसेन तस्य भ्राता श्री...........सर्व्व संघ सेनाम्नाय प्रणमति नित्यं।"

छत्रसेन नामक एक साधु का उल्लेख अर्थूणा के वि० सं० ११६५ के लेख में है किन्तु निस्संदेह ये छत्रसेन कोई भिन्न रहे होंगे। अब खण्डहर के वि० सं० के लेख के बाद यह स्थिति स्पष्ट हो गई है कि छत्रसेन वि० सं० १२३० तक जीवित थे। इनकी वंशावली इस प्रकार दी जा सकती है :—
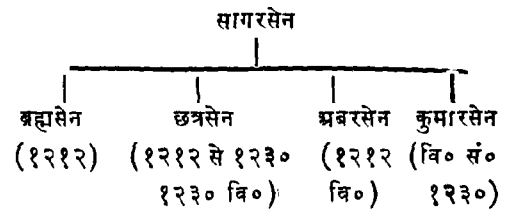
इन लेखों से पता चलता है कि सेन परम्परा के साधुओं का कार्य क्षेत्र जयपुर के आसपास १२वीं शताब्दी के पूर्व से था। किशनगढ़ के पास अराई नामक ग्राम से नैषिधकाओं के लेखों में सेन परम्परा के साधुओं के नाम है जो १०वी शताब्दी मे उस क्षेत्र मे विचरण करते थे। कोटा, संग्रहालय में बड़ी संख्या में जैन प्रतिमाएं संग्रहीत है। इनमें कुछ लेख मुक्त भी हैं। इनमें सम्भवत: सेन परम्परा के लेख भी थे। इसके अध्ययन के बाद ही इस पर विस्तार से लिखा जा सकता है। अटरू में एक विशालकाय जैन तीर्थंकर की बैठी हुई प्रतिमा है जो अब तक खुले में पड़ी है। इस क्षेत्र मे और भी प्रतिमाये विद्यमान है।

खंडहर से प्राप्त अन्य लेखों में स० १५६८ के ३ लेख है। इनमें से सलहदी के राज्य मे अग्रवाल जाति के श्रेष्ठियों द्वारा निर्माण कार्य का उल्लेख है। वि० स० १५९४ का एक अन्य लेख और है इसमें मानसिंह तोमर के पुत्र विक्रमादित्य के राज्य का उल्लेख है। पुष्करगण के सेन परम्परा के साधुओं का उल्लेख है। लेख की ३ पंक्ति में अश्वसेन ४थी में विक्रमसेन तथा संघसेन व ५वीं पक्ति में विमलकीर्ति आदि के नाम हैं। झामडोली से प्राप्त १२वीं शताब्दी के एक अन्य लेख में जो ६ पक्तियों की है जिसकी ६ पंक्ति में पुष्करगण के लेख हैं।

मध्य प्रदेश में "काकागंज" का जैन पुरातत्व

कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए.

भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातात्विक सामग्री मे मध्यप्रदेश का एक विशिष्ट स्थान रहा है। इस प्रदेश मे जहाँ वैदिक और बौद्ध संस्कृतियों को अपने विकास करने के अवसर उपलब्ध हुए है, जैन संस्कृति भी उन्हीं के साथ पल्लवित, पुष्पित और विकसित होती रही है। मध्यप्रदेश मे बुन्देलखण्ड गोलापूर्व जैनो का भण्डार है। काकागंज मे निर्मित जैन मन्दिर इसी आम्नाय के लोगो द्वारा बनवाया गया था। यह भाग वर्तमान मे मध्यप्रदेश के सागर शहर म वार्डगोपुरा मे लगा हुआ है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर ११ पंक्तियो का संस्कृत भाषा मे अंकित एक अभिलेख भी उपलब्ध है, जिसमे बताया गया है कि मूलसंघ म बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ कुद-कुन्दाचार्याम्नाय के गोलापूर्व जाति के अन्तर्गत सिघई घासीराम हुए है। वे वनौनया वंश के थे। उनके वंश मे श्री दिमन द्वारा बनाया गया है—संवत् १६११ के फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष मे चतुर्दशी बुधवार के दिन इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई गई थी। अभिलेख मे यह भी बताया गया है कि उस समय अग्रेज बहादुर का वहाँ राज्य था। अन्त मे मंगल कामना की गयी है।

काकागंज मन्दिर अभिलेख निम्न प्रकार है :—

(१) संवत् १६११ फाल्गुन मासे सु (शु) भे सु (शु) क्ल पक्ष (क्षे)

(२) १४ बुधवासरे तादिन पता पतिष्ठ (प्रतिमा प्रतिष्ठा (कृता) शान्ती

(३) क कृत श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरसु(स्व)ती

(४) ...(गच्छे कुद) कुदाचार्याम्नाय वैरया गोत्र-य

(५) क व श्री गोलापूर्वक वनौह्ला (वनौनया) श्री सिघं (घई)

(६) घासीराम तस्य पुत्र दोय २ जेष्ट पुत्र लुषर

(७) दुतिय पुत्र मोतीराम माया वपतो जेष्ट पुत्र

(८) मायो मुना तस्य पुत्र दोय २ श्री सिघँ चि—

(९) मन जञ करता दुतिय पुत्र श्री सिघँ दिम—

(१०) न सागरमये(ध्ये) गज काकाकौ, राज्य श्री अ

(११) गरेज बहादुरकौ सुभ (शुभ) सवत् मगल ददात्(तु)।

लिपि :—बस अभिलेख की लिपि प्राचीन नागरो है। अभिलेख मे श के स्थान मे स का उपयोग किया गया है। भाषा मे कहीं-कही विकृत रूप दिखाई देते है।

काकागंज :—इस नाम से ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल म यहां किसी धनिक का निवास था। वे अपने क्षेत्र के सम्माननीय व्यक्ति भी रहे है। उनको सम्मान देने के लिए सभवतः लोग काका कहकर पुकारते थे। गज शब्द के विभिन्न अर्थों मे 'खजाना' अर्थ भी एक है, जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि यह स्थान उनका सभवतः खजाने के रूप मे रहा है; और इसी कारण इसे काकाकेगज के नाम से कालान्तर मे संभवतः सम्बोधित किया जाने लगा था। वर्तमान में प्रचलित काकागज नाम काकाकैगज का बिगड़ा रूप ही दिखाई देता है।

मूर्तिलेख

इस शिखर युक्त मन्दिर मे दो वेदिकाए है. प्रथम वेदी पर पाच मूर्तियां विराजमान है। इनमे दो प्रतिमाओ पर लेख भी अकित है।

मुर्तिलेख क्रमाक (१) आदिनाथ प्रतिमा—लगभग २॥ फुट ऊचाई मे सफेद सगमर्मर पाषाण से निर्मित, पद्मासन मुद्रा मे वृषभ चिन्ह से युक्त एक सौम्य आदिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा मन्दिर निर्माता दिमन के बड़े भाई सिंघई चिमन द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी। प्रतिष्ठा काल वही मन्दिर प्रतिष्ठा का निर्देशित किया गया है। लेख तीन पक्तियों मे सस्कृत भाषा मे नागरी लिपि से अंकित किया गया है।

लेख का पूरा पाठ निम्न प्रकार है—

(१) संवत् १६११ क फागुन मासे सु (शु) भे

सुक्ल (शुक्ल) पक्षे (चिन्ह) वारस १२ बुधवासरे तादिन पतिष्टकं (प्रतिष्ठापितं) श्री

(२) सवाई सिघै चिमनलाल जू वैक बनीनहा श्रीमूल सघे बलात्कारगणे सर (सु) तीगक्षे (च्छे) कुदकुद आचार्य

(३) आम्नाय मुकाम सागर काकार्कगंज ।

गंज A mina, (2) A Trea sury A (3) : A Cow-house, (4) A mart a place where grain is stored for sale.

श्री आप्टे जी; सस्कृत अंग्रेजी शब्द कोष १९६५ ई० पृ० १७८ ।

मूर्तिलेख क्रमांक २–पार्श्वनाथ प्रतिमा

सप्त फणावली से युक्त लगभग १½' ऊंची सफेद सगमर्मर पाषाण से निर्मित यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा मे विरामान है। यह प्रतिमा लोकधन मूलधन नामक चदेंरिया वश के श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी। प्रतिमा के आसन पर मूल लेख निम्न प्रकार अंकित है :—

(१) संवत् १९११ के फाल्गुन मासे सु० (शु) भे (चिन्ह) सु (शु) क्ल पक्षे वारस १२ बुधवासरे ता दिन

(२) प्रतिष्ठाक लोकधन स्री मूलधन चदेरिया श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस (स्व) ती

(३) गक्षे (च्छे) कुदकुदाम्नाय......

मूर्तिलेख क्रमांक ३–चन्द्रप्रभ प्रतिमा

द्वितीय वेदी पर सफेद सगमर्मर पाषाण से निर्मित पद्मासन मुद्रा मे लगभग १½ फुट ऊंचाई में चन्द्र चिन्ह से युक्त शान्त मुद्रा मे यह प्रतिमा स्थित है। प्रतिमा के आसन पर तीन पंक्तियो का संस्कृत भाषा मे नागरी लिपि में निम्न लेख उपलब्ध है :—

(१) संवत् १९११ के फागुन मासे (चिन्ह) सु (शु) भे सु (शु) क्ल पक्षे १२ बुधवासरे

(२) तादिन पतिकं ? सागर काकको (चिन्ह) गंज सिघै चिमनलाल...............।

(३)...श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस (सु) ती गछे (गच्छे)...............।

इस लेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर मे विराजमान दोनो वेदियों पर क्रमशः आदिनाथ एव चन्द्रप्रभ प्रतिमाएं सिघई चिमनलाल के द्वारा एक ही समय प्रतिष्ठित कराई गयी थीं। मूर्ति लेखों से मन्दिर के द्वार पर अंकित लेख की तिथि चतुर्दशी न होकर द्वादशी ही ज्ञात होती है क्योकि दिन दोनो का एक है। दिवसोल्लेख से यह कथन ठीक प्रतीत होता है। हो सकता है शीघ्रता मे मैंने ही १२ अंको को १४ अंक पढ लिया हो।

अतिसय :— गभीरिया निवासी श्री दुलीचन्द्र जी नाहर बी० ए० सागर से ऐसा ज्ञात हुआ है कि इस मदिर की व्यवस्था को देखते हुए जैन श्रावको ने आदिनाथ प्रतिमा को यहाँ से स्थानान्तरित करना चाहा था किन्तु उक्त प्रतिमा को जैसे ही उठाने का प्रयास किया जाता कि प्रतिमा से पसीने के कण निकलने लगते थे। उक्त अतिशय के कारण तत्पश्चात् प्रतिमा को स्थानान्तरित नही किया गया।

सम्भावनायें— उक्त मन्दिर की व्यवस्था को देखते हुए, सुव्यवस्थित व्यवस्था हेतु मेरे निम्न विचार है, जिन पर आशा है सागर समाज विचार करेगी। सर्वप्रथम मन्दिर के निकटवर्ती स्थान को व्यवस्थित बनवा लिया जावे। उसमें २-३ कमरे निकाल दिये जावे। नल की व्यवस्था हो। इसी स्थान पर उदासीन आश्रम व व्रतियो से रहने के लिए निवेदन किया जावे। उनके रहने से पूजनादि व्यवस्था सुन्दर बन जावेगी। एक-दो कमरे यदि यात्रियो के लिए रहें तो बाहरी लोग यहीं आकर ठहरने से मन्दिर को भी कुछ लाभ मिलता रहेगा। इस भांति मन्दिर की जीर्ण स्थिति सुधरने मे देर न लगेगी।

अभी यहाँ एक घर ही केवल जैन श्रावक का है। यदि व्रतियो का यहाँ निवास हो जावेगा तो श्रावकों का आवागमन भी बढ़ जावेगा। सुधार के लिए खर्च अवश्य है जिसके लिए श्रीमान दानवीरों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु दान देकर पुण्यार्जन करे। आशा है मन्दिर की समुचित व्यवस्था हेतु सागर समाज तो अवश्य ही विचार करेगी। परन्तु अन्य जैन दानवीर भी यथाशक्ति आर्थिक सहयोग देकर अपनी जैन संस्कृति की सुरक्षा कर कृतार्थ करेंगे। ★

राजगिर या राजगृह

परमानन्द जैन शास्त्री

राजगिरि या राजगृह एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है, जो पटना से लगभग ६० मील पूर्व में स्थित है। इसे गिरिव्रज भी कहते हैं। रामायण काल में इसे गिरिव्रज कहा जाता था[१], और महाभारत काल में भी यह गिरिव्रज जरासंघ की राजधानी था। यह पर्वतों के मध्य में बसा हुआ था। राजगृह को शिशुनाग वंश की राजधानी बनने का सौभाग्य मिला है। इसे पचशैलपुर[२] और कुशाग्रनगर[३] भी कहा जाता था। भगवान महावीर और बुद्ध ने यहां अनेक वर्षावास बिताये थे। यहां बौद्धों और जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। बौद्धों, जैनियों और हिन्दुओं के अनेक मन्दिर बने हुए है। बौद्ध मन्दिरों में वर्मा, जापान और थाईलैण्ड के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। यहां के गृद्धकूट पर्वत पर बुद्ध अपना वर्षा काल बिताते थे। और अपना उपदेश भी देते थे। इस कारण यह उनका भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। यह जैन श्रमणों की केवल तपोभूमि ही नही है किन्तु निर्वाण भूमि भी है। भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मस्वामी और जंबूस्वामी आदि अनेक मुनि पुंगवों का निर्वाणस्थल है। राजगिर के पंच पहाड़ों पर जैनियों के अनेक मन्दिर मौजूद हैं। इस कारण जैनियों का यह प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। विपुलगिरि, ऋषिगिरि और वैभार आदि पर्वतों पर सहस्रों जैन श्रमणों ने कठोर तपश्चरण किया है। विपुल गिरि पर तो अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजितनक्षत्र में सूर्योदय के समय प्रातःकाल भगवान महावीर का सबसे पहला धर्मोपदेश हुआ था[४]—धर्मतीर्थका प्रवर्तन हुआ था—संसारके समस्त जीवों को कल्याण का मार्ग मिला था और पशुओं को भी अभयदान मिला था। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा महावीर के शासन की जन्म तिथि है, जो वर्ष का पहला महीना, पहला पक्ष और प्रथम दिन बतलाया गया है[५]।

कनिंघम साहब ने लिखा है कि—'प्राचीन राजगृह पांचों पर्वतों के मध्य में वर्तमान था' काशीप्रसाद जायसवाल ने 'मनियारमठ' वाली पाषाण मूर्ति का लेख पढ़कर बतलाया था कि यह लेख पहली शताब्दी का है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचल का उल्लेख है[१]। किन्तु वर्तमान राजगिरि पुराने राजगिर से कुछ हट कर

---

१. एन्शियेन्ट जागरफी आफ इंडिया बाई कनिंघम पृ० ५३०

२. पंचशैलपुरे रम्ये विउले पव्वदुत्तमे।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव वदिदे ॥
धवला० पु. १ पृ० ६१

सुर खेयरमणहरणे गुणणामे पचशैलणयरम्मि ॥
तिलो० प० १-६५

३ राजगृह को कुशाग्रनगर भी कहते थे, क्योंकि वहां के पहाड़ कुश समूह से वेष्टित थे। विमलसूरि ने पउमचरिउ में कुशाग्रनगर रूप में ही उसका उल्लेख किया है— 'कुसग्गनयरं समणुपत्तो
—पउमचरिउ २, ६८

४. सावण बहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥
तिलो० प० १-७०

सावण बहुल पडिवदे रुद्द मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम जोए तत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥
धव० १ पृ० ६३

५. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि ॥
धव० पु. १ पृ० ६३

वासस्स पढम मासे सावण णामम्मि बहुलपडिवाये।
अभिजीणक्खत्तम्मिय उपपत्ती धम्म तित्थस ॥
तिलो० प० १-६६

बसा है। पुन्नाट संघी जिनसेनाचार्य के हरिवंश पुराण में भी इसका नाम 'पंच शैलपुर' दिया है। यह मुनिसुव्रत भगवान के जन्म से पवित्र है। और शत्रु सेनाओं के लिए दुर्गम है[1]। ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, बलाहक, जिसे छिन्न पर्वत भी कहा गया है और पांचवां 'पाण्डु' है, इन पांचों पर्वतों के कारण इसे पंच शैलपुर कहा जाता था। बौद्ध ग्रंथो में इनके नाम वेपुल्ल, वेभार, पाण्डव, इसिगिलि (ऋषिगिरि) और गिज्झकूट नाम उल्लिखित मिलते हैं।

ऋषिगिरि—पूर्व दिशा में चौकोर आकार को लिए हुए है। पूर्व काल में इस पर्वत पर अनेक ऋषिगण कठोर तपश्चरण करते थे, और तपश्चरण से आन्तरिक कर्म-शत्रुओं का क्षय करने के योग्य आत्म-शक्ति का विकास करते थे। बौद्धों के मज्झिमनिकाय नामक ग्रंथ से प्रकट है कि—'इस पर्वत की काल शिला पर कुछ निर्ग्रन्थ (दिगम्बर साधु) आतापन योग द्वारा आत्म-साधना का अनुष्ठान कर रहे थे। तब बुद्ध ने उनसे पूछा कि—'आपलोग इतना कठोर तपश्चरण क्यों कर रहे हो? तब उन्होंने कहा कि भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे सब जानते देखते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि—'तुमने पहले जो पाप किये हैं, उनको कठोर तपश्चरण से निर्जरा कर दो; क्योंकि मन-वचन-काय को रोक देने से पाप बन्ध नहीं होता, और तप से पुरातन पापों की निर्जरा होने से कर्म क्षय होता है और कर्म क्षय से दुःखों का क्षय होता है, उससे वेदना का अभाव होता है। तब बुद्ध कहते है कि यह बात मुझे अच्छी लगती है और मेरे मन को ठीक मालूम होती है[2]। इसके चारों ओर झरने निकलते हैं।

इस पर्वत पर इस समय दो मन्दिर है। एक प्राचीन दूसरा नवीन। प्राचीन मन्दिर में श्यामवर्ण महावीर स्वामी की चरण पादुका है। और नवीन मन्दिर श्रीमती पंडिता, चन्दाबाई जी आरा का बनवाया हुआ है, जिसमें

---

१. 'पंचशैलपुरं पूतं मुनि सुव्रत जन्मना।
यत्परच्चजिनीं दुर्गं पंचशैलपरिष्कृतम् ॥५२
ऋषिपूर्वोगिरिस्तत्र चतुरस्रः स निर्झरः।
दिग्गजेन्द्रं इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥५३
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृति राश्रितः।
दक्षिणा परदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥५४
सज्य चापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तर दिगन्तरे ॥५५
फल-पुष्प-भरानम्रलतापादपशोभिताः।
पतन्निर्झरसंघात हारिणो गिरयस्तु ते ॥५६
—हरिवंशपुराण-३

'ऋषिगिरि रैन्द्राशायां चतुरस्त्रोयाम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरि नैऋत्या मुभौ त्रिकोणो स्थितौ तत्र ॥
धनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्वसौम्यदिक्षु ततः ॥
वृत्ताकृतिरैशान्यां पांडु सर्वेकुसाग्रवृताः' ॥
—धवला० पु० १, पृ० ६२

'चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो ॥
णइरिदि दिसाए विउलो दोण्णितिकोणट्ठिदायारा ॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पडूं वण्णासव्वे कुसग्गपरियरणा ॥'
—तिलो० प० १,६६,६७

२. "एकेमिदाहं महानाम समये राजगृहे विहरामि गिज्झकूटे पव्वते। ते खोपन समयेन संबहुला निग्गंठा इसिगिलियकालसिलायं उब्भत्थका होंति आसन परिक्खिवत्ता, अत्येक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेरयंति। अथ खोस महानाम सायण्ह समयं पटिसल्लाण बुट्ठितो येन इसिगिलि पस्सयकालसिला—येन ते निग्गंठा तेन उपसंकमिम उपसंकमिता ते निग्गंठे एतदवोचाय:। किन्तु तुम्हें आवुसो निग्गंठा उब्भट्टका आसन पट्टिक्खिता, ओक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदिय याति, एवं वुत्ते महानाम ते निग्गंठा मं एतदवोचुं, निग्गंठो आवुसो नाठपुत्तो सव्वण्णु सब्बदस्सावीअपरिसेसं ञान दस्सनं पक्खु पट्ठितंति। सो एवमाह—अत्थि खोवो निग्गंठा पुब्बे पावं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाम दुक्करि कारिकायनिज्जरेथ यं पतेत्य एतारिह कायेनसंवुत्ता; मनसासंवुत्ता, तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकारण आयति अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया, दुक्खक्खयो दुक्खखया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जरणं भविस्सति। तं च पन अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्ति मनाति।"
—मज्झिमनिकाय १९२-९३

मुनिसुव्रतस्वामी की विशाल प्रतिमा विराजमान है। इसे लोग दूसरा पर्वत 'रत्नगिरि' के नाम से पुकारते है। परन्तु इसका प्राचीन नाम ऋषिगिरि ही जान पड़ता है। इस द्वितीय पर्वत पर एक मन्दिर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी है जिसमें अभी शान्तिनाथ, वासु पूज्य और पार्श्वनाथ की चरण पादुकाएं प्रतिष्ठित हैं।

२. **वैभारगिरि**—यह तिकोने आकार को लिए हुए दक्षिण दिशा में विद्यमान है, अनेक ऋषि पुगवों की तपस्या से यह भी पवित्र हो चुका है। सातवीं शताब्दी मे चीनी यात्री ह्वेनसाग आया था, उसने लिखा है कि —'यहां पर बहुत से निर्ग्रन्थ साधु देखे गये।' इससे स्पष्ट है कि उस काल में भी वहाँ साधु तपश्चरण करते थे।

इस पर एक ही मन्दिर है, जिसमें एक चौबीसी प्रतिमा, महावीर स्वामी, नेमिनाथ और मुनि सुव्रत की श्यामवर्ण पाषाण की प्राचीन प्रतिमाएं है। नेमिनाथ के चरण-चिन्ह भी है। सातवीं शताब्दी तक वैभार गिरि पर जैन स्तूप विद्यमान था, और गुप्तकालीन कई जैन मूर्तियाँ भी थी। सोनभद्र गुफा मे यद्यपि गुप्तकालीन लेख है पर इस गुफा का निर्माण मौर्यकाल के जैन राजाओं ने किया था[1]। इस पर जो मन्दिर बने हुए है, उनके ऊपर का भाग तो आधुनिक है किन्तु उनकी चौकी प्राचीन है[2]। जनता इसे पाचवां पर्वत मानती है। इस पर्वत पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तीन श्वेताम्बरीय मन्दिर है जिनमें एक मन्दिर धन्नाशालिभद्र का भी कहलाता है।

विपुलगिरि—यह दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्य में गध तक स्थित है, और त्रिकोणाकार है। इस पर वर्तमान मे चार दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। नीचे छोटे मन्दिर में श्यामवर्ण कमल के ऊपर भगवान महावीर की चरणपादुका है। मन्दिर भी पुराना है। मध्यवाले मन्दिर मे चन्द्रप्रभ की श्वेतवर्णवाली मूर्ति विराजमान है। वेदी के नीचे दोनों ओर हाथी उत्कीर्ण हैं, बीच में एक वृक्ष है। बगल मे एक ओर सं० १५४८ की प्रतिष्ठित आठवें तीर्थंकर की मूर्ति है। यहां श्यामवर्ण की एक प्राचीन मूर्ति महावीर भगवान की भी है, जिसे लोग आठवीं शताब्दी की बतलाते है। अन्तिम मन्दिर की वेदिका में भी महावीर की श्वेतवर्ण प्रतिमा विराजमान है। बगल मे एक श्यामवर्ण मुनिसुव्रत प्रतिमा और दूसरी ओर उन्हीं के चरण है। विपुलगिरि के नीचे छह कुण्ड है सीता कुण्ड, सूरजकुण्ड, रामकुण्ड, गणेशकुण्ड, चन्द्रमाकुण्ड और शृंग-ऋषि कुण्ड। इस पर्वत पर पहला और अन्तिम मन्दिर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है।

विपुलगिरि का वैशिष्ट—इस पर्वत का खास विशेषता यह है कि यहा जैनियों के अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को केवल ज्ञान होने के पश्चात उनकी सबसे पहली धर्म देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र में हुई थी। धर्मतीर्थ का प्रवर्तन हुआ था। ससार के समस्त जीवों के लिए हितमार्ग का प्रदर्शन हुआ था—सर्वोदय तीर्थ की पावन धारा प्रवाहित हुई थी। महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति, सुधर्म स्वामी और अन्तिम केवली जंबू स्वामी का निर्वाण इसी विपुल गिरि पर हुआ था[1]। और वैशाख मुनि को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी[2]। जीवधर कुमार ने भी विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त किया था[3]। और भी अनेक साधुओं ने तपश्चरण द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्ति की थी। महावीर की इस सभा का प्रधान श्रोता मगध नरेश बिम्बसार या श्रेणिक था, जिसने बौद्ध धर्म का परित्याग कर महावीर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया था। इतना ही नहीं किन्तु श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार, मेघकुमार और वारिषेण ने यही प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण की थी। साथ ही श्रेणिक के सेनापति श्रेष्ठी पुत्र जम्बूकुमार ने

---

1. Indian Historical quarterly Vol. XXV. P. 205-210.
2. Journal of the Bihar and Orissa Rea Soc. Vol. XXII June 1935.

---

१. तपो मासे सिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने।
निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥

२. विपुलादि गिरौ स्थित्वा ध्यानेनायं मुनीश्वरः।
निहत्यघाति कर्माणि केवलज्ञान माप्तवान ॥
विदित्वाऽऽसन कम्पेन वैशाखस्य मुनेरिदम्।
केवलज्ञानमुत्पन्नं सहसाऽगुः सुरेश्वराः ॥
—हरिषेण कथाकोष ८, २१, २२

३. विपुलाद्रौहताशेषकर्माशिर्माग्र मेष्यति।
इष्टाष्टगुणसम्पूर्णो निष्ठितात्मा निरञ्जनः ॥
—उत्तरपुराण ७५, ६८७

केरल नरेश को युद्ध मे विजित करके मगधराज की श्री वृद्धि की, उसी जम्बूकुमार ने एक ही रात्रि मे विवाहित स्त्रियों को विजित कर महावीर सघ में जिन दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण द्वारा कर्मशृंखला को तोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया और जनता को धर्म मार्ग बतलाकर इसी विपुलगिरि से आत्म-सिद्धि को भी प्राप्त किया था। और भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य इस पर्वत पर होते रहे है। इससे इस पर्वत की पवित्रता और महत्ता का मूल्याकन हो जाता है। इसे लोग पहला पर्वत मानते है।

बलाहक (छिन्न या स्वर्णगिरि)—यह पर्वत इन्द्र धनुष के आकार का है और तीनों दिशाओ को घेरे हुए है। इस पर दो मन्दिर हैं। एक मन्दिर फीरोजपुर निवासी लाला तुलसीराम ने बनवाया है। इस नये मंदिर मे शान्तिनाथ की श्यामवर्ण प्रतिमा विराजमान है, और नेमिनाथ तथा आदिनाथ के चरण चिन्ह है। यहाँ एक खड्गासन प्राचीन मूर्ति भी है। पुराने मन्दिर में भगवान महावीर के चरण चिन्ह है। यह मन्दिर छोटा-सा है, और प्राचीन है। आजकल लोग इसे चौथा नवीन पर्वत कहते है। इस पर भी एक श्वेताम्बर मन्दिर है।

पांडुक—पाँचवां पर्वत पाडु या पांडुक है जो गोलाकार और पूर्व दिशा मे स्थित है। यहाँ एक मन्दिर है, जिसमें शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ की प्राचीन प्रतिमाएं और आदिनाथ के चरण चिन्ह विराजमान है। महावीर स्वामी की एक खड्गासन प्राचीन मूर्ति भी है। कलकत्ता निवासी सेठ रामवल्लभ रामेश्वर जी ने एक नये मन्दिर का भी निर्माण कराया है। इसे उदयगिरि के नाम से पुकारते हैं। और गणना मे इसे तीसरा पर्वत मानते हैं। यहाँ एक श्वेताम्बर मन्दिर है और स० १८१९ तथा सं० १८२३ में प्रतिष्ठित अभिनन्दन, सुमतिनाथ और पार्श्वनाथ के चरण स्थापित है।

मनियार मठ—राजा श्रेणिक ने राजगृह में विशालकाय एक किला बनवाया था। जिसके निशान अब भी मौजूद हैं और इसे मगध देश की राजधानी बनाया था। उस समय इसका विस्तार बहुत विशाल था। तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध आदि के कारण इसका यश सुदूर देशो में फैला हुआ था। कनिंघम साहब ने लिखा है कि "प्राचीन राजगिरि उक्त पाँचों पर्वतों के मध्य में बसा हुआ था।" इन पर्वतों के मध्य की घाटी में एक स्तूप के खडभाग मिलते है। अब वह ईंटों का टीला मात्र है। लगभग २० फुट ऊचा होगा। उसके ऊपर एक छोटा-सा जैन मन्दिर है, जो सन् १७८० का बना हुआ था, इसे 'मनियार मठ' कहते है: इसी मनियार मठ के पास एक पुराने कुएं को साफ करते समय तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी। उनमे एक मूर्ति मायादेवी की थी और दूसरी सप्तफण मडित दिगम्बर मूर्ति पार्श्वनाथ की प्राप्त हुई थी[1]। यहाँ जैनियों की दो गुफाएं हैं। एक सप्तपर्णी की और दूसरी सोनभद्र गुफा। यह गुफा वैभारगिरि के उत्तर तरफ जैन मन्दिर के नीचे है।

सोनभद्र गुफा पहली है। इस गुफा के भीतर जाने के द्वार के दाहिनी ओर एक शिलालेख दो पंक्तियों में तीसरी-चौथी शताब्दी का है।

"निर्वाण लाभाय तपस्वियोग्ये शुभे गुहेऽर्हत्प्रतिमा प्रतिष्ठे। आचार्यरत्न मुनि वैरदेवः विमुक्तिए कारय दीर्घतेजः।।"

एक छोटी सी मूर्ति किसी तीर्थङ्कर की उत्कीर्णित है।

वैभारगिरि के नीचे सात झरने हैं—कुण्ड हैं। जिनके नाम गंगा, यमुना, अनन्तऋषि, सप्तऋषि, ब्रह्मकुण्ड, कश्यप ऋषि, व्यास कुण्ड और मारकुण्ड।

राजगिरि के नीचे दिगम्बर जैन धर्मशाला और दो मन्दिर हैं। जिनमें एक मन्दिर दिल्ली निवासी ला० न्यादरमल धर्मदास जी ने एक लाख रुपये की लागत से ६ फरवरी १९२५ में बनवाया है। इसमे पाँच वेदिकाएं है। दूसरा मन्दिर गिरीडीह निवासी स्व० सेठ हजारीमल किशोरीलाल ने बनवाया है, जिसकी प्रतिष्ठा सं० १९४१ माघ शुक्ला १३ है। इसकी बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की स० १५४८ की जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित दो मूर्तियाँ विराजमान हैं। एक श्वेताम्बर मन्दिर और धर्मशाला है। बौद्ध मठ और हिन्दू मन्दिर भी है। इस तरह राजगिरि जैन बौद्ध और हिन्दू तीनों का तीर्थ स्थान बन गया है। इस वन्दनीय तीर्थ स्थान से जनता का बड़ा हित हुआ है। मगधराज के समय राजगिर की जो शोभा थी वह उसके विनाश से जाती रही है। ●

---

1. Archaelogical Survey of India Vol. I (871) P. 25-26

मूक-साहित्य-सेवी श्री पन्नालाल जी अग्रवाल

श्री माईदयाल जैन, बी. ए. आनर्स बी. टी.

साहित्य सेवा या सरस्वतीदेवी की पूजा के अनेक ढग और विभिन्न तरीके हैं। पुस्तक लेखन, प्रकाशन, पत्र-पत्रिका का सम्पादन तथा प्रकाशन और पुस्तकालय तथा संग्रहालय खोलना तो सर्वविदित है। साहित्यकारों तथा कवियों को राजाश्रय, पुरुस्कार तथा सहायता देना भी साहित्य सेवा है। साहित्यकारों के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध करना और उसको साहित्यिक सामग्री भेंट करने से भी साहित्यकारों को बड़ी आसानी हो जाती है। साहित्यिक संस्थाओं के संचालन के लिए द्रव्य देना भी आवश्यक है। साहित्यकार समस्त संसार में प्रायः आर्थिक संकटों से घिरे रहते हैं, इसलिए उनके जीवन काल में उनकी आर्थिक कठिनाइयों से बचाने की बड़ी आवश्यकता है और यह काम साहित्यकारों के देहान्त के पश्चात् आदर सम्मान करने से कहीं अधिक जरूरी है। बड़े नामी साहित्यकारों के साथ-साथ छोटे या कम ख्याति प्राप्त स्थानीय लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहन देना और उनकी सहायता करना भी साहित्यिक परम्परा को जारी रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि जिस प्रकार सेना में सेनापतियों के अतिरिक्त सिपाही और दूसरे बीच के कप्तान इत्यादि होते है, इसी प्रकार देश की साहित्यिक सेवा केवल चन्द बड़े-बड़े साहित्यकार ही नहीं करते, वरन छोटे-छोटे सह-साहित्यकार तथा मध्यम श्रेणी के सैकड़ों कवि और लेखक भी सेवा करते है, जिनकी आवश्यकताएं भी बड़े-बड़े साहित्यकारों के समान हैं। यदि उनकी समुचित देखभाल न की जाय या उनको प्रोत्साहन न दिया जाय तो साहित्यकारों की परम्परा को हानि पहुँच सकती है। अच्छी-अच्छी पुस्तकों की बीस-तीस प्रतियाँ मंगाकर पुस्तकालयों तथा विद्वानों को भेंट करने से भी साहित्य का प्रचार होता है और प्रकाशकों तथा लेखकों को लाभ होता है। बम्बई में स्वर्गीय प्रसिद्ध दानवीर सेठ माणिकचन्द्र जी अच्छे जैन ग्रन्थों की चार सौ प्रतियाँ तक मंगाकर मन्दिरों तथा विद्वानों इत्यादि को भेंट कर दिया करते थे। इनके अतिरिक्त साहित्य-सेवा के और भी ढंग हो सकते है।

पर हमारे देश के साहित्योद्धार का एक और आवश्यक मार्ग भी है। यहाँ बहुत-सा प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य अभी हस्तलिखित है और शास्त्र भण्डारों में बन्द पड़ा है। ऐसे जैन शास्त्र भण्डार तो सैकड़ों की संख्या में है। हस्तलिखित होने के कारण एक ही ग्रंथ की कई प्रतियों में पाठ भेद भी हैं और लेखक की अशुद्धियाँ, लोप तथा प्रक्षेपन भी हैं। इसलिए किसी प्राचीन ग्रथ को प्रकाशित करने से पहले यह आवश्यक है कि दस-पाँच स्थानों से उस ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ इकट्ठी करके तुलना की जाय और शुद्ध पाठ की प्रेस कापी तैयार की जाय। शास्त्र भण्डारों का प्रबंध अच्छा न होने से सम्पादकों को अनेक प्रतियों का मिलना कठिन है। इसलिए भारत के प्राचीन साहित्य के उद्धार के लिए यह आवश्यक है, कि जहाँ-जहाँ अच्छे पुराने शास्त्र भण्डार हें, वहाँ ऐसे उत्साही साहित्य-प्रेमी हों जो अपने यहाँ के प्राचीन ग्रथों को प्रकाशन संस्थाओ या योग्य संस्थाओं को आवश्यकतानुसार सुविधापूर्वक पहुँचा सकें, जिससे प्राचीन ग्रन्थ शुद्ध पाठ तथा अनुवाद के साथ प्रकाशित हो सकें वरना अशुद्ध पाठ होने से व्यर्थ का अनर्थ होगा और लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी।

इस लेख के द्वारा ऐसे ही एक साहित्य-सेवी का परिचय साहित्य जगत को कराया जा रहा है, जो ३०-३५ वर्ष से इस ढग से सरस्वती की आराधना या साहित्य-सेवा कर रहे है। बहुत प्राचीन ग्रंथों के उद्धार, अनुवाद और नवीन साहित्य की तैयारी में इन्होंने इस रूप से सहयोग दिया है। इसका कुछ ब्यौरा आगे दिया जायगा।

इनका नाम श्री पन्नालाल जी जैन है जो दिल्ली के रहने वाले हैं। यद्यपि इनकी अपनी शिक्षा बड़ी ऊंची नहीं है, पर साहित्यकारों तथा विद्वानों के सत्संग का लाभ इनको युवावस्था से प्राप्त रहा है, इसलिए साहित्य-सेवा की भावना इनमें काफी है। दिल्ली के दो-तीन प्राचीन जैन मन्दिरों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के अनेक विषयों के सहस्रों प्राचीन ग्रंथ, गुटके, पोथियाँ और स्तोत्र आदि हैं, जो हजार, डेढ़ हजार वर्ष तक के पुराने है। इन शास्त्र भण्डारों के पूरे उपयोग का सुदिन तो अभी नहीं आया है, पर हाँ, इनकी देखभाल तथा रक्षा जिन महानुभावों के हाथों में है, वे काफी जागरूक, समझदार और साहित्यिक कर्तव्य का पालन करने वाले है। श्री पन्नालाल जी भी एक ऐसे ही योग्य व्यक्ति है। जो यहाँ के शास्त्रों को जैन साहित्य के उद्धार कार्य में अभिरुचि रखने वाले किसी भी विद्वान या संस्था को चाहे वह भारत का हो या भारत से बाहर का, समय-समय पर आवश्यकतानुसार ग्रंथ भेजते रहते है। इनकी साहित्य-सेवा का क्षेत्र बड़ा विशाल है। आपके सहयोग से नीचे लिखे ग्रंथों के प्रकाशन मे सहायता मिली है :—

१. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा जिला सहारनपुर— द्वारा प्रकाशित, (१) अध्यात्मकमल मार्तण्ड, (२) पुरातन जैन वाक्य सूची, (३) आप्तपरीक्षा, (४) न्यायदीपिका, (५) बनारसी नाममाला, (६) विवाह क्षेत्र प्रकाश।

२. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित—(१) वरांगचरित्र, (२) हरिवंशपुराण, (३) जम्बूस्वामीचरित, (४) प्रमाण प्रमेयकलिका।

३. भारतीय ज्ञानपीठ बनारस द्वारा प्रकाशित— (१) मदन पराजय, (२) महापुराण, (३) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, (४) जैन जागरण के अग्रदूत, (५) तत्त्वार्थवृत्ति, (६) वसुनन्दि श्रावकाचार, (७) सर्वार्थसिद्धि, (८) उपासकाध्ययन।

४. अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, कारंजा द्वारा प्रकाशित—(१) पाहुड़ दोहा, (२) सावयधम्म दोहा।

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित—(१) वृहत अंग्रेजी सूची, श्री कालिदास कपूर द्वारा लिखित, (२) हिन्दी सेवी संसार, श्री अद्भुत शास्त्री द्वारा लिखित, (३) आज के हिन्दी-सेवी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई द्वारा प्रकाशित, (४) अर्घ कथानक, आदि।

६. जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाशित— (१) तिलोयपण्णत्ती के दो भाग, (२) कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रह।

७. जर्मन विद्वान एच. वी. ग्लासीनैप्प द्वारा लिखित—डेर जैनिसमस।

८. प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद द्वारा प्रकाशित—(१) हिन्दी का सर्वप्रथम आत्मचरित, अर्द्ध कथानक, (२) प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य।

९. दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत द्वारा प्रकाशित— १. आदि पुराण, २. चन्द्रप्रभपुरा, ३. चिदविलास, ४. इनके अतिरिक्त आत्मावलोकन मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर, महर्षि शिवव्रतलाल जी लिखित जैनधर्म। इस लेख के लेखक द्वारा लिखित ज्योतिप्रसाद और श्री कामता प्रसाद जी द्वारा लिखित जैनतीर्थ और उनकी यात्रा इत्यादि की तैयारी में भी इन्होन सामग्री भेजकर सहायता की। सरसरी तौर से और बाह्य रूप से देखने में ये सेवायें जैन साहित्य की सेवा तक सीमित मालूम होगी, पर इनमें साम्प्रदायिकता का नाम तक भी नही।

श्री पन्नालालजी को स्वयं भी कुछ लिखने का शौक है और उन्होने दिल्ली की जैन सस्थाएं नामक पुस्तिका लिखकर प्रकाशित की थी। मुद्रित जैन ग्रन्थों की एक सूची भी उन्होने तैयार की है जो 'प्रकाशित जैन साहित्य' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। कभी-कभी आपके लेख भी अनेकान्त, वीरवाणी, जैनमित्र, जैन संदेश, जैन गजट, वीर आदि में निकलते रहते हैं।

जिस प्रकार श्रद्धेय बनारसीदासजी चतुर्वेदी के पास प्रसिद्ध साहित्यकारों के सहस्रों पत्र सुरक्षित हैं, उसी प्रकार श्री पन्नालाल जी के पास भी पिछले पचास वर्ष के सैकड़ों पत्र उन जैन विद्वानों, लेखकों तथा सुधारकों के हैं, जिन्होंने जैन समाज में नवजीवन का संचार किया है। इन पत्रों के प्रकाशन की बड़ी आवश्यकता है। अब उनके प्रयत्न से तथा पूज्य मुनि विद्यानन्दजी की प्रेरणा

एवं सहयोग से बैरिस्टर चम्पतरायजी के पत्रों का सकलन तथा जीवनी मेरे द्वारा संकलित एवं लिखी जाकर तैयार हो गई है और अब वह शीघ्र प्रकाशित हो जायगी। उनके संग्रह किये हुए पत्रों का यह पहला सग्रह जैन साहित्य जगत में जा रहा है। आशा है भविष्य में इसी प्रकार के दूसरे सग्रह भी प्रकाशित हो जायंगे।

साहित्यकारो को प्रेरणा करके काम लेने मे आप बड़े कुशल हैं। जिन दिनों आप जैनमित्र मण्डल दिल्ली के मन्त्री थे, तब आपने महर्षि शिवव्रतलाल जी से "जैनधर्म" लिखाया था। और सुधारक बाबू सूरजभान जी वकील तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी से ट्रैक्ट और पुस्तकें लिखाई। पच्चीसों जैन लेखकों के परिचय मुझसे लिखाकर दिगम्बर जैन सूरत के साहित्यांक में प्रकाशित कराये।

पिछले दिनों भारत सरकार के तत्वावधान में दिल्ली के लाल किले में सांस्कृतिक सम्मेलन हुआ था, उसकी साहित्यिक प्रदर्शनी मे श्री पन्नालालजी दिल्ली के जैन भण्डारों के कुछ अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों और चित्रो को दिखा रहे थे।

दिल्ली की कई साहित्यिक तथा शिक्षा सस्थाओं के आप उत्साही कार्यकर्ता रहे हैं और अपने कर्तव्यों को बड़ी सलग्नता से निभाया पर जब आपने उनके कुछ दूसरे, अधिकारियों की पदलोलुपता और अनीति को देखा, तो उस काम से आपने हाथ खींच लिया। श्री पन्नालाल जी अत्यन्त मिलनसार, निहायत सादे, प्रेमी, धर्म परायण और सरल स्वभाव के है। 'गुणिषु प्रमोदं' आपका आदर्श वाक्य है। युवावस्था मे पदार्पण ही इन पंक्तियों के लेखक का परिचय आपसे हुआ था, और तब से वह बराबर बढ़ता चला जा रहा है।

आपका जन्म माघ शुक्ला द्वादशी सम्वत् १९६० को हुआ था। आपके पिता लाला भगवानदासजी थे और आपका जन्म नसीराबाद छावनी में हुआ था पर बचपन से ही आप दिल्ली आ गये थे। आपको स्वास्थ्य, योग्य पुत्र, आज्ञाकारी धर्मपत्नी और आर्थिक निश्चितता आदि सभी सुख प्राप्त है। आयु मे मुझसे दो वर्ष छोटे है। इसलिए मैं आपकी दीर्घायु की शुभकामना करता हुआ यही चाहता हूँ कि स्वतन्त्र भारत में प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण का जो महान कार्य हो रहा है, उसमे आप पूर्ववत् अधिक से अधिक सहयोग दे और दूसरे नवयुवक आपकी साहित्य-सेवा के इस ढग को अपनावे। विद्वानो को भी श्री पन्नालालजी की सेवाओ का खूब उपयोग करना चाहिए। ●

विश्वमैत्री-दिवस

भारत जैन महामण्डल की सूचनानुसार कार्यक्रम १२ सितम्बर ७१ को मनावें

प्रिय महोदय !

विश्वमैत्री दिवस ५ सितम्बर ७१ को मनाने के लिए मण्डल की ओर से आपको कार्यक्रम की रूपरेखा सहित एक परिपत्र भेजा था, मिला होगा। कई शाखा सभाओं एवं कार्यकर्ताओं के सुझाव के कारण ५ सितम्बर की तिथि में परिवर्तन करना आवश्यक लगा और १२ सितम्बर ७१ को विश्वमैत्री दिवस मनाने का निर्णय किया गया है।

अतः कृपया पिछले परिपत्र की तिथि सुधारते हुए अब विश्वमैत्री दिवस **१२ सितम्बर १९७१** को ही मनावें ताकि देश भर मे एक ही दिन सब जगह यह कार्यक्रम सम्पन्न हों।

१५ ए, हार्निमनं सर्कल,
भारत इंशुरंश बिल्डिग, दूसरा माला,
फोर्ट, बम्बई-१

निवेदक :
रिषभदास रांका
प्रधानमंत्री।

वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव सानन्द सम्पन्न

आज दिनांक ६ जुलाई सन् १६७१ को प्रात:काल आठ बजे वीर-सेवा-मन्दिर की ओर से वीर-शासन जयन्ती का उत्सव प्रसिद्ध उद्योगपति लाला राजेन्द्रकुमार जी की अध्यक्षता में दि० जैन लालमन्दिर में मनाया गया। श्रोताओं की उपस्थिति से लालमन्दिर के दोनों हाल भरे हुए थे। साथ ही समाज के विद्वानों की भी अच्छी उपस्थिति थी। मुनि श्री १०८ ऋषभसागर जी और मुनि श्री १०८ शान्तिसागरजी भी पधारे थे। जैन बाल आश्रम के छात्रोंने सुन्दर भजन सुनाये।

पं० परमानन्द जी शास्त्री के मंगलाचरण के बाद श्री प्रेमचन्द जी मंत्री वीर सेवा मन्दिर ने वीरशासन जयन्ती के मनाने का प्रयोजन और उसके इतिहास पर प्रकाश डाला। पश्चात् पं० हुकुमचन्द जी बरुआ सागर ने कविता पाठ किया। पं० बलभद्र जी ने वीर शासन पर प्रकाश डालते हुए उसकी उत्पत्ति और महत्ता पर विवेचन किया। ला० प्रेमचन्द जी जैनावाच ने अपने भाषण में वीर शासन के सिद्धान्त अहिंसा पर विवेचन किया। इसके बाद बाबू यशपाल जी ने अपने भाषण में वीर शासन की महत्ता प्रकट करते हुए श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी सभी सम्प्रदायों की एकता पर प्रकाश डाला। डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपने भाषण में वीर शासन का अच्छा विवेचन किया। पश्चात् मुनि ऋषभ सागर जी ने अपना संक्षिप्त भाषण दिया, अनन्तर मुनि शान्तिसागरजी ने वीरशासन का जयघोष करते हुए आत्मतत्त्व पर प्रकाश डाला। अनन्तर श्री गिरनार जी तीर्थ क्षेत्र पर मुनि श्री महावीर कीर्ति के साथ किये जाने वाले अभद्र व्यवहार की निन्दा की और क्षोभ व्यक्त किया गया और उस पर समाज की ओर से निम्न प्रस्ताव पास हुआ।

'श्री दि० जैन लालमन्दिर दिल्ली में आयोजित जैन समाज की विशाल सभा श्री गिरनार जी सिद्धक्षेत्र (जूनागढ़) पर पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी के साथ वहां के बाबाओं द्वारा हुए घोर अभद्र व्यवहार के प्रति अपना अत्यन्त दुख और क्षोभ व्यक्त करती है तथा आपसे प्रार्थना करती है कि धर्मनिरपेक्ष सरकार में इस प्रकार धार्मिक गुरुओं के साथ निन्दनीय व्यवहार करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाये जिससे भविष्य में इस प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति न हो।"

नोट :—प्रस्ताव की कापी महामहिम माननीय राज्यपाल गुजरात प्रदेश अहमदाबाद को भेजी गई।

अन्त में सभा के अध्यक्ष और कमेटी के उपाध्यक्ष ने सबका आभार प्रकट किया। मंत्री वीर सेवा मन्दिर ने अध्यक्ष का आभार प्रकट करते हुए जनता को धन्यवाद दिया, और भगवान महावीर की जयध्वनिपूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

—प्रेमचन्द जैन

संशोधन

गत वर्षके अनेकान्त की संयुक्त किरण ५–६ मे 'धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य' शीर्षक लेख प्रकाशितहुआ है। उसमे भूल से डा० हीरालाल जी जैन का नाम छपने से रह गया है। कृपा कर पाठकगण उसमें डा० हीरालाल जी का नाम और बढ़ा कर पढ़े।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

साहित्य-समीक्षा

१. भविष्यदत्त कथा तथा अपभ्रंश कथा काव्य—लेखक डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री। प्रकाशक भारतीय ज्ञान-पीठ, ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-६, मूल्य २० रुपया।

प्रस्तुत ग्रथ एक शोध प्रबन्ध है, जिस पर लेखक को आगरा यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री मिली है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सात अध्याय हैं जिनमे अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य का सुन्दर वर्णन दिया है। साथ ही भविष्यदत्त कथा का भी परिचय दिया गया है। भविष्यदत्त कथा और उसकी परम्परा का विवरण देते हुए अपभ्रंश के प्रमुख कथा काव्यों का—"विलासवई कथा, जिणदत्त कथा, सिद्धचक्क कहा, सिरिपाल कहा आदि का भी—परिचय दिया है। लोककथा की सामान्य प्रवृत्तियों और लोक तत्त्व का विश्लेषण करते हुए वस्तु तत्त्व का अच्छा विवेचन किया गया है। यह सब होते हुए भी लेखक ने भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर बिना किसी प्रमाण के उसका रचनाकाल विक्रम की १४वीं शताब्दी बतलाने का प्रयत्न किया है। जो किसी तरह भी उचित नही कहा जा सकता। जबकि डा० हर्मन जेकोबी ने धनपाल की भविष्यदत्त कथा का रचना काल १०वीं शताब्दी बतलाया है।

लेखक को मोती कटरा आगरा के भण्डार से सं० १४८० की लिखी हुई प्रति मिली। उसमें सं० १३६३ की एक दूसरी लिपि प्रशस्ति भी लिखी हुई थी। जिसे साहू वाधू अग्रवाल ने धनपाल की उक्त कथा को सं० १३६३ लिखवाया था'। लेखक महाशय ने उस पर से ग्रंथ का रचनाकाल विक्रम की १४वीं शताब्दी निश्चित कर दिया। आप लिखते हैं कि—"विक्रम सं० १३६३ पौष शुक्ला द्वादशी को यह कथा काव्य लिखकर पूर्ण हुआ था। आधुनिक काल गणना के अनुसार निर्दिष्ट तिथि १६ दिसम्बर १६३६ ई० है। इससे स्पष्ट है कि काव्य का रचना काल चौदहवीं शताब्दी है।" पर लेखक ने विचार का थोड़ा भी कष्ट नही किया जब कि इस ग्रंथ के कर्ता कवि धनपाल है, जो धर्कट वंश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम धनश्री था। जबकि सं० १३६३ में ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने वाले दिल्ली के अग्रवाल वाधू साहू थे। उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का राज्य था मैंने एक लेख 'धनपाल की भविष्यदत्त कथाके रचना काल पर विचार शीर्षक लिखा था।" जो अप्रेल सन् १८६६ के अनेकान्त के अंक एक में छपा था। उसके पढ़ने से तो लेखक को अपनी भूल का स्पष्ट पता चल गया था, फिर भी अपनी पुस्तक में उसका संशोधन नहीं किया। किन्तु भविष्यदत्त कथा का रचना काल चौदहवी शताब्दी सिद्ध करने के लिये विबुध श्रीधरमुनि कृत (सं० १२३०) में भविष्यदत्त कथा रचित ग्रंथ के साथ तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला कि धनपाल की भविष्य-दत्त कथा पर इसका प्रभाव है। आपने दोनों की तुलना करते हुए बतलाया है कि "धनपाल ने उसका अनुकरण किया है।" परन्तु लेखक ने यह विचार नहीं किया कि दोनों ग्रथों के कथानकों मे समानता होने पर भी भाषा गत और कथानक शैली का भेद बना हुआ है। धनपाल की भविष्यदत्त कथा की भाषा प्रौढ और विशद है, उसमें काव्यत्व की झलक स्पष्ट है। जबकि विबुध श्रीधर की भविष्यदत्त कथा की भाषा सीधी-सादी है, वह चलती हुई है। इतना होते हुए भी आप लिखते हैं कि—"कल्पनात्मक वैभव, विम्बार्थ योजना, अलंकरणता और सौन्दर्यानुभूति की जो झलक धनपाल की भविष्यदत्त कथा में लक्षित होती है वह इस काव्य में नहीं है।" इतना होने पर भी आप उक्त कथा में अनुकरण की बात कहते हैं। वह कैसे फलित हो सकती है? जबकि उस ग्रंथ का रचना काल १०वीं शताब्दी माना जाता है। तब अनु-करण की बात कैसे घटित हो सकती है? यह तो कल्पना तब मानी जा सकती है जब सं० १३६३ की लिपि

प्रशस्ति को मूल ग्रथकार की मान ली जाये। अतः उक्त प्रशस्ति के आधार पर धनपाल की भविष्यदत्त कथा को विक्रम की १४वी शताब्दी की रचना मानना किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता।

ज्ञानपीठसे शोध प्रबन्ध छपनेसे पहले मैने उसके रचना काल पर विचार लेख को डा० गोकुलचन्द जी को बतलाया था, और उन्होने कहा था कि सशोधन हो जायगा। फिर भी सशोधन नहीं हुआ, वह ज्यों का त्यों छपा दिया गया, शोध प्रबन्धके निर्णायको ने भी उस पर विचार नहीं किया। लेखक को भूल ज्ञात होने पर भी उसका सुधार नहीं किया गया, आशा है डा० देवेन्द्रकुमार उसका संशोधन करेंगे। शोध-प्रबन्धों मे इस तरह की स्थूल भूलों का रह जाना बड़ा खटकता है।

ज्ञानपीठ का प्रकाशन सुन्दर है। पाठकों को उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

२. द्विसधान महाकाव्य (संस्कृत हिन्दी टीका सहित) मूलधनजय कवि। सम्पादक प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, सुभाषमार्ग दिल्ली। पृष्ठ सख्या ४०६ मूल्य १५) रुपया।

प्रस्तुत काव्य का नाम द्विसन्धान काव्य है, जिसे राघवपाण्डवीय काव्य भी कहते है। इस ग्रन्थ मे रामायण और महाभारत की कथा इस कौशल से लिखी गई है कि उसके एक अर्थ मे राम का चरित्र निकलता है तो दूसरे मे कृष्ण चरित्र। इस रूप मे लिखा गया यह काव्य सर्वश्रेष्ठ काव्य है। यह कृति गृहस्थ कवि धनजय की रचना है। रचना बड़ी सुन्दर और दो अर्थों की प्रतिपादक है। यद्यपि बाद के विद्वानो ने द्वयर्थक अनेक काव्य रचे है, परन्तु उनमे धनजय की यह कृति सबसे प्राचीन और गम्भीर अर्थ की द्योतक है। ग्रंथ में १८ सर्ग है जिनके ११०४ श्लोको मे इस महा काव्यको रचना हुई है। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद प्रो० खुशालचन्द जी गोरावालाने किया है अनुवाद सामान्यतया अच्छा और सरल है। ग्रन्थ की दो टीकाए है उनमें से मूल के साथ विनयनन्दि के प्रशिष्य और देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द की पद कौमुदी नामकी संस्कृति टीका भी दे दी गई है। इसकी दूसरी टीका राघव पाण्डवीय भी प्रकाशित है जिसके कर्ता परवादिघरट्ट रामभट्ट के पुत्र कवि देवर है। ये दोनों टीकाएं आरा जैन सिद्धान्त भवन मे मौजूद हैं।

डा० हीरालाल और डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी में लिखी है। कवि ने अपना कोई परिचय और गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रस्तावना में धनंजय कवि की अन्य कृति विषाहार स्तोत्र (आदिनाथ स्तोत्र) और धनंजय नाममाला है। इस ग्रन्थ के १८वें सर्ग के १४६वें श्लोक में श्लेषरूप मे धनंजय के पिता का नाम वासुदेव और माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ उपलब्ध होता है। जो दशरूपक के कर्ता से भिन्न हैं। कवि धनजय का समय डा० हीरालालजी और डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में ८०० ई० अनुमानित किया है, जो उचित जान पड़ता है क्योंकि विक्रम की ९वी शताब्दी के विद्वान और षट्खण्डागम तथा कसायपाहुड की धवला जयधवला टीकाओं के कर्ता वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका की पुस्तक ९ पृ० २३७ मे धनजय नाममाला का एक पद्य उद्धृत किया है। जो इस प्रकार है:—

"हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्य्यये।
प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥"

इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत धनंजय उसके बाद के विद्वान नही हो सकते।

ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने किया है, प्रकाशन उसके अनुरूप हुआ है। पाठकों को मंगाकर उसे अवश्य पढना चाहिए।

३. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन—लेखक श्रीचन्द जैन। प्रकाशक सुशील वोहरा, वोहरा प्रकाशन, चैनसुखदास मार्ग, जयपुर पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १३ रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने संस्कृति और सभ्यता का तथा इनके पारस्परिक भेदकत्व, संस्कृति के अवान्तर रूप, लोक जीवन में सस्कृति का सम्बन्ध, जैन संस्कृति का विश्लेषण, जैन कथाओं में गुम्फित सूक्तियां। संस्कृति की विशेषताएं और मूल तत्व, जैन संस्कृति की आपेक्षिक

प्राचीनता। वैदिक सस्कृति एवं जैन संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन। जैन धर्म का आशय। जैन कथा साहित्य, जैन कथाओं में अध्यात्मवाद। जैन कथाओं में चित्रित सामाजिक जीवन। आदि विषयो पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। कथाओं के सांस्कृतिक अध्येताओ के लिए पुस्तक उपयोगी है। प्रकाशन सुन्दर और गेटप मनोहर है, परन्तु पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक जान पडता है।

४. लोक विजययंत्र—सानुवाद और विस्तृत विवेचन सहित। सम्पादक डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एच० डी० कालेज आरा (बिहार) प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट। प्राप्ति स्थान, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, चमेली कुटीर, १।१२८ डुमराव कालोनी अस्सी, वाराणसी-६, मूल्य दस रुपया।

इस लोक विजय मन्त्रमें अंक संख्या के निर्धारण द्वारा मानव के सुख-दुःख, समर्घ-महर्घ, वर्षा-वायु, सुभिक्षदुर्भिक्ष, रोग, धन-धान्य-रस निष्पत्ति, समृद्धि आदि की सही जानकारी प्राप्त करानेका प्रयास किया गया है। ग्रंथमें लोक विजययन्त्रको बनाने, देश और दिशा दोनों ध्रुवांकों के द्वारा गणित करके फला देश निकालने का अच्छा विवेचन किया गया है। डा० साहब ने उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया है डा० नेमिचन्द्र जी ने ५३ पृ० की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और परिशिष्टों द्वारा इस विषय को अत्यन्त सुगम बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि ग्रन्थ की मूल गाथा ३० है, और वे प्रतापगढ़ के वैद्य जवाहरलालजी से मुख्तार साहब को प्राप्त हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उसके अनुवाद और विस्तृत विवेचन के बिना उसके समझनेमें कठिनाई होती थी। पर डा. साहबने अपने विवेचन से उसे सरल एव सुगम बना दिया है। इसके लिए डा० साहब का आभार मानना आवश्यक है। ग्रन्थ का मूल्य दस रुपया है। ज्योतिष के अध्येताओं और सुभिक्ष दुर्भिक्षादि के फला देश जिज्ञासुओं के लिए ग्रन्थ उपयोगी है। मंगाकर पढ़ना चाहिए। वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट का यह प्रकाशन सुन्दर है।

५. सत्प्ररूपणा सूत्र—(हिन्दी अनुवाद सहित) मूल लेखक आचार्य पुष्पदन्त, सम्पादक और अनुवादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्राचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय काशी। प्रकाशक गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, १।१२८ डुमराव कालोनी अस्सी वाराणसी, मूल्य ५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य पुष्पदन्त प्रणीत सत्प्ररूपणा सूत्र दिया हुआ है। आचार्य पुष्पदन्त चन्द्रगुहा निवासी आचार्य धरसेन के विद्या शिष्य थे। उनसे महा कर्मप्रकृति प्राभृत पढ़कर प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत सत्प्ररूपणा सूत्र रचे और जिन पालित को दीक्षित कर तथा पढाकर उन्हें आचार्य भूतबलि के पास भेजे। आचार्य भूतबली ने उन्हें पाकर और पुष्पदन्त को अल्पायु-जान कर महाकर्म प्रकृति प्राभृत के विच्छेद के भय से द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर, जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्धरूप षट्खण्डागम सूत्रों की रचना की। आचार्य पुष्पदन्त ने धर सेनाचार्य से प्राप्त ज्ञान को सत्प्ररूपणा के रूप में सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया था। यद्यपि यह सत्प्ररूपणा धवला टीका और उसके हिन्दी अनुवाद के साथ श्रीमान् सेठ लक्ष्मीचन्द सितावराव जैन साहित्योद्धारक फण्ड अमरावती से षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु वह पुस्तक इस समय प्राप्य नहीं है। इस कारण इसे प्रकाशित करना आवश्यक था। श्री पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री ने उक्त सूत्रों का सकलन और हिन्दी अनुवाद किया और उसमे कुछ उपयोगी शका समाधान को सन्निहित कर स्वाध्यायी जनों के लिए सुलभ कर दिया है। साथ ही प्राक्कथन लिखकर तो उसे और भी उपयोगी बना दिया है। प्राक्कथन में षट्खण्डागम और प्रज्ञापना के सम्बन्ध में भी विचार किया है। किन्तु वह बहुत सक्षिप्त है, उसके सम्बन्ध में और भी प्रकाश डालना जरूरी है। जिससे पं० दलसुख मालवणिया का वह प्रामाणिक उत्तर ही न हो, किन्तु पाठकों को क्षेत्रों की तरह दिगम्बर शास्त्रो को अपना बनाने की भावना का भी निदाकरण हो सके। और समाज में तथा विद्वानों में उसके संरक्षण की भावना भी जागृत हो सके।

वर्णी ग्रंथमाला का यह प्रकाशन सुन्दर है। छपाई सफाई उत्तम है। यह ग्रन्थ मन्दिरों, ग्रन्थ भण्डारों, पुस्तकालयों और स्वाध्यायी जनों को मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द शा

कल्पवृक्ष पर कमलासीन नेमिनाथ तीर्थंकर, राजघाट, वाराणसी

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुड सुत्त : मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वैमासिक

अगस्त १९७१

अनेकान्त

वर्ष २४ : किरण ३

कलचुरि कालीन भगवान आदिनाथ की भव्य मूर्ति (श्री नीरज के सौजन्य से प्राप्त)

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

●

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दें, अन्यथा वी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३वें वर्ष का चन्दा अभी तक भी नही भेजा है, वे अब २३वें और २४वें दोनों वर्षों का १२ रुपया मनीआर्डर से अवश्य भिजवा दें।

व्यवस्थापक **'अनेकान्त'**
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

●

पुस्तक प्रकाशकों से

जैन समाज में अनेक संस्थाएं जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही हैं। वीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी थीसिस के लिए योग्य सामग्री वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते हैं। विद्वानों को चाहिए कि वे अधिक से अधिक लाभ उठावें। प्रकाशकों को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतियां भिजवा कर पुण्य लाभ लें।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागंज
दिल्ली

●

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४ किरण ३	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० सं० २०२७	जुलाई-अगस्त १९७१

शान्तिनाथ जिनस्तवन

जयति जगदीशः शान्तिनाथो यदीयं,
स्मृतमपि हि जनानां पाप-तापोप-शान्त्यै ।
विविधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न-
द्युति चल मधुपाली चुम्बितं पादपद्मम् ॥५॥

—मुनि पद्मनन्दि

शांति जिनेश जयौ जगतेश, हरै अघताप निशेश की नाईं ।
सेवत पाय सुरासुरराय, नमैं सिरनाय मही तल ताईं ॥
मौलि लगे मनिनील दिपैं, प्रभु के चरणों झलकै वह झाईं ।
सूंघन पाय-सरोज-सुगन्धि, किधौ चलि ये अलिपंकति आई ॥

अर्थ—देव समूह के मुकुटों में प्रकाशमान नील रत्नों की कान्तिरूपी चंचल भ्रमरों की पंक्ति से स्पर्शित जिन शान्तिनाथ जिनेन्द्र के चरणकमल स्मरण करने मात्र से ही लोगों के पापरूप सन्ताप दूर करते हैं वे लोक के अधिनायक भगवान शान्तिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें ॥५॥

जैन शिल्प में सरस्वती की मूर्तियाँ

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

जैन सम्प्रदाय में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त समस्त देव समूह किसी न किसी रूप में अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रतीत होता है। जैनों ने सर्वोपरि स्थान तीर्थंकरों को दिया और शेष समस्त देवताओं को उन्हीं से सम्बद्ध करके उनके अनुयायी या सेवक के रूप में कल्पित किया। डॉ० भट्टाचार्य के विपरीत डा० यू० पी० शाह की धारणा है कि सरस्वती की गणना १६ विद्यादेवियों के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए, वरन् उसे स्वतत्र देवी रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहिए[1]। सरस्वती को अन्य कई नामों से भी सम्बोधित किया जाता है, यथा, श्रुतदेवता, शारदा, भारती, भाषा, वाक् वाक्‌देवता, वागीश्वरी, वाग्वादिनी, वाणी, ब्राह्मी। जैनधर्म के ज्ञान व बुद्धि की देवी सरस्वती की आराधना इस विश्व से अज्ञानता रूपी अन्धकार के नाश के लिए की जाती है। श्रुतदेवता के रूप मे सरस्वती सभी तीर्थंकरों की शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। जैन शिल्प में सरस्वती को मुख्यत: द्विभुज, चतुर्भुज या बहुभुज (षड्भुज या अष्टभुज) मूर्तिगत किया गया है। सरस्वती की विभिन्न भुजाओं मे प्रदर्शित आयुधों में वीणा (येन केन वादन की मुद्रा में), अक्षमाला, वरद या अभयमुद्रा प्रमुख है। प्रतिमाओं में देवी को सामान्यत: कमलासन पर ललितासन मुद्रा में आसीन, जिसमे देवी का एक पाद नीचे लटका रहता है, या कभी खड़ा प्रदर्शित किया जाता है। देवी का वाहन हंस, जिसका स्थान कभी-कभी मयूर भी ले लेता है, को देवी के समीप ही कहीं उत्कीर्ण किया जाता है।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त कुषाण युगीन सरस्वती मूर्ति इस समय लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में संग्रहीत (नं० २४) पर स्थित है। मूर्ति (१.६$\frac{1}{2}$"×२$\frac{1}{2}$") में द्विभुज सरस्वती को समकोण चतुर्भुज के आकार की पीठिका पर दोनों पैर ऊपर किये पलथी मारकर बैठी हुई चित्रित किया गया है[2]। शीर्ष भाग जो प्रभामण्डल से युक्त था, संप्रति भग्न हो गया है। वाम वक्षस्थल भी खंडित है। वाम भुजा में एक पुस्तक प्रदर्शित है और दाहिनी ऊपर उठी भुजा, जो संप्रति खंडित है, संभवत: अभय मुद्रा में रही होगी। कटिप्रदेश में पीले वस्त्रों से सुसज्जित है। दोनों कलाइयों में कंगन हैं। स्कन्ध वस्त्रों से ढंके हैं। दोनों पार्श्वों में एक उपासक आकृति उत्कीर्ण है, जिनकी केश रचना वृत्तों के रूप में निर्मित है। पीठिका पर कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण लेख के आधार पर इस मूर्ति को १३२ ईसवी शती मे तिथ्यांकित किया गया है। इस प्रतिमा के अतिरिक्त कुषाण युग में प्रतिष्ठित अन्य कोई उदाहरण नही प्राप्त होता। साथ ही सरस्वती प्रतिमा का गुप्त युगीन उदाहरण भी अप्राप्त है।

सरस्वती की कांस्य प्रतिमा

सरस्वती दुपट्टों और निचले वस्त्रों से युक्त कांस्य प्रतिमा वसंतगढ़ संग्रह से उपलब्ध होती है[3]। द्विभुज

---

१. Shah, U. P., Iconography of the Jain Goddess Sarasvati, Jour. University of Bombay, Vol. X (New Series) Pt. 2. Sept. 1941, p. 212.

२. Smith, Vincent A, The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, Varanasi, 1969; Bajpai, K. D., Jain Images of Sarasvati in the Lucknow Museum, Jaina Ant. Vol. XI, No. II, Jan. 1946, pp. 1-4.

३. Shah U. P., Bronze Haord from Vasantagarh, Lalit Kala, Nos. 1-2, April 1955-March 1956, p. 61.

सरस्वती की दांयी भुजा में कमल और बांयी लटकी भुजा में पुस्तक उत्कीर्ण है। देवी पूर्ण विकसित कमलासन पर खड़ी है, जिनके दोनों ओर एक मंगल कलश स्थित है। यह मूर्ति मथुरा के कुषाण युगीन उदाहरण में प्राप्त होने वाली विशेषताओं का निर्वाह करती हुई प्रतीत होती है। किन्तु कुषाण कालीन प्रतिमा के विपरीत यह चित्रण सरस्वती को खड़ा प्रदर्शित करता है। मकरमुख और सूर्यवृत्ति से अलंकृत मुकुट देवी के मस्तक पर स्थित है। पृष्ठभाग में विशिष्ट प्रभामण्डल से युक्त देवी ग्रीवा में दो हारों, एकावलि आदि अलंकरणों से सुसज्जित है। डॉ० यू० पी० शाह शैली और प्रतिमा शास्त्रीय विवरणों के आधार पर इस मूर्ति को सातवीं शती ईसवी के बाद तिथ्यांकित करना उचित नहीं समझते हैं।

ब्रिटिश संग्रहालय की सरस्वती मूर्तियां

सरस्वती की दो मनोज्ञ प्रतिमाएं संप्रति ब्रिटिश संग्रहालय मे है।[४] ग्यारहवी या बारहवीं शती में प्रतिष्ठित त्रिभग मुद्रा मे खड़ी एक मूर्ति (२६"×१४") स्टुअर्ट ब्रिज० संग्रहालय (न० ८४) से सम्बन्धित है। सम्भवत: राजपूताना से प्राप्त होने वाली इस चतुर्भुज मूर्ति में दोनों दाहिने हाथ खण्डित है। ऊर्ध्व वाम हस्त में मनिकों की माला और विचली बांयी भुजा में पुस्तक उत्कीर्ण है। इस भव्य और जीवन्त अंकन मे पृष्ठ भाग में ऊपर की ओर पाच तीर्थंकर आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। दोनों पार्श्वों मे उत्कीर्ण सेवक आकृतियों के नीचे पालथी मारे दो उपासक आकृतियों को चित्रित किया गया है जो मूर्ति के दानकर्त्ताओं की आकृतियां प्रतीत होती हैं।

दूसरी आदमकद मनोज्ञ प्रतिमा (५१"×२०") में उत्कीर्ण लेख वाग्देवी के इस चित्रण को परमार शासक भोज के शासन काल मे प्रतिष्ठित बतलाया है। भूरे रंग के प्रस्तर मे उत्कीर्ण इस अकन के लेख के आधार पर इसे १०३४ ई० मे तिथ्यांकित किया गया है। कंगन, पायजेब और कटि प्रदेश में अलंकरणो से सुसज्जित देवी विशिष्ट परिधानों से युक्त है। दाहिने भाग में दो सेवक आकृतियां उत्कीर्ण हैं जिनमें से एक के बायें हाथ में एक दण्ड प्रदर्शित है जिसे उसने द्वारपाल की तरह पकड़ रखा है और दूसरी तुन्दीली बौनी आकृति की दाहिनी भुजा में आम्र फल चित्रित है। वाम पार्श्व में पुन: एक लम्बोदर ठिगनी आकृति उत्कीर्ण है, जो सिंह पर आसीन है।

बड़ौदा संग्रहालय की सरस्वती मूर्तियां

बड़ोदा संग्रहालय में स्थित[५] एक छोटी चतुर्भुज सरस्वती प्रतिमा को त्रिभंग मुद्रा मे कमल पर खड़ा प्रदर्शित किया गया। इसकी ऊर्ध्व दाहिनी भुजा में वीणा और ऊर्ध्व वाम भुजा में पुस्तक चित्रित है। वरद मुद्रा प्रदर्शित करता वाम हस्त अक्षमाला धारण किये है और दाहिनी भुजा में एक घट अंकित है। समीप ही वामपार्श्व में उसके वाहन हंस को मूर्तिगत किया गया है। मुकुट और निचले वस्त्रों से युक्त सरस्वती के दोनों ओर चांवरधारी स्त्री आकृतियां अंकित हैं। देवी के दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण रथिकाओं में चार-चार स्त्री आकृतियां उत्कीर्ण हैं, जिनमें से दो के अतिरिक्त सभी खड़ी हैं। देवी के मुकुट के ऊपर भी एक स्त्री आकृति उत्कीर्ण है। इस प्रकार मुख्य प्रतिमा को जोड़कर १० देवियों का चित्रण करने वाले इस अकन के संबंध में डा० यू. पी. शाह की धारणा है कि ये सभी आकृतियां स्वयं सरस्वती के ही विभिन्न स्वरूपों का अंकन है, जैसा कि ग्रंथों के उल्लेखों और दो आकृतियों की भुजाओं में स्थित वीणा से भी पुष्ट होता है। दिलवाड़ा के विमल-वशही मदिर और जैन चित्रों में प्राप्त सरस्वती अंकन से तुलनात्मक अध्ययन के उपरांत डा० शाह ने इसे ११५० से १२२५ ईसवी के मध्य तिथ्यांकित किया है।

नागपुर संग्रहालय की तीर्थंकर मूर्ति :

सरस्वती की एक अन्य विशिष्ट अभिलिखित मूर्ति (६॥×४॥) जिसे अकोला जिले के रजनपुर खिनखिनी[६]

४. Chanda, Ramaprasad, Medieval Indian Sulpture in the British Museum, London 1936, p. 45.

५. Shah, U. P., Jain Sulptures in the Baroda Museum, Bull. Baroda Mus., Vol. I, Pt. II, Feb. to July 1944, p. 28.

६. Jain, Balchandra, Jaina Bronzes from Rajnapur Khinkhini, Jour. Indian Museums, Vol. XI, 1955, p. 17.

नामक स्थल से प्राप्त किया गया था, संप्रति केन्द्रीय संग्रहालय, नागपुर की निधि है। मध्यप्रदेश से प्राप्त होने वाली इस प्रतिमा मे ललितासन मुद्रा में कमल पर आसीन देवी की वाम भुजा में पुस्तक व दाहिनी मे एक संक्षिप्त दण्ड, संभवत: लेखनी प्रदर्शित है। अलंकरण विहीन यह मूर्ति निर्मिती की दृष्टि से उत्कृष्ट है। देवी के शीर्ष भाग मे पद्मासीन तीर्थंकर की आकृति उत्कीर्ण है, जो त्रिछत्र अशोक की पत्तियों और दुन्दुभि से अलंकृत है।

बीकानेर संग्रहालय की सरस्वती मूर्ति

एक अन्य मनोज्ञ और विशाल चित्रण व बीकानेर के पल्लु[७] नामक स्थल से प्राप्त होता है और सप्रति बीकानेर सग्रहालय में संगृहीत है। ११वी शती मे तिथ्यांकित श्वेत मकरान के संगमरमर मे उत्कीर्ण इस चतुर्भुज प्रतिमा (५६॥ × ३७॥) मे देवी के शीर्ष भाग में कई आकृतियां उत्कीर्ण है, जिन सबके ऊपर तीर्थंकर आकृति का चित्रण हुआ है। देवी के हाथों में सनाल कमल, पुस्तक, अक्षमाला (वरदमुद्रा और अक्षमाला) और कमण्डलु प्रदर्शित हैं। इसी प्रकार का एक अन्य चित्रण दिगम्बर मंदिर से भी उपलब्ध होता है, जिसमें सरस्वती के निचले दाहिने हाथ से वरदमुद्रा प्रदर्शित है। तारग के अजितनाथ मंदिर की उत्तरी और पश्चिमी भित्तियो पर भी मिलती जुलती आकृतियां उत्कीर्ण है।[८] जोधपुर स्थित सेवआोदी नामक स्थल से भी दो ऐसी प्रतिमाये प्राप्त होती है, जो काफी खण्डित है।[९] विमल-वशही मन्दिर के स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक अन्य चित्रण में देवी की निचली दाहिनी भुजा, जो सम्प्रतिभग्न है, में संभवतः कमण्डलु चित्रित था।[१०] इसके अतिरिक्त अन्य विशेषताएं पूर्ववत है।

७. Srivastava, V. S., Catalogue and Guide to Ganga Golden Jubilee Museum, Bikaner, Bombay, 1961, p. 13.

८. Shah, U.P., Iconography of Sarasvati, JUB, Vol. X, p. 208.

९. Loc. Cit.

१०. Loc. Cit.

राणकपुर की सरस्वती मूर्ति

द्विभुज सरस्वती का एक अन्य उदाहरण जोधपुर राज्य के राणकपुर नामक स्थल के चतुर्मुख मन्दिर से प्राप्त होता है।[११] त्रिभंग मुद्रा में खड़ी सरस्वती को दोनों हाथों से वीणावादन करते हुए चित्रित किया गया है और देवी के दाहिने चरण के समीप उत्कीर्ण हंस आकृति वीणावादन से उत्पन्न संगीतमय वातावरण में लीन प्रतीत होता है। इसी स्थल से प्राप्त होने वाली चतुर्मुज प्रतिमा में उसके निचले हाथों में अभय मुद्रा और कमण्डलु प्रदर्शित है और ऊपरी दो भुजाओं में अक्षमाला व वीणा चित्रित है।[१२] एक अन्य मूर्ति में हंस पर आरूढ़ सरस्वती आकृति को दो ऊपरी हाथ में वीणा और पुस्तक और निचले दोनों हाथों में अक्षमाला व कमण्डलु से युक्त चित्रित किया गया है। सरस्वती को हंस पर आरूढ़ चित्रित करना इस प्रतिमा की अपनी विशेषता है। एक अन्य चित्रण अचलगढ़ से उपलब्ध होता है, जिसमें देवी की भुजाओं में प्रदर्शित प्रतीकों के क्रम मे कुछ अन्तर को छोड़कर शेष बातो में यह अंकन उपर्युक्त प्रतिमाओं के समान है।

बम्बई संग्रहालय की सरस्वती मूर्तियां

सरस्वती मूर्ति के दो अन्य उदाहरण भारतीय ऐतिहासिक शोध संस्थान बम्बई (st.Xavirr's College) के संग्रहालय मे स्थित है।[१३] पहली पीतल की मूर्ति (६.८" ऊंची) में चतुर्भुज देवी को ललितासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित किया गया है। गुजरात से प्राप्त होने वाले इस अंकन में सरस्वती का वाहन हंस, देवी की बांयी गोद के समक्ष उत्कीर्ण है। ११वीं शती में तिथ्यंकित इस चित्रण में देवी की भुजाओं में अक्षमाला, कमण्डल, पुस्तक और एक विशिष्ट वस्तु (ladle) उत्कीर्ण है। देवी के दोनों

११. Shah, U.P., Iconography of Sarasvati, JUB, Vol. X, p. 199-200.

१२. Shah, U.P., ibid, p. 209.

१३. Sankalia, H.D., Jaina Iconography, New Indian Antiquary, Vol. II, 1939-40. p. 510

पार्श्वों में एक स्त्री सेविका आकृति उत्कीर्ण है, जिसके हाथ में कमण्डलु चित्रित हैं। देवी के दाहिने घुटने के नीचे सामने एक उपासक ऋषि आकृति अंकित है। दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाली दूसरी पीतल की प्रतिमा को १५वी शती में निर्मित बतलाया गया है। ४.२।। ऊंची प्रतिमा में चतुर्भुज सरस्वती को कमल पर आसीन चित्रित किया गया है जो एक वर्गाकार पीठिका पर स्थित है : पीठिका के अग्रभाग में सरस्वती का वाहन हंस उत्कीर्ण है। देवी के ऊपरी दाहिने और निचले हाथों मे अंकुश और पाश प्रदर्शित है, किन्तु शेष भुजाओं मे अक्षमाला और कोई वृत्ताकार वस्तु चित्रित है। देवी के मस्तक पर स्थित मुकुट के ऊपर कलश उत्कीर्ण है।

हैदराबाद संग्रहालय की सरस्वती मूर्ति

चतुर्भुज सरस्वती की एक अन्य खडी मनोज्ञ प्रतिमा अदिलबद जिले के महुर नामक स्थल से प्राप्त होती है,[१४] जो संप्रति हैदराबाद सग्रहालय मे शोभा पा रही है। अत्यन्त अलंकृत इस मूर्ति में देवी के हांथो मे पुस्तक, अक्षमाला, वीणा और अंकुश या वज्र चित्रित है। पृष्ठ-भाग में भामण्डल से युक्त देवी का वाहन हस पीठिका पर उत्कीर्ण है। पीठिका पर सरस्वती के दोनो ओर एक स्त्री-पुरुष आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। प्रतिमा के ऊर्ध्व भाग में दोनों ओर दो पार्श्वनाथ की आसीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनके मस्तक पर सात फणों का घटाटोप प्रदर्शित है। पीठिका पर उत्कीर्ण लेख इस चित्रण को १३वीं शती में प्रतिष्ठित बतलाया है।

इन मुख्य चित्रणों के अतिरिक्त सरस्वती की कई द्विभुज, चतुर्भुज और बहुभुज प्रतिमाए दिलवाड़ा जैन मन्दिरों, कुभारिया, देवगढ़, अचलगढ़, भरतपुर आदि स्थलों से उपलब्ध होती हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन डा० यू. पी. शाह ने किया है।[१५] इस बात के भी प्रमाण प्राप्त होते है कि सरस्वती को कुछ समय के लिए यक्षिणी के रूप में भी कल्पित किया गया था, जो स्वरूप शिल्प में, मुख्यत: मध्यभारत मे ही प्रचलित रहा है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि यक्षिणी के रूप मे विद्या और बुद्धि की देवी सरस्वती से उसका कोई सबंध नही होता है। देवगढ़ से एक ऐसा चित्रण उपलब्ध होता है जहाँ इसे तीर्थंकर अभिनन्दन की यक्षिणी के रूप में अंकित किया गया है। इस बात की पुष्टि पीठिका पर उत्कीर्ण लेख से होती है। ऐसे ही १०७० ईसवी मे तिथ्यांकित एक चित्रण में सरस्वती को छठे पद्मप्रभ की यक्षिणी के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। काफी कुछ खण्डित यह प्रतिमा ब्रिटिश सग्रहालय लदन में संगृहीत है। ●

१४. Rao, S. Hanumantha, Jainism in the Deccan, sour. Indian History, Vol. XXVI, 1948, Pts. 1-3 (Nos. 76-78), p. 47.

१५. See. U.P. Shah's Iconography of Jain Goddess Sarasvati, JUB, Vol. X, (New Series) Pt. 2, Sept. 1941, pp. 195-217.

धरती में अनाज बोते समय किसान को कुछ आत्म विश्वास की आवश्यकता होती है। वह सुन्दर मूल्यवान भविष्य पर भरोसा जो करता है। तब क्या धर्म का आचरण करने के लिये मानव को आत्म-विश्वास की आवश्यकता नहीं होती ? आत्म-विश्वास के बिना उसका धर्माचरण भी ठीक नहीं हो पाता।

क्या तू महान बनना चाहता है यदि हां, तो अपनी आशा लताओं पर नियंत्रण रख, उन्हें बे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दे। मानव की महत्ता इच्छाओं के दमन करने में है, गुलाम बनने में नहो। एक दिन आयेगा जब तेरी इच्छाएं ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी।

★

शिलालेखों में गोलापूर्वान्वय

परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय इतिहास में शिलालेखों, ताम्रपत्रों, मूर्तिलेखों, प्रशस्तियो और दानपत्रों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें उल्लिखित इतिवृत्तों से अनेक उपजातियों विद्वानों और राजाओं आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। अग्रवाल, खण्डेलवाल, और पौरपट्ट (परवार) आदि समाजों के उल्लेखों की तरह गोला पूर्व' समाज के भी अनेक महत्त्वपूर्ण लेख उपलब्ध होते हैं। जिनमें उक्त जाति के विविध वंशों के गृहस्थो और विद्वानों के नाम मिलते है। जिनसे पता चलता है कि समाज में १२वी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक के लोग धर्म कार्य मे निरत रहते थे—अपने यथेष्ट कर्तव्य का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश जबलपुर नगर के पास 'बहुरीबंद' मे १२वी शताब्दी के पूर्वार्ध का लेख शान्तिनाथ की मूर्ति के नीचे दिया हुआ है। उसमें बतलाया है कि—'वेल्ल प्रभाटिका गाँव मे गोल्लापूर्व जाति का महाभोज नाम का श्रावक था, जो माधवनन्दि के शिष्य सर्वधर का पुत्र था। उसने शान्तिनाथ का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा चन्द्रकराचार्याम्नाय देशीगण के आचार्य सुभद्र के द्वारा हुई थी[1]। गयाकर्णदेव यशःकर्ण का पुत्र था। इसने विक्रम संवत् ११७२ से १२०८ तक राज्य किया है। इसके राज्यकाल में इसका पुत्र नरसिंहदेव युवराज था। गयाकर्ण का विवाह मालवा के राजा उदयादित्य की नातिन अलहन देवी से हुआ था। जो मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह की कन्या थी। इसी के राज्यकाल में उक्त मन्दिर और मूर्ति का निर्माण किया गया था।

महोबा, खजुराहा, छतरपुर, पपौरा, मदनेशपुर (अहार) नावई, जखौरा, धुलेवा आदि स्थानों के १२वी १३वी शताब्दी के प्रचुर मूर्तिलेख पाये जाते है, जिनमे गोलापूर्व समाज के विभिन्न वंशों एवं गोत्रों के गृहस्थों के नामों का उल्लेख मिलता है और उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख पाये जाते है। जो इस उपजाति की प्रतिष्ठा एवं धार्मिक भक्ति के द्योतक है।

पपौरा के संवत् १२०२ के दोनों मूर्तिलेख चन्देलवंशी राजा मदनवर्मदेव के राज्य समय के है[2]।

महोबा के नेमिनाथ मन्दिर मे भी मदन वर्मा के समय का सवत् १२११ का एक लेख है[3]। और खजुराहो के जैन मन्दिर के स० १२१५ के एक लेख मे भी मदनवर्मा का नाम अंकित है। इसका राज्य बहुत दिनों तक रहा है। इसके राज्य के लेख संवत् ११८६ से १२२० तक के उपलब्ध है। महोबा के पास 'मदन सागर' नाम का जो तालाब है, वह इसी ने बनवाया था। यह बड़ा

---

१. स्वस्ति ····· वदि ९ भौमे श्रीमद्गयाकर्णदेव विजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भवमहासामन्ताधिपतिश्रीमद् गोल्हणदेवस्य प्रवर्द्धमानस्य। श्रीमद् गोलापूर्वाम्नाये वेल्ल प्रभाटिकामुरुकृताम्नाये तर्कतार्किक चूडामणि श्री मद्माधवनन्दिनानुगृहीतस्साधु श्री सर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः धर्मनानाध्ययन रतः। तेनेद कारित रम्य शांतिनाथस्य मंदिरं। स्वलात्यमसंज्जक सूत्रधारः श्रेष्ठि नामा वितानं च महाश्वेत निर्मितमतिसुंदरं॥ श्रीमचद्रकराचार्याम्नाय देशीगणान्वये समस्त विद्याविनयानंदित विद्वज्जनाः प्रतिष्ठाचार्य श्रीमत्सुभद्राश्चिरं जयंतु॥
—(इन्स्क्रिप्शन्स आफ दि कलचूरि चेदि॥ पृ. ३०९)

२. संवत् १२०२ आषाढ़ वदी १० बुधे श्री मदनवर्म देवराज्ये भोपालनगरवासी गोलापूर्वान्वये साहु टुडा सुत साहु गोपाल तस्य भार्या माहिणी सुत सान्तु प्रणमति नित्यं जिनेश्वरणारविंदं पुण्य प्रतिष्ठाम्'।

३. श्री मदनवर्म देवराज्ये सं० १२११ आषाढ़ सुदी ३ शनौदेव श्री नेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण। See Cunningham Report XXI पृष्ठ ७३ ए.

वार और पराक्रमी राजा था। इसने गुजरात प्रान्त के राजा को युद्ध में पराजित किया था। मदनवर्मा ने 'मदनपुर' सन् १०५५ वि० सं० १२११ मे बसाया था। वहाँ उसी समय का बड़ा जैन मन्दिर (सन् १०५५ वि० सं० १२११ का) बना हुआ है। यह मन्दिर शान्तिनाथ के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान शान्तिनाथ की साढ़े आठ फीट ऊँची एक विशाल खड्गासन मनोग्य प्रतिमा विराजमान है, जिसकी चमकदार पालिश आज भी प्राचीनता का उद्घोष कर रही है। मदनपुर में तीन ही जैन मन्दिर और तीन ही वैष्णव मन्दिर है। मदनवर्मा के राज्यकाल में अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण हुआ। जैनधर्म पर उनकी महती कृपा रही है।

छतरपुर के पचायती मन्दिर में साढ़े चार फुट की अवगाहनावाली भगवान नेमिनाथ की कृष्ण पाषाण की पद्मासन प्रशान्त मूर्ति सवत् १२०५ माघ शुक्ला पंचमी की प्रतिष्ठित है, जो उक्त मदनवर्मा के राज्य मे प्रतिष्ठित हुई है। इसी तरह आहार क्षेत्र मे समुपलब्ध अनेक मूर्तियाँ उक्त राजा के राज्य काल की—(स० १२०२, १२०३, १२०३, १२०३, १२०३, १२०६, १२१३ और १२१८ की प्रतिष्ठित पाई जाती हैं। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि उक्त राजा के राज्यकाल मे गोलापूर्व समाज द्वारा अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न हुए हैं। जिन सबको संकलित कर एक अच्छी पुस्तक लिखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त अहार में सवत् १२३७, १२३७, १२८८, १५२४, १७२० और १८६१ की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भी उपलब्ध है।

झांसी जिले के ललितपुर के पास जतारा नाम का एक गांव है, जो किसी समय अच्छा सम्पन्न कस्बा रहा है, पर वहाँ अब जैनियों के घर अल्प है और वे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। यहाँ के मन्दिर मे सब प्रतिमाएं दीवाल के सहारे विराजमान हैं। १५ प्रतिमा पद्मासन और १६ खड्गासन हैं जो भोंयरे में (तलघर मे) अवस्थित है। मन्दिर में अनेक सुन्दर व कलात्मक मूर्तियाँ पाई जाती है। भोंयरे की एक खंडित मूर्ति पर निम्न लेख पाया जाता है, जो गोलापूर्व जाति के लिए बड़े महत्व का है। लेख सं० ११६६ का है। पूरा लेख पढ़ा नही जा सका, पर जितना पढ़ा गया है वह इस प्रकार है :—

'सं० ११६६ चैत सुदि १३ सोमे गोलापूर्वान्वये साधु सिद्ध तस्य पुत्रः श्रीपाल भार्या लल्ली तयो पुत्राः श्रीचन्द्र······सुतरणमल्लः तयोः भार्या······।'

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले मे नोगांव से ५ मील की दूरी पर स्थित राज्य सग्रहालय धुबेला मे तीर्थंकरों की अनेक महत्वपूर्ण पाषाण प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं। उनमें से यहाँ तीन मूर्तियों (नेमिनाथ, मुनिसुव्रनाथ और शान्ति नाथ प्रतिमा) के प्रतिमा लेख क्रमशः नीचे दिए जाते हैं।

१ गोल्लापूर्वकुलेजातः साधुर्वा [ले] [गुणा]न्वितः :— तस्य देवकरो पुत्रः पद्मावतीप्रिया प्रियः ।.[१।।]तयोर्जातो सुतौ सि (शि)—

२ स्तौ(ष्टौ) सी(शी)ल व्रत विभूषितौ ।।[२।।] मल्हणस्य व [धूरासील्प] त्यसी (श)ला पतिव्रता। श्रेष्ठि वीवी तनूजा च प्रबुद्धा बि(वि) नयान्विता [।।३।।] लष्म (क्ष्म) णाद्यास्तया जाताः पुत्राः गुण [गणान्विताः]

३ ·········ढ्या जिनचरणाराधनोद्यताः ।।[४।।] कारितश्च जगन्नाथ [नेमि] नाथो भवांतकः। श्रै [लोक्यश] रणं देवो जगन्मंगलकारकः।: [५।।] सम्वतु (त) ११६६ वैशाख सुदि रवौ रो[हिण्याम्]।

यह लेख कृष्ण पाषाण की मस्तक विहीन नेमिनाथ प्रतिमा के पाद पीठ पर स्थित है। जिसमें उसकी प्रतिष्ठा कराने वाले के परिवार का परिचय अंकित है। इस लेख का उद्देश्य गोलापूर्व कुल के साधु वाले के पुत्र देवकर के पुत्र मल्हण के द्वारा वि० स० ११६६ मे वैशाख सुदि द्वितीया रविवार के दिन भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। देवकर के दो पुत्र थे मल्हण और जल्हण। सेठ वीवी मल्हण के ससुर थे। मल्हण के तीन पुत्र थे जिनमें लक्ष्मण सबमें ज्येष्ठ था।

दूसरा लेख भी उक्त सं० ११६६ वैशाख सुदि २ रविवार का है, जिसमे बतलाया है कि गोलापूर्व कुल मे समुत्पन्न श्रीपाल के पुत्र जील्हक के पुत्र सुल्हण द्वारा २०वें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ की प्रतिमा की जो काले

४. देखो, मध्य भारत का जैन पुरातत्व नाम का मेरा लेख, अने० का छोटेलाल जैन विशेषांक पृ० ६३।

पाषाण की पद्मासन है। प्रतिमा का ऊपरी भाग खण्डित है। प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख है। सुल्हण की माता रुक्मणी और पत्नी का नाम श्री था। मूल लेख निम्न प्रकार है :—

१. गोलापूर्व कुले जात: साधु श्रीपाल संज्ञक:। तत्सुतो जनि जीण्हक: समग्र गुणभूषित: ।।[१।।]

२. रुक्मिण्यां जनितस्तेन सत्पुत्र: सुल्हणाभिध:। श्री संज्ञिका प्रियातस्य समग्रगुण धारिणी ।।[२।।] मुनि सुव्रतनाथस्य बिंबं (बिम्बा) त्रैलोक्य—

३. पूजित: कारित सुल्हणेदमात्मश्रियेमिव वृद्धये ।।[।।३।।] संवत ११[६६] वैशाख सुदि २ रवौ ।।

यह प्रतिमा भी काले पाषाण की कायोत्सर्गात्मक है। जिसे गोला पूर्व जाति में समुत्पन्न धर्मवत्सल स्वयंभू के दो पुत्र थे, स्वामी और देवस्वामी। देव स्वामी के दो पुत्र थे, शुभचन्द्र और उदयचन्द। देवस्वामी और उसके दोनों पुत्रों ने शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा कराई। यह लेख सं० १२०३ का चंदेलवंशी राजा मदनवर्म्मदेव के राज्य-काल का है। लेख की तीसरी पंक्ति में दुम्बर अन्वय के साहु जिनचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र और हरिश्चन्द्र के पुत्र लक्ष्मीधर शानिनाथ को सदा प्रणाम करते हैं।

३-१—सिद्ध गोलापूर्वान्वये साधु: स्वयंभू धर्म-वत्सल:। तत्सुतौ स्वामिनामा च देवस्वामि गुणान्वित: ।। [।।१।।] देवस्वामि—

२. सुतौ श्रेष्ठौ सु(शु)भचन्द्रोदय चन्द्रक: (कौ)। कारितं च जगन्नाथ शान्तिनाथो जिनोत्तम: ।।[।।२।।] धर्म्मासे(शे)पि १४।

३. तथा दुम्बरान्वये साधु जिनचन्द्र तत्पुत्र हरिश्च[न्द्र] तत्सुत लक्ष्मीधर श्री सा(शा)न्तिनाथं प्रणमति

४. लक्ष्मीधरस्य धर्म्मसधिज श्री मदनवर्म्मदेव राज्ये सं० १२०३ फा:० सुदि ६ सोमे।

गंज वासौदा मध्य प्रदेश के विदिशा (भेलसा) जिले की एक तहसील है। जो मध्य रेलवे के बीना-भोपाल सेक्सन पर स्थित है। यहाँ व्यापार की अच्छी मण्डी है। यह नगर १४वी से १६वी शताब्दो तक खूब सम्पन्न रहा है। यहाँ जैनियों का अच्छा प्रभाव रहा है। यहाँ ५-७ मन्दिर हैं अच्छा शास्त्र भण्डार है यहां अनेक विद्वान और स्वाध्याय प्रेमी सज्जन रहे हैं। वृती ब्रह्म रायमल जी को भी यहाँ रहने का अवसर मिला है। लोगों मे धार्मिक लगन है। यहाँ के मन्दिरों में जो मूर्तियों का परिकर है उसमें गोलापूर्व, पौरपाट (परिवार) और गोलालारे अग्रवाल बघेरवाल और जैसवाल हूमडवंश लककचुक आदि जातियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां और यत्र हैं। कुछ मूर्तियां ऐसी भी हैं। जो अन्य-अन्य स्थानों मे प्रतिष्ठित हुई हैं, वे भी यहाँ विराजमान हैं। इस सब से वासौदा की महत्ता पर अच्छा प्रकाश पडता है। उनमें से यहाँ गोलापूर्वो से सम्बन्धित कुछ मूर्तिलेख यत्रलेख नीचे दिये जाते है :—

'सं० १३१६ में जेठ वदी ५ पंचमी सोमवार को गोल-पूर्व गोत्र (जाति) के पडित काल्हासाह और उनकी पत्नी गौडलनी के पुत्र चौ० चाकलिया और संघवी लोटा भार्या बाल्दे पुत्र गंगा पुत्री भान्ती नित्य ही प्रणाम करते है। यह लेख इस जाति के महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि यह विक्रम की १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ का है, उस समय भी गंज वासोदा की ख्याति थी। इस शताब्दी की और भी अनेक मूर्तियां होनी चाहिए, जिसके लिए मूर्ति लेखों का संकलन होना बहुत जरूरी है। बाकी लेख १६वीं १७वीं शताब्दी के हैं।

"सं० १३१६ जेठ वदी ५ सोमे गोलापूर्वगोत्रे पं० काल्हा साह भार्या गौडलनी पुत्र चौ० चाकलिया सं० लोटा भार्या बालदे पुत्र गगा पुत्री भान्ति नित्यं प्रण-मति।"

"संघ १५१५ फागुन सुदी ६ रवौ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्र देवास्तदाम्नाये गोलापूर्व नीरा·········।"

"सं० १५२४ चैत्रवदी १ शुक्रे भ० श्रीसिंहकीर्ति तदाम्नाये गोलापूर्वान्वये साहु लजेडा भार्या छोसिरि पुत्र पटवारी चांदन भ्राता साखमा पटवारी भादे तस्य भार्या साध्वी दिउला पुत्रसाह नेनसी पुत्र कौरसी सा० लाहा भार्या साध्वी घनसिरि प्रणमति ।।

यंत्रलेख—सं० १५३७ फागुन सुदी १३ मूलसंघे भ० पद्मनन्दी भ० शुभचन्द्र भ० जिनचन्द्र तदाम्नाये मडलाचार्य श्री सिंहनन्दी तदाम्नाये गोलापूर्वाम्नाये सा० पसा भा० रजा तस्या: कुक्षौ समुत्पन्ने पुत्र भरुहास: भा० छोला

कनिष्ठ भदुचंद भा० घोमा, अरुहदास पुत्र ५……। अरुह दास: प्रणमति ।

"सं० १५४१ सोमे श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ० पद्मनन्दी देवा, तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे श्री जिनचन्द्रदेवा मडलाचार्य श्री सिंहनंदि देवा तस्याम्नाये श्री गोलापूर्वान्वये चौधरी बीघा भा० महाश्री पुत्र चौधरी फूला द्वि० पुत्र घनपा तृ० पु० जिना चतु० पुत्र घरमसी पूला पंचपरमेष्ठी यंत्र कारितं ।।"

"सं० १५४१ वर्षे फाल्गुणसुदि ५ मंगलदिने भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव तस्स चेली बाई उदैसिरि, गोलापूर्वान्वये लिखितं यंत्र । सिद्ध शुभं भवतु मंगलं प्रणमति नित्यम् । (वासौदा बीचिका मदिर)

सं० १६६४ वैशाख सुदी ६ गुरौ भ० ललितकीर्ति भ० घर्मकीर्ति उपदेशात् तस्य शिष्य प० गुनदास गोलापूर्वान्वये कोठिया गोत्रे स० नेमिदास भार्या कुटरि पुत्र ४, जेठा पुत्र खड्गसेन भा० मादनदे द्वि० पुत्र सं० कासोरदास भा० लालमति पुत्र प्रताप भा० खेमावति तृतीय पुत्र सं० हरखौल भा० मायावे पुत्र मानसिंह, चतु० पु० सं० जगपति नित्यं प्रणमति ।

सं० १५४१ का० सु० १४ सोमे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाम्नाये भ० श्री पद्मनन्दी शुभचन्द्र जिनचन्द्र तदाम्नाये मंडलाचार्य श्री सिंहनन्दी तस्याम्नाये गोलापूर्वान्वये साह रजा भा० पदमशिरि पुत्र साह महाराज भा० मनी पुत्र घनपाल भा० भजो पुत्र नरपति भा० गालसी द्वि० पुत्र रतनसी भा० प्योसिरि तृ० पुत्र जयसिंह घनपारेण यंत्र कारापितं (वासौदा बूढ़ेपुरा मन्दिर)।

इनके अतिरिक्त अनेक स्थानों के मन्दिर है जो गोला पूर्व समाज के पूर्वजों द्वारा बनवाए हुए है। इन बातों से इनकी समृद्धि का आभास सहज ही मिल जाता है।

जैन समाज की ८४ उपजातियो से बुंदेलखण्ड में तीन उपजातियाँ मध्य प्रान्त में निवास करती है। उनमे से यहाँ सिर्फ गोलापूर्व जाति के सम्बन्ध मे ही विचार किया जाता है। उपजातियों का इतिवृत्त १०वी शताब्दी से पूर्व का नही मिलता। इन उपजातियों में कितनी ऐसी भी जातियाँ थी जिनका उल्लेख पूर्व में था, बाद में विनष्ट हो जाने से उनका इतिवृत्त नहीं मिलता। कितनी ही जातियों का उल्लेख प्रशस्तियों और मूर्तिलेखों में मिलता है। पर उनका कोई परिचय नहीं मिलता। ये उपजातियाँ ग्राम नगरादि के नाम पर बसी है। जैसे अग्रोहा से अग्रवाल, खण्डेला से खण्डेलवाल, पद्मावती से पद्मावतीपुरवाल, बघेरा से बघेरवाल आदि। पर अधिकांश जातियों का मूलरूप क्षत्रियत्व है, बाद में व्यापार आदि करने के कारण ये वैश्य या वनिया एवं वणिक् कहलाने लगे।

इस जाति का निकास कब और कैसे हुआ, यह अभी अज्ञात है। उपलब्ध हो जाने पर इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी बाद में दी जा सकेगी। गोला पूर्वों का निकास गोल्लागढ से हुआ है। गोल्लागढ़ की पूर्व दिशा में रहने वाले गोलापूर्व कहलाये। गोल्लागढ़ के समीप रहने वाले गोलालारे और गोल्लागढ़ में सामूहिकरूप में निवास करने वाले 'गोलसिघारे' कहे जाते हैं। गोल्लागढ़ एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। जो पहले ग्वालियर स्टेट में था और अब खनियाधाना स्टेट मे अवस्थित है। यहाँ के जैनियो द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती है।

कविवर नवल शाह ने अपने वर्द्धमान पुराण मे 'गोइलगढ़' से गोलापूर्वों की उत्पत्ति बतलाई है। किन्तु वह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। कवि ने गोलापूर्वों के जो गोत्र बतलाए हैं, उनमे कई गोत्र ऐसे हैं जो गाँव या नगर के नाम पर बने हैं। उदाहरण के लिए चदेरिया' भरत पुरिया, हीरा पुरिया, कनक पुरिया, सिरसपुरिया, घमोनिया और भिलसैया। इनके अतिरिक्त और भी कई गोत्र ऐसे हो सकते हैं जो गाँव या नगर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

इस जाति के लोगों का निवास मध्य प्रदेश में अधिक पाया जाता है। सागर, दमोह, जबलपुर जिलों के ग्रामों में भी निवास उपलब्ध है। शाहगढ़, हीरापुर, तिगोडा, भंगवा, कारीटोरन, नीमटोरिया, गढ़ा कोटा सुनवाहा, रूरावन, निवार, वक्स्वाहा, बमोरी, खड़ेरी छतरपुर, पन्ना, कटनी, सीहोर, भोपाल आदि अनेक छोटे बेड़े स्थानों में इस जाति की आबादी पाई जाती हैं। हाँ, सभी स्थानों के मन्दिर शिखर बन्द पाये जाते हैं। पर उन

गाँवों में उनका विकास जैसा चाहिए वैसा न हो सका।

संसार के परिणमनशील होने से प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय परिणमन भी होता रहता है। सुख दुख, उत्थान और पतन की अवस्थाएँ प्रत्येक पदार्थ में होती है। समाज के कर्णधारो को चाहिए कि वे सामाजिक स्थिति का अध्ययन करे, उनमे संगठन और प्रेम भावना को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

समाज मे अनेक ग्रन्थकार हुए होगे और वर्तमान में हैं। यहाँ गोलापूर्व समाज के कुछ ग्रन्थ और ग्रन्थारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

हरिषेण चक्रवर्ती का जीवन परिचय अंकित करने वाले कई ग्रन्थ संस्कृत और अपभ्रंश भाषा मे पाये जाते हैं। प्रस्तुत हरिषेण कथा के कर्ता कवि शंकर हैं इसमे हरिषेण चक्रवर्ती के जीवन परिचय के साथ उनके पुत्र हरिवाहन का जीवन परिचय भी अंकित किया है और हरिवाहन का कैलाश पर्वत पर दीक्षा लेने तथा तपश्चरण द्वारा आत्म साधना करने का भी उल्लेख किया है। जो मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के विद्वान थे और भीमदेव पंडित के पुत्र थे। इनकी जाति गोलापूर्व थी। कवि ने ग्रन्थ मे दो भट्टारको का नामोल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति। यह प्रभाचन्द्र दिल्ली पट्ट के विद्वान थे जो अजमेर के भट्टारक पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। और जिनका प्रतिष्ठोत्सव दिल्ली मे हुआ था। कथानक बड़ा सुन्दर और मनमोहक है। ग्रंथ मे ७११ पद्य है। किन्तु गुच्छक अपूर्ण, जीर्ण और अशुद्धियों से भरा हुआ है। इसके संपादनार्थ दूसरी प्रति की आवश्यकता है। जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है। कवि ने इस ग्रन्थ को वि० स० १५२६ भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा सोमवार के दिन पूरा किया है[1]। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

सुखदेव—गोलापूर्व जाति के पचविसों में बिहारीदास के पुत्र थे[2]। उनकी एक ही कृति 'वनिकप्रिया प्रकाश' है। जिसका रचनाकाल सं० १७६७ है। पुस्तक मे व्यापार सम्बन्धी वस्तु के क्रय-विक्रय की शुभ-अशुभ बातों का समावेश किया गया है, जैसा कि निम्न पद्यो से प्रकट है;—

> वनिक प्रिया में शुभ अशुभ सबही दियो बताइ।
> जिहि जैसी नीकी लगै तैसी कीजो जाइ ॥३२०
> संवत सत्रहसै सत्रह वरष संवत्सर के नाम।
> कवि करता सुखदेव कहि लेखक मायाराम ॥३२१

भव्यानन्द पंचाशिका[3]—यह आदिनाथ स्तोत्र (भक्तामर स्तोत्र) का पद्यानुवाद है, जो हिन्दी भाषा में किया गया है और जिस पर ग्वालिरी भाषा की पुट है। इसकी एक सचित्र प्रति, जो सं० १६६५ की लिखी हुई है। श्वे० मुनि कान्तिसागर के पास थी[4]। प्रति जीर्ण-शीर्ण है। मुनि जी ने लिखा है कि "यह दुर्लभ अनुवाद है, जिसकी यह एक मात्र प्रति उपलब्ध हो सकी है। इसका समुल्लेख अद्यावधि प्रकाशित किसी भी हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास मे नही हुआ। अनुवाद बहुत ही मधुर और ग्वालिरी भाषा के प्रभाव को लिए हुए है।" अत. जितना महत्व इस कृति का धार्मिक दृष्टि से है उससे कही अधिक भाषा की दृष्टि से है।

ग्वालियर मंडल की भाषा के मुख को उज्ज्वल करने

---

१. संवत् पन्द्रह सइ हो गए,
   वरिस छव्वीस अधिक तह भए।
   भादवसुदि परिवा ससिवार,
   दिक्खा परवु तह अक्खिउ सार।
   अब यह कव्वु संपूरण भयउ,
   सिरि हरिषेण संघ कह जयउ॥

२ दोहा—गोला पूरव पचविसे वारि विहारीदास।
   तिनके सुत सुखदेव कहि वनिकप्रिया प्रकाश ॥२
   वनिकनि को वनिक प्रिया भडसारिका हेत।
   आदि अन्त श्रोता सुनो, मनो मत्र सो देत ॥३
   माह मास कातक करै, सेवतु सोधै साठ।
   मते याह के जो चले कबहू न आवे घाट ॥४

३. "धनुदास हू सो देव सें निरु कजारै कही,
   भव्यानन्द स्तुति पचाशिका का नामु है ॥"४६

४. इस हिन्दी पद्यानुवादकी एक सचित्र प्रति ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन व्यावर में मौजूद है। जिसका भाषा पद्यानुवाद सन्मति सन्देश वर्ष ११ अंक दो-तीन में छप चुका है।

वाली अधिकतर रचनाएँ जैनोंकी देन हैं। अनुवाद की भाषा पर दृष्टि केन्द्रित करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि धनराज या धनुदास ने मंडलीय भाषा का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी से काम लिया है। इसका शब्द चयन अद्‌भुत है। क्या मजाल है कि कठिन शब्द आ जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि को संस्कृत और तात्कालिक मंडलीय भाषा पर अच्छा अधिकार था। भावों के व्यक्त करने में कहीं भी शैथिल्य नहीं आने दिया है।

भव्यानन्द पचाशिका के अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि कवि ने भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य का एक-एक दिन में अनुवाद किया है।

"एक-एक काव्य को सवैया एकु एकु कै कै,
एकु एकु वासर में एकु-एकु नितको।
द्वय कर जोरि धनराज कहै साधनि सौं,
असाधु समुद्ध कीजौ जानि मन हित सौं॥

अडतालीस पद्य तो मूल भक्तामर स्तोत्र के पद्यानुवाद के हैं और अन्त के दो पद्यों में अपने विषय में स्वल्प संकेत किया है। जिससे जान पडता है कि कवि के पिता का नाम 'राजनंद' था और वह ग्वालियर मंडलान्तर्गत स्योपुर (शिवपुरी) के निवासी थे। उनकी जाति गोला-पूर्व थी। धनराज या धनदास का परिवार संस्कृत साहित्य में रुचि रखता था। खड्‌गसेन ने लिखा है कि धनराज के पाँच भाई थे, जिनके नाम गोपाल, साहिब, हंसराज आदि हैं। उन सब में धनराज कवि धीर और अनेक गुणों का आकर था। ("तेषां मध्ये कविर्धीरः धनराजो गुणालयः") प्रस्तुत खड्‌गसेन (असिसेन) धनराज के पितृव्य श्री जिन-दास का पुत्र था—"जिनदाससुतोऽसिसेनः)। असिसेन संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान था। उसने भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य पर पन्द्रह-पन्द्रह पद्यों की जयमाला लिखी है।

भक्तामर स्तोत्र जयमाला—इसमें भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य का अनुवाद १५-१५ पद्यों में किया गया है। अनुवाद बड़ा ही सुन्दर और सरस है। कवि का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार था। कवि की जाति गोलापूर्व है और वह धनराज के पितृव्य जिनदास के पुत्र थे। उनका नाम असिसेन या खड्‌गसेन था। ग्रन्थ में असिसेन नाम से उल्लेख किया गया है।

कवि धनराज या धनुदास ने अपना उक्त हिन्दी पद्यानुवाद संवत १६७० में स्योपुर में पूर्ण किया था। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

"संवतु नवसै सात सात पर सुन धीर,
पउष सिता तु गुरती····· कीयो कत को।
स्योपुर थानक विराजे राजनन्द धनुदास,
ताको मनु भयो भवि शिक्षामृत को॥"

असिसेन ने संस्कृत पद्यों की जयमाला कब बनाई, उसका समय ज्ञात नहीं हुआ।

अनुवाद हो चुकने के २४ वर्ष बाद सं० १६६४ में मनोहरदास कायस्थ द्वारा प्रति में ५० चित्र बनाये गये हैं। जिनमें ४८ चित्र तो ४८ काव्यों के हैं। चित्र कला की दृष्टि से स्योपुर के इतिहास में—ग्वालियर मंडल के चित्र कम महत्व के नहीं हैं। यद्यपि ये चित्र मुगल शैली शाहजहाँ के समकालीन हैं। चित्र पूरे पत्र पर हैं। मध्य में जहाँ कहीं भी स्वल्प स्थान मिला, भक्तामर के मूल पद्य दिये हैं और अधोभाग में धनराजकृत अनुवाद दिया है।

प्रथम चित्र में ऊपर के भाग में मानतुंगाचार्य एक चौकी पर विराजमान हैं जिनके सम्मुख कमण्डल अवस्थित है, पृष्ठभाग में 'अहं मानतुंगाचार्यः' शब्द अंकित है आचार्य करबद्ध प्रार्थना की मुद्रा में भगवान ऋषभदेव की स्तुति कर रहे हैं। सामने ही उनकी खड्‌गासनस्थ नग्न प्रतिकृति अंकित है। चरणों में उभय ओर मुकुटधारी अमर नत मस्तक हैं। मध्य में 'भक्तामर प्रणतमौलिमणि प्रभाणा' पद आलेखित है। ऋषभदेव के बाएं हाथ के पास देव-ताओं के मस्तक में धारित मुकुट की मणियों की प्रभा बिखर रही है। ऋषभदेव के चित्र के बायें भाग में चौगति का चित्रण है, ऊपर 'आलम्बनं' और निम्न भाग में 'भवजले पतिताजनानां' प्रतिलिपित है। पत्र के नीचे भाग में 'दलित पापतमोवितान' लिखकर काले रंग से समुद्र बनाया गया है जिसमें एक मानवाकृति तैरती हुई बतलाई गई है।

इस तरह चित्र में प्रथम पद्य का सम्पूर्ण भाव खूबी के

साथ दर्शाया गया है जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता है।

इस तरह प्रत्येक चित्र भी भावपूर्ण हैं और पद्यगतभाव को प्रस्फुटित करने वाले हैं। सभी चित्र दिगम्बर मुद्रा के परिचायक है। ४८ चित्र मूल रचना के है। ४९वा चित्र धनराज का है जो अपने गुरु से इसका पाठ सुन रहे हैं। एक विशाल व्यास की पीठ पर किसी मुनि का चित्र है और सामने पांचो बन्धु जिज्ञासा की मुद्रा मे करबद्ध अवस्थित है। यह चित्र श्वेत रंग का है। शेष सभी चित्र रगीन है। यद्यपि भक्तामर की सचित्र प्रतियाँ और भी मिलती हैं, परन्तु वे बाद की है। यह ग्रन्थ गोलापूर्व समाज की महत्त्वपूर्णकृति है। इसके संरक्षण का उपाय गोलापूर्व समाज को करना आवश्यक है। यह समाज का दुर्भाग्य है कि वे अपने पूर्वजों की कृतियो का भी सरक्षण नही कर सकते। आशा है कि समाज ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियों के संरक्षण में सावधान होगा। इस प्रति का इस लिए महत्त्व अधिक है कि उसे अनुवाद कर्त्ता धनराज ने स्वय १६६५ मे लिखवाई थी। यह प्रति स्व. मुनि कांति सागर जी के सग्रहालय में सुरक्षित थी।

वर्धमान पुराण—के रचयिता कवि नवलशाह हैं। वे भी गोलापूर्व जाति मे उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र प्रजापति था और बैंक बड चंदेरिया था। इनके पूर्वज पहले भेलसी ग्राम मे रहते थे जो ओरछा स्टेट में स्थित था उनमे भीषम साहु प्रसिद्ध थे। उनके चार पुत्र थे—वहोरन सहोदर, अहमन और रतनशाह। एक दिन पिता और पुत्रो ने विचार किया कि धन का सदुपयोग करने के लिए कुछ धार्मिक कार्य करना चाहिए। तब सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया गया और जिन मूर्ति प्रतिष्ठित की गई। और पंच कल्याणक रथोत्सव प्रतिष्ठा धूमधाम से सम्पन्न हुई। चार संघ को दान दिया गया। उस नगर का चौधरी लोघी था। उसने और चतुर्विध सघ ने भीषम साहु को 'सिघई' का पद प्रदान किया। यह घटना संवत् १६५१ के अगहन महीने मे घटित हुई थी। उस समय बुन्देलखण्ड मे नृप जुझार का राज्य था, इनके पिता वीरसिह देव बड़े पराक्रमी और सुयोग्य शासक थे। धामोनी, झांसी और दतिया के किले इन्होने ही बनावाये थे। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न दोहे से प्रकट है:—

सौरह सौ इक्यानवे अगहन शुभ तिथिवार।
नृप जुझार बुन्देलकृत तिनके राज मंझार॥ ३०२

राजा जुझारसिह वीर सिहदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे। उनकी मृत्यु सं० १६८४ मे हुई थी। उस समय ओरछे का राज्य बहुत विस्तृत था।

पश्चात् कवि के पूर्वजन भेलसी ग्राम को छोड़कर गज मलहरा के पास खटोला नामक ग्राम मे बस गए थे। वही पर कवि ने १७४ वर्ष बाद सवत १८२५ में चैत्र शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन प्रातःकाल वर्द्धमान पुराण या चरित की रचना की।

कवि ने आ० सकलकीर्ति के वर्द्धमान पुराण के अनुसार पद्यात्मक रचना की है। जिसमे भगवान महावीर के जीवन की झाकी का चित्रण किया गया है। ग्रंथ में महावीर जीवन की कोई खास घटना का उल्लेख नहीं है, इस कारण उसमें कुछ नवीनता नही दिखाई देती। हाँ, उसमे यथास्थान जैन सिद्धात का विवेचन किया गया है। उसमे काव्यगत विशेषता है। ग्रन्थ में १६ अधिकार है। जिनमे महावीर के पूर्वभवो से लेकर महावीर जीवन तक वर्णन दिया है।

कवि ने इस ग्रन्थ को राजा छत्रमाल के पती, हृदयशाह के नाती और सभासिह के द्वितीय पुत्र हिन्दूपत[1] के राज्य मे रचना की है जैसा कि उसके निम्न दोहे से प्रकट है :—

छत्रसाल पंती प्रबल नाती श्री हृदयेश।
सभासिंघ सुत हिन्दूपत, करहिं राज्य इहि देश॥३११
ईति भीति व्यापं नहीं, परजा अति आनन्द।

---

१. हृदयशाह का स्वर्गवास १७६६ मे हुआ। उनके नौ पुत्रो मे सभासिह सबसे बड़ा था। सभासिह ने सं० १७६६ से १८०६ तक राज्य किया। सं० १८०६ मे वह दिवगत हो गया। सभासिह के तीन पुत्र थे, अभर्वासिह, हिन्दूपत और खेतसिह। सं० १८१५ में हिन्दूपत ने अमानसिह को मरवा दिया और आप राजगद्दी पर बैठ गया। हिन्दूपत सं० १८३४ में दिवगत हुआ। इसने ६ वर्ष राज्य किया।

भाषा पढ़ै पढ़ावही खटपुर श्रावक वृन्द ।।३१२

ग्रंथ रचना में प्रेरक—

गोलापूर्व समाज के पूर्वज धर्मनिष्ठ व्यक्तियों ने जहाँ देव-गुरु की भक्ति द्वारा जिन मदिर निर्माण, जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, रथोत्सव और चतुर्विध सघ को दानादि का परिचय दिया है। वहा उन्होंने श्रुतभक्ति को भी नहीं भुलाया। अनेक ग्रन्थ रचे और और दूसरे विद्वानों से बनवाकर मंदिरादि में भेंट दिये हैं, और लिखकर या लिखवाकर व्रतीपात्रों को भी प्रदान किये है। इससे उनकी श्रुतभक्ति भी प्रकट है। यहां ग्रंथ बनवाने का एक उदाहरण मात्र दिया जाता है—

केवल कल्याणार्चा (समवसरण पाठ) की रचना कविवर रूपचन्द जी ने सवत् १६६२ मे की थी[1]। पंडित रूपचन्द जी भट्टारकी पडित होने के कारण पांडे कहलाते थे। वे कुरु नाम के देश में स्थित सलेमपुर के निवासी थे। अग्रवालान्वयी मामट के पाँच पुत्रों मे से एक थे। आपका संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था। आपकी यह कृति बड़ी सुन्दर है। प्रस्तुत ग्रन्थ चकत्तान्वयी शाह जहाँ के राज्यकाल मे रचा गया है।

कुन्दकुन्दान्वय मे नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के भट्टारक सिंहकीर्ति धर्मकीर्ति के पट्टधर भारती-भूषण जगत्भूषण हुए। जो ग्वालियर के पट्टधर और अच्छे विद्वान थे। उन्ही की आम्नाय मे गोलापूर्ववंश में दिव्य-नयन हुए। उनकी पत्नी का नाम दुर्गा था। उससे दो पुत्र हुए, केवलसेन और धर्मसेन। दिव्यनयन के द्वितीय पुत्र मित्रसेन की पत्नी यशोदा से भी दो पुत्र उत्पन्न हुए। प्रथम पुत्र परम प्रतापी एव यशस्वी भगवानदास का जन्म हुआ, जो सघ का नायक और धर्मात्मा था। दूसरा पुत्र 'हरिवश' भी धर्मप्रेमी और गुण सम्पन्न था। भगवानदास की पत्नी का नाम केशरिदे था। उससे तीन पुत्र हुए। महासेन, जिनदास और मुनिसुव्रत। सघाधिप भगवान दास ने जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा करवाई थी। और सघराज की पदवी प्राप्त की थी। वह दानमान मे कर्ण के समान था। इन्हीं भगवानदास की प्रेरणा से पडित रूपचन्दजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ समवसरण पाठकी रचना की है। इसमें कवि ने भगवानदास की जो प्रशसा की है वह अतिशयोक्ति को लिए हुए है।

1. श्रीमत्सवत्सरेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्येऽतीतेदृगनंदभद्रांशुकृत परिमिते (१६६२) कृष्णपक्षेष (?) मासे देवाचार्यप्रचारे शुभनवमतिथौ सिद्ध-योगे प्रसिद्धे, पौनर्वस्वित्पुडस्थे (?) समवसृति मह प्राप्तमाप्ता समाप्ति ।।३४।।

उपदेशी पद

कविवर द्यानतराय

मिथ्या यह संसार है, झूठा यह संसार है रे ।।टेक।।
जो देही षट्रस सों पोषै, सो नहिं सग चलै रे।
औरन को तोहि कौन भरोसो, नाहक मोह करै रे ।।१
सुख की बातें बूझै नहीं, दुखको सुक्ख लखै रे।
मूढो माहीं माता डोलै, साधौं पास डरै रे ।।२
झूठ कमाता झूठी खाता, झूठी जाप जपै रे।
सच्चा साईं सूझै नांहीं, क्यों करि पार लगै रे ।।३
जमसों डरता फूला फिरता, करता मै मैं मैं रे।
द्यानत स्याना सो ही जाना, जो प्रभु ध्यान धरै रे ।।४

शोध कण

श्री नीरज जैन

(१)

अनेकान्त के गत अंक (वर्ष २४ किरण १) में श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी के लेख "जैन शिल्प में बाहुबली" के अन्तिम पैरा में बाहुबलि एवं भरत के अंकन या चित्रांकन का प्रसंग आया है। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि प्राचीन पाषाण कला कृतियों में दो जगह मुझे भगवान आदिनाथ के साथ भरत और बाहुबली की प्रतिमाएँ एक ही शिला-फलक पर प्राप्त हुई हैं।

(१) मड़ावरा (जिला झांसी उ० प्र०) के बजार के मन्दिर में सिरोन से लाई गई एक प्रतिमा बीच की वेदी पर प्रतिष्ठित है जिसमें बीचोंबीच भगवान आदि जिनेन्द्र विराजमान हैं तथा उनके दोनों ओर बाहुबलि और भरत का अंकन है। भरत-बाहुबलि दोनों ही मोक्षगामी महापुरुष थे और प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के शासन काल में ही कर्म कालिमा से विनिर्मुक्त होकर सिद्ध लोक में विराजमान हो गए थे। इसलिए अरहन्त अवस्था की उनकी प्रतिमा बनाने या पूजे जाने में कोई शास्त्रीय विरुद्धता नही आती।

(२) कलचुरी राजाओं की कला-क्रीडास्थली बिलहरी (जिला जबलपुर म० प्र०) में ग्राम के बाहर स्कूल के पास एक छोटे से वीरान मन्दिर में किसी प्राचीन मन्दिर की द्वार शिला (चौखट) लगी हुई है। यह चौखट कलचुरी कालीन किसी आदिनाथ मन्दिर की है। इस पर सुन्दर और कलापूर्ण तक्षण किया गया है। इस द्वार के ऊपरी भाग में, ललाट बिंब की तरह, तीन प्रतिमाओं का अंकन हुआ है। बीच में युगादिदेव भगवान आदिनाथ विराजमान हैं। एक ओर लता बेल और व्यालों से आवेष्ठित महायोगी बाहुबलि का अंकन है और दूसरे किनारे पर भरत को प्रतिष्ठित किया गया है। यहां भरत को भी बाहुबलि की ही तरह अरहन्त अवस्था में ध्यानारूढ़ खड्गासन दिखाया गया है। उनकी पीठिका में लांछन की जगह पर चक्र अंकित है जो इस बात का सहज ही ज्ञान करा देता है कि ये कोई तीर्थकर नहीं है वरन् आदि देव के सुपुत्र और बाहुबली के भ्राता, चक्रवर्ती सम्राट् भरत ही हैं।

इस प्रकार भरत बाहुबलि का अंकन पाषाण प्रतिमाओं में भी प्राप्त हुआ है। शोध करने पर संभव है अन्यत्र भी ऐसे शिल्पावशेष प्राप्त हों।

(२)

अनेकान्त वर्ष २४ किरण १ के इसी अंक में श्री कस्तूरचन्द "सुमन" एम. ए. का लेख—"**त्रिपुरी की कलचुरी कालीन जैन प्रतिमाएं**"—एक सुन्दर लेख है। सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय है।

(१) त्रिपुरी की जिन जैन प्रतिमाओं का लेख में वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त अन्य अनेक कलचुरी कालीन जैन प्रतिमाएं वर्तमान तेवर ग्राम में व उसके आस पास बिखरी पडी हैं।

मुनि कान्तिसागर वाले मूर्ति संग्रह में, जो सम्प्रति संभवतः जबलपुर के शहीद स्मारक मे कहीं दबा पड़ा है,

त्रिपुरी से प्राप्त अनेक सुन्दर जैन प्रतिमाएं थी । अभी दो वर्ष पूर्व तेवर ग्राम के पास खेत जोतते समय कलचुरी कालीन सात आठ सुन्दर मूर्तियां प्राप्त हुई थी जो बाद में जबलपुर ले आ गईं थीं। इनमे भी जैन मूर्तिकला का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व था। तेवर ग्राम की वापिका पर, तालाब के मन्दिर की बाह्य भित्ति पर, ग्राम के मन्दिरों में तथा एक दो लोगों के घर पर कुल मिलाकर लगभग आठ दस जैन तीर्थंकर मूर्तियों तथा इतनी ही जैन शासन देवता प्रतिमाए दो वर्ष पूर्व तक पड़ी थीं। तीन शासन देवता मूर्तियों का चित्र भी सागर-विश्व-विद्यालय की पत्रिका में मैंने प्रकाशित कराया था।

(२) जबलपुर मे हनुमान ताल के बड़े जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित जिस प्रतिमा का लेख में वर्णन है, वह सच-मुच ही कलचुरी कालीन जैन मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इतनी सुन्दर और सज्जा पूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाएं बहुत ही कम उपलब्ध हुई हैं। सच तो यह है कि इस प्रतिमा के परिकर की सज्जा और वैभव का सही अंदाजा, विना मूर्ति का दर्शन किये लग ही नही सकता। मैंने इस प्रतिमा का एक चित्र गत वर्ष लिया था जो इस नोट के साथ प्रकाशित हो रहा है। कलचुरी कलाकारों की अद्भुत तक्षण प्रतिमा की एक झांकी इस चित्र से पाठकों को मिल जायगी।

लेख के विद्वान लेखक ने इस प्रतिमा को तीर्थंकर पद्म प्रभु की प्रतिमा लिखा है। मैं उनकी इस धारणा से सहमत नहीं हूँ।

पीठिका पर अंकित कमल इस प्रतिमा का चिह्न नहीं है, वह तो सज्जा का एक अंश और अर्चना का प्रतीक मात्र है। कुण्डलपुर के बड़े बाबा की मूर्ति में तथा खजुराहो, देवगढ़ आदि की अनेक प्रतिमाओं में कमल का ऐसा ही अंकन भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की पीठिका पर पाया जाता है।

वास्तव में यह मनोहारिणी मूर्ति, युगादिदेव भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा है। मूर्ति के कांधे पर लहराती जटाएँ इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। भगवान् आदिनाथ के दीर्घकालीन, दुर्द्धर तपश्चरण के कारण उनकी प्रतिमा में जटाएं बनाने की परम्परा मध्यकाल तक प्रचलित रही है। जटाओं के अंकन के इस रहस्य का उल्लेख आदि पुराण मे इस प्रकार वर्णित है—

चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम् ।
ध्यानाग्निदग्ध कर्मेन्धननिर्यद्धूमशिखा इव ।।

—(आदि पुराण पर्व १, श्लोक ९)

दूसरी बात जो इस मूर्ति के सम्बन्ध मे मेरी समझ में आती है वह है इसकी स्वरूप भिन्नता। सम्भवतः आज से सौ डेढ सौ वर्ष पूर्व यह मूर्ति अंशतः खण्डित अवस्था मे तेवर अथवा उसके आस पास के किसी स्थान से उठा कर लाई गई होगी। मूर्ति को पुनः स्थापित करते समय किसी स्थानीय कारीगर ने उसकी खण्डित आकृति को संवारने की कोशिश की है। मुख की आकृति, आंखें, हाथो की अंगुलियां तथा पैर ध्यान से देखने पर, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जिस कला कुशलता से मूर्ति का परिकर, विद्याधर तथा इन्द्र अंकित किए गए है, मूल प्रतिमा के आकार तथा अनुपात मे उस दक्षता की छाह नही है। ध्यान से देखने पर भासित होता है कि शीर्ष भाग को छोड़कर प्रतिमा का पूरा आकार एक अगुल नीचा उतार कर पुनः तराशा गया है। कुछ भी हो, यह बात निर्विवाद है कि कलचुरी कालीन देव प्रतिमाओ मे इतनी ऐश्वर्य शाली और वैभवपूर्ण प्रतिमाए बहुत कम मिली है।

इसी मन्दिर मे रखी हुई जिस पद्मावती प्रतिमा का लेख में उल्लेख किया गया है वह प्रतिमा नवीन है और उसे लेखक के प्रमाद वश ही कलचुरी कालीन प्रतिमाओं के साथ जोड़ लिया गया ज्ञात होता है।

———

कलचुरि कालीन एक नवीन जैन भव्य शिल्प

कस्तूरचन्द 'सुमन' एम. ए.

जबलपुर दि० ८ जुलाई ७१ नवभारत दैनिकपत्र में लखनादौन (सिवनी) म० प्र० मौर्यकालीन एक प्राचीन जैन प्रतिमा उपलब्ध होने के समाचारों के साथ शिल्प का चित्र भी प्रकाशित कराया गया है। यह जैन शिल्प, लखनादौन के मूला काछी परिवार के शारदाप्रसाद हरदिया के बगीचे में जमीन के मात्र दो फुट नीचे से दि० ७-७-७१ को उपलब्ध हुआ है। प्रतिमा का अंकन ४ फुट ऊंचे और सवा दो फुट चौड़े शिलाखण्ड पर हुआ बताया गया है।

प्राचीन जैन केन्द्र : जिस स्थल विशेष से यह भव्य शिल्प उपलब्ध हुआ है, उसके २/३ फरलांग के समीपवर्ती क्षेत्र मे अन्य खण्डित मूर्तियाँ और कलाकृतियाँ उपलब्ध होती रही हैं. तथा आज भी यदा कदा उपलब्ध होती है। इन उपलब्धियों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह शहर प्राचीन भारतीय सस्कृत का केन्द्र रहा है। इस उपलब्धि ने यह भी प्रभावित कर दिया है कि १०-११वी शती के निकट यह शहर जैन संस्कृति का भी प्रमुख केन्द्र रहा है।

समय : स्व० रायबहादुर हीरालाल ने अपनी पुस्तक "इन्स्क्रिपशन्स इन सी० पी० एण्ड बरार" के पृ० ६६ मे लखनादौन से ही उपलब्ध एक द्वार शिलाखण्ड पर अकित अभिलेख की उपलब्धि निर्देशित की है। उन्होंने प्राप्त अभिलेख के जैन मन्दिर का होने की संभावना प्रकट करते हुए लिखा है कि लेख में मन्दिर निर्माता को अमृत सेन का प्रशिष्य और त्रिविक्रमसेन का शिष्य बताया गया है। निर्माता का नाम अदृश्य है। लेखक ने लेख की लिपि के आधार पर लेख को १०वीं शताब्दी के होने की संभावना भी व्यक्त की है।

इस उल्लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शहर मे १०वीं शती के आसपास अवश्य ही कोई जैन मंदिर निर्मित रहा है। सम्प्रति उपलब्ध मूर्ति सम्भवतः उसी मन्दिर में प्रतिष्ठित रही है। इस उपलब्धि से स्व० रायबहादुर द्वारा प्रकट की गयी संभावना कि यह लेख जैनों का है, न केवल पुष्ट होती है बल्कि उक्त संभावना को सत्य निरूपित करती है। इस भाँति इस भव्य शिल्प को १०वीं शती के आसपास का तिथ्यांकित किया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

शिल्प मौर्य कालीन नहीं, कलचुरि कालीन है : अन्य स्थानों में प्राप्त मौर्यकालीन कलाकृतियों से यह पूर्ण समानता रखती है, यह तर्क देते हुए डा० सुरेशचन्द जैन आदि ने इस शिल्प को मौर्यकालीन बताया है किन्तु 'रत्नेश' जी लामटा द्वारा डा० सुरेश जैन से प्राप्त शिल्प चित्र को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि इस कृति का बहुत कुछ वैसा ही अंकन हुआ है, जैसा कि अंकन कलचुरि कालीन हनुमान ताल जबलपुर के जैन बड़े मन्दिर मे स्थित प्रतिमा में दिखाई देता है। जबलपुर से प्राप्त एक ऐसा ही जैन शिल्प नागपुर संग्रहालय मे भी विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि 'उपलब्ध प्रतिमा' कलचुरिकालीन है, मौर्यकालीन नही।

परिकर : अब तक महावीर नाम से प्रसिद्ध कलचुरि कालीन दो प्रतिमाए ही भव्यता मे ज्ञात थीं। इसमे एक नागपुर संग्रहालय में विद्यमान है जिसे १०वीं शती का बताया गया है (देखिए-नागपुर सग्रहालय स्मरणिका, १९६४ ई०, पृ० ३६ पर अकित चित्र)।

द्वितीय मूर्ति हनुमान ताल जैन मन्दिर में विराजमान है जिसे मैंने अनेकान्त (वर्ष २४ कि० १ वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज देहली ६) में प्रकाशित अपने लेख में अलंकरण के रूप में अंकित आसन में तीन कमलाकृतियों को देखकर पद्मप्रभ कहा है जबकि जैन नवयुवक

समाज जबलपुर द्वारा प्रकाशित आचार्य रजनीश के अमृत कण: १९६६ मे प्रकाशित पुस्तिका के मुख्य पृष्ठ पर अंकित उक्त प्रतिमा के मनोज्ञ चित्र मे स्कन्धों पर लटकती हुई केश राशि से ऐसा ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर की है।

लखनादौन से प्राप्त नयनाभिराम शिल्प के शिरोपरि-कलाकृति से पूर्व त्रिछत्र अकित है। त्रिछत्र के दोनो पार्श्वों मे उड्डायमान अपनी पत्नियो से युक्त दो गंधर्वो का चित्रण ध्यानाकर्षक है। ऐसे गधर्व न तो हनुमान ताल की मूर्ति मे अकित है और न नागपुर सग्रहालय की मूर्ति मे ही। गधर्वों के नीचे दोनो ओर कमलाकृतियों पर अंकित अलंकृत हाथी चित्रित किये गये है। हाथियो पर अपनी पत्नियों सहित सवार ऐसे प्रतीत होते है मानो इन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार होकर अपनी पत्नी इन्द्राणी के साथ जिनेन्द्र स्तवन के लिए आया हो। इस प्रतिमा पर उपलब्ध इस अकन से ऐसा प्रतीत होता है कि हनुमान ताल तथा नागपुर सग्रहालय की प्रतिमाओ का कुछ ऊपरी अश टूट गया है, मेरी समझ मे उन प्रतिमाओं मे भी ऐसी ही आकृतियाँ अवश्य ही रही है। उन पर अकित सवार हीन हाथी इस बात की ओर सकेत भी करते है। नागपुर की प्रतिमा से मिलान करने पर जबलपुर हनुमान ताल की प्रतिमा का नीचे का आसन वाला अश भी टूटा हुआ ज्ञात होता है। क्योंकि नागपुर सग्रहालय की प्रतिमा मे आसन पर नवग्रह आकृतियाँ भी मूर्तिगत हो गयी है। चिह्न दोनों मे नही है। नागपुर सग्रहालय मे प्रतिमा महावीर के अकन के नाम से स्थित है परन्तु किसी प्रमाण या लाछन के अभाव मे प्रतिमा का ऐसा नामाकन करना उचित नही है। इन दो प्रतिमाओ के नीचे दिव्य पद्म का अकन ध्यानाकर्षक है।

तीनो प्रतिमाओं के परिकर को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि नागपुर एवं जबलपुर की प्रतिमाए किसी एक ही कलाकार की कृतियाँ है, उनके प्राप्त स्थल से कभी यह बात तर्क सगत प्रतीत होती है किन्तु लखनादौन की प्रतिमा किसी अन्य कलाकार की कृति ही ज्ञात होती है। लखनादौन मूर्ति के परिकर मे कमलासीन हाथियों के नीचे मध्यस्थ आकृति के दोनो ओर चॅवरधारी आकृतियाँ उत्कीर्ण है। ये आकृतियाँ अलकारो से विभूषित है। मस्तक पर किरीट, कानो मे कुण्डल, भुजाओ मे भुजबध, गले मे मालाए दिखाई देती है।

आसन के नीचे पीठिका के मध्य मे प्रतिमा लाछन की आकृति सी उत्कीर्ण है जिससे प्रतिमा महावीर की ज्ञात होती है। लाछन के नीचे धर्म चक्र अकित है। चक्र के दोनो ओर स्त्री एव पुरुष की मानवाकृतियाँ है। धर्म-चक्र के दोनो ओर अलकृत दो स्तम्भ है जिन पर प्रतिमा का आसन आधारित दिखाई देता है। स्तम्भो के पास धर्म चक्र के दोनों ओर सिंहो का प्रदर्शन भी है जो तीर्थकर के सिहासन पर आसीन होने की पुष्टि करते है।

प्रतिमा : इस मनोहारी आकृति के पृष्ठ भाग मे एक कमल अलकरण वाला प्रभामण्डल है। भगवान की केश रचना गुच्छको के रूप मे निर्मित है। श्रीवत्स चिन्ह का अस्पष्ट सकेत मिलता है। मूर्ति के मुखमडल पर प्रदर्शित-मंदहास्य, शाति एव विरक्ति के भाव चित्ताकर्षक है। कण्ठ मे प्रदर्शित तीन रेखाए मानो सकेत कर रही है कि त्रिरत्न धारण करके ही शिव रमणी को वरण किया जा सकता है। पद्मासन मुद्रा में ध्यान निमग्न यह प्रतिमा महाकोशल मे एक अनूठी कृति है।

अभयकुमार

परमानन्द जैन शास्त्री

अभयकुमार शिशुनागवंशी राजा बिम्बसार (श्रेणिक) और नन्दश्री का पुत्र था[1]। नन्दश्री वेणुग्राम के सेठ की विदुषी कन्या थी। वह बड़ी चतुर रूप और लवण्य सयुक्त सती साध्वी थी। श्रेणिक का विवाह उसी के साथ हुआ था। अभयकुमार उन्हीं दोनों का पुत्र था। वह आठ वर्ष की अवस्था तक अपनी ननिहाल में ही रहा। उसके पश्चात् माता और पुत्र दोनो ही राजगृह आ गए। अभयकुमार बाल अवस्था से ही चतुर बुद्धिमान और प्रतिभा सम्पन्न था। उसकी प्रतिभा विवेकशालिनी थी। कितना ही कठोर एवं भयावह कार्य सामने क्यो न आ जाय, फिर भी वह उससे घबराता नही था। वह सहनशील और तेजस्वी था। कठिन कार्य आने पर ही वह उस पर विचार करता और उसे हल करने के लिए अनेक उपाय काम में लाता। परन्तु वह कभी निराश नही हुआ।

उसने अपनी बाल अवस्था मे नन्दिग्राम ब्राह्मणो की विपदाओं का निराणरण किया था। उससे उसकी बुद्धिमत्ता का पता चलता है। यहाँ दो-तीन उद्धरण पाठकों की जानकारी के लिए दिये जाते है।

राजा श्रेणिक ने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों के पास एक बकरा भेजा। और कहा कि इसे खूब खिलाओ-पिलाओ, परन्तु यह ध्यान रखना कि इसका एक तोला भी वजन न बढ़े। विप्र लोग इस आज्ञा से परेशान थे कि यदि बकरे को खूब खिलाया-पिलाया जायगा तो वह मोटा हो जायगा, उसका वजन बढ जायगा। और उसे खिलाया-पिलाया न जाय तो वह दुर्बल हो जायगा। तब उन्होंने अभयकुमार से कहा कि आप हमारी इस समस्या को हल करें। कुमार ने उन्हें दिलासा दी और कहा कि घबराओ नही जो मैं उपाय बताता हूँ उसे करो, तुम दिन में बकरे को खूब खिलाओ-पिलाओ, किन्तु रात्रि में २-३ घंटे के लिये गीदड़ के सामने बांध दो, इससे उसका वजन नहीं बढ़ेगा और न कम होगा। चुनांचे एक सप्ताह बाद जब उस बकरे को तौला गया तो उसका वजन न बढ़ा और न घटा—समवस्थित रहा—जितना था उतना ही रहा।

बिम्बसार ने नन्दिग्राम के ब्राह्मणो को आज्ञा दी कि अच्छा बढ़िया दूध गाय, भैंस, बकरी आदि किसी भी पशु का न हो, और न नारियल आदि फलों का हो। कई घड़े दूध भिजवाओ। ब्राह्मण लोग इस आज्ञा को सुनकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने विचार किया कि दूध जिन पशुओं का होता है, उसका उन्होंने निषेध कर दिया। अब हम इस आज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे। वे सब घबड़ा गए। और वे अभयकुमार के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि राजकुमार अबकी आज्ञा तो ऐसी कठोर आई है कि हम उसके पालन करने मे सर्वथा असमर्थ है। अतः आप हमे कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिनसे हमारी रक्षा हो सके। अभयकुमार ने कहा आप घबड़ाइये नही, आपका कार्य हो जायगा। राजकुमार ने कच्चे जौ की [illegible]लियां मंगवाकर उनका दूध निकलवा कर घड़ों मे भरवा दिया और राजा बिम्बसार के पासभिजवा दिया।

---

१. तस्स णं सेनियस्य रन्नो पुत्ते नंदाएदेवीए अत्तए अभए नाम कुमारो होत्था।

—निरवावलिका सूत्र २३

तस्साण सेणियस्स पुत्ते नदाएदेवीए अत्तए अभए नाम कुमारो होत्था।

—ज्ञाताधर्मकथांग श्रु० १ अ० १

नोट—बौद्धो की थेरी गाथा अट्ठकथा मे अभयकुमार को उज्जैन की पद्मावती वेश्या का पुत्र बतलाया है। किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन परम्परा मे उसे नंदश्री का ही पुत्र बतलाया गया है।

पुन: बिम्बसार ने नन्दिग्राम वालों को यह आज्ञा दी कि एक कूष्माण्ड (कुम्हडा-कद्दू) जो घडे के पेट बराबर हो, कम या अधिक न हो, शीघ्र भिजवाओ। अन्यथा ग्राम खाली कर दो। इस आज्ञा को सुनकर सभी घबड़ाये। और कुमार अभयके पास जाकर बोले, कुमार ने एक मिट्टी का बड़ा घड़ा मगवाया और कद्दू की फलवाली बेल उसमें डाल दी, वह कद्दू दिन पर दिन बढ़ता गया, जब वह घड़े के पेट के बराबर हो गया तब उसे राजा श्रेणिक के पास भिजवा दिया। राजा बिम्बसार ने विचारा कि नन्दिग्राम के ब्राह्मण तो इतने बुद्धिमान नहीं है, जो मेरी सब आज्ञाओं को पूरा करें। कोई न कोई बुद्धिमान पुरुष उस ग्राम में जरूर आया है, जिससे ब्राह्मणों की रक्षा हो रही है और उसने इस बात का पता लगाने के लिए गुप्तचर भेजे। उन्होने जाकर पूछ-ताछ की, एक जामुन के पेड़ पर कुछ बालक जामुन खा रहे थे। इन आदमियों को आते हुए देखकर कुमार ने लडकों से कहा कि इनसे और कोई बात न करे, मै उनसे सब बात करूगा। जब वे पास मे आये तो कहने लगे कि कछ जामुन हमे भी दोगे। कुमार ने कहा आप कैसे जामुन चाहते हो। गरम-गरम या ठडे। क्योंकि मेरे पास दोनों प्रकार के फल है। उन्होने कहा गरम-गरम चाहिए। कुमार ने पके हुए जामुओं को तोडकर और मसलकर नीचे डाल दिये, उन्होने उनकी धूल साफ कर फूंक-फूककर खाए। कुमार ने कहा कि हमने आपके कहे अनुसार गरम-गरम जामू दिये, आप लोग इन फलों को खूब फूंक मार-मार कर तथा ठडा करके खाएं, कहीं ऐसा न हो कि इनकी आंच से आपकी दाढ़ी-मूछें जल जाए।

इस पर उन राजपुरुषों ने लज्जित होकर कहा—'अच्छा, अब आप हमे ठडे फल दे।

तब अभयकुमार ने उन्हें कच्ची-कच्ची जामुनें देनी आरम्भ कीं।

अभयकुमार की वाक्चातुरी, तेजस्विता, मुख का सौन्दर्य आदि अन्य बालको से असाधारण उनके बहुमूल्य वस्त्रों को देखकर वे राजपुरुष समझ गए कि यह कोई असाधारण बुद्धि वाला राजकूमार है। उनको यह समझते देर न लगी कि यह राजकुमार नन्दिग्राम का नहीं है। उन्होने अपने मन में अनुमान कर लिया कि सम्राट् के कठिन प्रश्नों का उत्तर इसी राजकुमार ने दिया था' न कि ब्राह्मणो ने। पश्चात् उन्होने नन्दिग्राम में जाकर राजा श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र, उनकी रानी नन्दश्री तथा उसके पिता सेठ इन्द्रदत्त अपने सेवकों सहित ठहरे हुए है। अत एव वे लज्जित तथा आनन्दित होकर वहाँ से गिरिव्रज लौट गए। वहाँ पर उन्होंने सम्राट् को नमस्कार कर अभय की जो-जो चेष्टाएं देखी थीं, वे सब कह सुनाईं। उन्होने महाराज से कहा :—

महाराज हम उस कुमार को देखकर पहले ही समझ गए थे कि यह असाधारण बालक नन्दिग्राम का नहीं हो सकता। यह सब लडको से तेजस्वी प्रतापी और राजलक्षणो से मंडित था। उपस्थित बालकों मे उसके समान अन्य किसी मे वैसा तेज दृष्टिगोचर नही हुआ। बाद मे लोगो से बात चीत करने पर हमें उसका यथार्थ परिचय भी मिल गया। अब आप जैसा उचित समझे सो करें।

एक दिन राज्यमंत्री वर्षकार ने सम्राट् से निवेदन किया कि राजकुमार अभय की विलक्षण प्रतिभा के समाचार मिले है सम्राट्! ऐसी विलक्षण बुद्धि तो बड़े-बड़े विद्वानो मे नही होती। उन्हे शीघ्र बुलवाना चाहिए।

सम्राट् तुम्हारा कथन ठीक है, वर्षकार! मै भी कुमार को यहा बुलवाने की बात सोच रहा था, किन्तु कुमार को बुलवाने का ढंग भी ऐसा विलक्षण रखूंगा कि उसमे कुमार को अपनी बुद्धि की एक और परीक्षा देनी होगी। अच्छा, नन्दग्राम भेजने के लिए एक दूत को बुलवाओ।

दूत—मैं नन्दिग्राम जाने के लिए उपस्थित हूँ महाराज! सम्राट् तुम अभी नन्दिग्राम चले जाओ, वहाँ जाकर तुम कुमार अभय से मिल कर कहना कि आपको महाराज ने बुलाया है। किन्तु उन्होंने यह आज्ञा दी है कि आप मार्ग से आवें, न उन्मार्ग से आवें, न दिन में आवें न रात में आवें। भूखे पेट न आवें, अफरे पेट भी न आवे, न किसी सवारी में आवें। और न पैदल ही आवें, किन्तु गिरि व्रज नगर शीघ्र ही आवें।

"जो आज्ञा सम्राट्!"

दूत कह कर वहाँ से चला गया, उसने नन्दिग्राम पहुँच कर अभयकुमार को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर महाराज का सन्देश ज्यो का त्यो कह सुनाया। सम्राट् द्वारा कुमार के बुलाए जाने का सन्देश सारे नन्दिग्राम मे फैल गया। इस समाचार को सुन वहाँ के सब ब्राह्मण घबरा गए। और सोचने लगे कि अब हमारी रक्षा किसी प्रकार नहीं हो सकती। अब तक तो कुमार ने हमारे जीवन की रक्षा कर ली; किन्तु अब कुमार के चले जाने पर हम लोगो को सम्राट् के कोपानल मे भस्म होना ही पड़ेगा। हे ईश्वर! सम्राट् ने कुमार को बुला कर बडा अनर्थ किया है। हे परमात्मा, हम लोगो से ऐसा क्या पाप बन गया है जिसके परिणाम स्वरूप हम दुख ही भोग रहे है। भगवन्! हमारी रक्षा करो। इस तरह रोते-चिल्लाते हुए ब्राह्मणकुमार अभय की सेवा मे उपस्थित हो, रोने लगे। उनकी दुखी अवस्था देख कुमार बोले—

ब्राह्मणो! आप इतना खेद क्यो करते है? सम्राट् ने मुझे जिस प्रकार आपने को आज्ञा दी है मै उनके पास उसी प्रकार जाऊँगा। गिरिव्रज मे भी आप लोगो का पूरा ध्यान रखूगा। आप लोग किसी बात की चिन्ता न करे।

ब्राह्मणों को धैर्य बधाकर और समझा बुझा कर कुमार ने समस्त सेवकों को तैयार करने के लिए अपने नाना सेठ इन्द्रदत्त से कहा। उनकी आज्ञा के साथ उनके सभी अनुचर जाने के लिए तैयार हो गए। सेठ इन्द्रदत्त एक रथ पर पृथक् बैठे। कुमार ने अपने लिए जो रथ मगवाया उसके बीच मे एक छीका बधवा दिया।

दिन समाप्त होने पर जब संध्याकाल हुआ, तब कुमार ने गिरिव्रज की ओर अपने समस्त सेवको और अगरक्षको सहित रथ हकवा दिया। चलते समय रथ का एक पहिया मार्ग मे चलाया गया और दूसरा पहिया सड़क के बगल मे उन्मार्ग मे डाल दिया गया। कुमार ने चलते समय चने का आधा पेट भोजन किया और रथ के उस छीके मे बैठ गए। इस तरह अनेक ब्राह्मणो के साथ अभय कुमार आनन्दपूर्वक गिरिव्रज पहुँच गए।

अभयकुमार के सायकाल तक गिरिव्रज पहुँचने का समाचार नगर मे पहुँच ही चुका था, इस कारण नगर निवासियों की बडी भारी भीड़ उनके दर्शन करने क राजमार्ग पर एकत्रित थी। नगर की स्त्रियाँ तो मार्ग के प्रत्येक मकान की छत पर जमा हो गई थी। आगे-आगे बाजा बजता जा रहा था, जिससे मार्ग में भीड़ बराबर बढती ही जाती थी। उत्सुकता वश स्त्रियो में तो उनको देखने की होड़ भी लग गई थी। कोई स्त्री तो रसोई बनाने का कार्य बीच ही मे छोडकर छज्जे की ओर भागी और कोई एक स्त्री अपने बालक की एक आँख मे काजल लगाकर दूसरी आँख यो ही छोड बाजो का शब्द सुन बालक को उठाकर भागी। कोई नारी अपने पैरों मे लाल मेहदी लगा रही थी, वह मेहदी से अपने सारे फर्श को खराब करती हुई अपने बाला खाने में जा पहुँची। इस तरह नारियों के ठट्ठ के ठट्ठ छज्जों, बालाखानों, अटारियों और चौखण्डों में जमा हो गए। और वे बड़ी उत्सुकता से कुमार को देखने लगी। बालक, वृद्ध और युवा सभी कुमार को देखने के लिए अत्यन्त उत्साह से जमा हो गए।

जनता की अपार भीड़ के साथ कुमार की सवारी भी नगर मे आगे-आगे बढती जाती थी। बाजो के पीछे-पीछे बंदी जन कुमार की विरुदावली का बखान कर रहे थे। स्थान-स्थान पर नगरवासी जन राजकुमार की प्रशसा कर रहे थे। इस तरह राजमार्ग से जाते हुए कुमार अभय राजसभा के पास जा पहुँचे। उन्होने रथ से उतर कर अपने नाना सेठ इन्द्रदत्त के साथ राजसभा में प्रवेश किया। आज कुमार के आगमन के कारण दिन छिप जाने पर भी राजसभा पूरी भरी हुई थी।

राजकुमार ने सभा मे सम्राट् को रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान देखकर उन्हें नमस्कार कर उनके चरण छुए। सम्राट् ने उनको खैंचकर अपनी गोद मे बैठा लिया। स्वागत सत्कार के बाद कुमार ने सम्राट् से निवेदन किया, "पिता जी! मेरी आप से एक प्रार्थना है, आप आज्ञा दे तो निवेदन करूं।"

सम्राट् बिम्बसार प्रसन्न होकर बोले—

"अवश्य कहो बेटा! क्या कहना चाहते हो।"

तब अभयकुमार ने कहा—

"पिता जी! मेरा निवेदन यह है कि नन्दिग्राम के

ये विप्रगण आपकी सेवा मे आए है। यदि उन्होंने अनजाने मे कोई अपराध कर भी दिया है, तो आप अपने बड़प्पन का ध्यान कर उन्हे क्षमा कर दे। मेरी आप से यह विनय है। मै उनको अभयदान दे चुका हूँ।"

अभयकुमार के इतने शब्द कहते ही नन्दिग्राम के ब्राह्मण भी सम्राट् के चरणो मे गिर पडे, और उनसे विनय पूर्वक क्षमा मागने लगे। तब सम्राट् ने कहा—

"अच्छा, कुमार ! जब तुम इनको अभयदान दे चुके हो तो हम भी इनको अभय करते है।"

फिर सम्राट् ने ब्राह्मणो की ओर मुख करके कहा—

'विप्रगण ! आप प्रसन्नता से नन्दिग्राम चले जावे। अब आपको किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नही। आपके अधिकार मे किसी प्रकार की भी कमी नहीं की जावेगी।

महाराज के शब्द सुनकर ब्राह्मणो ने कहा—

"सम्राट् की जय हो, कुमार अभय की जय हो। हमे आप ने जीवन दान दिया। आपका कल्याण हो।"

नन्दिग्राम के ब्राह्मण वहाँ से अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने गाँव चले गए।

युवराज पद

गिरि व्रज की राजसभा को आज विशेषरूप से सजाया गया है। सुन्दर पताकाओ और तोरणो से खम्भो को अलकृत किया गया। अच्छे और नए फर्श बिछा कर उसे और भी सुन्दर बना दिया, आसनो की सख्या भी बढ़ा दी गई, जिससे जनता आसानी से बैठ सके। प्रातःकाल से ही जनता ने राजसभा मे आना प्रारम्भ कर दिया। नगर निवासी उत्साह पूर्वक राजसभा मे आ रहे थे। १० बजते बजते राजसभा भवन ठसाठस भर गया किन्तु आने वालो का ताता लगा ही रहा। राज्याधिकारियो का भी आना प्रारम्भ हो गया। और ठीक दस बजे सभा भवन अन्दर और बाहर दोनो जगह भर गया। सभा भवन भरने पर प्रधान सेनापति भद्रसेन और महामात्य वर्षकार आकर अपने आसनो पर बैठ गए। राजमहल के द्वार से राजकुमार अभय को साथ लिए हुए सम्राट् बिम्बसार आते हुए दिखाई दिए। उनको देखते ही जनता ने जोर से सम्राट् बिम्बसार (श्रेणिक) की जय और राजकुमार अभय की जय के नारो से सभा भवन गूज उठा। दोनों अपने-अपने आसनो पर बैठ गए। तब महामात्य वर्षकार ने कहा—

'सम्राट् ! राज्याधिकारी ! पौरजानपद तथा उपस्थित महानुभाव ! सब उपस्थित महानुभाव सुने। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि राजकुमार अभय का आज सब की ओर से स्वागत करने का अवसर प्राप्त हुआ है। कुमार मे विलक्षण चातुर्य, पराक्रम और अलौकिक साहस है। सात वर्ष की आयु मे लोकोत्तर गुणो की प्राप्ति बिना पूर्वपुण्य के नहीं हो सकती। नन्दिग्राम के ब्राह्मणो की रक्षा करने मे उन्होंने अपने बुद्धि, चातुर्य का जो परिचय दिया है इससे उन्होने हमारी श्रद्धा को भी जीत लिया है। नगर निवासी उनसे अत्यधिक प्रेम करते है। उनका जनप्रिय स्वभाव, न्यायप्रियता, दयालुता, और चमत्कारिणी बुद्धि आदि लोकोत्तर गुणो के कारण उन्हे मगध साम्राज्य का युवराज बना दिया जाय। आप लोग मेरे इस प्रस्ताव पर विचार करे। नगर के प्रमुख लोगो ने वर्षकार के प्रस्ताव का समर्थन ही नही किया प्रत्युत समस्त पौरजानपद की ओर से घोषणा की गई, कि सब नागरिक इस प्रस्ताव के पक्ष मे है।

सम्राट् ने कहा आप लोगो ने कुमार के गुणों का वर्णन कर उन्हे युवराज पद देने का विचार किया। इसे मै कुमार के अतिरिक्त अपना भी सम्मान मानता हूँ, मुझे गौरव है कि मैं ऐसे सुयोग्य पुत्र का पिता हूँ। महामात्य वर्षकार का राजकुमार अभय को युवराज बनाने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया जाता है।

अभयकुमार का न्याय—

एक दिन बिम्बसार की राजसभा में व्यावहारिक ने निवेदन किया कि हे देव ! एक अभियोग नीचेके न्यायालयों से होता हुआ मेरे पास आया था, पर वह इतना जटिल है कि मै भी उसका न्याय करने मे असमर्थ हूँ। इसलिए उसे सम्राट् की सेवा मे उपस्थित करने की अनुमति चाहता हूँ।

सम्राट् की आज्ञानुसार अभियोग उपस्थित किया गया। राजसभा के एक कक्ष में बिठलाई हुई दो भद्र महिलाओं को राजसभा मे उपस्थित किया गया। दोनों

महिलाओं की आयु २४-२५ वर्ष के लगभग होगी वे दोनों महिलाएं सम्राट् के सम्मुख उपस्थित हुई। राजसभा के लोग उनके शारीरिक सौन्दर्य और रत्नजडित वस्त्राभूषणों से विस्मित हुए। व्यावहारिक बोला—अभियोग इन दोनों महिलाओं का है। इनमे बाईं ओर की महिला का नाम वसुमित्रा और दाहिनी ओर वाली महिला का नाम वसुदत्ता है। ये दोनों सुभद्रदत्त सेठ की पत्नियां है।

सम्राट् ने कहा सेठ सुभद्रदत्त का तो अभी अभी देहावसान हुआ है। वह मगध के ग्राम के निवासी थे। और विदेशों से अपार धन सम्पत्ति कमाकर अभी अभी राजगृह मे आकर बसे थे।

व्यावहारिक ने कहा—यह दोनों सुभद्रदत्त सेठ की पत्नियां हैं। सम्राट् ने कहा, इन दोनों में यह छह मासका बालक किसका है? व्यावहारिक बोला, राजन्! सारा झगड़ा तो इसी पर है। ये दोनो ही उसे अपना-अपना बालक बतलाती है। सम्राट् ने कहा साक्षियो से किसका पक्ष अधिक पुष्ट एव प्रमाणित होता है।

व्यावहारिक बोला—सेठ सुभद्रदत्त राजगृह मे कुल दो मास से आया था। अतएव जो कुछ साक्षिया मिलती है वे केवल दो मास के अन्दर की मिलती है। साक्षियो से यह ज्ञात होता है कि इस बालक पर दोनो का समान प्यार रहा है। लडके को ऊपरी दूध पिलाया जाता है, इसलिए दूध की साक्षी का तो अभाव है। दोनो उसे अपने अपने पेट का उत्पन्न बालक कहती है। देखने वालों का कहना है कि बच्चे पर दोनों का समान प्यार है। सम्राट् ने कहा कि सुभद्र तो राजगृह के एक गाव का निवासी था उस गाव से कुछ साक्षिया नही मंगवाई गई। व्यावहारिक ने कहा—कि देवी गावसे भी साक्षिया मंगवाई थी किन्तु वे तो और भी अधिक असन्तोषजनक है। उनसे केवल इतना ही सिद्ध हुआ है कि सेठ सुभद्रदत्त उस गाँव का निवासी था और दोनो सेठानिया उसकी परिणीता वधुएं थी। वह इन दोनों को साथ लेकर सार्थवाह के साथ अपना एक निजी पोत लेकर सुवर्णद्वीप व्यापार करने गया था और फिर वापिस गाँव नही गया। सम्राट् ने कहा कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि उसके यह बच्चा कही यात्रा मे हुआ और उसने अपनी यात्रा राजगृह में आकर समाप्त की।

व्यावहारिक ने कहा—ऐसा ही है देव?

सम्राट् तब तो यह अभियोग बड़ा पेचीदा है। इसका निर्णय करना सुगम कार्य नही है। सम्राट् ने अभयकुमार की ओर देखकर पूछा, क्यो अभयकुमार! क्या तुम इस अभियोग का निर्णय कर सकोगे? अवश्य कर सकूंगा पिता जी!

सम्राट् ने व्यावहारिक से कहा—

"अच्छा व्यावहारिक—इस अभियोग को युवराज के सम्मुख उपस्थित करो, वही इसका निर्णय करेंगे।"

व्यावहारिक ने दोनों सेठानियो को अभयकुमार के सामने उपस्थित किया। अभयकुमार ने उनमे से एक से पूछा।

अभयकुमार—वसुमित्रा देवी, तुम उस परमपिता की साक्षी पूर्वक अपनी बात कहो।

वसुमित्रा—मै उस परमपिता परमात्मा की सपथपूर्वक कहती हूँ कि यह बालक सुमित्र मेरी कोख से उत्पन्न हुआ है। मैं ही इसकी माता हूँ, वसुदत्ता नही।

अभयकुमार—वसुदत्ता देवी अब तुम्हे क्या कहना है?

वसुदत्ता—मै भी उस परमपिता परमात्मा की सपथपूर्वक कहती हूँ कि यह बालक सुमित्र मेरी कोख से उत्पन्न हुआ है और मै ही इसकी माता हूँ, सुमित्रा नही।

अभयकुमार—मालूम होता है तुम लोग सच्ची बात नही बतलाओगी?

यह तो असभव है कि बालक दोनो की कोख से उत्पन्न हुआ हो। किन्तु इस पर दावा दोनो करती है। क्योंकि बच्चे की जो माता सिद्ध होगी वही उसकी अधिकारिणी बनेगी और सेठ सुभद्रदत्त की अपार सपत्ति पर उसी का अधिकार होगा। किन्तु इस तथ्य का कोई पता नही लगता। मै तो इस बच्चे को आधा आधा काट कर दोनों को दिए देता हूँ। यह कह कर अभयकुमार ने बच्चे के पेट पर नगी तलवार रख दी। वसुमित्रा यह देखकर धाड़े मार-मार कर रोने लगी। उसने अभयकुमार की तलवार पकडकर उससे कहा—

"युवराज! बच्चे के दो टुकड़े मत करो। इसे आप वसुदत्ता को ही दे दे। मै इस पर अपने दावे क

वापिस लेती हूँ। और वसुदत्ता के पास ही इसका मुख देख लिया करूंगी।"

यह कहकर वसुमित्रा अभयकुमार के पावों में पड़ गई, किन्तु वसुदत्ता इस सारे दृश्य को खड़ी-खड़ी देखती रही। इस पर अभयकुमार उस बच्चे को छोड़कर बोले—

"यह सिद्ध हो गया कि बच्चा वसुमित्रा का है, मैं बच्चा वसुमित्रा को देता हूँ।"

उन्होंने वसुदत्ता की ओर देखकर कहा—

निर्दयी राक्षसी ! तू बच्चे की माता बनने का ढोंग करती है और उसकी गर्दन पर तलवार देखकर पत्थर की मूर्ति के समान खड़ी रही। मैं तुझे असत्य बोलने के अपराध मे देश निर्वासन का दण्ड देता हूँ। सेठ सुभद्रदत्त जी समस्त सम्पत्ति का एकमात्र अधिकार वसुमित्रा और उसके पुत्र का होगा।

व्यावहारिक ने सम्राट् से निवेदन किया है कि देव ! एक अभियोग और है वह भी मेरी समझ मे नहीं आया। सम्राट् ने कहा, अच्छा उसे भी सामने उपस्थित करो।

व्यावहारिक ने एक आकृति वाले दो व्यक्तियों के साथ एक स्त्री को उपस्थित किया। स्त्री अत्यधिक सुन्दर थी, उनको उपस्थित करके व्यावहारिक बोला, अन्नदाता ! यह अभियोग कोशल जनपद के अयोध्या नगर से सम्राट् प्रसेनजित ने स्वय भेजा है, बहुत प्रयत्न करने पर भी वे उसका निर्णय नही कर सके, तो उन्होंने आपके पास भेज दिया।

सम्राट, अच्छा कहो क्या अभियोग है ?

इस अभियोग मे वादिनी यह स्त्री है। इसका नाम भद्रा है, यह अपना मामला स्वय उपस्थित करेगी।

इस पर सम्राट् उस महिला से बोले—क्यों देवी ! तेरा क्या अभियोग है ? भद्रा—देव ! इन दोनो मे से एक व्यक्ति मेरा पति है, एक व्यक्ति नकली है जो मेरे पति का रूप बनाये हुए है। कृपया मुझे नकली व्यक्ति से छुड़ा कर मुझे मेरा असली पति दिलवादे।

सम्राट्—यह तो बडा पेचीदा मामला है। व्यावहारिक—तभी तो महाराज प्रसेनजित ने आपके पास भेजा है।

सम्राट्—क्या इन तीनो व्यक्तियों के विषय मे इनका पिछला वर्णन भी भेजा गया है। व्यावहारिक—भेजा गया है श्रीमान्। सम्राट् अच्छा उसे पढ़ कर सुनाओ।

व्यावहारिक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा ! मैं इसे पढ कर सुनाता हूँ।

इस स्त्री भद्रा का पति बलभद्र अयोध्या निवासी सच्चरित्र किसान है, इसका अयोध्या के एक धनिक व्यक्ति बसंत के साथ गुप्त सम्बन्ध हो गया था। बाद मे एक त्यागी महात्मा के महत्वपूर्ण उपदेश से इसने शीलव्रत ले लिया और बसंत का साथ छोड दिया। बसंत ने उस पर बहुत डोरे डाले, किन्तु यह उसके वश मे न आई। बाद मे बसन्त को इस स्त्री के लिए पागल दशा मे गलियो मे घूमते हुए देखा गया। कुछ समय बाद बसत अयोध्या से गायब हो गया। और बलभद्र का आकार बनाकर एक अन्य व्यक्ति असली बलभद्र को घर से निकालने लगा। इसके उपरान्त यह पता लगाना असम्भव हो गया कि असली बलभद्र कौन है ?

सम्राट्—यह अभियोग तो पहले से भी अधिक पेचीदा है। फिर उन्होंने अभयकुमार की ओर देख कर पूछा, क्यों कुमार ! तुम इस अभियोग का निर्णय कर सकोगे ? कुमार—संभवत: कर तो सकूंगा।

सम्राट्—अच्छा देवी ! तुम्हारे अभियोग का निर्णय युवराज करेंगे।

दोनों बलभद्रों का एक सा रूपरग देख कर पहले तो अभयकुमार चकरा गये बाद में उन्होंने भद्रा की सहायता से उन दोनों व्यक्तियों के शरीर की सूक्ष्म जांच-पड़ताल की। किन्तु उनका उनको लेशमात्र भी अन्तर न मिला। अन्त मे सोचते हुए उनके हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ। उन्होने दोनो बलभद्रो को एक सीखचेदार कोठरी मे बन्द कर दिया, फिर उन्होंने एक तूबी अपने सामने रख कर उन दोनो बलभद्रों से कहा—सुनो बलभद्रो ! तुम दोनों मे से कोठे के सीखचो मे से निकल कर जो कोई भी इस तूबी के छिद्र से निकल जावेगा, और उसी को भद्रा मिलेगी।"

कुमार के इन वचनो को सुनकर असली बलभद्र को बड़ा दुख हुआ, और उसे विश्वास हो गया कि अब भद्रा मुझे कभी नही मिलेगी: क्योंकि मैं तूबी के छेद से निकल

नहीं सकता। किन्तु कुमार के वचनो से नकली बलभद्र को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपने शरीर को अत्यन्त पतला करके सीखचो से बाहर निकल कर ज्योही तूबी के अन्दर प्रवेश किया, त्यो हो अभयकुमार ने तलवार का एक भरपूर हाथ मार कर नकली बलभद्र को मार डाला। पश्चात् उसने असली बलभद्र को कोठरी से निकाल कर उसे भद्रा के साथ अयोध्या जाने की अनुमति दे दी। कुमार की विलक्षण न्याय बुद्धि देखकर सारी सभा में हर्ष छा गया। महामात्य वर्षकार ने कुमार की इस विलक्षण बुद्धि के लिए बधाई प्रदान की। कुमार के इन निष्पक्ष कार्यों से उनकी कीर्ति बहुत बढ़ गई। लोग उसकी न्याय परायणता को देखकर सभी उसकी प्रशसा करने लगे। कोशल के पश्चात् अन्य देशों से भी अभियोग उनके पास आते थे, जिनका वह अपनी प्रतिभा से शीघ्र निर्णय कर दिया करता था।

अभयकुमार राज्य कार्यों के अतिरिक्त, कौटुम्बिक कार्यों मे, गुह्य कार्यो मे और रहस्यमय कार्यो के निश्चय करने मे पूछने योग्य था। वह स्वय राज्य शासन, राष्ट्र-देश, कोष, कोठार (अन्न भडार) सेना, वाहन, नगर और अन्तःपुर की देख-रेख करता था[१]।

जैन मान्यतानुसार अभयकुमार श्रेणिक भभसार (बिम्बसार) का मनोनीत मत्री था[२]।

श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह भी अभयकुमार की बुद्धिमत्ता से हुआ था[३]।

अभयकुमार अपनी बुद्धिमत्ता के कारण राज्य के सरक्षण मे भी उचित मार्ग का अवलम्बन करता था। उसके इन कार्यों से प्रजा बडी सन्तुष्ट रहती थी और उसके प्रति हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करती थी।

अभयकुमार ने श्रेणिक के राजनैतिक संकट भी अनेक बार टाले थे। एक बार उज्जैनी के शासक चण्डप्रद्योत ने अन्य चौदह राजाओ के साथ राजगृह पर आक्रमण किया था। किन्तु अभयकुमार ने जहाँ शत्रु शिविर लगना था वहाँ उसने पहले ही सुवर्णमुद्राए गड़वा दी थी। जब चण्डप्रद्योत ने राजगृह को घेर लिया, तब अभयकुमार ने उसे एक पत्र लिखा था कि आपका हितैषी होकर बता रहा हूँ कि आपके सहचर राजा श्रेणिक से मिल गये है, वे बाध कर श्रेणिक को सम्हालने वाले है, उन्होने श्रेणिक से बहुत धन राशि प्राप्त की है। यदि आपको विश्वास न हो तो अपने शिविर के स्थान को खुदवा कर देखिये उससे आपको स्वयं विश्वास हो जायगा। चण्डप्रद्योत ने जब उस स्थान को खुदवाया तब उन्हे सुवर्ण मुद्राओ का ढेर प्राप्त हुआ। इससे चण्डप्रद्योत ने अपना घेरा उठा लिया और उज्जैनी चला गया[४]।

अभयकुमार ने राज्य रक्षा के लिए अनेक कार्य किये है। इसी से लोक मे उनकी महत्ता थी।

जैन मान्यतानुसार अभयकुमार ने भगवान महावीर से जैन दीक्षा ली और कठोर तपश्चरण किया और मुक्तिपद प्राप्त किया। यह मान्यता सन्देहास्पद है[५]। इसकी जाँच करने की आवश्यकता है। जैन ग्रन्थों मे अभयकुमार को जैन धर्मी और महावीर के पास जाने और दीक्षा लेने का स्पष्ट उल्लेख है। ★

१. ज्ञाता धर्मकथाग प्रथम श्रुतस्कध १ अध्याय।

२. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति पत्र ३८

३. त्रिषष्ठि शला का पुरुष चरित्र

४. प्रद्योत नृपतेः सैन्यैस्ततो राजगृह परम्।
पर्यवेष्टयत भूगोल. पयोधिमलिलैरिव ॥१२२
अथैतस्थ प्रेषयामास लेख प्रद्योतभूपतेः।
अभयो गुप्त पुरुषैः परुषेतरभाषिभिः ॥१२३
× × × ×
तेनावन्तीश वच्मि त्वामेकान्तहितबांछया।
सर्वे श्रेणिकराजेन भेदितास्तव भू भुजः ॥१२५
दीनारा. प्रेषिताः सन्ति तेभ्यस्तान् कर्तुमात्मसात्।
ते तानादाय बद्ध्वा त्वामर्पयिष्यन्तिमत्पितुः ॥१२६
तदावासेषु दीनारा निखाताः सन्तितत्कृते।
खानयित्वा पश्यको वा दीपे सत्यग्निमीक्षते ॥१२७
विदित्वैव स भूपस्यकस्या वा समचीखनत।
लब्धास्तत्र च दीनारास्तान् दृष्ट्वा स पलायितः॥
योगशास्त्र ११

५. थेरीगाथा-अट्ठकथा खण्ड १ पृ० ८३-८४।

पुनीत आगम साहित्य का नीतिशास्त्रीय सिंहावलोकन

डा० बालकृष्ण 'अकिंचन' एम. ए. पी-एच. डी.

विश्व के धार्मिक साहित्य को जैन साहित्य एवं दर्शन का महत्त्व निर्विवाद है। जैन धर्मावलम्बियों मे जितना ऊचा स्थान आगमों का है, उतना सम्भवत: अन्य का नहीं। इन पुनीत आगमों का निर्माण तो स्वयं भगवान् अर्हंत ने किया था किन्तु बाद मे उन्हें सूत्र रूपो मे अर्ध मागधी भाषा मे निबद्ध उनके गणधरों ने किया। कारण यह था कि दुर्भिक्षों एवं विप्लवों आदि आपत्तियों के कारण आगम साहित्य विखण्डित होता रहा था। भगवान् महावीर जी के निर्वाण के लगभग ६८० या ६६३ वर्ष पश्चात् (ई० सं० ४५३-४६६) के वलभी सम्मेलन मे आगम लिपिबद्ध किये गये, अत: निश्चित है कि भगवान् महावीर की भाषा का मूल अर्ध मागधी मे उस समय तक पर्याप्त अन्तर अवश्य आ गया होगा। जो हो ये सूत्र दिव्य ज्ञान के महान स्रोत है। श्री भगवतशरण उपाध्याय के विश्व साहित्य की रूप-रेखा पृ० ५०६ के अनुसार तो "इन ग्रन्थों की सीमा मे सारा मानव ज्ञान जैसे सिमट कर आ गया है।"—इसका सम्पादन बल्लभी परिषद के द्वारा ४६ ग्रन्थो में हुआ है। इनमें—

१. आयारंग, सूयगडंग इत्यादि १२ अंग;

२. ओववाइय, रायसपैणइय इत्यादि १२ उपांग;

३. चउसरण, आउरपच्चकखाण इत्यादि १० पइन्ना

४. निसीह, महानिसीह इत्यादि ६ छेयसुत्त; और

५. उत्तरज्झयण, दसवेयालिय इत्यादि ४ मूलसुत्त हैं।

जैन शास्त्रों के अनुसार अंगों और मूल सूत्तों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है आयारंग। प्राचीनतम जैन सूत्र भी यही है। इस सूत्र की महिमा सम्पूर्ण जैन साहित्य में एक स्वर में गाई गई है। भाव निदर्शन के किए एक उद्धरण प्रस्तुत है—

"नत्थि कालास णागमो। सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसि जीवियं पियं।

अर्थात्—मृत्यु का आना निश्चित है। सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दुख कोई नहीं चाहता, मरण सभी को अप्रिय है। सभी जीना चाहते है। प्रत्येक प्राणी जीवन की इच्छा रखता है, सबको जीवित रहना अच्छा लगता है।

जैन साहित्य में मूल सूत्रों का वही माहात्म्य है जो बौद्ध साहित्य मे धम्मपद का। इसके उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) के प्रथम अध्याय में 'विनय' का वर्णन इस प्रकार है—

मा गलियस्सेव कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइन्ने, पावगं परिवज्जए॥

अर्थात्—मरियल घोड़े को बार-बार कोड़े लगाने की जरूरत होती है, वैसे मुमुक्षु को बार-बार गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करनी चाहिए। जैसे अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही ठीक रास्ते पर चलने लगता है, उसी प्रकार गुरु के आशय को समझकर मुमुक्षु को पाप कर्म त्याग देना चाहिए।

यही पर तीसरे अध्ययन में अप्रमाद की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि "टूटा हुआ जीवन-तन्तु फिर से नहीं जुड़ सकता, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर। जरा से ग्रस्त पुरुष का कोई शरण नहीं है, फिर प्रमादी-हिंसक और अयत्नशील जीव किसकी शरण जायेंगे।

बाईसवें अध्ययन में सती का अपने ऊपर आसक्त श्रमण रथनेमि को फटकारना कितना कल्याणकारी तथा प्रभावोत्पादक है—"हे रथनेमि! यदि तू रूप से वैश्रमण, चेष्टा से नलकूबर अथवा साक्षात् इन्द्र ही क्यों न बन जाय, तो भी मैं तुझे न चाहूँगी। हे यश के अभिलाषी! तू जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु का पुनः सेवन करना चाहता है। इससे तो मर जाना श्रेयस्कर है। जिस किसी भी नारी को देखकर यदि तू उसके प्रति आसक्ति भाव

प्रदर्शित करेगा तो वायु के झोके से इधर-उधर डोलने वाले तृण की भांति तेरा चित्त कही भी स्थिर न रहेगा।"

इसी प्रकार पच्चीसवे अध्ययन मे ब्राह्मण तपस्वी आदि के लक्षण तथा कर्म महिमा इस प्रकार गाई गई है—"इस लोक मे जो अग्नि की तरह पूज्य है, उसे कुशल पुरुष ब्राह्मण कहते है। सिर मुडा लेने से श्रमण नही होता, ओंकार जाप करने से ब्राह्मण नही होता। जंगल मे रहने से मुनि नही होता और कुश चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नही कहा जाता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, धर्म से वैश्य और कर्म से ही मनुष्य शूद्र कहा जाता है।

स्पष्ट है कि आगम साहित्य नैतिक कथनों का अपूर्व भंडार है। ये कथन दिक्कालातीत, सार्वदेशिक एव सार्वभौमिक सत्य है। जैन धर्म की अक्षय निधि होते हुए भी ये मानव मात्र की निधि है। इनकी महिमा का अधिक। आख्यान न करते हुए कुछ बहुमूल्य कथन उद्धृत करना अधिक उपयोगी होगा—

१. "(महापुरुष वह है) जो लाभालाभ मे, सुख-दुख मे, जीवन-मरण मे, निन्दा और प्रशसा मे तथा मान-अपमान मे समभाव हो।"
२. "स्वार्थ-रहित देने वाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन निर्वाह करने वाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देने वाला और स्वार्थ-रहित होकर जीने वाला दोनो ही स्वर्ग को जाते है।"
३. जैसे विडाल के रहने के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नही है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास स्थान के बीच मे ब्रह्मचारियो का रहना क्षम्य नही है।"
४. "लोहे के काटो से मुहूर्त मात्र दुख होता है, वे भी (शरीर से) सुगमता पूर्वक निकाले जा सकते है, परन्तु कटुवचन कठिनाई से निकलते है जो वैर बढ़ाने और महाभय उत्पन्न करने के लिए बोले जाय।"
५. "क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, कपट मित्रो का नाश करता है और लोभ सब कुछ विनष्ट कर देता है।"
६. "सांसारिक धर्मों से विरत जो कोई जगत् में विचरते है, उन्हें सबके साथ वही वर्ताव करना चाहिए जो वे (दूसरो से अपने प्रति) कराना चाहते है।"

आगम वाटिका इस प्रकार के नीति-कुसुमो की दिव्य गध से सतत सुसुवासित है। आवश्यकता इस स्वस्थ एवं सुगधित पवन को, मन-प्राण और जीवन में उतारने की है।

आगमों की व्याख्या साहित्य में नीति :

आगमो के सकलन के पश्चात् दूसरी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक आगम साहित्य के समझने-समझाने के लिए निर्युक्ति, भाष्य, टीका, चूर्णि इत्यादि टीका-साहित्य की विपुल सृष्टि हुई। इसमें भी प्रसगवश हमे कही-कहीं पद्यमय नीति कथन प्राप्त हो जाते है। उदाहरणार्थ माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यक निर्युक्ति की अपनी दीपिका मे कुछ सुन्दर रीति बच कहे है :—

जहा खरो चदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्य भगी न हु सोग्गईए॥
हयं नाणं कियाहीण, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ।
संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अधों यो पगू य वणे समिच्चा, ते सपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०५ पर उद्धृत

अर्थात् जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा भार का ही भागी होता है, चन्दन का नही, उसी प्रकार चरित्र से हीन ज्ञानी और केवल ज्ञान का ही भागी होता है सद्गति का नही। क्रिया रहित ज्ञान और अज्ञानी की क्रिया नष्ट हुई समझनी चाहिए। (जगल मे आग लग जाने पर) चुपचाप खड़ा हुआ पगु और भागता हुआ अन्धा दोनों ही आग मे जल मरते है। दोनो के सयोग से सिद्धि होती है। एक पहिए से रथ नही चल सकता।

निशीथभाष्य के कामासक्ति सम्बन्धी दो कथन देखिए:—

"कानी आंख से देखना, रोमांचित हो जाना, शरीर मे कम्प होना, पसीना छूटने लगना, मुंह पर लाली दिखाई पड़ना, बार-बार निश्वास और जंमाई लेना" ये स्त्रीमे

आसक्त पुरुष के लक्षण हैं। कामासक्त स्त्रियों की पहचान **भी** देखिए :—

"सकटाक्ष नयनों से देखना, बालों को संवारना, कान **और नाक को** खुजलाना, गुह्य अंग को दिखाना, घर्षण **आलिंगन तथा** अपने प्रिय के समक्ष अपने दुश्चरित्रों का बखान करना, उसके हीन गुणों की प्रशंसा करना, पैर के अंगूठे से जमीन खोदना और खखारना—" ये पुरुष के प्रति आसक्त स्त्री के लक्षण समझने चाहिए।

आगमोत्तर कालीन जैन-धर्म साहित्य में नीति— (५वीं शताब्दी मे १०वीं शताब्दी तक) :—

आगम युगीन जैन ग्रन्थो मे भी कही-कही व्यावहारिक नीति उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से रत्नशेखर सूरि के 'व्यवहार शुद्धि प्रकाश' बहुत उत्तम है। यहाँ आजीविका के साथ उपाय पुत्र, ऋण, परदेश आदि जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत भाषा का कथा-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध है। यद्यपि इस वाङ्मय का अधिकाश धर्म प्रचार के लिए गढ़ा है किन्तु उनमे व्यवहार नीति का अश भी प्रचुर मात्रा में समाहित है। नीति शिक्षा प्राय: छन्दोबद्ध रहती है। इसमें उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

देवभद्र सूरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कहारयण कोस' (कथारत्न कोष) में धन की महिमा इस प्रकार गाई गई है :—

परिगलइ मई मइलिज्जई जसो नाऽदरंति सयणा वि।
आलस्स च पयट्टइ विप्फुरइ मणम्मि रणरणओ॥
उच्छरइ अणुच्छाहो पसरइ सव्वंगिओ महादाहो।
किं किं व न होइ दुहं अत्थविहीणस्य पुरिसस्स॥

अर्थात् धन के अभाव मे मति भ्रष्ट हो जाती है, यश मलिन हो जाता है, स्वजन भी आदर नही करते, आलस्य आने लगता है, मन उद्विग्न होता जाता है, काम में उत्साह नही रहता, समस्त अग मे महा दाह उत्पन्न हो जाता है। धनहीन पुरुष को कौन-सा दुख नही होता?

कुमारपाल प्रतिबोध का एक सुभाषित इस प्रकार है :—

सीहह केसर सइहि, उरु सरणागओ सुहडस्स।
मणि मत्थइ आसीविसह किं घिप्पइ अमुयस्स॥

अर्थात्—सिंह की जटाओं, सती स्त्री की जघाओं, **शरण** में आये हुए सुभट **और** आशीविष सर्प के मस्तक **की मणि** को कभी नही स्पर्श करना चाहिए।

सुमतिसूरि के 'जिनदत्ताख्यान' मे पर स्त्री **दर्शन के** त्याग का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

ते कह न वंदणिज्जा, जे ते दट्ठुण परकलत्ताइं।
धाराहयव्व वसहा, बच्चंति महिं पलोयंता॥

अर्थात् ऐसे लोग क्यों वन्दनीय न हों जो स्त्री **को** देख कर वर्षा से आहत वृषभो की भाँति नीचे जमीन **की** ओर मुह किए चुपचाप चले जाते है।

प्रश्न शैली मे पृथ्वी को स्वर्ग बनाने वाले **चार** पदार्थो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

उच्छूगामे वासो सेयं सगोरसा सालो।
इट्ठाय जस्स भज्जा पिययम ! किं तस्स रज्जेण ?।

हे प्रियतम ! ईख वाले गांव मे वास, सफेद **वस्त्रों** का धारण गोरस और शालि का भक्षण तथा **इष्ट भार्या** जिसके निकट हो उसे राज्य से क्या प्रयोजन?

यहाँ अनेक गाथाओं मे स्त्री-पुरुषों के स्वभावादि के सम्बन्ध मे सुन्दर कथन है। एक गाथा का व्यंग्यार्थ कितना सत्य एवं व्यवहार सिद्ध है :—

धन्ना ता महिलाओ जाणं पुरिसेसु कित्तिमो नेहो।
पाएण जओ पुरिसा महुयरसरिसा सहावेणं॥

अर्थात् पुरुषो से कृत्रिम स्नेह करने वाली **स्त्रियाँ भी** धन्य हैं क्योंकि पुरुषों का स्वभाव भी तो भौरों **जैसा ही** होता है।

हरिभद्रसूरि के उवएसपद (उपदेश पद) की **प्रश्नोत्तर** शैली दो गाथा मे देखिए—

को धम्मो जीवदया, किं सोक्खमरोग्गयाउ जीवस्स।
को सोहो सब्भावो किं पडिव्वं परिच्छेओ।
किं विसमं कज्जगती, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही।
किं सहुगेज्झ सुयणो, किं दुग्गेज्झे खलो लोओ॥

अर्थात् धर्म क्या है? जीव दया! सुख **क्या है?** आरोग्य। स्नेह क्या है? सद्भाव। पाडित्य क्या है? हितहित का विवेक। विषम क्या है? कार्य की गति।

प्राप्त क्या करना चाहिए; शुभ गुण। सुख से प्राप्त करने योग्य क्या है ? सज्जन पुरुष। कठिनता से प्राप्त करने योग्य क्या है ? दुर्जन पुरुष।

जयसिंह सूरि के 'धर्मोपदेशमाला' मे दो कटु सत्य देखिए—

अपात्रे रमते नारी, गिरौवर्षति माधवः।
नीचमाश्रयते लक्ष्मी: प्राज्ञः प्रायेण निर्धनः॥

अर्थात्—नारी अपात्रमें रमण करती है, मेघ पर्वत पर बरसता है, लक्ष्मी नीच का आश्रय लेती है और विद्वान प्रायः निर्धन रहता है।

रञ्जावेंति न रञ्जंति लेंति हिययाइं न उण अप्पेंति।
छप्पण्णय बुद्धीओ जुवईओ दो विसरिसाओ॥

अर्थात्—स्त्रियां दूसरेका रंजन करती है, लेकिन स्वय रंजित नही होतीं। वे दूसरो का हृदय हरण करती है, लेकिन अपना हृदय नही देतीं। दूसरों की छप्पन बुद्धियां उनकी दो बुद्धियों के बराबर है।

क्षण में दरिद्रता मिटाने वाले भद्र अभद्र धंधों की एक सूची देने वाली गाथा इस प्रकार है :—

खेत्तं उच्छूण समुद्दसेवणं, जोणिपोसणं चेव।
निवईणं च पसाओ खणेण निहणंति दारिद्दं॥

अर्थात् ईख की खेती समुद्र यात्रा (विदेश में जाकर धधा करने) योनि पोषण (वेश्या वृत्ति) और राज्य कृपा—इन चार उपायों से क्षण भर में दरिद्रता नष्ट हो जाती है। आदर्श के कथनों के उस युग में भी यथार्थ की इतनी स्पष्टोक्ति, साहस ही कही जायगी। ऐसे और भी अनेक कथन सहज सुलभ है।

स्त्री के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है—

महिला हु रत्तमेत्ता उच्छुखंडं व सक्करा चेव।
हरइ विरत्ता सा जीवियंपि कसिणाहिगरलव्व॥

अर्थात् जब महिला आसक्त होती है तो उसमे गन्ने के पोरे अथवा शक्कर की भाति मिठास होता है और जब वह विरक्त होती है तो काले नाग की भांति उसका विष जीवन के लिए घातक होता है। एक अन्य प्रसिद्ध कथन लीजिए—

पढम पि आवयाण चिंतेयव्वो नरेण पडियारो।
न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउ तरइ कोई॥

अर्थात् विपत्ति के आने के पहले ही उसका उपाय सोचना चाहिए। घर मे आग लगने पर क्या कोई कुआ खोद सकता है।

मलधारी हेमचन्द्र सूरि की 'उपदेशमाला' ५०५ मूल गाथाओं की एक दूसरो उपयोगी रचना है।

उसका यह कथन कितना विचित्र है—

जायमानो हरेद्भार्यां वर्धमानो हरेद्धनं।
म्रियमाणो हरेत् प्राणान् नास्ति पुत्र समो रिपुः॥

अर्थात् पुत्र पैदा होते ही भार्या का हरण कर लेता हैं, बड़ा होकर धन का हरण करता है, मरते समय प्राणों का हरण करता है। इसलिए पुत्र के समान और कोई शत्रु नही है। कहने की आवश्यकता नही कि यह कथन अटपटा होते हुए भी लौकिक अनुभव की दृष्टि से बावन तोले पाव रत्ती है। इस प्रकार के सहस्रो नीति परक उपयोगी कथन प्राचीन जैन ग्रन्थ मजूषाओ मे सुरक्षित है। इन कथनो का प्रचार और प्रसार धर्म की अपेक्षा लौकिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय हित-साधन की दृष्टि से कही अधिक आवश्यक है। काश, भ्रष्टाचार के इस अंधेरे युग मे जैनागमो के नैतिक कथनो का पुनीत प्रकाश फैल पाता।

कमल पराग का लोभी एक भौंरा उसके अन्दर बन्द हो यह सोच रहा था कि रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होगा, कमलकलिका खिलेगी और मैं पुनः रस ले उड़ जाऊँगा। दुःख है कि इतने में एक हाथी ने उस कमलिनी को मुख में दबा लिया। यही दशा विषयी जीवन की है।

विशालकीर्ति व अजितकीर्ति

विद्याधर जोहरापुरकर

मराठी में विशालकीर्ति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा उपलब्ध है। लेखक ने अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति बताया है किन्तु रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया। रचना मराठी में होने से लेखक के गुरु कारंजा के भट्टारक होगे ऐसा अनुमान स्वाभाविक था किन्तु कारंजा में देवेन्द्रकीर्ति नाम के छः भट्टारक हुए है अतः कौन से देवेन्द्रकीर्ति लेखक के गुरु थे यह स्पष्ट नही हो सका। रचना की हस्तलिखित प्रति शक १६१० की प्राप्त है। इसके पूर्व भी कारंजा में दो देवेन्द्रकीर्ति हुए थे अतः यह बात अनिश्चित रही थी। डा० सुभाषचन्द्र अक्कोके के प्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' (सुविचार प्रकाशन मंडल, पूना द्वारा १९६८ मे प्रकाशित)।

महाराष्ट्र मे नान्देड नगर के निकट पूर्णा नदी के तीर पर उखलद ग्राम है। यहाँ के जिनमन्दिर की मूर्तियो के लेखों का सारांश एन्युअल रिपोर्ट आफ इन्डियन एपिग्राफी (भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा संकलित) के वर्ष १९५८-५९ के प्रकाशन में दिया है। इनमे से क्र० बी २१६, २६६ तथा २७० से उपर्युक्त प्रश्न सुलझने मे मदद मिली है। यह सारांश हमने जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ (जो भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा अभी-अभी प्रकाशित हुआ है) मे लेख क्र० २६० से २६२ के रूप मे सकलित किया है। तीनों लेखों की तिथि शक १५४१ अर्थात सन १६२० दी गयी है। प्रथम लेख मे प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम विशालकीर्ति अंकित है, दूसरे लेख मे उन्ही का नाम मूलसंघ सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण इस सप्रदाय नाम के साथ है तथा तीसरे लेख में देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विशालकीर्ति ऐसा उनका उल्लेख है। अर्थात धर्मपरीक्षा की उपलब्ध प्रति के लगभग ७० वर्ष पूर्व ये विशालकीर्ति हुए थे। उनकी इस निश्चित तिथि के मालूम हो जाने से अब यह कहा जा सकता है कि वे कारंजा के देवेन्द्रकीर्ति नामक द्वितीय भट्टारक के शिष्य होंगे जिनकी ज्ञात तिथियां शक १५०३ से १५१४ तक हैं (भट्टारक सम्प्रदाय, जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर १९५८ पृष्ठ ५०-५१)। इन देवेन्द्रकीर्ति के पट्टशिष्य कुमुदचन्द्र की ज्ञात तिथियां शक १५२२ से १५३५ तक हैं। अतः कुमुदचन्द्र के गुरुबन्धु के रूप मे विशालकीर्ति का शक १५४१ में उल्लेख सुसंगत ही होगा। कुमुदचन्द्र के शिष्य वीरदास का मराठी सुदर्शन चरित्र उपलब्ध है।

मराठी मे अभयकीर्ति द्वारा शक १५३८ में रचित अनन्तव्रतकथा का हमने सपादन किया था (सन्मति मासिक, बाहुबली-कोल्हापुर, मई ५८)। इनके गुरु का नाम अजितकीर्ति बताया गया है। इस नाम के कुछ भट्टारक लातूर की परम्परा मे हुए है किन्तु उनका समय शक १५३८ से काफी बाद का है। अतः अभयकीर्ति किस स्थान की परम्परा से सम्बद्ध थे यह स्पष्ट नहीं हो पाया था। उखलद के ही शिलालेखो के उपर्युक्त सारांश मे क्र० बी २६६-७ पर प्राप्त विवरण से यह प्रश्न भी सुलझ सकता है। यह जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ मे लेख क्र० २४२-३ के रूप मे संकलित है। इनमें से दूसरे लेख में तिथि नही है किन्तु धर्मचन्द्र-धर्मभूषण-देवेन्द्रकीर्ति-अजितकीर्ति यह परम्परा दी गई है। कारजा के भट्टारकों की परम्परा से मिलान करने से स्पष्ट होता है कि इसमे उल्लिखित धर्मभूषण के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति उपर्युक्त द्वितीय देवेन्द्रकीर्ति ही हैं जिनकी ज्ञात तिथियां शक १५०३ से १५१४ तक है। इनके शिष्य अजितकीर्ति थे अतः वे शक १५३८ के अनन्तव्रतकथारचयिता अभयकीर्ति के गुरु होना सुसगत है। इन दो लेखों में पहला लेख शक १५०६ का बताया गया है। इसमें धर्मभूषण के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति के किसी शिष्य का नाम उल्लिखित है किन्तु यह अधूरा है—इसका उत्तरार्ध कीर्ति है, पूर्वार्ध पढ़ा नहीं गया है।

उपर्युक्त चर्चा से निष्पन्न गुरुशिष्यपरम्परा इस प्रकार दिखाई जा सकेगी—

श्रावक की ५३ क्रियाएँ
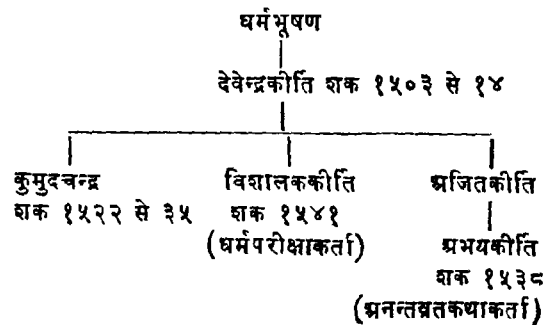
बंशीधर शास्त्री एम. ए.

पुराण साहित्य में श्री जिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण का महत्त्व सर्वविदित है। इसके उत्तरवर्ती साहित्यकारों तथा आचार्यों ने इसके विषय, परम्परा, शैली आदि का अनुकरण किया है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डा० एस० भट्टाचार्य ने इसे भारत एव भारतीय जीवन का विश्वकोष बताया है।

इसमें आदिनाथ भगवान का सपरिवार पूर्ण चरित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके पुत्र भरत का पूर्ण विवरण दिया गया है। भरत ने किस प्रकार चक्रवर्ती पद प्राप्त किया, उन्होंने दान देने योग्य पात्र ढूंढने हेतु किस प्रकार परीक्षण किया, उन्हें उनके कर्त्तव्यो का किस प्रकार भान कराया आदि का विस्तृत वर्णन ग्रन्थ में किया गया है। भरत तद्भव मोक्षगामी अवश्य थे किन्तु गृहस्थावस्था में उनके द्वारा किये गए सभी कार्य मान्य एवं विधेय नहीं हो जाते।

उन्होंने चारों ओर विजय प्राप्त कर दान देने की सोची थी लेकिन उसके लिए कौन योग्य पात्र हो इसके लिए एक परीक्षण का आयोजन किया। इन्होंने जिनको दया, प्रवण, हिंसा से बचने वाले समझा उन्हें ब्राह्मण वर्ण के रूप में स्थापित किया और उन्हें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया, क्रियान्वय क्रिया आदि करने का उपदेश दिया है।

यद्यपि आदिपुराण से प्राचीन किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ मे इन क्रियाओं को करने का उपदेश नहीं मिलता है फिर भी भरत ने इनकी भूमिका बताते हुए कहा कि श्रावकाध्याय संग्रह मे वे क्रियाए तीन प्रकार की कही गई है सम्यग्दृष्टि पुरुषों को उन क्रियाओं का पालन अवश्य करना चाहिए।

५३ गर्भान्वय क्रियाएँ इस प्रकार बताई गई है '—

१. आधान, २. प्रीति, ३. सुप्रीति, ४. धृति, ५. मोद, ६. प्रियोद्भव, ७.नामकर्म, ८. बहिर्यानि, ६. निषधा, १०. प्राशन, ११. व्युष्टि, १२. केशवाप, १३. लिपि-संख्या व संग्रह, १४. उपनीति, १५. व्रतचर्या, १६. व्रतावतरण, १७. विवाह, १८. वर्ण लाभ, १६. कुलचर्या, २०. गृहीशिता, २१. प्रशान्ति, २२. गृह त्याग, २३. दीक्षाद्य, २४. जिनरूपता, २५. मौनाध्ययन वृत्तान्त, २६. तीर्थकृत् भावना, २७. गुरुस्थानाम्युपगम, २८. गणोपग्रहण स्वगुण स्थान संक्रांति, ३०. निःसंगत्वात्मभावना, ३१. योग निर्वाण संप्राप्ति, ३२. योग-निर्वाण साधन, ३३. इद्रोपपाद, ३४. अभिषेक, ३५. विधिदान, ३६. सुखोदय, ३७. इन्द्र त्याग, ३८. अवतार, ३६. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता, ४०. मन्दरेन्द्र अभिषेक, ४१. गुरुपूजोपलम्भन, ४२. यौवराज्य, ४३. स्वराज्य, ४४. चक्रलाभ, ४५. दिग्विजय, ४६. चक्राभिषेक, ४७. साम्राज्य, ४८. निष्क्रान्ति, ४६. योगसन्मह, ५०. आर्हन्त्य, ५१. तद्विहार, ५२. योगत्याग, ५३. अग्र निवृत्ति।

ये क्रियाएं इस जीव के एक भव मे सम्पन्न नहीं होंगी अपितु तीन भवों में सम्पन्न होगी। पहली क्रिया से ३२वीं क्रिया तक मनुष्य भव मे, ३३वीं क्रिया से ३७वीं क्रिया तक स्वर्गलोक में एवं ३८वीं क्रिया से ५३वीं तक फिर मनुष्य भव मे जन्म लेने पर होगी। पहली से १३वीं क्रिया मनुष्य के माता-पिता द्वारा की जावेगी। एक जीव इसी क्रम से मनुष्य बने, फिर इन्द्र बने, फिर मनुष्य भव धारण कर चक्रवर्ती एव तीर्थंकर बने तब ये क्रियाएं पूर्ण हो। इस पूरे अवसर्पिणी काल में केवल ३ चक्रवर्ती ही तीर्थंकर बन पाए है। उन्होंने अपने पूर्व भवों में ये क्रियाएं की हों ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। स्त्रियों के लिए इन क्रियाओं का विधान ही नही है। अतः इन क्रियाओं को प्रत्येक सम्यग्दृष्टि करे ऐसा सम्भव नहीं हो सकता एक प्रश्न यह भी उठता है

कि द्वितीय बार मानुष्य भव धारण करने पर प्रथम बीस क्रियाएं करने का विधान क्यों नही किया गया :

लगता है कि ये सब क्रियाएं भरत ने अपनी राजकीय सत्ता के बल पर प्रजाजनो को करने को कह दी है लेकिन न तो इनका कभी प्रचलन रहा है और न किसी प्राचीन शास्त्र में उल्लेख मिलता है।

इस प्रसंग मे एक तथ्य और विचारणीय है। भरत ने भी ऋषभदेव से जाकर निवेदन किया कि मैने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया है और उन्हे व्रतचिह्न सूत्र दिया है लेकिन आपके रहते हुए मेरा यह करना ठीक है या नही ? इस विचार से मेरा चित्त डोलायमान हो रहा है। भगवान् ऋषभदेव ने कहा कि :—

पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः।
वत्स्र्यद्युगे प्रवत्स्र्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः।

सर्ग ४१ श्लोक ५३

द्विजातिसर्जनं तस्मान्नाद्य यद्यपि दोषकृत।
स्याद्दोष बीजमायत्यां कुपाखण्डप्रवर्तनात्॥

सर्ग ४१, श्लो० ५४

अर्थ—पाप के चिन्हस्वरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले और प्राणियो के मारने मे तत्पर धूर्त ब्राह्मण आगामी युग मे समीचीन मार्ग के विरोधी होंगे। आज ब्राह्मणों की रचना भले ही दोष रूप न हो किन्तु आगे पाखण्ड मतो के प्रवर्तन करने मे दोष का बीज रूप है।

यज्ञोपवीत पापसूत्र का विशेषण देकर भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हे ये विधान नहीं लगाना।

भगवान ऋषभदेव ने अपने शासन काल में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण ही स्थापित किए थे और उन्होंने इन क्रियाओं को करने का कथन नही किया।

भरत द्वारा वर्णित ५३ क्रियाओं का किसी भी प्रामाणिक श्रावकाचार में उल्लेख नहीं मिलता। हां आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने रयणसार में श्रावक के लिए निम्न ५३ क्रियाएं बताई हैं :—

गुणवयतवसमपडिमादानं जलगालणं अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया॥

भणिया ३६

मूलगुण ८, व्रत १२ तप १२, समता, प्रतिमा ११, दान ४, जलगालन, रात्रिभोजन त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यक-ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये श्रावक की ५३ क्रियाएं हैं। इन क्रियाओं का जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है।

यदि हम ठीक से विचार करे तो धार्मिक जीवन की दृष्टि से इन क्रियाओं का उपयोग एव महत्त्व है। धार्मिक जीवन मे गर्व, विवाह, चोटी या मूंज की डोरी या सूत की डोरी या धोवती धारण करने का कोई महत्त्व नही है।

यह बात ठीक है कि भरत द्वारा वर्णित ५३ क्रियाओं का जैन शासन में न महत्त्व रहा, न प्रचलन ही रहा फिर भी कुछ भाई आदिपुराण मे इसका उल्लेख होने के कारण इन्हें अपनाने के लिए कहते है। इनमे से कई क्रियायें जैसे गर्व विवाह आदि, सामाजिकता के कारण से होती हैं उनके अतिरिक्त अन्य क्रियायें नहीं होती। आदि पुराण मे कई ऐसी घटनाओं का (मधमांस का सेवन, पर स्त्री हरण) उल्लेख किया गया है जो त्याज्य है, हम उन्हे करने लग जावे यह तो ठीक नही है।

मुझे तब आश्चर्य होता है जब कई विद्वानों से भी यह सुनने को मिलता है कि यज्ञोपवीत आदि संस्कारो का वर्णन आदि पुराण में मिलता है। जब उनसे इसके विस्तार में चर्चा की जाती है तो यह कह देते हैं कि पूरा प्रसंग हमारा देखा हुआ है।

पाठकों एवं विद्वानों से अनुरोध है कि वे इसका ठीक अध्यन कर समाज के सामने वास्तविक स्थिति रखे। सभव है मेरी समझ मे कही भूल रह जाय; क्योंकि भूल रह जाना सभव है। भूल को भूल स्वीकार नही करना महाभूल है इसलिए विद्वत्गण इस विषय मे अधिक प्रकाश डालें।

अपभ्रंश का जयमाला-साहित्य

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अपभ्रंश में साहित्य की अनेक विधाएं मिलती हैं, पर आजतक समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया। यहाँ ऐसे ही एक उपेक्षित विधा का निर्देश किया जा रहा है। जयमाला का साहित्य केवल जैन साहित्य की ही देन है। क्योंकि अनेक प्रकार की पूजाओं को विविध राग-रागिनियों में पद्यबद्ध करने का कार्य जैन विद्वान् एवं आचार्य बहुत समय से करते चले आ रहे हैं। यह पुष्प जयमाला प्रायः जिनमूर्ति के कलशाभिषेकोत्सव के अनन्तर पूजा-स्तवन के रूप मे गाई जाती रही है। केवल शब्द व अर्थ की दृष्टि से ही नहीं साहित्य की दृष्टि से भी ये महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत जयमाला मध्य प्रदेश के भानपुरा के शास्त्र-भण्डार के गुटके से प्रतिलिपि की गई है। भाषा और भाव दोनों ही रूपों मे रचना सुन्दर है। रचना के लेखक ब्रह्म नेमिदत्त हैं। ये मूलसघ के आ० मल्लिभूषण के शिष्य थे। नेमिदत्त ने सिंहनन्दी का भी स्मरण किया है। रचना २५ छन्दो मे निबद्ध है। लेखक ने अपना परिचय स्वयं इन शब्दों में दिया है—

श्रीमूलसंघ मंगलकरण, मल्लिभूवणगुरु णमि विमल।
सिरिसिंहणंदि अभिणंदि करि, णेमिदत्त पभणह सकल॥

ब्रह्मनेमिदत्त मूलसघ सरस्वती गच्छ बलात्कार-गण के विद्वान् भ० मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध में पं० परमानन्द जी शास्त्री ने प्रकाश डालते हुए लिखा है[1]—'आपकी ये सब रचनाएं वि० स० १५७५ से १५८५ तक रची हुई जान पड़ती है। इससे आप सोलहवी शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे।' माला-रोहिणी के नाम से प्रकाशित यह रचना कही-कहीं त्रुटित थी, इसलिए पाठकों की जानकारी के लिए पूर्ण पुष्प-जयमाला प्रकाशित की जा रही है। प्राप्त जयमालाओं मे यह रचना प्राचीन प्रतीत होती है। सम्भवतः इससे पूर्व की रचना अभी तक नही मिली। इससे रचना का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। भाषा सरल और प्रसाद गुण से युक्त है। अपभ्रंश भाषा के लालित्य के निर्देशन की दृष्टि से भी रचना महत्वपूर्ण मानी जा सकती है।

सयल जिणेसर जयकमल पणविवि जगि जयकार।
फुल्लमाल जिणवर तणी पभणउं भवियणतार॥१॥
सिरि रिसभ अजिय संभव अभिणंदण
सुमति जिणेसरु पापणिकंदण।
पउमप्पह जिण णामें गज्जउं,
सिरि सुपासु चन्दप्पहु पुज्जउ॥२॥
पुप्फयंतु सीयलु पुज्जिज्जइ, जिणि सेयांसु मणिहिं भाविज्जइ
वासुपुज्जु जिणपुज्जु करेप्पिणु, विमलु अणंतु धम्मु झाएप्पिणु॥
संतिकुंथु अरमल्लिजिणेसरु, मुणिसुव्वय परमेसरु।
नमि नेमीसरपाय पुज्जेसिउ,
भवसायरहुं पाणिय देसित्थं॥४॥
पासणाह भवपासणिवारणु, वड्ढमाणजिणु तिहुवणतारणु।
ए चउवीस जिणेसर वंदिवि, सिवि गामिणि सारद
अभिणंदिव॥५॥

सिरिमूलसंघ महिमारयणायर, गुरु णिग्गंथ णमउं सुयसायर
सिरिजिणफुल्लमाल वक्खाणउं,
नरभव तणउं सार फल माणउं॥६॥
आर्या—**भो भवियण भव भवहरण तारण तरण समत्थ।**
जाती कुसुम करंज लिहि फुज्जहु जिण बोहत्थ॥७॥
त्रिभंगी छद—**जाती सेवत्ती वरमालती चंपय जुत्ती विकसंती**
बब्बर श्रीमाला गधविलासा कुज्जय धवला सोभंती॥
रत्तुप्पल फुल्लहि कमलनवल्लहि जूहीजुल्लहि जयवंती।
मचकुंदकयंबहि दमणयकुंदहि नाना फुल्लहि महकंती॥८॥

---

१. पं० परमानन्द जैन शास्त्री: ब्रह्मनेमिदत्त और उनकी रचनाएं, अनेकान्त, वर्ष १८, किरण २, जून १९६५, पृ० ८२-८४

सग्गमोक्खसुहकारिणी मालजिणिंदह सार ।
विणउ करेप्पिणु मंगियह जिम लागह भवपार ॥६॥
मौक्तिकदाम छंद—समोगर फुल्ल महक्कइ माल,
मधुक्कर ढुक्कहि गंधरसाल ।
सुपाडल पारियजाइ बिचित, जिणंजर पुज्जहु लोयपवित्त ॥
सयल सुराधिप पुज्जिउ, पुज्जहु सिरि जिणदेउ ।
धणकणजणसपय लहहु, दुक्ख तणउ होइ छेउ ॥११॥
मौक्तिकदाम छद—
सुरासुरकिण्णर खेयर भूरि, जिणिदु पयच्चहिं णच्चहिं नारि,
सुग्रपच्छर गार्वाहं सोक्खहधाम,
जिणिंदह सोहइ मोत्तियदाम ॥
भवियणजण जिणपयकमल माल महंघिय लेहु ।
णियलच्छिय फलु करहु दुक्खु जलंजलि वेहु ॥१३॥
त्रिभंगी—दुक्ख वेहु जलंजलि जिण कुसुमांजलि,
दुज्जहु भवियण सोक्खकरं ।
जिणभवणि पवित्तं णिम्मल चित्तं,
मिलियउ चउवीसह संघवरं ॥१४॥
इहु अवसर सार गुणह भंडार णवि लाभइ बहु पुण्ण विणं ।
जिणवरणयमाला फुल्लिविसाला,लिज्जइचंचलजाणिधण ॥
धणु जोव्वणु कचणु रयणु परियणु भवणु वि सव्वु ।
जलवुव्वुव करि कण जिम चंचलु म करहु गव्वु ॥१६॥
पंचचामर छद—म जाहु गव्वु देहु दव्वु लेहु माल णिम्मली
तुषारहारचंदगोर कित्ती होइ उज्जली ॥
सुरिंदविंदमुत्तरिंद खेयरिंद पुज्जिया ।
जिणिंदपायपोममाल सव्व दोस वज्जिया ॥१७॥

नित जिन भवियण जिणभवणि करहु महोत्सवसार ।
मनवांछिय संपय लहहु पुण्णु पावहु भवपार ॥१८॥
सोमराजी छंद—भवस्सेवपार महादुक्खहार,
तिलोकेकसारं जणाणंदकारं ।
परं देवदेवं सुरिंदेण सेवं जिणिंद अणिंदं जजे धम्मकंदं ॥१९
बलि बलि अवसरु णवि मिलइ णवि दीसइ थिर काइ ।
जिणधम्महि मणु दिढु करहु काल गलंतहु जाइ ॥२०॥
पचचामर छंद—गलति झत्ति जाइ कालु मोहजालु वड्ढई ।
सु होहि जाणु भव्व भाणु अग्गि जेम कड्ढई ।
जिणिदचंद पायपुज्ज धम्मकज्ज किज्जई ॥
सुपत्तदाणु पुण्णगण्णु वयणिहाणु लिज्जई ॥२१॥
लिज्जए फलु णियकल तणउ लच्छियचपलसहाओ ।
सिरि जिणपुज्ज करेवि लहु मनि धरि णिम्मलभो ।
त्रिभंगी—मणि भाउ धरेप्पिणु पुज्ज,
करेप्पिणु मालामहोच्छव णिम्मलाओ ।
जिणि भवणि करिज्जइ धणु वेविज्जइ सुह संचइ उज्जलाओ
णाणाविह तूरहिं गभीरहि भेरीभं भा सद्द सुहो ।
कंसालहि तालहि मगलाधवलहि माला जिणिदह लेहु लाहो ।
मालाजिणिंदह तणिय लेहु लाहु तिहुवण तारण भवियण जण ।
उपगारसार संपयसुहकारण रोगसोगवालिद्ददुक्खु ।
णवि नीडओ आंवई जिणवरपायपसायजीव
वांछियफलपावइ ॥
श्रीमूलसघमंगलाकरण मल्लिभूषण गुरु णवि विमल ।
सिरिसिंहणदि अभिणदि करि णेमिदत्त पभणई सकल ॥
इति श्री जिन माला समाप्ता श्रीरस्तु ॥

सफल साधना

साधक ! तेरी मंजिल बहुत दूर है। उसे पाने के लिए तू साधना करता रह। साधना का मार्ग बड़ा विषम है। प्रत्येक कदम पर तीक्ष्ण कांटे बिछे हुए हैं। तेरी गति में बाधक बनने वाली विपदा के बड़े-बड़े पहाड़ खड़े हैं। तेरी अमूल्य निधि को लूटने के लिए राग-द्वेष आदि जबर्दस्त तस्कर घूम रहे हैं। तुझे पराजित करने के लिए क्रोध आदि योद्धा अवसर निहार रहे हैं। काम-पिशाच अपनी सशस्त्र सेना सहित तुझे पराजित करने के लिए विस्फारित वदन तेरी प्रतीक्षा कर रहा है, शीत और ताप भी तुझे विचलित करने के लिए अपना अतुल पराक्रम दिखा रहे हैं। अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग भी तेरी परीक्षा करने के लिए समुद्यत हैं।

फिर भी साधक ! सावधान रहना, घबराना मत, बढ़ते जाना। समुद्र चाहे अपनी मर्यादा छोड़ दे, सुमेरु चाहे डगमगा जाए। सूर्य पूर्व दिशा को छोड़कर पश्चिम दिशा में उदित होने लगे, तो भी तू अपनी साधना से विचलित न होना। अनुकूल और प्रतिकूल कष्टों का सामना करते हुए भी आगे बढ़ते रहना। तेरी साधना अवश्य सफल होगी।

एक ऐतिहासिक आख्यान—

आत्म-विजय की राह

श्री 'ठाकुर'

आज से पच्चीस शताब्दी पूर्व की घटना है। उन दिनों श्रावस्ती एक प्रसिद्ध महाजनपद थी। वह कोशल की राजधानी थी। महाराज प्रसेनजित कोशल के अधिपति थे। उन दिनों श्रावस्ती में बड़े-बड़े धनकुबेर रहते थे, जिनके सौधों पर स्वर्णकलश और ध्वजाएं लहराती थीं। जितनी ध्वजाए लहराती थीं; उतनी कोटि स्वर्ण-मुद्राओं का वह स्वामी समझा जाता था। ऐसे भी धन-कुबेर वहाँ थे, जिनका स्वर्ण चहबच्चों में भरा रहता था और उनके स्वर्ण की गिनती शकटों में भार से की जाती थी।

ऐसे ही धनकुबेरों में एक थे समन्तभद्र, जिनके सार्थ सुदूर देशों में जाते थे और वहाँ की सम्पदा लाकर उनके चहबच्चों मे जमा करते रहते थे। श्रेष्ठी समन्तभद्र, देव, पितरों और ब्राह्मणों का बडा भक्त था। वैदिक क्रिया-काण्डों मे उसकी अगाध आस्था थी। वह वैदिक धर्म का नेता था।

तीर्थङ्कर महावीर अपने शिष्य परिकर सहित श्रावस्ती पधार रहे हैं, यह समाचार जब से प्रचारित हुआ है, तब से श्रावस्ती के ब्राह्मणों की उत्तेजना का कोई पार नही था। नगर के चतुष्पथों, हाटों और वीथियों में अपनी अनर्गल बातों से अपने अदम्य क्षोभ का प्रदर्शन कर रहे थे। श्रेष्ठी समन्तभद्र के आवास मे न जाने कितनी परिषदे आयोजित की गई और उनमे तीर्थङ्कर महावीर के अलौकिक प्रभाव से वैदिक जनों की न जाने कितनी योजनाए बनी और बिगडी।

तभी समाचार मिला कि श्रेष्ठी समन्तभद्र का कनिष्ठ पुत्र मणिभद्र श्रावस्ती से दो गव्यूति दूर जाकर भगवान महावीर के दर्शन करके लौटा है। यह दुःसवाद पवन के रथ पर आरूढ़ होकर नाना रूपो मे श्रावस्ती के हर कोने मे फैल गया। सारी योजना विच्छिन्न सी होती हुई प्रतीत होने लगी। समन्तभद्र ने सुना तो मर्माहत होकर बैठे रह गये। यज्ञ-विधान का प्रमुख नेता आचार्य माण्डव्य उनके पास बैठा हुआ सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति के समवेत रोष का प्रदर्शन कर रहा था। वह रक्त नेत्रों से देखता हुआ कह रहा था—'सेठ! यह मायाचार है। ब्राह्मण इसे सहन नही कर सकते। उनमे अभी तक ब्रह्म तेज विद्यमान है। वे अपने इस तेज से तुम्हें और तुम्हारे वंश को भस्म करने की शक्ति रखते है। तुमने ही मणिभद्र को निगंठ नाथ-पुत्त के पास भेज कर वैदिक पक्ष को आघात पहुँचाया है। आज समाज तुम्हे वहिष्कृत करता है।

सेठ अपराधी की भांति इस प्रताड़ना को सुन रहा था। उस वृद्ध के नेत्रों में दुख, ग्लानि और पश्चाताप आंसू बनकर बह रहे थे। वह करुण मूर्ति बना हुआ आचार्य माण्डव्य के चरणों को अपने अविरत आंसुओं से प्रक्षालन करता हुआ कह रहा था—'आचार्य! मुझे क्षमा करें। मैं जानता हूँ मेरे पुत्र मणिभद्र का गुरुतर अपराध अक्षम्य है। किन्तु आप विश्वास करें, उसके इस अपराध मे मेरा कोई हाथ नहीं है। मैं उसे भयानक दण्ड दूंगा। आप अपने निर्णय को वापिस ले लें भविष्य मे मेरे परिवार का कोई सदस्य ऐसा अपराध नही करेगा। आचार्य क्षमा कर दे।' यों कहते-कहते उसका कण्ठ पश्चाताप और वेदना के आधिक्य से रुद्ध हो गया। वह आगे कुछ न बोल सका। वातारण मे उसकी वाष्परुद्ध हिचकियां ही सुनाई पड़ती रहीं।

किन्तु आचार्य माण्डव्य पर सेठ की इस करुण विनय का कोई प्रभाव नही पड़ा। वैदिक धर्म, महर्षियो की पवित्र वाणी और यज्ञ परम्परा के रक्षक के रूप मे उनका दायित्व महान था। ब्रह्मा के मुख से निर्गत वेदत्रयी की अपौरुषेय वाणी में ससार के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान अन्त-र्निहित है। वेद बाह्य कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं है। उसी

अपौरुषेय ज्ञान का विरोध वह निग्गंठ महाश्रमण कर रहा है और निर्ग्रन्थ के दर्शन सेठ पुत्र मणिभद्र कर चुका है, इससे बड़ा अपराध संसार में दूसरा कोई नही हो सकता, और यह सेठ उसी मणिभद्र का पिता है, वह वैदिक परम्परा का नेता है। इससे इस अपराध की गुरुता और अधिक बढ़ गई है। वह क्षमा नही किया जा सकता, किसी मूल्य पर भी नहीं। आचार्य ने सोचा और बड़ी दृढ़ता से बोले—श्रेष्ठी! अपने अपराध की गम्भीरता से तुम भी इनकार नहीं करोगे। क्या मणिभद्र तुम्हारी प्रेरणा के बिना वहां जाने का साहस कर सकता था। एक ओर तुम हमारे साथ होने का कपटाचार कर रहे हो और दूसरी ओर तुम उस निर्ग्रन्थ को निमन्त्रण देकर श्रेष्ठी समाज में सम्मान पाने का प्रयत्न कर रहे हो। तुम्हारे इस अनाचार को ब्राह्मण समाज कभी क्षमा न करेगा और उसने जो निर्णय किया है, उसे कभी वापिस नही लेगा।

सेठ समन्तभद्र जानता था कि आचार्य माण्डव्य का शासन कठोर है, उनका निर्णय अपरिवर्तनीय है। किन्तु वह निराश नही हुआ। उसने आचार्य के चरणो को कस कर पकड़ लिया और गिडगिड़ाते हुए कहने लगा—आचार्य! आप जो भी प्रायश्चित दे, वह मुझे स्वीकार है। किन्तु आप अपना निर्णय वापिस लौटा लीजिए। मै मणिभद्र को अभी प्रकोष्ठ मे बन्द कर देता हूँ। और उसे तभी मुक्त करूँगा, जब तीर्थंकर महावीर श्रावस्त त्याग कर दूर पहुँच जायंगे। मै अपने पुत्र मणिभद्र के प्रायश्चित स्वरूप नगर के ब्राह्मणो मे से प्रत्येक को सहस्र मुद्रा दूगा, स्वर्ण मण्डित सीगो वाली गाये दूंगा, ब्रह्म भोज दूगा। और जो आप आज्ञा देगे, वह सब करूगा। किन्तु आप अपना निर्णय लौटा ले। आचार्य! अपना निर्णय लौटा ले।

आचार्य ने प्रायश्चित की अन्तिम बाते ध्यान से सुनीं। उन्होंने वहाँ एकत्रित नगर के प्रमुख ब्राह्मणों की ओर देखा। उनकी आँखों में आचार्य ने पढ़ा—प्रायश्चित स्वीकार्य है। आचार्य की वणी मे कोमलता आ गई—'समन्तभद्र! तुम वैदिक समाज के नेता हो। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की दृष्टि तुम्हीं पर केन्द्रित है। तुम्हीं उसके आधार हो। अपने पुत्र मणिभद्र पर कठोर दृष्टि रखो, ब्राह्मण समाज तुम्हारे प्रायश्चित से सन्तुष्ट है। वह अपने निर्णय को वापिस लेता है।

सेठ सुन कर अत्यन्त आल्हादित हो गया। उसने उठ कर सभी ब्राह्मणों का चरण स्पर्श किया और सबको सन्तुष्ट करके बिदा किया।

(२)

कुमार मणिभद्र एकान्त में बन्दी था। परिवार का कोई सदस्य सेठ के कोप के भय से उसके पास जाने का साहस नहीं कर सकता था। कुमार सुबह से भूखा-प्यासा पडा हुआ था। वह सोच नही पा रहा था कि उसका अपराध क्या है, जिसका यह भयानक दण्ड दिया जा रहा है। वह मातृ विहीन था, घर में सबसे छोटा था। सबका प्रेम पात्र था। किन्तु आज उससे सभी विमुख हो रहे है, सभी उसके प्रति निष्ठुर हो रहे है। क्यों है यह सब। उसने बहुत सोचा, किन्तु उसकी समझ मे कोई कारण नही आया।

रात चारदण्ड व्यतीत हो चुकी थी। मणिभद्र की आखो मे नीद का नाम न था। भूख और प्यास से उसकी दशा सोचनीय हो रही थी। इस सम्पन्न समृद्ध परिवार मे वह आज एकाकी था, असहाय, अवश। किन्तु सन्तोष का एक सम्बल भी था उसके पास। जब से वह त्रिलोक-पति भगवान् महावीर के दर्शन करके लौटा है, उनका वह भुवन मोहन रूप उसकी आँखों के आगे फिर रहा है। वह अपनी आँखे बन्द करके उसी रूप को निहार रहा है। उस रूप मे अनन्त करुणा और जगत को अभय-दान की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है। और मणिभद्र उस दिव्य मन्दाकिनी को शीतल धारा में आलोडन कर रहा है। संसार का कोई ताप, कोई आकुलता अब उसे स्पर्श नही कर रही है। उसे सकट की इस वेला मे भी अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव हो रहा है।

तभी दरवाजा खुलने की आवाज से वह चौक उठा, उसने नेत्र खोलकर देखा—स्वर्ग की एक देवाङ्गना उसके निकट आ रही है। विस्मय से वह अवाक् रह गया। वह उस दिव्य रूप को अपलक निहारता रहा। तभी वह देवी बोली—"कुमार! तुम्हारे पिता तुम्हारे शत्रु बन ग

हैं। किन्तु अब तुम मुक्त हो।"

किन्तु देवी! आप कौन हैं? जो इस भाग्यहीन की मुक्ति का वरदान बनकर अवतरित हुई हो? क्या आप स्वर्ग की देवी है या नाग कन्या है?

सुनकर देवी के होठ सम्पुट मन्द हास्य से कुछ विकसित हो गए, मानो कली चटक उठी हो, वह सस्मित बोली—मै देवी नही साधारण मानवी हूँ। किन्तु इन बातों की भी मीमांसा का यह अवसर नही है। तुम यहाँ से शीघ्र निकल जाओ। परिचय का अवसर फिर भी मिल सकेगा। यदि किसी को ज्ञात हो गया तो तुम्हारी मुक्ति असम्भव हो जायगी। यह चाबी लो और पिछवाड़े के द्वार से उद्यान में होकर निकल जाओ। यों कह कर उसने चाबी कुमार के हाथ में दे दी।

किन्तु चाबी देते समय हाथ का स्पर्श हो गया जिससे दोनों के शरीर रोमाचित हो उठे। कुमार प्रातःकाल से इस असभावित कारण से खिन्न था—मन मे सोचने लगा—काश! मै यही इसी बन्धन में पडा रहूँ और यह दिव्य बाला इसी प्रकार मुक्ति का सन्देश लेकर मुझे चाबी थमाती रहे। कुछ क्षण दोनो ही आत्मविस्मृत से वहीं खडे रहे। तभी वह बाला सयत होकर बोली—"कुमार! बिलम्ब करने से अनर्थ की सम्भावना है। शीघ्रता करना ही श्रेयस्कर है।"

किन्तु कुमार की इच्छा जाने की नही हो रही थी। उस दिव्य रूपराशि के सम्मोह ने उसे जड़ बना दिया था। किन्तु उस रूपवती का बार-बार का आग्रह भी टाला नही जा सकता था, अतः वह अनिच्छा से अवश्य चल दिया। किन्तु वह बार-बार मुड़कर देखता जाता था और जब तक वह दृष्टि से ओझल न हो गया, वह बाला भी उसी ओर जाने वाले को अपलक देखती रही जब वह ओझल हो गया तो एक गहरी निश्वास उसके अनचाहे की निकल गई।

(३)

वसुभूति कौशाम्बी का नगर सेठ था। उसका व्यापार सुदूर देशों मे था। नगर का वह प्रतिष्ठित नागरिक था। जैनधर्म पर उसकी अगाध आस्था थी, भगवान महावीर के प्रति उसकी असदिग्ध भक्ति थी। लक्ष्मी उसके चरणों की दासी थी, किन्तु उसका जीवन अत्यन्त नीरस हो गया था। उसकी धर्मपरायण पत्नी का जबसे देहान्त हुआ था, उसके जीवन का सारा रस सूख गया था और व्यापार से भी प्रायः विरक्त हो गया। उसकी एकमात्र सन्तान उसकी पुत्री रत्नमाला थी। उसका सारा मोह उसी पर था। किन्तु पुत्री भी उसके विराग का ही कारण बन गई थी। वह सोलह साल बसन्तों का सम्पूर्ण सौरभ अपने अंगों मे भरकर गदराये आदमी की तरह मधुर और सुरभित हो गई थी। किन्तु यौवन जैसे उसके लिए उपेक्षा की वस्तु था। यौवन की दहलीज पर खड़े होकर भी मादकता कभी उसके मन में नही जागी थी। बल्कि वह जीवन के शैशव काल से ही संयम और साधना के मार्ग की पथिक बन गई थी। वह विराग का पाथेय लेकर एक सध्वी की तरह अपने मार्ग में बढ़ती जा रही थी। विकार उसके मन मे कभी अंकुरित नही हो पाये। साधना की दीप्ति ने उसके अंग-प्रत्यगों को एक अनिर्वचनीय लावण्य से जगमगा दिया था। किन्तु उस लावण्य मे प्रशान्त मोहन था, उन्माद का उत्ताप नही; एक मोहक स्निग्धता थी, जिसमें से पावकता की धाराए अजस्र वेग मे निःसृत होती थी।

पिता ने अपनी लाडली पुत्री से अनेक बार विवाह का अनुरोध किया, किन्तु पुत्री ने सदा विवाह से इनकार किया। तब व्यवहार चतुर पिता ने सोचा—यदि तीर्थ-वन्दना के बहाने इसे देशाटन कराया जाय तो शायद मेरी पुत्री में कुछ परिवर्तन आ सके और उसमे नये रूप में जीवन की स्पष्टता जाग सके। यह सोचकर वह अपनी पुत्री को लेकर विविध तीर्थों की यात्रा कराता हुआ श्रावस्ती आया। सेठ समन्तभद्र उसके अनन्य मित्रों मे से थे। उन्होने अनेक बार वसुभूति से श्रावस्ती आने का आग्रह भी किया था। अतः वसुभूति अपनी पुत्री रत्नमाला को लेकर समन्तभद्र के घर पर पहुँचे। सेठ समन्तभद्र ने अपने अनन्य सुहृद का हृदय से स्वागत किया और रत्नमाला को बड़े वात्सल्य और दुलार से अपनी पुत्री की तरह ग्रहण किया।

वसुभूति को तभी आवश्यक कार्य से कौशाम्बी लौटना पड़ा और वह रत्नमाला को छोड़कर चला गया। रत्न-

माला को यहाँ आये दो ही दिन हुए थे। किन्तु इसी बीच उसकी दृष्टि मणिभद्र की ओर आकर्षित हुई। वह सौम्य प्रकृति का स्वस्थ और सुन्दर युवक था। उसे देखते ही रत्नमाला की अवधारा मे अकस्मात् ही परिवर्तन होने लगा और वह जीवन के बारे मे एक नये ही दृष्टिकोण से सोचने लगी। उसके चिन्तन की धारा विलक्षण थी। उसके मनमे भोगो की लालसा तो एक क्षण को भी नही आई, किन्तु विवाह की एक अव्यक्त ललक रह रहकर उसे आन्दोलित करने लगी। सम्भव है इससे पिता जी के जीवन में एक शान्ति, एक सन्तोष आ सके।

तभी ब्राह्मण समाज की कुटिल दुरभि सन्धि की भनक उसके कानों मे पडी और कुमार मणिभद्र के कारा-वास का समाचार भी उसने सुना। सुनकर वह स्थिर न रह सकी। समय का जो आवरण उसने बड़े यत्न से अपने चारो ओर डाल रक्खा था, वह भी तार-तार कर गलने लगा। उसमें दुस्साहस की एक उद्दाम भावना प्रबल वेग से जागृत हुई और वह कहीं से सूचिका गुच्छक लेकर एकान्त निशीथ मे उस एकान्त प्रकोष्ठ में जा पहुँची, जहाँ मणिभद्र को बन्दी बनाकर रक्खा गया था। उसने परि-णाम की चिन्ता किये बिना मणिभद्र को मुक्त करा दिया और जब वह अपने शयन कक्ष म गुप्त रूप से लौटकर आई, तब उसका मन का सारा उद्वेग शान्त हो चुका था।

किन्तु प्रातःकाल का सूर्य सेठ समन्तभद्र के लिए अम-गल और अवमानना का उत्ताप लेकर उदित हुआ। प्रातः होते ही यह प्रकट हो गया कि मणिभद्र कारागार के प्रकोष्ठ में नही है। वह मुक्त किया गया है। किन्तु किसने उसे मुक्त करने का साहस किया है, यह लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञात नही हो पाया। इतना ही नही मुक्त होकर मणिभद्र प्रभु महावीर के चरणो में जाकर बैठा है। इससे भी भयानक एक दुस्संवाद यह भी मिला कि सेठ का मध्यम पुत्र सुभद्र भी तीर्थंकर महावीर की शरण मे चला गया है।

ब्राह्मण वर्ग ने इन अमगल समाचारों को वैदिक धर्म के प्रति सेठ समन्तभद्र के घोर विश्वासघात के रूप मे लिया। श्रावस्ती के समस्त वैदिक जन मेदिनी में समन्त-भद्र के प्रति अनर्गल भाषा में आक्रोशपूर्ण चर्चा चलने लगी। आचार्य माण्डव्य यमराज की-सी भयंकर मुद्रा लिये समन्तभद्र के आवास मे पहुँचे। उनके संग ब्राह्मणों की एक विशाल भीड चली जा रही थी। उन्होने जाकर देखा —समन्तभद्र शोक मूर्ति बना हुआ यज्ञ मण्डप मे धूल मे लोट रहा है। अभी दो दण्ड दिन ही चढ़ा था, किन्तु इतने ही समय मे सेठ शायद अपनी आयु से पचास वर्ष अधिक हो गया था।

आचार्य और ब्राह्मणो ने अपने अदम्य क्षोभ को नाना भाँति असयत और अनर्गल भाषा मे व्यक्त किया। किन्तु शोक मूर्च्छित सेठ के कानो मे कोई शब्द न पहुँचा।

(४)

जगद् बन्धु महावीर श्रावस्ती के बाहर जेतवन मे विराजमान थे। जेतवन युवराज जेतकुमार का विलास उद्यान था। विलास की सभी सुविधाएं वहाँ उपलब्ध थी। युवराज आचार्य माण्डव्य के शिष्य थे। तीर्थंकर महावीर के बहिष्कार आन्दोलन के नेता थे। ब्राह्मण समाज को उन पर पूर्ण विश्वास था। किन्तु ब्राह्मण समाज को यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि स्वयं युवराज ने तीर्थंकर प्रभु से जेतवन मे पधारने का आग्रह किया था और महाप्रभु उसकी विनय को स्वीकार करके वहाँ पधारे तो महाराज प्रसेनजित के साथ युवराज भी उनके चरणो मे बद्धांजलि उपस्थित था।

श्रावस्ती आज आश्चर्यो का आगार बनी हुई थी। ब्राह्मण समाज विस्मय और उत्तेजना के साथ इन आश्चर्यों को देख रहा था। जेतकुमार उनके दल को छोड़कर तीर्थं-कर का भक्त बन चुका था। सेठ समन्तभद्र के दो पुत्र महाश्रमण के उपासक बन गये थे। सारी श्रावस्ती उनके दर्शनो के लिए उमड़ पड़ी थी। तब आचार्य माण्डव्य सब कही यह प्रचारित करने में जुट पड़े कि तीर्थंकर मायावी है, वे सम्मोहन विद्या में पारगत है। उनकी सम्मोहन माया के जाल मे युवराज और श्रेष्ठ पुत्र फस गये हैं।

किन्तु आचार्य इससे निराश नही हुए। उनका मह अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं था। उन्होने अपने पक्ष के सभी ब्राह्मणों और श्रेष्ठियों की परिषद् बुलाई। परिषद् में अद्भुत गम्भीरता व्याप्त थी। क्षण-क्षण में उस महाश्रमण के निकट अपने पक्ष के

प्रभुत्व आधार-स्तम्भों के पहुँचने के समाचार आ रहे थे। वातावरण आशंका और विस्मय, भय और आतंक से व्याप्त था। उत्तेजना क्षण-क्षण बढती जा रही थी। आचार्य अपने भवन को ढहते देख रहे थे और अब अवशिष्ट भवन की सुरक्षा करने के लिए कोई न कोई उपाय करने का संकल्प उनके उद्विग्न मानस में बढता जा रहा था। उन्होंने सकल्प का एक रूप संजोए हुए परिषद को सम्बोधित किया :—

शाश्वत धर्म के अनुयायियो! आप त्रिकालदर्शी महर्षियों के पवित्र धर्म के अनुयायी है। आपको सौभाग्य से अपने महान् पूर्वजो से उत्तराधिकार में लोक कल्याणकारी धर्म और ज्ञान मिला है। किन्तु आज मायावी महावीर अपनी माया विस्तार करके उस धर्म का विरोध कर रहा है और उसका धर्म सूखे पत्तो मे लगी आग की भांति बढता जा रहा है। वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम मे उसका जन्म हुआ। इसलिए गणराज्य के सभी निवासी अपनत्व के व्यामोह में फंसकर उसके धर्म के अनुयायी हो गए है। मल्ल, यौधेय आदि गणसंघ भी समान शासन पद्धति के कारण उसके भक्त हो गए है। राजगृह के सेनिय बिम्बसार, श्रावस्ती के महाराज प्रसेनजित, कौशम्बी नरेश शतानीक, अवति नरेश चण्ड प्रद्योत, चंपानरेश, दधिवाहन आदि अनेक नरेश उसके उपासक बन गए हैं। वह अपने आपको केवली, सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहता फिरता है। बहुत समय से मै उसका मान-मर्दन करने का विचार कर रहा था। उसका दुर्भाग्य उसे आज यहाँ ले आया है। मैं आज उसी की समवसरण परिषद मे जाकर उसे पराजित करूंगा और सारे विश्व में वैदिक धर्म की पताका फहरा दूंगा।

सब लोगों ने आचार्य के सकल्प की सराहना करके जयध्वनि की। सभी को उनके अगाध पाण्डित्य पर विश्वास था। सभी ने उनके साथ चलने की स्वीकृति दी। और बुद्ध परिवार आचार्य के साथ समवसरण की ओर चल दिये। आचार्य का अहंकार उनकी विद्वत्ता की भाँति ही असाधारण था। किन्तु जैसे-जैसे वे समवसरण मण्डप की ओर बढ़ते गए, उनका अहंकार स्खलित होता गया। उन्हें मनोदौर्बल्य का अनुभव होने लगा। जब वे समवसरण के बाहर बने हुए मानस्तम्भ के समक्ष पहुँचे तो उनके मन में एक भाव जागा—काश! मैं यहाँ न आया होता।

मानस्तम्भ उनके अभिमान को चुनौती देता हुआ आकाश में मस्तक उठाये हुए खड़ा था। उसके समक्ष उनका अभिमान छोटा पड़ता गया। और उसके उत्ताप से वह गलित होता गया। मन मे कोमलता जागी और अभिमान नाम शेष हो गया। उनके मन में सरलता का उदय हुआ, विनय जागी। और जब वे मण्डप मे प्रवेश करने लगे, तब वे विनय की साकार मूर्ति बने हुए थे। वे महाप्रभु के लोकोत्तर व्यक्तित्व से अभिभूत थे। न जाने किस अदृश्य शक्ति से उनके हाथ स्वय अकल्पित रूप मे जुड गये। वे साष्टाग नमस्कार करके विनय पूर्वक कहने लगे—प्रभु! क्षमा करे। मुझ अज्ञानी को क्षमा कर दे।

प्रभु कह रहे थे—माण्डव्य! तुम्हारे मन में जो कोमलता उपजी है, वही तुम्हारा प्रायश्चित है।

माण्डव्य विगलित कठ से कहने लगे—देव! मेरा अपराध महान है। मुझे आप अपना उपासक ग्रहण करें मुझे अपना शिष्य बनाकर इन चरणों मे बैठने का अवसर प्रदान करे।

माण्डव्य ने मुनि दीक्षा ले ली और उन्हे इद्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति की पक्ति में स्थान मिला।

जब वे स्वस्थ होकर बैठ गये तो उन्होने देखा—मनुष्य के कोष्ठ मे से० समन्तभद्र अपने दोनों पुत्र—सुभद्र और मणिभद्र के साथ प्रमुदित मन से बैठे हुए हैं। सारा ब्राह्मण वर्ग हाथ जोड़े हुए महाप्रभु के वचनामृत का रसास्वाद कर रहा है। और महाप्रभु के महान व्यक्तित्व की शीतल छाया मे सबके मन शान्त, निर्मल हो चुके हैं।

(५)

मणिभद्र के मन मे रह रह कर विराग की तरंगे उठती; किन्तु उसे अपने पिता के आग्रह के आगे विवाह की स्वीकृत देनी पड़ी। रत्नमाला को भी अपना संकल्प छोड़ना पड़ा। और एक दिन दोनों का विवाह हो गया। सेठ समन्तभद्र और वसुभूति दोनो ही बड़े प्रसन्न थे।

आज मणिभद्र और रत्नमाला की सुहागरात थी। एक सुसज्जित, सुवासित प्रकोष्ठ में स्वर्णपर्यंक फूलमालाओं से अलंकृत था। पर्यंक पर श्वेत आच्छादन बिछा हुआ

था। निकट ही स्वर्ण पीठ पर दूध की झारी और मिष्ठान्न रक्खा हुआ था। दीपाधार पर सुवासित तेल के सहस्र दीप गुच्छक जल रहे थे। गवाक्ष से शीतल चांदनी आ रही थी। मन्द-मन्द शीतल पवन बह रही थी। युगल प्रेमी पलंग पर भाव विमोहित से बैठे हुए थे। मणिभद्र ने मौन भंग करते हुए कहा—देवी! तुम्हे पाकर में धन्य हुआ। तुम्हें पाने की ललक एक दिन मेरे मन में उठी थी, वह आज पूरी हो गई। किन्तु क्या भोग ही जीवन की चरम परिणति है, मै यही सोच रहा हूँ।

रत्नमाला भाव लोक मे विचरण कर रही थी। सुनकर वह जैसे जागी। वह बोली—आर्यपुत्र का कथन सत्य है। भोग जीवन की विकृति है। जीवन का प्रयोजन इससे महान है। हमे उस महान प्रयोजन को भुला देना नही है।

देवी! सच है। हमें उस महान प्रयोजन के लिए मिलकर प्रयत्न करना है। इस प्रयोजन की राह मे हमें भोगो को नही आने देना है। क्या देवी के मन मे किसी कोने मे भोगो की कोई स्पृहा तो नही है।

नही है देव! मै जो कल थी, वही आज भी हूँ। लोकदृष्टि मे हम पति-पत्नी है, किन्तु मेरे मन मे विवाह ने कोई अन्तर नही डाला।'

'धन्य है देवी! किन्तु सम्भव है, चिर साहचर्य सकल्प को निर्बल कर दे। उसका उपाय करना होगा' मणिभद्र ने कहा।

रत्नमाला गहरे विचार में डूब गई और कुछ देर पश्चात् बोली—मैंने उपाय सोच लिया है। हम दोनों इस शय्या पर सोवेंगे, किन्तु क्रम-क्रम से। क्या यह उपाय उचित न होगा?

मणिभद्र प्रसन्नता से उछल पड़ा। यह उपाय सर्वथा उचित था। वह बोला—देवी ने जो उपाय बताया है, निष्कलक है। हमारी राह कटकाकीर्ण है, किन्तु तुम मुझे सहारा देती रहना। तुम्हारा संबल पाकर मै कृतार्थ हो गया। हमें इस जीवन को साधनामय बनाना होगा, तभी हम अपने प्रयोजन मे सफल हो सकेंगे। तुम जैसी पत्नी को पाकर मै धन्य हो गया। देवी! मै अब निश्चिन्त हूँ।'

युगल प्रेमी प्रणय की उस रात मे यों ही योजना बनाते रहे। इसी तरह दिन बीतते गये। दिन कामों में बीतता और रात विराग चर्चा में। एक सोता दूसरा आत्म-चिन्तन करता। अद्भुत जीवन था उन प्रेमियों का।

एक दिन रत्नमाला सो रही थी, मणिभद्र जाग रहा था। नीद की बेहोशी मे बेसुध पड़ी रत्नमाला का आंचल उसके उन्नत वक्ष से हट गया था। श्वास के साथ उरोजों का आरोह-अवरोह एक लय के साथ हो रहा। निशीथ की गहरी निस्तब्धता थी। गहराता यौवन, एक शैया, एकान्त कक्ष। मणिभद्र अपलक निहार रहा था उसके कमनीय रूप को। विचारो की रंगीन तरगे उसके मन में अन्धकार भरती जा रही थी। तभी वह चौका। रत्नमाला की वेणी शय्या के नीचे लटकी हुई थी और उसके सहारे एक भयानक नाग ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। वह झुका और उसने हाथ बढा कर वेणी को पकड कर छिटक दिया। नाग तो अलग जा पडा। किन्तु इस हड़बड़ी मे वह अपना सतुलन न रख सका और अप्रत्याशित रूप से रत्नमाला के वक्ष पर गिर पडा। रत्नमाला की सुरभित श्वास उसके नासा-पुटों मे भर गई। क्षणभर के इस मादक स्पर्श ने उसके शरीर को रोमांचित कर दिया। रत्नमाला की आखे खुल गईं। मणिभद्र सयत होकर बैठ गया, किन्तु लज्जा से अभिभूत हो उठा। उसने अपने कृत्य की सफाई भी दी, किन्तु उसकी देह अब तक रोमांचित हो रही थी।

रत्नमाला ने ध्यान से यह देखा और वह उठकर बोली—मणिभद्र! यों कब तक चलेगा। भोग के साधनों में रहकर विराग की दीवारे किसी दिन ढह सकती हैं। अस्वाभाविक जीवन की छलना मे जीवन बिताया नहीं जा सकता। जो कुछ भी हुआ है वह फिर किसी दिन भी हो सकता है। तुम्हारा मन निर्बल हो रहा है, क्या यह सच नही है?

मणिभद्र सुनकर सकुचित हो उठा—देवी! अपने कृत्य पर मै लज्जित हूँ। किन्तु जो कुछ हुआ, वह अवशरूप से हुआ है।

रत्नमाला भी जानती थी, किन्तु भविष्य मे भी ऐसी सम्भावनाओं का तो अन्त नहीं हो जायगा। यह सोचकर

साहित्य-समीक्षा

१ समयसार-वैभव—लेखक पं० नाथूराम डोंगरीय शास्त्री प्रकाशक, जैनधर्म प्रकाशन कार्यालय ५/१ तम्बोली बाखल, इन्दौर (म० प्र०) मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द के समयसार का पद्यानुवाद है जिसे पं० नाथूराम जी डोंगरीय ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। अनुवाद करते समय लेखक ने अनेकान्त नीति का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकर्ता की मूल-गाथा का भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पद्यानुवाद पढते समय अध्यात्म रस का पान हुए बिना नही रहता। जब आत्मा वस्तुतत्त्व की दृष्टि से स्वसंवेदन द्वारा भेद ज्ञान की ओर झुकता है। तब वह सफलता के सोपान पर चढता है। भेद ज्ञान से ही जीव मिथ्यात्व-विहीन होता है। जब तक भेद विज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा अपने स्वरूप का भान नहीं कर पाता अतएव भेद-विज्ञान को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए समयसार वैभव के कुछ पद्य नीचे दिये जाते है, जिसमें पाठक पद्यानुवाद की उपयोगिता का परिज्ञान कर सकें।

वीतराग के दिव्य ज्ञान में आत्मतत्त्व पुद्गल से भिन्न,
झलक रहा वह ज्ञान ज्योतिमय चिदानन्द रस पूर्ण अखिन्न।
कैसे हो सकता चेतन का पुद्गल संग अविभक्त स्वभाव,
जो तू जड़ परिकर को कहता—मेरे-मेरे चेतन राव॥
आस्रव का रुकना संवर है, उसका हेतु भेद विज्ञान,
आत्मतत्त्व उपयोग मयी है, क्रोधादिक से भिन्न महान्।
दर्शन ज्ञानमयी होता है चेतन का उपयोग प्रवीण,
उससे भिन्न क्रोध मानादिक है कषाय की वृत्ति मलीन॥

गाथा का भावानुवाद यदि एक पद्य मे नही आ सका, तो कवि ने उसे दूसरे पद्य द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वर्तमान में पाठकों का झुकाव समयसार के अध्ययन की ओर बढ़ रहा है, वह समयसार को समझे या न समझे उसका पाठ तो हो जाता है, पर उसके मर्म का बोध नही हो पाता। क्योंकि कर्म सिद्धान्त और दर्शनशास्त्र के अभ्यास बिना समयसार का हृदयंगम होना कठिन है। हाँ, उसे इतना ही लाभ हो पाता है कि वह थोड़ी बहुत अध्यात्म चर्चा करने लगता है। चर्चा केवल अध्यात्म की होती है पर व्यवहार और निश्चय को समझे बिना समयसार के रहस्य का बोध नही हो पाता। कोरे अध्यात्मवाद की चर्चा जीवन को एकान्त की ओर ले जाती है। मैंने समयसार के अनेक ऐसे पाठकों को देखा है, जिन्हे निश्चय और व्यवहार का यथार्थ बोध नहीं है, और न सिद्धान्त का ही परिज्ञान है। अनेकान्त और नयों की रहस्यपूर्ण चर्चा का परिज्ञान तो दूर की बात है। ऐसी स्थिति में समयसार के अध्ययन से क्या उन्हे शुद्धात्मतत्त्व का परिज्ञान हो सकता है? अतः ऐसे लोगों का कर्तव्य है कि वे पहले सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करे, और बाद में समयसार का अध्ययन करे, तब उन्हे समयसार का आँशिक बोध हो सकता है। अतः अध्यात्म रसिकों का कर्तव्य है कि वे समयसार के वास्तविक रहस्य को पाने के लिए प्रयत्न करे।

ग्रन्थ की प्रस्तावना प० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी ने लिखी है जो डोंगरीय जी के विद्या गुरु है। प्रस्तावना मे समयसार के अधिकारों का सक्षिप्त परिचय कराते हुए पद्यानुवाद कर्ता के सम्बन्ध मे भी लिखा है। ग्रन्थ उपयोगी है, इसके के लिए लेखक महानुभाव धन्यवाद के पात्र है। **परमानन्द शास्त्री**

वह बोली—यह ठीक है कि यह सब अवशरूप में हुआ है किन्तु उसके प्रभाव से तो नही बचा जा सकता। कल मेरी या तुम्हारी निर्बलता हमे विचलित भी कर सकती है। क्यों न हम इस अस्वाभाविक जीवन को समाप्त करके अपने सकल्पो को मूर्तरूप दे। हमारी साधना मे लोक प्रदर्शन क्यों बाधक बने।

मणिभद्र अब तक पूर्णतः स्वस्थ हो चुका था। उसे अपनी दुर्बलता पर ग्लानि हो रही थी। रत्नमाला ने जो कहा था, वही उसे भी युक्तिसगत लगा। उसने दृढ़ स्वर मे कहा—रत्नमाला! तुम ठीक कहती हो। हमे अपने महान् प्रयोजन के लिए इस जर्जर मोह बन्धन को तोड़ना चाहिए और वह भी आज ही। हमारी निस्कृति इसी में है।

प्रातःकाल का सूर्य निकला और वह साधना निरत दम्पति घर से निकल पड़ा। राह कठिन थी। बी- मोह के पर्वत खड़े थे, भावनाओ के तूफान चल- मी किन्तु वे इन सबकी पर्वाह किये बिना बढ़ते ह लक्ष्य की ओर, अनन्त की ओर।

आचार्यधरसेन के चरण एवं सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति की खोज

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से राजस्थान का आठ दिवसीय खोज यात्रा मे डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ को जयपुर से पचास मील पश्चिम की ओर स्थित नारायणा ग्राम में संवत् ११०२ की सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति उपलब्ध हुई है। आचार्य धरसेन के चरणों पर जो लेख अंकित है वह पूर्णत: स्पष्ट है। इसी तरह सरस्वती की संवत् ११०२ की मूर्ति के मस्तक पर तीर्थंकर की मूर्ति है जो श्वेत पाषाण की है।

इसी खोज यात्रा मे डा० साहब एवं श्री न्यायतीर्थ जी को बारह वीं १३ वी एवं १४ वी शताब्दी के और भी कितने ही लेख मिले है जिन पर शीघ्र ही डा० साहब द्वारा प्रकाश डाला जायेगा। सवत् ११३५ की भव्य मनोग्य एवं विशाल प्रतिमाए भी इस नगर के जैन मन्दिरों में विराजमान है। मूर्ति कला की दृष्टि से भी ये मूर्तियां उत्कृष्ट कला कृतियां हैं।

उभयविद्वानों ने अपने आठ दिवसीय शोध भ्रमण मे नारायणा के अतिरिक्त साभर, उछियारा, अलीगढ़, रामपुरा, सवाई माधोपुर एवं शेरपुर आदि स्थानो के शास्त्र भण्डारों के सात सौ से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण तैयार किया है जिसमें संवत् १४६६ की एक पाण्डुलिपियों की उपलब्धि के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रतियाँ मिली हैं जिनके बारे में साहित्यिक जगत अभी तक अपरिचित था। ऐसी कृतियों मे हेमराय पाडे की समयसार की हिन्दी गद्य टीका विशेषतः उल्लेखनीय है।

चिर प्रतीक्षित लक्षणावली का प्रथम भाग प्रकाशित हो गया

जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) यह कोश में दिये गए लाक्षणिक शब्दों को दिगम्बर-श्वेताम्बरों के चार सौ ग्रन्थों पर से सकलित किया गया है। उनमें एक-एक लक्षण को हिन्दी भी दे दी है। जिससे सर्वसाधारण को उनका परिज्ञान हो सके। इस कोष का सम्पादन सिद्धान्त शास्त्री प० बालचन्द जी ने किया है। उन्होंने प्रस्तावना मे १०२ ग्रन्थों और उनके कर्ताओ का भी सक्षिप्त परिचय दे दिया है। जिससे यह ग्रन्थ उन तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों, रिसर्च स्कालरों, प्रोफेसरों, लायब्रेरियों, पुस्तकालयों और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बहुत उपयोगी और काम की चीज है। यह कोश ३२ पौण्ड के कागज पर छपा है। जल्दी से आर्डर देकर अपनी पुस्तक बुक करा लीजिये। कपड़े की पक्की जिल्द है। ग्रन्थ का मूल्य २५) रुपया है।

व्यवस्थापक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्‌धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। — १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। — ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... — २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। — १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित — १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... — १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। — ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित — ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... — ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... — ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित — ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित — ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... — ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। ... ... — १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य — ·१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... — १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। — १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। — ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द — ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... — २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द — ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया — ५-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

वर्ष २४ : किरण ४

अक्टूबर १९७१

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र
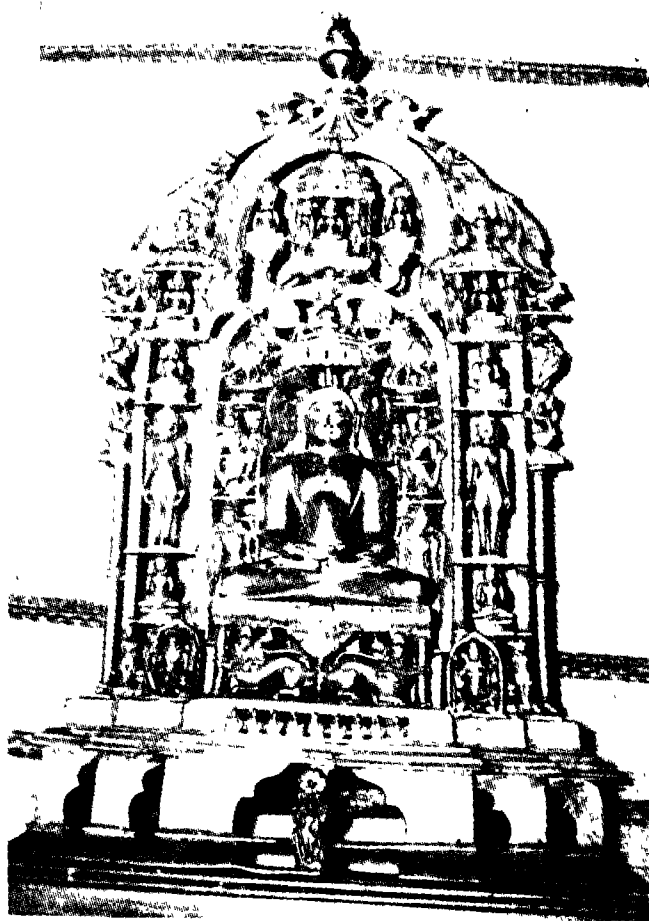
दिल्ली दरवाजे के दि० जैनमन्दिर की धातु की भव्य तीर्थंकर मूर्ति

—पन्नालाल जी अग्रवाल के सौजन्य से

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	श्रेयास जिनस्तवन—स्वामी समन्तभद्र	१३७
२.	हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं—परमानन्द शास्त्री	१३८
३.	ब्रह्म साधारण कृत दुद्धारसि कथा—डा० भागचन्द जैन	१४४
४.	'उस मारग मत जायरे' (राग ख्याल)—कविवर भूधरदास	
५.	अपभ्रंश भाषा के कवियों का नीति वर्णन—डा० बालकृष्ण 'अकिंचन' एम० ए० पी० एच० डी०	१४७
६.	जैन यक्ष यक्षिणियाँ और उनके लक्षण—गोपीलाल अमर एम० ए० शास्त्री	१५२
६.	हड़प्पा तथा जैनधर्म—टी० एन० रामचन्द्रन (अनुवादक) डा० मानसिंह	१५६
८.	हेलाचार्य—परमानन्द जैन शास्त्री	१६४
९.	पावापुर—पं० बलभद्र जैन	१६५
१०.	महामात्य कुशराज—परमानन्द जैन	१८२
११.	खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर की रथिकाओं मे जैन देवियाँ—मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	१८३

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दें, अन्यथा वी. पी से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३वें वर्ष का वार्षिक चन्दा अभी तक भी नही भेजा है, वे अब २३वे और २४वे दोनो वर्षो का १२ रुपया मनीआर्डर से अवश्य भिजवा दे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

सहायता अनेकान्त

२५) स० सिंघई धन्यकुमारी जैन कटनी से सधन्यवाद प्राप्त।

११) चि० राजेश सुपुत्र लाला अनन्तराम जैन अम्बाला निवासी एव कुमारी निवासी एव कुमारी अरुणा, सुपुत्री ला० पदम प्रसाद जैन किसन फ्लोर मिल रेलवेरोड के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान मे से सधन्यवाद प्राप्त।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागंज
दिल्ली

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४ किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२७ | सितम्बर अक्टूबर १९७१

श्रेयान्स जिनस्तवन

अपराग समाश्रेयन्ननाम वमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नज वाजितः ॥४६

अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुसन्नजवाजितः ॥४७

—स्वामी समन्तभद्र

अर्थ—हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! आप सुर, असुर किन्नर आदि सभी के लिए आश्रयणीय हैं—सेव्य हैं—सभी आपका ध्यान करते हैं, आप सब का हित करने वाले हैं अतः हिताभिलाषी जन सदा आपको घेरे रहते हैं—आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते हैं। आपकी शरण को प्राप्त हुए भक्त पुरुष भय को नष्ट कर—निर्भय हो, हर्ष से रोमाञ्चित हो जाते हैं। आप पराग से—कषाय रज से—रहित हैं। ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुषों से सहित हैं, पूज्य हैं तथा राग-द्वेषरूप संग्राम से आपका वेग नष्ट हो गया है—आप राग-द्वेष रहित हैं। मै आपके दर्शनमात्र से ही आरोग्यता और निर्भयता को प्राप्त हो गया हूँ। हे श्रेयान्स देव ! मेरी रक्षा कीजिये।

हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं

परमानन्द जैन शास्त्री

कवि सांगु या सांगा—कवि ने अपना कोई परिचय नही दिया, और न अन्यत्र से ही प्राप्त हो सका है। कवि ने अपना नाम 'सांगु' प्रकट किया[1] है। अपनी गुरु परम्परा और समयादि भी नही दिया। जिससे रचना काल का निश्चित करना सभव नही है। इनकी एक मात्रकृति 'सुकोशलरास' है, जिसमे १७० के लगभग पद्य है। भाषा मे हिंदी के साथ गुजराती का मिश्रण है। परन्तु कविता सरस है। प्रस्तुत रास मे दूहा, चौपई के अतिरिक्त वस्तु बध, राग विराड़ी, ढाल वणजारानी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। यह ग्रंथ पंचायती मन्दिर दिल्ली के शास्त्रभडार मे एक विशाल गुच्छक में सगृहीत है। गुच्छक सवत १६१६-१७ वीं शताब्दी का लिखा हुआ है। इसकी दूसरी प्रति 'नैणवा' के शास्त्रभडार में एक गुच्छक मे उपलब्ध है जो सं० १५८५ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी रविवार को लिपिबद्ध हुआ है। इससे इस रास की उत्तरावधि स० १५८५ सुनिश्चित है। अत. यह रास विक्रम की १५वीं शताब्दी या १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना हो सकती है। इसमे सुकौशल का जीवन-परिचय अंकित है।

एक समय सुकौशल के पिता मुनि कीर्तिधवल राज महल के पास बैठे हुए उपदेश दे रहे थे। पर उन्हे रानी सहदेवी ने आहार नही दिया। इससे राजा की दासी को बड़ा दुख हुआ। मुनि वस्तु स्वरूप का कथन कर रहे थे जिसे सुकोशल ने भी सुना। अतः वह जाकर मुनिराज के चरणों में पड़ा। मुनिराज ने उसे आशीर्वाद दिया और सांसारिक सुख की असारता बतलाई। जैसा कि रास के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

पुत्र कलत्र केहि न परीवार, कहिनी लक्ष्मी कहिनी नार।
अभ्रपटल जिमि दीसे मेह, तिसु कहीय संसार-सनेह।। ८
विषय तरुण सुख रूअड़ा, साभलि राय सुजान।
सुख होई सरसो सम, दुख ते मेरू समान।। ६
विषया केरी वेलड़ी जेणि न छेदा जाणि।
यवारि फूली फल लागसी, दुख देसि निरवाणि।। १०
जे नर नारी मोहिया सुणि सुकोशल भूप।
ते नर कहीइ बापड़ा, पडचा ससारह कूप।। ११
विषयतणा सुख परिहरि, छेडे वा भवपार।
चलणे लागो गुरनि, मांगि संयम भार।। १२

सुकोशल ने मुनि का उपदेश सुनकर, ससार स विरक्त हो, राजभोगो का परित्याग कर और गर्भस्थ पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले ली। सुकोशल की मुनि दीक्षा से माता बहुत दुखी हुई। वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडी[1]। उपचार करने से मूर्छा दूर हो गई, किन्तु उसे सारा राज परिवार और मन्दिर सूना दिखाई दिया। वह पुत्र वियोग जन्य आर्तध्यान से मरी और वाघिणी हुई। जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है :—

जे जननी मुनिवर तणी सहदेवी री साल।
ते भूखी वन मांहि भमि. वाघेड़ी थई विकराल।

मुनि सुकोशल वन मे ध्यानस्थ थे। एक वाघिनी उधर से भूखी प्यासी होने के कारण मुनिवर पर झपट पडी। उसने सुकोशल मुनि के शरीर का विदारण किया। मुनि आत्म-ध्यान मे निष्ठ हो केवली हुए। उन्होने उस स्थान को प्राप्त किया जहां जन्म, मरण, दुःख, सताप, कर्मबन्धन और रूपादि वर्ण नहीं हैं किंतु आत्मा अपने

---

१. करजोड़ी सांगु कहि सब गुरु सेव कर चोस।
कुंवर सुकोशल चुप ही हूँ सांख्येय भष्योस।
—सुकोशल रास अन्तभाग

१. पुत्र तणी जब टूटी आस, पडी पृथ्वी गति न लेही सांस।
घडी व चार अचेतन हवी, नारवी वायु तब छेरी थई।।
—सुकोशलरास

चैतन्य स्वरूप ज्ञानानन्द मे स्थिर रहता है वह निरजन पद प्राप्त किया। वाघिणी की दृष्टि शरीर का भक्षण करते हुए जब उस चिन्ह पर पडी, तब उसे देखकर जाति स्मरण हो गया। इधर सुकोशल के पिता मुनि कीतिधवल ने भी समझाया, और बताया कि यह तेरा पुत्र था, जिसे तूने भक्षण किया है। जहाँ माता ही अपने पुत्र को खा जाती है, उससे बडा पाप और क्या हो सकता है ? पश्चात् उसने बडा पश्चाताप किया, परिणाम स्वरूप उसके हृदय मे विवेक जागृत हुआ और उसने भी आत्मा को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया।

त्रिभुवनचन्द्र—ने अपना कोई परिचय गुरुपरम्परा और समय का कोई उल्लेख नही किया। कवि ने कही 'चन्द्र' और 'त्रिजगचन्द्र' तथा 'त्रिभुवन चन्द्र' नाम दिया है। राजस्थान के भण्डारों मे आपकी कई रचनाए उपलब्ध होती है, उनसे आपकी हिन्दी साहित्य-सेवा की लगनका पता चलता है। आपकी रचना सुन्दर, सरस और प्रवाहयुक्त है। अनित्य पचाशत, फुटकर दोहे कवित्त आदि और षट्द्रव्य वर्णन आदि है। कविता सरस और भावपूर्ण है। इसमे अनित्य पचाशत आचार्य पद्मनन्दि की संस्कृत रचना है उसका हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने प्रस्तुत किया है। जिसका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है :—

शुद्ध स्वरूप अनूप मे मूरति ज सु गिरा करुनामय सोहे,
सजमवत महा मुनि जोध जिन्हो घट धीरज चाप धरो है।
मारन को रिपुमोह तिन्हे वह तीक्षन साइक पक्ति हो है,
सो भगवंत सदा जयवंत नमो जग में परमातम जो है।१।

अन्तिम भाग :—

पदमनन्दि मुनिराज तासु आनन जलधारी,
तातहि भई प्रवृति सकल जन मन सुखकारी।
धनवनिता पुत्रादि सोक दावानल हारी,
भय दलनो सदबोध अमृत उपजावन हारी॥
उन्नत मतिधारी नरनिकौं अमृत वृष्टि संशय हरनि।
जय यह अनित्य पंचासिका त्रिजगचद मगल करनि॥१॥
दोहा—मूल संकृत ग्रथतै भाषा त्रिभुवनचद,
कीनी कारन पायकै, पढ़त बढ़त आनन्द॥

दूसरी रचना षट्द्रव्य निर्णय है जो निम्न प्राकृत गाथाओ का अनुवाद १५ दोहो मे किया गया है।

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो।मू० ५४५
दुण्णिय एयं एयं पंचय तिय एय दुण्णिचउरोय।
पंचय एयं एय मूलस्स य उत्तरे णेयं॥
परिणामी जिय मूरती, परवेसी इक नित्य।
क्षेत्री करता सर्व गति, किरियावत निमित्त॥१॥
अनुक्रम सख्या द्वै इक इक पन तीन चउ पन इक द्वै पंच।
प्रतिपक्षी ज्यौ कीजिये, उत्तर ग्यारह सच॥२॥
चउपन पन इक तीन द्वै, इक पन पन चउ एक।
यह विचार सोई लहै जा घट विमल विवेक॥३॥
परिणामी द्वै जानिये, चेतन पुद्गल दर्व।
धर्म-अधर्म अकास जम अपरिणामि ए सर्व॥४॥
जीव एक चेतन दरब, बाकी पच अजीव।
रूपी पुद्गल एकलौ, शेष अरूप सदीव॥५॥
पुद्गल धर्म अधर्म नभ, चेतन परम रसाल।
परदेसी ये पंच है, अपरदेस है काल॥६॥
धर्म अधर्म अकास ये, तीनों कहिये एक।
चेतन पुद्गल काल ये, तीनों दरब अनेक॥७॥
धर्म अधर्म कृतांत नभ, चारों नित्य बखानि।
जिय पुद्गल परिजायकर द्वै अनित्य ये जानि॥८॥
पुद्गल धर्म अधर्म जम, चेतन क्षेत्री पंच।
एक क्षेत्री गगनसौ पर थित बसं न रंच॥९॥
जीव एक करता दरब, दुविध चेतना धाम।
पुद्गल धर्म अधर्म नभ, काल अकरता नाम॥१०॥
व्यापी लोकलोक मे, व्योम सर्वगत सोइ।
बाकी पच असर्वगत, रहे पूरी तब लोइ॥११॥
चेतन अरु पुद्गल दरब, क्रियावंत ए दोय।
बाकी चारों जे रहें, तिन्ह के क्रिया न होय॥१२॥
अंतक धर्म अधर्म नभ, पुद्गल पच निमित्त।
चेतन एक अकारिणी, सब गति परम पवित्त॥१३॥
छहो दरब निरनै यहै, नाम मात्र समुझाय।
ग्यारह भेद विचारिकै, दीने प्रगट बनाइ॥१४॥
उपादेय चेतन सदा, उज्जल त्रिभुवनचन्द।
जाकौं ध्यावत भावतै, लहिये परमानन्द॥१५॥

कवि की फुटकर रचनाओ मे दोहे कवित्त सवैया आदि मिलते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि कवि का

झुकाव अध्यात्म की ओर था। कवि ने लिखा है कि जीव का जब तक अन्तर का दोष—राग-द्वेषादि का बुरा संस्कार—नहीं मिटता, तब तक राग कैसे छूट सकता है। राग भाव के न छूटने से कर्म बन्ध की परम्परा बढ़ती रहती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जैसा कि निम्न दोहे से प्रकट होता है:—

राग भाव छूट्यो नहीं मिटो न अन्तर दोष।
संसत बाढ़ें बंध की होइ कहां सौं मोख॥

जीवात्मा के सम्बन्ध में कवि की उक्ति निम्न प्रकार है:—

"सरवस व्यापी रस रहित रूप धरै छिन रूप।
एक अनेक सुथिर अथिर, उपमावन्त अनूप॥
विमल रूप चेतन सदा, परमानन्द निधान।
ताको अनुभव जो करें, सोई पुरुष पुमान॥"
अमल अखंड अविनाशी निराकार जामे,
दृगबोध चारित प्रधान तीन वसुरे।
उज्जल उदोत सदा व्यापत न तमभावनहि,
न सकत जाहि ज्वाला कर्म वसुरे।
ताहि पहिचानि तू है तो ही मै न और कहू,
ताके पहिचानत ही होत है सुवसुरे।
त्रिभुवनचन्द सुखकन्द पद चाहै जो तौ
तजि जरा जग घूम धाम ऐसे धाम वसुरे।

इन सब पद्यों पर से कवि की आत्मभावना का सहज ही पता चल जाता है।

कवि की एक रचना 'चन्द्रशतक' है, जिसे सौ छन्द होने के कारण शतक कहा है। भाषा सानुप्रास और मधुर है, द्रव्य गुण पर्याय आदि का कथन भी सुन्दर हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से चन्द शतक के सवैये कवित्त महत्वपूर्ण है। उनमें आध्यात्मिकता की पुट अंकित है, वे पाठक को अपनी ओर आकर्षित करते है। कवि ने सज्जन दुर्जन स्वभाव का जो वर्णन किया है वह कितना स्वाभाविक बन पड़ा है। भाषा में सरसता, मधुर और कोमल कान्त पदावली विद्यमान है।

पर औगुन परिहरै, धरै गुनवत गुण सोई,
चित कोमल नित रहैं, झूठ जाके नहि कोई।
सत्य वचन मुख कहैं, आप गुन आप न बोलै,
सुगुरु वचन परतीति चित्त थें कबै न डोलै।
बोलै सुबैन परमिष्ट सुनि इष्ट बैन सुनि सुख करै,
कहै चन्द बसत जग फद में, ये स्वभाव सज्जन धरै।
सज्जन गुनधर प्रीत रीत विपरीत निवारै,
सकल जीव हितकार सार निजभाव सवारै।
दया, शील, संतोष, मोख सुख सब विधि जानै,
सहज सुधा रस सवै, तजै भाषा अभिमानै,
जाने सुभेद परभेद सब जिन अभेद न्यारो लखै॥
कहे चंद जह आनन्द अति जो शिव सुख पावै अखै।

गुण गुणी मे रहता है, उससे भिन्न नही है विभावता भिन्न है और स्वभाव आत्मा का स्वरूप है परन्तु विभाव के कारण स्वरूप का लाभ नही हो पाता। मोह का अभाव होने पर स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। जीवादि छहों द्रव्य अनादि के शाश्वत है, जिनमे पाच जड़ रूप है, और एक चेतन है, वही ज्ञायक है और शेष द्रव्य ज्ञेय है, जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है:—

गुन सदा गुनी मांहि गुन-गुणी भिन्न, नाहि,
भिन्न तौ विभावता, स्वभाव सदा देखिये।
सोई है स्वरूप आप, आप सो न है मिलाप,
मोह के अभाव में स्वभाव शुद्ध पेखिये॥
छहों द्रव्य सासते अनादि के ही भिन्न भिन्न,
अपने स्वभाव सदा ऐसी विधि लेखिये।
पांच जड़ रूप भूप चेतन सरूप एक,
जान पनौं सारा माथे यो विसेखिये॥

ज्ञानी किसी का गर्व नही करते, प्रत्युत अपने चिदानन्दस्वरूप में तन्मय रहने का प्रयत्न करते हैं।

कवि की कविता कितनी सुन्दर और अध्यात्म रस से ओत-प्रोत है। कवि की अन्य क्या रचनाएं हैं यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कवि के समय के सम्बन्ध मे भी कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही हुआ जिससे समय निर्धारित किया जा सके। फिर भी कवि का समय सम्भवतः १६वी शताब्दी हो सकता है। विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए। इन कृतियों के अतिरिक्त कवि की अन्य कृतियों का पता ज्ञान भण्डारों में लगाना चाहिए।

विनाशीक वर्ब को न गर्व ज्ञानवंत करै,
एतौ पूरव कर्म उदेसौं आन भये हैं।

आतमा सुदर्व मेरो तीन काल में अखंड,
विनस्यो न बिनसैगो वर्तमान वए हैं ।
षट्द्रव्य भिन्न आप आपनी हो सता लिये,
अति ही अनादि के न काहू माँहि फहे है ।
जान्यो निज भेद चद आतम अभेद सदा,
भेद रूप अभेद जिन ने प्रवान कहे है ।।५०।।

यह अज्ञानी जीव जीतव्य की आशा करता है और काम से डरता है, चारों गति डोलता फिरता है परन्तु मोक्ष मार्ग मे नही आता, अपन घर की रीति नही जानता किन्तु पर से (माया मे) प्रीति जोडता है, जिस तरह रास्तागीर बटोही से मिल जाते है पुद्गल को अपना मानता है । इस तरह यह जीव आत्म-परिचय के बिना ससार मे सदैव घूमता रहता है ।

जीतव की आस करै काल देखे हाल डरै,
डोलै चारों गति में न आवै मोक्षमग में ।
माया सौ मेरी कहै मोहनी सी डार है
तातै जीव लागै जैसो डांक दियो नग में ।
घर को न जानै रीति पर सेती नो माडै प्रीति,
वाट के वटोही जैसे आय मिले मग में ।
पुग्गल सौ कहे मेरा जीव जानै यहै डेरा,
कर्म थी कुलपुन्दि में फिरै जीव जगमें ।

गुरु दया कर भव्यों का हित जानकर उपदेश देते है, उन्होंने बतलाया है कि क्रोध, मान को शत्रु जानकर छोड, और लोभ की हानिकर छोड, और मोहरूपी प्रचण्ड महीधर को गिरा कर सुमतारूपी शिवरानी को घट मे प्रगट कर, जिससे अविनाशी आत्मा का लाभ हो ।

गुरु आप दयाल दया करिकै उपदेश कहै भविकौ हित जानो,
क्रोध महा अरिमान तजो तजि लोभ महा छल को करिहानी
मोह महीधरसौं परिखंड गिराय दियो गुरु की सुनि वानी,
कुमिता कुमता करती सुभई घट मै प्रगटी सुमता शिवरानी ।

शाह लोहट—इनका जन्म वघेरवाल वंश[1] मे हुआ था । इनके पिता का नाम धर्मा था । इनके तीन पुत्र हुए, हीरा, सुन्दर और लोहट[2] । इनमें लोहट सबसे छोटे थे । पहले यह साभर मे रहते थे, बाद मे बूंदी आकर रहने लगे थे । उस समय वहाँ रावत भावसिंह का राज्य था । जो विवेकी वीर और पराक्रमी शासक थे । और न्याय, नीति से प्रजा का पालन करते थे । कवि ने बूंदी का अच्छा वर्णन किया है । उस समय बूंदी इन्द्रपुरी के समान सुन्दर थी, जन-धन-धान्य से सम्पन्न थी । वापी, कूप, तडाग, बाग, बाजार तथा सुन्दर वीथियो से अलंकृत थी। जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है :—

---

[1] वघेरवाल जाति ८४ उप-जातियों मे से एक है। इसका विकास 'वघेरा' नामक स्थान से हुआ है। वघेरवालों के घर वहाँ अब एक भी नहीं है। किन्तु राजस्थान के अन्य गांवो, कस्बो और शहरो मे उनका निवास पाया जाता है। धारा मे तो उनके अनेक घर है। वघेरवाल अपनी जन्मभूमि के कारण वघेरा के भगवान शान्तिनाथ के दर्शनो को अवश्य आते है। वघेरवालो के ५२ गोत्र बतलाये जाते है। यहाँ उनमे से कुछ गोत्रो के नाम अपने उप-नामो के साथ दिये जाते है। बागडिया (मिश्री कोटकर) खटवड पितलिया (नादगांवकर दर्यापुर), खटोल (जोहारापुरकर), गोवाल (सगई चवरिया), अजनगांव (देऊल गावकर), खंडकर, चवरे, डोण गाँवकर, जितूरकर, देवलसी, (रायबागकर), खडारिया-आग्रेकर (भीमीकर, कलमकर), वोरखडया (नगरनाईक), कारंजा, महाजन। इस जाति मे अनेक महापुरुष, श्रेष्ठी, विद्वान आदि हुए है। पडित प्रवर आशाधर जी जैसे विद्वान इस जाति के भूषण थे। शाह जीजा और पूनमसिंह इस जाति के गौरव थे। जिन्होने अनेक मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण कराया। और चित्तौड मे कीर्ति स्तम्भ का निर्माण कराया और उसकी विधिवत प्रतिष्ठा की। प्रस्तुत कीर्ति स्तम्भ का निर्माण विक्रम की १३वीं शताब्दी मे हुआ है। और विशालकीर्ति पट्टधर शुभकीर्ति ने उसकी प्रतिष्ठा की थी।

[2] वंस वघेरवाल मो वाल दुर्गण वरगोत्र विसाल।
धरमधुरंधर धरमधीर ता सुत तीन महावर वीर ।।
हीरो सुन्दर बड़े सुजान, लघु लोहट बुधिवंत निधान।
श्री जिनदेव सुगुरु को दास, कीनो भाषा ग्रंथ प्रकाश ।।

"बूंदी इन्द्रपुरी जखिपुरी कि कुबेरपुरी,
रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सी धरी धर मै।
धौलहा धाय घर-घर में विचित्र वाम,
नर कामदेव कैसे सेवें सुख सर मै।
वापी बाग वारुण बाजार वीथी, विद्या वेद,
विबुध विनोद वानी बोलें मुख नर मैं।
तहां करें राज राव भावस्यंध महाराज,
हिंदु धर्म लाज पाति सही आज कर मै।।" १३

बूंदी में उस समय अनेक श्रावक रहते थे और अपने धर्म का पालन करते थे।

शाह लोहट भी जिनधर्म का आराधन करते थे[3]। १५वीं शताब्दी के कवि पद्मनाभ कायस्थ द्वारा निर्मित संस्कृत भाषा के यशोधर चरित का हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने वि० स० १७२१ मे आषाढ़ शुक्ला तीज गुरुवार के दिन समाप्त किया था[4]।

इनकी दूसरी कृति 'षट्लेश्यावेलि' है, जिसका रचना काल स० १७३० आसोज सुदी ६ बतलाया है[5]।

भट्टारक जगभूषण या जगत्भूषण

भट्टारक जगभूषण ग्वालियर गद्दी के मूलसघी भट्टारक थे। और भ० ज्ञानभूषण के उत्तराधिकारी एवं पट्टधर थे। संस्कृत और हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे। ब्रह्म गुलाल इन्ही के शिष्य थे। सवत् १६५१ मे जब कवि भगवतीदास अग्रवाल ने 'अर्गलपुर जिनवदना' नाम की रचना लिखी है, उसमे भट्टारक जगभूषण का उल्लेख किया गया है। उस समय वे आगरा मे मौजूद थे। भगवतीदास ने उन्हें कामरूपी करीन्द्र को वश करने के लिए मृगेन्द्र (सिंह) समान, तथा श्रुत-सिद्धान्त-सागर के बुद्धिमान गणधर और पचम काल के ऋषीन्द्र बतलाया है :—

"जग भूषन, भट्टारक तिहि थलि, काम करिंद-मइंदो हो।
श्रुत-सिद्धांत-उदधि बुधि गणहरु पंचम काल रिसिंदो हो।।"

इनके पट्टधर भ० विश्वभूषण ने भी भ० जगतभूषण का उल्लेख किया है।

जगताभूषण पट्टदिनेशं। विश्वभूषणमहिमाजुगणेशं।
—तीर्थवंदन संग्रह, पृ० ६४

इतना ही नही किन्तु उन्हें पाडे रूपचन्द जी ने 'भारतीभूषण' चारित्र के पालक और तपोभूषण बतलाया है यथा :—

तत्पट्टे प्रमदप्रकाशविलसत श्री भारतीभूषणः,
चारित्राचरणाच्चमत्कृतदृशः किं वा तपो भूषणः।
श्री भट्टारक वंदितां ह्रि युगलो गण्योऽपनुद दूषणः,
इश्वत् किन्ननमस्यते बुधगणैः श्रीमज्जगद् भूषणः[1]।।

इनके शिष्य ब्रह्मगुलाल ने कई ग्रन्थो की रचना की है, उन सबमे भ० जगभूषण का उल्लेख किया है।

कवि की एक मात्र कृति 'हिंडोलना' है, जो मल्हार राग मे गाई जाती है, रचना सुन्दर और मनमोहक है।

अरुन मणिमय थंभ कीने रतन खचित अपारि।
पच वर्ण संवारि मानउ रतन पटुली चारि।।
रुचिर मोती माल डोरा किंकणी रण सार।
सुरंहि साथ हिंडोलना तहं झूलत नाभिकुमार।।
सुभग हिंडोलना झूलत जगपति जु।।१।।
अलिकुल कलित कलेवर नील नीरद तृषा चातक मोर।
दश दिशा प्रति बीजु चमकति करत दादुर सोर।।
पहिरि सारी सुखाराति लाह कंचुकी गांठ।
जुवति झूलत नाभिसुत, संग प्रथम मास असाढ़।।
नटत किन्नर किन्नरी जन मुरज बीना वेनु।।२।।
सुरस बाजत जलद वरसत दबगई सब रैनु।
सुरभि शीतल पवन कोकिल मोर विसाल।।
अमर सायनि रमत जगपति आयो सावन मास।
झिरत झिरना गहिर सीता उमड़ि चलत तड़ाग।।

३. श्रावक लोग वसै धर्मवत, पूजा करै जपै अरहत।
तिनको सेवक लोहट साह, करी चौपई धरि शुभलाह।।१४

४. वरषा रिति आगम सुभसार, मास अषाढ़ तीज गुरवार।
पाख उजाल पूरी यह भई, सरल अरथ भाषा निरमई२६
सवत सत्रहसै इकईस, करी चौपई फली जगीत।
मन अभिलाष सपूरन भए,
श्रीजिनगुरु चरण शीशधरि लए।।२८
—यशोधर चरित प्रशस्ति

५. देखो राजस्थान जैन ग्रन्थ सूची भा० ४, पृ० ३६६।

१. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भा० १, पृ० १५६

घनघोर वरसत हरित छिति तल बढत अति अनुराग।
वन उरोज सरोज राजित तरुन वदत सा र ।।
मास भादौ रमति जगतति कमल कोमल हाथ ।
कनक कुण्डल श्रवन शोभित सेहरो सिर सारु ।
पहिर अमर अरुन सुरभत रुचिर मनिमय हारु ।।
अमर अमगी तरुन तरुनी चित हरत विचित्र ।
जगद्भूषन मन हरै जगदीस परम पवित्र ।।
सभग हिंडोलना झूलत जगपतिजू ।।

इनकी अन्य रचनाए भी होगी, परन्तु ग्रंथ भडारो मे अभी अन्वेषण कार्य पूर्ण नही हुआ। अभी अनेक भडार अवशिष्ट है। जिनमे बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते है। आशा है विद्वद्जन इस सम्बन्ध मे अनुसन्धान करने का प्रयत्न करेगे।

सेवारामशाह—यह जयपुर लश्करीवासी शाह बखतराम के पुत्र थे। इनकी जाति खडेलवाल और धर्म जैन था। इनके तीन भाई और थे जिनका नाम जीवनराम, खुशाल और गुमानीराम था। इनमे जीवन ने जिनेन्द्र के भक्तिपूर्ण पद और स्तुतिओं की रचना की थी। इनके पिता बखतराम ने 'मिथ्यात्व खडन और बुद्धि विलास' इन दो ग्रन्थों की रचना की थी।

शाह सेवाराम प० टोडरमल जी के शिष्य थे। उन्हीं की कृपा से उन्हें यह बोध प्राप्त हुआ था। तपस्वी ब्रह्मरायमल्ल का भी कवि ने उल्लेख किया है[1]। कवि ने 'शान्तिनाथ पुराण' मालव देश मे स्थित देवगढ मे जहाँ सामन्तसिह नरेश राज्य करते थे। सामंत सिह के दो जैन श्रावक प्रधान मत्री थे[2]। दोनों ही अपने जीवन को खपाकर राज्य का सचालन करते थे। वे बुद्धिमान और धर्मात्मा थे, उनके छोटे भाई का नाम मीठा चन्द था। ये हूमड वश के भूषण थे। इनके अपार द्रव्य था। कविवर सेवारामशाह की इन्होंने बडी सेवा सुश्रूषा की थी। उन्ही की प्रेरणा से कवि ने शान्तिनाथ पुराण सं० १८३४ मे श्रावणकृष्णा अष्टमी के दिन मल्लिनाथ के मन्दिर मे पूर्ण किया था, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

सवत अष्टादश शतक पुनि चौतीस महान ।
सावनकृष्ण पराष्टमी, पूरो कियो महान ।।

बारहभावना नाम की एक कृति भी इन्होने सं. १८३४ मे बनाई थी। कवि ने कवि चतुर्विंशति जिनपूजा स० १८५४ मे बनाकर समाप्त की थी। अनन्तव्रत पूजा और मन संग्राम नाम की दो रचनाएं भी बनाई हुई राजस्थान के शास्त्रभण्डारो में पाई जाती है। सभव है कवि ने अन्य ग्रन्थो की भी रचना की हो। कवि का समय विक्रम की १९वी शताब्दी है। कवि की एक कृती धर्मोपदेश 'छन्दोबद्ध का उल्लेख प० नाथूराम जी प्रेमी ने हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पृष्ठ १ मे किया है।

---

१. वासी जयपुरतनो टोडरमल कृपाल ।
ताम प्रसंगको पायके लह्यो सुपथ विशाल ।।
गोम्मटसारादिकन मे सिद्धान्तन मे सार ।
प्रवरबोध जिनकै उदै महाकवि निरधार ।।५०
पुन ताके तट दूसरो रायमल्ल बुधिराज ।
जुगलमल्ल ये जब जुरै और मल्ल किहि काज ।।५१
देश ढुढाहड़ आदि दे संबोधे बहु देश ।
रचि रचि ग्रथ सरसकिये टोडरमल्ल महेश ।।

२. सवत् १८३४ में दो जैन श्रावको के मंत्री होने का उल्लेख ऊपर किया है। उनमे एक तो कपूरचन्द प्रधान मत्री थे। और दूसरा मंत्री सभवत: सुन्दरसिह था। सवत् १८३१ मे महारावल गावलसिह का देहान्त होने पर उनका कुवर सावंतसिह सात वर्ष की अवस्था मे गद्दी पर बैठा था। उस समय का शासनकार्य राजमाता कुदन कुवरी, अपने भ्राता सरदार सिंह, मंत्री कपूरचन्द, राघव बख्शी तथा शाह गुमान के परामर्श से चलाती थी। सेवाराम सम्भवत: उस समय वहाँ थे। इन दोनों मंत्रियो के कार्यकाल मे यह ग्रन्थ बनाया गया है।

ब्रह्म साधारण कृत दुद्धारसि कथा

डा० भागचन्द जी जैन

ब्रह्म साधारण मूलसंघ की परम्परा के विद्वान थे। उन्होंने अपनी गुरु परम्परा के विद्वानों में पद्मनन्दी, हरिभूषण भट्टारक के शिष्य भ० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। प्रस्तुत नरेन्द्रकीर्ति बागड़संघ के विद्वान जान पड़ते है। इनके शिष्य प्रतापकीर्ति ने 'श्रावक रास' सं. १५१४ मे मगशिर शुक्ला दशमी के दिन बनाकर समाप्त किया। था। इस दुद्धारसि कथा में ब्रह्म साधारण ने भ० प्रभाचन्द का भी उल्लेख किया है। और यह बतलाया है कि जिस तरह इन्द्रभूति गौतम ने श्रेणिक (बिम्बसार) के प्रति कथा कही, वैसी मै भी कहता हूँ। कथा मे कवि ने रचना काल और रचना स्थल का कोई उल्लेख नही किया हाँ, जिस गुच्छक मे यह कथा दी है, उसका लिपि काल स० १५०८ जरूर दिया है। जिससे यह कथा सं० १५०८ के पूर्व रची गई है, बाद में नहीं। इससे इसका रचना काल स० १५०० के लगभग होना चाहिए।

धनदत्त नाम के वणिक ने मुनि से पूछा कि हमारी यह व्याधि कैसे दूर होगी? तब मुनि ने कहा कि नरक उतारी विधि करो, उससे तुम्हारा यह रोग चला जायगा। धनदत्तने पूछा, भगवन्! इसकी विधि क्या है? तब मुनि ने कहा कि भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को यह व्रत करना चाहिए। और जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक, पूजन और धार्मिक कार्यों मे समय व्यतीत करना चाहिए। इस तरह यह व्रत बारह वर्ष तक करना चाहिए। व्रत पूरा होने पर विधि पूर्वक उसका उद्यापन करना चाहिए, चार सघ को दान देना चाहिये। इस तरह इस व्रत का विधि पूर्वक अनुष्ठान करने से धनदत्त का सब रोग चला गया।

जिणसिद्धभडार हो, तिहुअणसार हो,
आयरियहो पुणु उज्झयहो।
वंदे वि मुणिदहो, कुवलयचंदहो,
दुद्धारसि पयडमि जण हो ॥
जिणवयणकमलरुह दिव्ववाणि।
पणमामि जगत्तय पुज्ज जाणि ॥
णिग्गंथ सवण णियमणि धरेवि।
'पहचद' भडारहो थुइ करेवि ॥
'दुद्धारसि' कह फलु सावयाह।
जह गोयम भासिउ सेणियाह ॥
तह भासमि जइ हउं मंद बुद्धि।
सरसइ हि पसाए कव्वसुद्धि ॥
महुं संग्ज्जउ जिणवरय याह।
मिच्छामयमोह विवज्जि याह ॥
इह भरहखेत्त सुदरपएस।
भवियणमणहर 'सोरट्ठदेस' ॥
जहिं सावय णर जिणधम्मरत्त।
कयमित्तिभावमिच्छत्तचत्त ॥
जहिं जीवदयावर सव्वलोय।
बहुरिद्धिवत माणिय सुभोय ॥
जिणजत्त करण उच्छाहचित्त।
जहि सावय गच्छहि पवरवित्त ॥
जहि राय रायमइ भोयचत्तु।
करुणायरु जावउ जिणु विरत्तु ॥
जहु कुल 'णहसंसि' सुविसुद्धभाउ।
दिक्खकिउ केवलि णाणु जाउ ॥
दयधम्मु पयासिवि मोक्खपत्तु।
तहि तित्थु पयउ जायउ पवित्तु ॥
घत्ता—गिरणारु मणोहरु,
गुणियणसुहयरु, जिणचेईहरमंडियउ ॥
सुर-खयर-णमंसिउ, जणहि
पसंसिउ, अरिवग्गेहि अखंडियउ ॥
तहिं 'पउमप्पहु' णरवइ पसिद्धु।
पय पालणु बहु गुणगण समिद्धि ॥
'पोमावइ' मणहरु लच्छिसामि।
जसु कित्ति पयउ पुरणयरगामि ॥

'धणयत्तु' वणिदु जिणेस भत्तु ।
भज्जासु सयं पहरत्तचित्तु ।।
जिणधम्म सीलगुणवय विसाल ।
ते विण्णि वि अच्चहि णिच्चकाल ।।
चउवण्णहो संघहो दिंति दाणु ।
जामच्छहि णिय परियणसमाणु ।।
ता एत्तहिं वणि आयउ मुणिंदु ।
भवियण कमलायरु णंदि णिंदु ।।
पिहियासउ णामें सीलधारि ।
चउवण्णहो संघहो सोक्खयारि ।।
मुणिवर आगम वणपत्तफुल्ल ।
दु मणिय रहि जायइ फलरसुल्ल ।।
महुलिहरुंजहिं कुसुमियवणेहिं ।
सिहिणच्चहि ण पावसघणेहिं ।।
महियलु कुसुमहिं पिंजरिउ सव्वु ।
गणियारिहि ण कणएहिं भव्वु ।।
तं पेखि वि वणु उज्जाण पालु ।
वद्धाविउ महिवइ सामि सालु ।।
मुणिवरु अवही सरु तव वणम्मि ।
आयउ पहु सुणि तुट्ठउ मणम्मि ।।
आणंद तूरु उच्छलिउ जाम ।
पुरयणु परियणु संपत्तु ताम ।।
धय चामर चिंधहि सऊ णरिंदु ।
उज्जाणे पराइउ जहि मुणिंदु ।।
घत्ता—सो णरिंद धणयत्तु वणि
मुणिवर-दुज्जण भय हरु ।
पणमिउ वहुभत्ती भरेंहि
पुंछिउ धम्मु सुमणु हरु ।
भो सामिय करुणावल्लि कंद ।
सावय वय भासहि मुणिवरिंद ।।
मुणि भासइ दंसणमूलधम्म ।
वसुगुण पालइ वज्जि वि कुकम्म ।।
वारह वय तव पडिमाइ जुत्त ।
वय पालय जह आगमहिं वुत्त ।।
चत्तारि दाण-जण भुत्ति सुद्धि ।
रयणत्तय भावण मण विसुद्धि ।।
सल्लेहण किज्जइ अंत यालि ।
जिणवर पुज्जिज्जइ तह तियालि ।।
इय सुण वि धम्मु परियण समाणु ।
मुणि वंदिवि णरवइ पत्तु ठाणु ।।
धणयत्तु पयासइ दाण जुत्ति ।
णिय भज्जहि संघ हो देहि भुत्ति ।।
दाणें संपय णिम्मल धराइ ।
तिहुवण-सिरि संपज्जइ णराह ।।
भेसह आहाराभय पुराण [विणाण] ।
चत्तारि जिणागम सुद्ध दाण ।।
तिहिं पत्तहिं दिज्जहि मुणि वि भेउ ।
वहु विणय भत्ति सिव सुर कहेउ ।।
विणु पत्तें फलु दीसइ न भज्ज ।
तें करणें पत्तहो देहि अज्ज ।।
घत्ता—जेहि जिणिंदु ण पुज्जिउ
मुणिहि दाणु ण वि दिण्णउं ।।
सवण वित्ति णवि आयरिय ।
अहलु जम्मु तें किण्णउ ।।३।।
सुंदरि असेहु कम्मु तुहु णासहि ।
मुणि आहार दाण जइ पोसहि ।।
तं णिसुणे वि सयं पह जंपइ ।
अंगु कुचेल उवट्टइ संपइ ।।
किम भणु दाणु मुणीसहो दिज्जइ ।
अप्पाणउ पावें मइ लिज्जइ ।।
तियहि जम्मु कुच्छिउ मुणि भासहि ।
णवि भवि णिव्वाणु पयासहिं ।।
व [मु]णि वरु भणइ देहि मासं कहिं ।
दाणें तवु लिहइ ण कलंकहिं ।।
दाणें पयड कित्ति पुणु सुरभउ ।
चक्कवट्टि संपय पाविय जउ ।।
दाणें असुह कम्मु जइ हो सइ ।
होउ मज्झु ण वि तुह वणि घोसइ ।।
ता पाराविउ परम दियवरु ।
सुद्ध चरणु कय इंदिय संवरु ।।
सादिं तह संकियणिय भावें ।
सइ धणयत्तु कलंकिउ पावें ।।

रोय सरीर असुंदरु जायउ।
भज्ज समेउ विसंवुल कायउ।
कर चरणइं थक्कइ णउ चल्लहि।
करहिउ वाउ तहय मण सल्लहि॥
वणि वरिंदु अप्पाणउ णिंदइ।
वयणु सयं पह केरउ चिंतइ॥

घत्ता—ता गलिय काल पावसहि पुणु।
वणि पिहिआसव आगमणु॥
धणयत्तु सयं पह जुत्तु तहिं।
वंदण भत्तिए गयउ पुणु॥४॥

मुणि वंदिवि अप्पाणु हु गुंच्छिउ।
वहि हरणु धणयत्तें पुंच्छिउ॥
मुणिवरिंदु भासइ मुणि वणि वर।
णरयउतारी विहि किज्जइ वर॥
तो तण रोउ सयलु खणि खिज्जइ।
भणइ वणीस केम विहि किज्जइ॥
धवलिय वारसि भादवमासहि।
बारह संवच्छर उववासहि॥
जिणवर पडिमा पयण्हा विज्जइ।
अह णिसि धम्म पहावण किज्जइ॥
वित्त सरिसु उज्जवणु विहिज्जइ।
दाणु चउव्विह संघ हो दिज्जइ॥

इय विहाण विहि सुणि धणयत्तें।
घरि आइ वि किण्णिय सुपयत्तें॥
गयउ रोउ सुंदरु तणु जायउ।
घरिणि सयं पहव वय फलु पायउ॥
धणयत्तु वि जिणवर वय पालिवि।
गउ णिव्वाण हो कलिमलु खालिवि॥
जिणवर दंसण वयहं पहावें।
सग्गु-मोक्खु लब्भइ सुहभावें॥
अण्णु वि जोइय विहि पालेसइ।
णरु तिय सो सुर लोटा गमेसइ॥
जिणवर दंसण मूल गुणायर।
'पोमणंदि' 'हरिभूसण' भायर॥
सीस 'णरिंद कित्ति' भवतारण।
'विज्जाणंदि' बंभ साहारण॥
पयडिय एह कहा जण मणहर।
णंदउ ताम जाम रवि ससहर॥

घत्ता—जे पडहि पडाविहि भव्वयण।
णियमणि णिच्छउ भावहिं।
ते बंभ साहारण वय फलेण।
अमर लोय सु हु पावहिं॥

इति नरेन्द्रकीर्ति शिष्य ब्रह्मसाधारण कृत मूल कथा भाग समाप्तः॥ ३॥

राग-ख्याल

उस मारग मत जाय रे!

मन मूरख पंथी, उस मारग मति जाय रे॥
कामिनि तन कांतार जहां है, कुच परवत दुखदाय रे॥१॥

काम किरात वसै तिह थानक, सरवस लेत छिनाय रे।
खाय लता कीचक से बैठे, अरु रावन से राय रे॥२॥

और अनेक लुटे इस पैड़े, बरनै कौन बढ़ाय रे।
वरजहों वरज्यो रह भाई, जानि दगा मति खाय रे॥३॥

सुगुरु दयाल दया करि 'भूधर', सीख कहत समझाय रे।
आगे जो भावै करि सोई, दीनी बात बताय रे॥४॥

कविवर भूधरदास

अपभ्रंश भाषा के जैन-कवियों का नीति-वर्णन

डा बालकृष्ण 'अकिंचन' एम. ए. पी-एच. डी.

जैन मनिषियों ने अपने धर्म से सम्बन्धित अनेक पुराणों, आख्यानों, कथाओं, चरितों तथा चूर्णिकाओं की रचना की। यद्यपि ये सभी धर्म भावनाओं से ओत-प्रोत मानस की कृतियां हैं तो भी इनमे से अनेक का साहित्यिक मूल्य भी कम नही। साहित्य-शास्त्रियो का एक ऐसा भी वर्ग है जो धर्म से सम्बन्धित कृतियों को साहित्य के क्षेत्र में रखने पर आपत्ति प्रगट करता है, किन्तु आज उस मान्यता को महत्व नही दिया जाता। कारण, साहित्य का धर्म से वैर नही है। आवश्यकता इस बात की है, कृति मे काव्यात्मकता होनी चाहिए। काव्य क्या है—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द। अतः जहाँ किसी भी प्रकार की शब्दगत, अर्थगत, भावगत, भाषागत, शैलीगत, शिल्पगत रमणीयता विद्यमान हो, वही काव्यत्व माना जा सकता है। धार्मिक कृतिया तो क्या, भ्रष्ट कापालिको की कृतियां (या उनके कुछ अश) भी काव्य की श्रेणी मे आ सकते है बशर्ते कि उनमे काव्यत्व विद्यमान हो। यदि धर्म के नाम पर ही किसी कृति को काव्य सीमा से बाहर की वस्तु समझा जाने लगा तो पद्मावत तथा अखरावटादि समस्त सूफी काव्य, मानस-सूरसागर-रासपंचाध्यायी आदि अधिकाश भक्ति काव्य की सिरमौर कृतियां हमें काव्य क्षेत्र से बाहर समझनी होंगी और यदि ऐसा हो गया तो हिन्दी के पास लड़कियों की कुछ अदाओं तथा विहरणियो के कुछ आंसुओ से सुसिक्त छन्दों को छोड़कर और कुछ शेष ही नही रह जाएगा। जब हम अन्य वैष्णव धर्म-ग्रन्थों को काव्य कहते है तो हमें अपभ्रश के अनेक सरस तथा अलकृत जैन ग्रन्थों को भी काव्य कहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और फिर नीति काव्य के विद्यार्थी को जितना फुटकर मसाला धार्मिक काव्यों से मिलने की आशा रहती है, उतना प्रेम, शृंगार और विरह निरूपित करनेवाली कृतियोंसे नहीं।

अपभ्रंश के जैन-कवियों द्वारा लिखित अधिकांश काव्य-कृतियां प्रबन्धात्मक हैं। ये प्रबन्ध काव्य अपभ्रंश साहित्य में प्रभूत मात्रा मे प्राप्त हैं। चरित्र काव्यों की सख्या भी आशाजनक है। ये काव्य जैन तीर्थंकरों या धर्माचारियों के पुनीत जीवन से सम्बन्धित हैं। कुछ प्रमुख कृतियो की नीति पर यहाँ सक्षेप में विचार किया जावेगा—

पउम चरिउ—इसे स्वयभू-कृत रामायण कहना चाहिए। इसके अनेक वर्णन नैतिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उनका अनुशीलन बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है और एक पृथक विषय है। अतः यहाँ केवल उदाहरणार्थ एक कथन दृष्टव्य है :—

लक्खवण कहिं वि गवेसहि तं जलु।
सज्जण हियउ जेम जं निम्मलु॥

अर्थात् लक्षमण उसी जलाशय मे तो जल खोजते हैं जो सज्जन हृदय के समान निर्मल हो। कथन की नैतिक अर्हता तो है ही, साथ ही उसकी मार्मिकता दर्शनीय है। अपने विषय से न हटता हुआ भी जिस प्रकार से संत हृदय की निर्मलता का सकेत कर वह उसकी काव्य-कुशलता एव अभिरुचि, दोनो की परिचायक है।

रिट्ठणेमि चरिउ या हरिवंश पुराण—यह ग्रन्थ पउम चरिउ से भी बड़ा है। कही-कही नीति सम्बन्धी सूक्तियां बहुशः विद्यमान है :—

वरि सुसह समद्दु वरि मदरो णमेइ।
ण वि सुव्वणहु भासिय अण्णहा हवेइ॥

अर्थात् चाहे समुद्र सूखे, मदर झुके (या कुछ भी हो) किन्तु ज्ञानी का कथन अन्यथा नहीं सिद्ध होता है। तथा

जहि पहु दुच्चरिउ समायरह—
तहि तणु सामण्णु काइं करइ।

अर्थात् जहाँ स्वामी चरित्रहीन होगा वहाँ सामान्य जनता या प्रजा करेगी अर्थात् और भी अधिक चरित्रहीन होगी। आज की राष्ट्रीयता परिस्थिति में उस प्राचीन जैन कवि का कथन और भी विचारणीय है।

महापुराण—पुष्पदंत का यह महाकाव्य अत्यन्त सुप्रसिद्ध कृति है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही दुर्जनो के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। उनका स्वभाव तो बाधा उपस्थित करने या भोंकने का है, किन्तु इससे होता क्या है? वे पूर्ण चन्द्र पर कितने भी भौके उनसे चन्द्रमा पर क्या कोई प्रभाव पड़ता है? और यही विचार कर कवि सज्जनों की प्रशंसा करता हुआ ६३ जैन महापुरुषों के चरित्र लिखने में प्रवृत्त हो जाता है। इन विशाल ग्रन्थों में नीति कथन विभिन्न शैलियो मे कहे गये है। प्रश्नोत्तर शैली का एक उदाहरण देखिए:—

खग्गें मेहें किं णिज्जलेण, तरु सरेण किं णिप्फलेण।
मेहें कामें किं णिद्दवेण, मुणिणा कुलेण किं णित्तवेण।
कव्वे णडेण किं णीरसेण, रज्जें भोज्जे किं पर वसेण।
१।८।७

अर्थात् पानी रहित जलद तथा तलवार से क्या? फल रहित वृक्ष और बाण से क्या? अद्रवणशील मेघ और काम (यौवन) से क्या? तप हीन मुनि तथा कुल से क्या? नीरस काव्य और नट से क्या? पराधीन राज्य और भोजन से क्या? कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ पानी, फल नीरस इत्यादि शब्दो मे सुन्दर श्लेष विद्यमान होने से काव्यात्मक चमत्कार आ गया है। इसी प्रकार अनेक कथन उद्धृत किये जा सकते हैं—

उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण (१२-१७-६) सोते हुए सिंह को किसने जगाया।

परियउ पुणु रिक्तउ होइ राय (३९-८-५) जो मरा है वह खाली अवश्य होगा।

माण भंगु वर मरणु न जीविउ (१६-२१-८) अपमानित होकर जीने से तो मृत्यु अच्छी।

एक अन्योक्ति और देखिए—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ,
सो जीवंतु दुद्धु ण णिहालइ।
जो मालारु वेल्लि णउ पोसइ,
सो पुफुल्लु, फलु केंव लहेसइ॥ (५१-२-१)

अर्थात् जो ग्वाला गौ ही नहीं पालता। उसे दूध के दर्शन जीवन भर नहीं होते। जो माली लता गुल्मादि का पालन ही नहीं करता वह भला सुन्दर पुष्प कैसे ले सकेगा। इस कथन की जितनी भी व्यजनाएं की जाए थोड़ी है।

भविसयत्त कहा— धनपाल धक्कड़ की इस कृति का नायक लौकिक पुरुष है, अतः कवि को गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों के वर्णन का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है। अन्ततोगत्वा पुट धार्मिकता ही है, अतः नीति कथन भी धार्मिक भावना से ही प्रभावित है। यथा—

जोव्वण वियार रस बस पसरि,
सो सूरउ सो पण्डियउ।
चल मम्मण वयणुल्लावएहिं,
जो परतियहिं ण खंडियउ॥ (३-१८-९)

अर्थात् युवक, शूर भी वही है और पडित भी वही है जो परनारी के कामोद्दीपक प्रपचो (वचनो) आदि द्वारा खडित नही होता (प्रभावित नही होता)।

जहा जेण दत्तं तहा तेण यत्त,
इमं सुच्चए सिट्ठलोएण वुत्तं।
सु पायन्नवा कोद्दवा जत्त मालो,
कह सो नरो पावए तत्थ सालो॥

अर्थात् यह कथन सत्य है कि जो जैसा देता है, वैसा ही प्राप्त करता है। जो माली कोदो बोता है वह शालि कहाँ से प्राप्त करेगा। इसी प्रकार अन्य सुन्दर कथन अनेक स्थलों पर है। यथा—

(क) जो दूसरो के प्रति पापाचरण की सोचता है, उसका पाप उल्टा उसे ही दुखी करता है—
परहो सरीरि पाउ जो भावइ।
तं तासइ बलेवि संतावइ॥ —६-१०-३

(ख) लाभ के विचार करते-करते हुए भी कभी-कभी मूल भी नष्ट हो जाता है—

जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंतंत हो। (३-११-५)

खंड काव्यों में नीति—

ऊपर वर्णित कृतियाँ अपभ्रंश के महाकाव्य थे। खंड काव्यों में नीति कथनों का अध्ययन किया जा सकता है—

सुदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित्र)—

नयनंदी की यह कृति अपभ्रंश की एक सुन्दर काव्य कृति की दोष मुक्तता का उल्लेख किया है। इस खंड

काव्य से पर्याप्त नीति वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—

सप्पुरिसहो किं बहुगुणहिं पज्जतं दोसहिं णणहेव ।
तडि विप्फुरण व रोसु मणे मित्ती पाहण रेहा इवा ।।
अमिलंताण व दीसइ णेहो दूरे वि संठियाणं पि ।
जहविट्ठ रवि गयणयले इह तह विहुलइ सुहु णलिणी ।।८-४

अर्थात् दूरस्थ प्रेमियो मे भी स्नेह देखा जाता है। जिस प्रकार रवि गगनतल मे स्थित रहता है, किन्तु (उसकी अनन्य प्रेमिका) नलिनी पृथ्वी पर तालाब मे विकसित हो जाती है। इसी प्रकार यौवन, युवती, प्रेम, उपहासादि पर सुन्दर नीति वचन कहे गये है। यौवन के वेग को पहाड़ी नदी के वेग के समान बताया गया है। स्त्रियों के चरित्र की पहचान देवताओं के लिए भी दुर्लभ बतायी गयी है। प्रेम से दुख की अनिवार्यता का कथन किया गया है—

जह ण कवणु णेहें संताविउ । (७-२)

करकंडु चरिउ—

यह एक सुन्दर खड काव्य है। १० संधियो (अध्यायों) में विभाजित यह कृति मूलतः निर्वेद भावनाओं की प्रतिपादक है। कृतिकार मुनि कनकामर मर्त्यलोक में यद्यपि स्वल्प भोग विद्यमान पाते हैं, किन्तु मूलतः वे संसार को दुःख का अपार पारावार ही समझते है। यह ससार एक वन है। इसमे नश्वरता की दावाग्नि लगी हुई है। जिस प्रकार अग्नि गत जंगल मे (ककाल निम्न-कुटज और चदनादि अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े पेड़ों में से)कोई भी नही बचता। उसी प्रकार यहां काल के गाल से कोई नहीं बच पाता। युवा, वृद्ध, बालक, विद्याधर, किन्नर, खेचर, सूर अमरपति सभी काल के वशवर्ती है। न श्रोत्रिय ब्राह्मण बच पाता है और न तपस्वी; न धनवान बच पाता है और न कोई निर्धन—

घत्ता—**णउ सोत्तिउ बंभणु परिहरइ,**
णउ छंडइ तवसिउ तवि ठियउ ।
धणवंतु ण छुट्टइ ण वि णिहणु,
जह काणणे जलणु समुट्ठियउ ।। (६-५-१०)

इसी प्रकार सांसारिक विषयों की क्षण भंगुरता, लोभ, गुरुजन-सगति इत्यादि के सम्बन्ध में सुन्दर कथन किये गये हैं। लक्ष्मी की चचलता तथा नारी हृदय की अस्थिरता का भी अच्छा वर्णन किया गया है।

वस्तुतः इस प्रकार निर्वेद सम्बन्धी नीति कथन जैन काव्य का सर्वस्व है। उक्त विचारों से मिलता-जुलता ही संसार की असारता का एक कथन, नयनंदी के द्वितीय खड काव्य—"सयल विधि विधान" से उद्धृत है—

उययं चडण पडणं तिण्णि वि ठाणाइ इक्क दिय हम्मि ।
सूरस्स य एस गई, अण्णस्स य केत्तियं थामं ।। ६-६-८

अर्थात् जब एक ही दिन में सूर्य जैसे पराक्रमी को भी उदय, उपरिगमन और पतन इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है तो फिर औरों का क्या कहना ? निश्चयतः यह कथन निर्वेद सम्बन्धी होते हुए भी काव्य वैदग्ध का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार जीवन व यौवन आदि की झूठी चमक, अस्थिर गति तथा क्षण-भगुरता आदि का सुन्दर वर्णन नयनदी ने किया है। एक स्थान पर जीवन की, नलिनी दलगत जल बिन्दु से दी गई उपमा तो बहुत ही सुन्दर बन पडी है।

प्रबन्ध और खड काव्यो के अतिरिक्त जैन कवियों ने कथा-साहित्य की भी सृष्टि की। इन कथाओ पर कही तो जातको का प्रभाव था और कही रामायण, महाभारतादि संस्कृत ग्रथों का। इन कहानियो का प्रधान स्वर भी जैन-धर्म का प्रचार तथा निर्वेदादि भावनाओ का प्रसार है। काव्य से सम्बन्धित होने के कारण यह कथा साहित्य हमारी विवेचन-सीमा मे नही आता। परन्तु उनमें कहीं-कहीं गाथादि छन्दों में नीति कथा भी बीच-में सुगुम्फित है। इनमे गुरु-सेवा, शास्त्राभ्यास, सयम, तप, दान, धर्म, कष्ट, सहिष्णुता आदि पर उपयोगी कथन विद्यमान हैं, परन्तु उपदेश शैली की प्रधानता के कारण ये गाथायें भी निरी पथ मात्र होकर रह गयी है। उनमें काव्यात्मक सरसता या विदग्धता आदि नहीं आ पायी है। इस प्रकार के ग्रन्थों में अमर कीर्ति के छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) माला, अणुवयरयणपईव (अणुव्रत-रत्न प्रदीप) आदि का स्थान महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष यह है कि नीति के प्रचार एव प्रसार मे अपभ्रश के जैन कवियों का योगदान उतना ही सराहनीय है, जितना कबीर-नानक-दादू आदि निर्गुणिये संतो का। उनकी काव्य-कृतियों में नीति के अमूल्य और असंख्य हीरे जड़े हुए हैं। आवश्यकता उनके अध्ययन, प्रचार, प्रसार एवं जीर्णोद्धार की है। काश, जैन समाज या यों कहिये कि भारतीय साहित्य जगत यह पुनीत व्रत ले पाता।

जैन भक्तिकाव्य में प्रपत्ति

डा० गंगारामगर्ग

धर्म-प्राण देश होने के कारण भक्ति भारत के समस्त काव्य में प्रमुख वर्ण्य हैं। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का हिन्दी काव्य तो भक्ति-प्रधान रहा ही है परवर्ती काल में भी भक्ति की मंदाकिनी अपनी अक्षुण्ण गति से प्रवाहित होती रही। इसके प्रवाह को प्रवेगमय बनाये रखने में निर्गुण और वैष्णव भक्तों के अतिरिक्त जैन भक्तों का बड़ा योगदान रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस समय बिहारी, कृष्णभट्ट, पद्माकर आदि दरबारी कवि काव्य-प्रेमियो को कवित्त, सवैयों और दोहों के माध्यम से शृंगार-माधुरी पिलाकर मदोन्मत्त कर रहे थे; उस समय भी नवल जयचन्द, माणिकचन्द, बुधजन, पार्श्वदास, प्रभृति अनेक श्रावको ने विपुल पदो की रचना कर उन्हें भक्ति संजीवनी दी। भक्तिकाल मे भी बनारसीदास, भूधरदास आदि कई जैन भक्त हुए, किन्तु रीतिकाल की अपेक्षा कम।

'प्रपत्ति' का अर्थ स्वामी हरिदास द्वारा **रहस्यमय में शरणागति बतलाया गया है**' शरणागत का अर्थ होता है—शरण मे आया हुआ। जब भक्त अपने आराध्य की शरण मे चला जाता है तो उसे कोई भी चिन्ता नहीं रहती। उसके समस्त भय दूर हो जाते है। तुलसी के इष्ट राम ने तो स्वय स्वीकार भी किया है—**मय पन सरनागत भय हारी**।[1] सर्वकामप्रदा प्रपत्ति के प्रति भक्तों का बडा लगाव रहा है। पांचरात्र की लक्ष्मी सहिता में प्रपत्ति के छः अंगों का वर्णन है। वे सभी जैन भक्ति काव्य मे भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है—

1. रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, दो० ४३।

१. अनुकूल्य का संकल्प :—

जब कई व्यक्ति किसी की शरण में आ जाते हैं तो वह उसके अनुकूल व्यवहार का सम्पादन करना अपना लक्ष्य बनाता है। इस प्रकार प्रपन्न भक्त भी स्वयं में ऐसे गुणों का समायोजन करता है, जिससे आराध्य प्रसन्न हो सके। अतः बुधजन अपने कई पदों में जिनेन्द्र के गुण गाने, वाणी सुनने तथा उनके चरणों में मन बसाने का संकल्प करते है। जयचन्द आराध्य के ध्यान, वंदन तथा गुणगान के अतिरिक्त उनकी छवि निरखते रहने का निश्चय करते है :—

अहो जिनराज द्यावोगे निधि मेरी,
मैं सरन लियो तुम आय।
तुम गुन ध्याऊं, न गाऊं और कूं, अरज करू सिर नाय।
अब जो पाऊ फिर न गमाऊं नींद न लेऊं पास दिखाय।
नयन देखि विलसू पल पल, प्रभु यहै नेम तुम भाय॥

२. प्रातिकूल्य का वर्जन :—

आराध्य के अनुकूल तभी हुआ जा सकता है जबकि आराधक इन्द्रिय, सुख, राग-द्वेष आदि को प्रतिकूल समझ कर उनकी तरफ से अपना हाथ खीच ले। जैन भक्तों ने प्रपत्ति मे बाधक संग, कर्म व स्वभाव के परित्याग का निश्चय कई पदों मे प्रकट किया है :—

अष्ट कर्म म्हारो कांई करसी जी, मै म्हारे घट राखूं राम।
इन्द्री द्वारे चित दौरत है, तिनवश ह्वै नहिं करिस्यू काम।
इनको जोर इतो ही मुझ पै, दुख दिखलावै इन्द्री गाम।
जाकूं जानूं में नहिं मानू भेद विज्ञान करूं विसराय।
कहूं राग कहूं दोष करत थो, तब विधि आते मेरे ग्राम।

उक्त पदांश मे भक्त बुधजन अष्ट कर्म, राग-द्वेष आदि का परित्याग करके शुद्ध स्वभाव धारण करने के लिए दृढप्रतिज्ञ हैं।

३. रक्षयिष्यतीति विश्वास :—

भगवान् मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह विश्वास भक्त को दो कारणों से होना है—आराध्य की पतित-पावनता और उनके प्रति अपनी अनुकूलता। जैन भक्तों को जिनेन्द्र द्वारा अपनी रक्षा होने में पूर्ण विश्वास है। जयचन्द मन को जिनेन्द्र की पूजा, स्तुति, जप व दर्शन में लीन देखकर अपने उद्धार में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं

करते, तभी तो स्वाभिमानपूर्वक कहते हैं :—

जिनेश्वर मोहि तारो जी, हो जोहूं तो थारू सदा पण थारी।
बदन निहारूं गुन उरधारूं, हो जी मैं तो आन सरन सब थारी
पाप भरे तारे बहु सुनिये, मैं तिन ते कहा भारी।
पूजा स्तवन जापध्यानलय हो जी मोहूं 'नयन'
तिहारी प्यारी ।।

अपने आराध्य को पतित-पावनता मे अग्रणी जानकर तथा उसके ध्यान और गुणगान में अपने को संलग्न देखकर बुधजन भी विश्वास कर लेते है कि महावीर जी गाते-गाते और ध्यान करते हुए देखकर मुझे तार ही देंगे :—

गाता ध्याता तारसी, भरोसो महावीर को,
हेरि थक्यो सब मांही ऐसो, नाहीं कोऊ पीर को ।

४. गोप्तृत्व वरण :—

प्रपन्न भक्तो ने ससार-सागर से पार उतरने के लिए भगवान् को गोप्तु के रूप में वरण करना आवश्यक माना है। सभी वैष्णव भक्तो ने अहिल्या, प्रह्लाद, वाल्मीकि, गज आदि के उद्धार की चर्चा करते हुए आराध्य से अपने उद्धार का अधिकार चाहा है। जैन ग्रन्थों में भगवान् 'जिन' द्वारा रक्षित श्रीपाल, मानतुंग, वादिराज, सिंहोदर, कुमुदचन्द्र आदि नाम उल्लेखनीय है। जैन भक्तों ने आराध्य को अपने उद्धार मे दृढ़तापूर्वक रुचि लिवाने के लिए कहीं तो उक्त भक्तों के उद्धार प्रसंगों की चर्चा की है, नहीं तो संसार के असीम कष्ट बतलाते हुए उनसे मुक्ति के लिए अधिक आतुरता दिखलाई है। यथा :—

मों को तारो जी, तारो जी किरपा करिकै,
अनादिकाल को दुःखी रहत हूं, टेरत हूं जम ते डरि के।
भ्रमित फिरति चारों गति भीतर, भव माहीं भरि-भरि कै,
डूबत अगम अथाह जलधि में, राखो हाथ पकरि करिकै ।

५. आत्म-निक्षेप :—

प्रभु को अपना सर्वस्व मानते हुए अपना तन, मन व समस्त पदार्थ समर्पित कर देना आत्म-निक्षेप है। आत्म-निक्षेप शरणागति की चरम परिणति है। जैन भक्तों ने माता, पिता, स्वामी, प्रिय, मित्र अर्थात् सर्वस्व जिनेन्द्र को ही समझा है। सोते-जागते, उठते-बैठते वही उनके हृदय में भी बसे हुए हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति रतनचन्द की यह उक्ति दृष्टव्य है :—

पास प्रभु आस पूरो, देवो शिवपुर वास ।
आस गर्भावास मेटो, हूं चरणां रो दास ।।
उठत बैठत सोवत जागत, बस रह्यो हृदय मंझार ।
मात तात अरु नाथ तू ही, तू रवाविंद करतार ।
सज्जन वल्लभ मित्र तू ही, तू ही तारणहार ।।

भक्त नवल के अनुसार तो तीर्थंकर ही जीवन-प्राण है। जबवह उनकी शरण मे है तो फिर उनकी छवि व गुणगान को एक पल भी विस्मरण करना कैसा ?

जिन मेरे जीवन प्रान, और न मोहि सुहावंदा ।
इस भव में इक सरनि तिहारी, हम जो भावै
ज्यों ज्यावंदा ।।
आन देव को कबहूं न सेऊं, छवियां मेरे जिन भावंदा ।
'नवल' कहै पल येक न विसरौं, रैन दिवस गुन गावदा ।।

६. कार्पण्य :—

अपने दुर्गुणो के कारण ससार-सागर को पार करने में अपनी असमर्थता आराध्य को दुःख के साथ दिखलाना कायरता या कार्पण्य कहा जाता है। सभी जैन भक्तों ने अपनी कायरता का वर्णन जी खोलकर किया है। बुधजन का एक पद दृष्टव्य है :—

म्हारी सुणिज्यो परम दयालु, तुम सों अरज करूं ।
आन उपाय नहीं या जग में, जगतारक,
जिनराज तेरे पाय परू ।।
साथ अनादि लागि विधि मेरी,
करत रहत वेहाल इनको को लै मरन ।
चरन सरन तुम पाय अनूपम,
'बुधजन' मांगत यह गति गति नांय फिरूं ।।

साराश यह है कि अपने आराध्य की शरण में जाने पर उसके अनुकूल सत्कार्यों का सम्पादन, प्रतिकूल पथ का परित्याग, उसकी रक्षा-शक्ति मे विश्वास, सर्वस्व समर्पण तथा अहंकार का विगलन आदि शरणागति के सभी तत्त्व केवल तुलसी और सूर जैसे वैष्णव भक्तो की रचनाओं में ही नही, अपितु जैन पद साहित्य मे भी अनुस्यूत हैं। वैष्णव और जैन भक्त अपने दर्शन और विचारों में थोड़ी भिन्नता रखते हुए भी भक्तिभाव के क्षेत्र में एक दूसरे के बहुत समीप अनायास ही आ गये हैं। हिन्दी भक्तिकाव्य की सम्पूर्णता के लिए जैन भक्तों की रचनाओं का प्रकाश में आना अत्यावश्यक है ।

जैन यक्ष-यक्षणियाँ और उनके लक्षण

गोपीलाल 'अमर' एम. ए., शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, धर्मालंकार

प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा में एक यक्ष और एक यक्षी भी रहती थी, ऐसा विधान है। सातवीं शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ ने अपने ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती मे इनके नामो का कदाचित् प्रथम बार उल्लेख किया। जयसेन-प्रतिष्ठापाठ मे भी इनका उल्लेख है, पर यह ग्रन्थ, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते है, प्रथम शताब्दी का नही बल्कि लगभग दसवी शताब्दी का होना चाहिए। तिलोयपण्णत्ती के अनन्तर अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर शास्त्रकारों ने यक्ष-यक्षियों के वाहन, वर्ण, हाथों मे धारण की गई वस्तुओं आदि का उल्लेख किया। कालान्तर में इनकी मूर्तियां भी बनाई जाने लगीं।

ये यक्ष और यक्षियाँ वस्तुतः कौन है ? कुछ विद्वान् इन्हे एक विशेष जाति के मनुष्य ही मानते है। यदि ये देव है तो किस निकाय के ? व्यन्तर निकाय की आठ जातियो मे ही पाचवी जाति यक्षो की है, किन्तु न तो उनके नामों मे प्रस्तुत यक्ष-यक्षियों के नाम आते है और न उनकी कोई विशेषता इनमे दृष्टिगत होती है। दूसरी ओर, इन यक्ष-यक्षियो के कुछ नामों और विशेषताओं मे आंशिक समानता भवनवासी निकाय के देवों मे दिखती है। जो भी हो, यह प्रश्न विचारणीय है।

एक प्रश्न यह भी है कि इन यक्ष-यक्षियो का उल्लेख तभी से क्यो नही मिलता जबसे तीर्थंकरों के नामों का मिलता है। उत्तर यह है कि अन्य अनेक मान्यताओं की तरह यक्ष-यक्षियों की मान्यता भी भट्टारको की देन है। अनेक कारणों से उन्होंने प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा में एक-एक यक्ष-यक्षी का रहना भी आवश्यक समझा कि उनके स्वरूप उन्होंने कुछ जैनेतर से लेकर, कुछ परिवर्तित करके और कुछ अपनी कल्पना से निर्धारित किये। शिल्प-कारों ने उन्हे मूर्तरूप प्रदान कर दिया।

यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ आरम्भ में मन्दिर के बाहरी द्वार पर उकेरी गई, जिन्हें देखते ही भक्तगण समझ सकते थे कि उस मन्दिर मे मुख्य मूर्ति किस तीर्थंकर की है। कालान्तर में उनकी मूर्तियाँ मन्दिर के भीतरी द्वार पर भी उकेरी जाने लगी। क्योंकि भट्टारकों ने कुछ यक्ष-यक्षियों के साथ अनेक ऐसी कहानियां जोड़ दी थी जिनमें उनके चमत्कारप्रिय तथा वैभवप्रेमी भक्तों के लिए वर-दान, दुष्टों के दलन आदि का अतिशयपूर्ण वर्णन होता, अतः चमत्कारप्रिय तथा वैभवप्रेमी भक्तों ने वीतरागी तीर्थंकरों की अपेक्षा रागी यक्ष-यक्षियों को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि उनकी मूर्तियां मन्दिर के भीतरी द्वार से भी आगे बढकर गर्भालय में जा पहुँचीं, और धीरे-धीरे तीर्थंकर के सिंहासन मे भी उन्होने अपना स्थान बना लिया। इतना ही नही, उनकी मूर्तियों का आकार जो आरम्भ मे तीर्थंकर-मूर्ति का लगभग बीसवाँ भाग होता था, अब तीव्र गति से बढने लगा। अन्त में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि मूर्ति वस्तुतः यक्ष या यक्षी की ही बनाई जाने लगी, केवल उसमे जैनत्व की झलक देने के लिए मूर्ति के मस्तक पर तीर्थंकर-मूर्ति को बहुत ही छोटे आकार मे स्थान दिया गया। इस सबके अन्य परि-णाम जो भी हुए हों, इतना अवश्य हुआ कि जैन धर्म मे प्रवृत्तिमार्ग और बहिर्मुखी उन्नति को अपेक्षाकृत अधिक प्रोत्साहन मिला।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि हजारों की संख्या मे पाई जाने वाली ये मूर्तियाँ पूज्य है या अपूज्य। उत्तर स्पष्ट है। हालांकि इनकी पूजा का प्रचलन आज अनेक स्थानों पर है लेकिन वह पूर्वोक्त कारणो से ही है। प्राचीन शास्त्रों में उनकी पूजा का कोई विधान नही है, बल्कि निषेध है। इसके कारण स्पष्ट है। जैन धर्म में पंच-परमेष्ठियो के अतिरिक्त किसी की भी पूजा का विधान नही है। यक्ष-यक्षी पंच-परमेष्ठियों के अन्तर्गत

नहीं है। दूसरे, इन्हें देव माना जाए तो इनका अधिक से अधिक गुणस्थान चौथा होगा, जिन्हें कम से कम चौथे और अधिक से अधिक चौदहवें गुणस्थान वाला मनुष्य पूजा का पात्र नही बना सकता। तीसरे, आचार्य समन्तभद्र ने 'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।' देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।' कहकर इनकी पूजा का निषेध ही नहीं किया, उसे देवमूढता नाम भी दिया जो सम्यग्दर्शन का एक दोष है। इधर के पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने छहढाला में आचार्य समन्तभद्र की वाणी को हिन्दी मे प्रस्तुत किया, 'जे राग-द्वेष मलकरि मलीन, बनिता-गदादि जुत चिह्न चीन। ते हैं कुदेव· तिनकी जु सेव, सठ करत, न तिन भव-भ्रमण-छेव।'

श्वेताम्बर आगमों और मथुरा की प्राचीन·कला में जिन यक्षों (और उनके आयतनों) का उल्लेख है, वे इन यक्षों से भिन्न थे, यद्यपि उनकी भी पूजा के प्रमाण नही मिलते। साथ ही उन यक्षो के देवत्व की कम और मनुष्यत्व की सम्भावना अधिक है : आश्चर्य नही, यदि आगामी शोध-खोज के फलस्वरूप वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध किये जा सकें, जबकिप्र स्तुत यक्ष-यक्षियां शत-प्रतिशत पौराणिक व्यक्ति है।

यह भी उल्लेखनीय है कि इन यक्ष-यक्षियों के परस्पर दाम्पत्य का कोई उल्लेख नहीं। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती अवश्य पति-पत्नी रहे दिखते हैं।

अन्त के चौबीस यक्षों और यक्षियो के लक्षण दिये जा रहे हैं। इनका आधार ग्रन्थ है बारहवीं शताब्दी के पण्डितप्रवर आशाधर का प्रतिष्ठासारोद्धार, जिसका संपादन और अनुवाद प० मनोहरलाल जी शास्त्री ने और प्रकाशन १९७४ वि० मे जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई ने किया। कोष्ठकों में अपराजितपृच्छा के विधान दिये गये हैं। तीर्थंकरों के नामों के बाद के कोष्ठकों में उनके चिह्न दिये गये हैं।

संकेत

तो=आराध्य तीर्थंकर और उनका चिह्न (कोष्ठक में)
वा=वाहन
श=शरीर का वर्ण
मु=मुद्रा
हा=हाथों की संख्या
व=हाथों में धारण की गई वस्तुए
दा=दाहिने हाथ/हाथों मे/की
बा=बायें हाथ/हाथों में/की
ऊ=ऊपर/ऊपर का/ऊपर के
नी=नीचे/नीचे का/नीचे के
क्र=ऊपर से नीचे क्रमशः
वि=अन्य विशेषता/विशेषताएं

१—गोमुख (वृषमुख)
ती=ऋषभनाथ (बैल)
वा=बैल
श=सुनहला (सफेद)
हा=चार
व=ऊ दा परशु (वीर), नी दा अक्षमाला, ऊ बा फल (जाल) नी बा इष्टदान मु मातुलिंग (=नीबू)
वि=१—बैल के समान मुख
२—मस्तक की पृष्ठभूमि में धर्मचक्र

२—महायक्ष
ती=अजितनाथ (हाथी)
वा=हाथी
श=सुनहला (श्याम)
हा=आठ
व=द क्र वरद मु, तलवार (अभयमु), दण्ड (मुद्‌गर), परशु अक्षमाला। बा क्र चक्र (जाल), त्रिशूल (अकुश), कमल (शक्ति), अकुंश (मातुलिंग)
वि=चार मुख

३—त्रिमुख (त्रिवक्त्र)
ती=संभवनाथ (घोड़ा)
वा=मोर
श=अजन के समान काला
हा=छह
व=दा क्र चक्र, (परशु), तलवार, (अक्षयमाला, अकुंश (गदा), बा क्र दण्ड (चक्र), त्रिशूल (शंख), कतरनी (वरद मु)

वि=तीन आंखें

४—यक्षेश्वर (चतुरानन)

ती=अभिनन्दननाथ (बंदर)

वा=हाथी (हंस)

श=श्याम

हा=चार

व=ऊ दा सारस का पंख (सर्प), नी दा तलवार (जाल), ऊ वा धनुष (वज्र), नी बा ढाल (अंकुश)

५—तुम्बरु (तुम्बुरु)

ती=सुमतिनाथ (चकवा)

वा=गरुड

श=श्याम

हा=चार

व=ऊ दा सर्प, नी दा दान मु (सर्प), ऊ बा सर्प, (फल) नी ब फल (वरद मु)

वि=सर्पों से लिपटा हुआ

६—पुष्प (कुसुम)

ती=पद्मप्रभु (लालकमल)

वा=मृग

श=श्याम

हा=चार (दो)

व=ऊ दा भाला, नी दा गदा, ऊ बा ढाल, (अक्ष-माला), नी बा अभय मु

७—मातंग

ती=सुपार्श्व (स्वस्तिक)

वा=सिंह (भेड़)

श=काला

हा=दो

व=दा शूल, (गदा) बा दण्ड (पाश)

वि=मुख टेढ़ा

८—श्याम (विजय)

ती=चन्द्रप्रभ (चन्द्रमा)

वा=कबूतर

श=श्याम

हा=चार

व=ऊ ब दा अक्षमाला (परशु), नी दा वरद मु (पाश), ऊ बा कुल्हाड़ी (अभय मु), नी बा फल (वरद मु)

वि=तीन आंखें

९—अजित (जय)

ती=पुष्पदन्त (मगर)

वा=कछवा

श=सफेद

हा=छह (चार)

व=दा क्र अक्षमाला (शक्ति), माला (अक्षमाला), वरद, मु बा क्र दान मु (फल), शक्ति (वरद मु), फल

१०—ब्रह्म

ती=शीतलनाथ (कल्पवृक्ष)

वा=कमलासन (हंस)

श=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल

हा=आठ (चार)

व=दा क्र वाण (जाल), कुल्हाड़ी (अंकुश), तलवार वरद मु, बा क्र धनुष (अभय मु), दण्ड (वरद मु), ढाल, वज्र

वि=चार मुख

११—ईश्वर (यक्षेट्)

ती=श्रेयोनाथ (गेंडा हाथी)

वा=बैल

श=सफेद

हा=चार

व=ऊ दा अक्षसूत्र (त्रिसूल), नी दा दो फल (अक्ष-माला), ऊ बा त्रिशूल (फल), नी बा दण्ड (वरद मु)

वि=तीन आखें

१२—कुमार

ती=वासुपूज्य (भैंसा)

वा=हस (मोर)

श=सफेद

हा=चार

व=ऊ दा गदा (धनुष), नी दा इष्टदान मु (वाण) ऊ

बा धनुष (फल), नी बा नेवला (वरद मु)

वि=तीन मुख

१३—चतुर्मुख (षण्मुख)

ती=विमलनाथ (सुअर)

वा=मोर

श=हरा

हा=आठ (छह)

व=दा क परशु (वज्र), परशु (धनुष), तलवार (वाण), अक्षमाला (मणियों से बनी), बा क परशु (वाण), परशु (फल), ढाल (वरद मु), दण्ड (धारण करने की-सी मुद्रा)

वि=चार मुख

१४—पातालक (किन्नरेश)

ती=अनन्तनाथ (सेही)

बा=मगर

श=लाल

हा=छह

व=दा क कोडा (जाल), हल (अंकुश), फल (धनुष), बा क अंकुश (वाण), शूल (फल) कमल (वरदमु)

वि=१—तीन मुख

२—मस्तक पर तीन फणों वाला सर्प

१५—किन्नर (पाताल)

ती=धर्मनाथ (वज्र)

वा=मछली

श=मूंगे के समान लाल

हा=छह

व=दा क मुद्गर (वज्र), अक्षमाला (अंकुश), वरद मुद्रा (धनुष), बा क चक्र (वाण), वज्र अंकुश (वर)

वि=तीन मुख

१६—गरुड़ यक्ष

ती=शान्तिनाथ (मृग)

वा=सुअर (तोता)

श=श्याम

हा=चार

व=ऊ दा वज्र (जाल), नी दा कमल (अंकुश), ऊ बा चक्र (फल), नी बा कमल (वरद मु)

वि=मुख टेढ़ा

१७—गन्धर्व

ती=कुन्थुनाथ (बकरा)

वा=पक्षी (तोता)

श=नीला

हा=चार

व=ऊ दा सर्प (कमल), नी दा वाण (अभय मु), ऊ बा जाल (फल), नी बा धनुष (वरद मु)

१८—खेन्द्र (यक्षेट्)

ती=अरनाथ

वा=शख (गधा)

श=काला

हा=बारह (छह)

व=दा क वाण (वज्र), कमल (तलवार) फल (धनुष), माला, अक्षमाला, दण्ड, बा क धनुष, (वाण), वज्र, (फल), जाल, (वरद मु) मुद्गर, अंकुश, वरद मु

वि=१—छह मुख

२—तीन आँखें

१९—कुबेर (धनेट्)

ती=मल्लिनाथ (कलश)

वा=हाथी

श=इन्द्रधनुष के समान

हा=आठ (चार)

व=दा क फल, (जाल), धनुष (अंकुश), दण्ड, कमल, बा क, तलवार (फल), परशु, जाल वरद मु

वि=चार मुख

२०—वरुण अपापंति

ती=मुनिसुव्रतनाथ (कछवा)

वा=बैल

श=सफेद

हा=चार (छह)

व=ऊ दा फल (जाल), नी दा इष्टदान मु; (अंकुश, धनुष) ऊ बा ढाल (वाण), नी बा तलवार (धनुष, वज्र)

वि=१—आठ मुख

२—तीन आँखें

३–मस्तक पर जटाए
४–विशाल शरीर

२१—भृकुटि

ती=नमिनाथ
वा=नन्दी (बैल)
श=जपा पुष्प के समान लाल
हा=आठ (चार)
व=दा क ढाल (मूलशक्ति), तलवार (वज्र), धनुष, वाण; बा क अकुश (ढाल), कमल (डमरू), चक्र, इष्टदान मु
वि=चार मुख

२२—गोमेद (पार्श्व)

ती=नेमिनाथ (शंख)
वा=मनुष्य द्वारा खींचा जाने वाला फूलों से बना हुआ वाहन
श=श्याम
हा=छह
व=दा क गदा धनुष, कुल्हाड़ी (वाण), दण्ड ( ); बा क फल (मुद्गर), वज्र (फल) वरद मु
वि=१–तीन मुख
२–(सर्प के समान रूप वाला)

२३—धरण (मातंग)

ती=पार्श्वनाथ (सर्प)
वा=कछवा
श=बादलों के समान श्याम
हा=चार (दो)
व=ऊ दा वासुकि (=सर्पराज) (फल), नी दा पाश; ऊ बा वासुकि, नी बा सर्प /(वरद मु)
वि=मस्तक पर वासुकि

२४—मातंग

ती=महावीर (सिंह)
वा=हाथी
श=मूंग के समान हरा
हा=दो
व=बायें हाथ में दायां हाथ लेकर वरद मु
वि=मस्तक पर धर्मचक्र धारण किये हुए

१. चक्रेश्वरी (चक्रेशी)

ती=ऋषभनाथ (बैल)
वा=कमलासन या गरुड़ या दोनों (दोनों)
श=सुनहला
हा=सोलह (बारह)
व=दा क वज्र, फल (मातुलिंग), चक्र, चक्र, चक्र, चक्र, चक्र, चक्र; बाक, वज्र, फल, चक्र, चक्र, चक्र, चक्र, मातुलिंग, दान मु /(अभय मु)
वि=छह पैर

२. रोहिणी

ती=अजितनाथ (हाथी)
वा=लोहासन (तथा रथ पर आसीन)
श=सुनहला (सफेद)
हा=चार
व=उ, दा, शंख, नी दा अभय मु, ऊ बा चक्र, नी बा दान मु (वरद मु)

३. प्रज्ञप्ति (प्रज्ञावती)

ती=संभवनाथ (घोड़ा)
वा=पक्षी
श=सफेद
हा=छह
व=दा क अर्धचन्द्र मु (अभय मु) परशु (वरद मु), फल, बाक तलवार (चन्द्रमा), वाण (परशु) वरद मु (कमल)

४. पविश्रृंखला (वज्रश्रृंखला)

ती=अभिनन्दननाथ (बन्दर)
वा=हंस
श=सुनहला
हा=छह (चार)
व=दा क सर्प, जाल वरद मु, बा क बड़ा फल, अक्ष-माला, दान मु

५. खड्गवरा (या पौरुषदत्तिका) (नरदत्तिका)

ती=सुमतिनाथ (चकवा)
वा=हाथी (सफेद हाथी)
श=सुनहला
हा=चार
व=ऊ दा वज्र (चक्र), नी दा फल (वज्र), ऊ बा चक्र (फल), नी बा वरद मु

६. मनोवेगा

ती=पद्मप्रभ (लालकमल)

वा=घोड़ा

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा फल (बज्र), नी दा फल (चक्र), ऊ बा फल, नी बा तलवार (वरद मु)

७. काली कालिका)

ती=सुपार्श्व (स्वस्तिक)

वा=बैल (भैसा)

श=सफेद (काला)

हा=चार (आठ)

व=ऊ, दा घण्टा (त्रिशूल), नी दा फल (जाल, अकुश, धनुष), ऊ बा शूल (बाण), नी बा वरद मु (चक्र, अभय मु, वरद मु)

८. ज्वालिनी (ज्वालमालिनी)

ती=चन्द्रभ (चन्द्रमा)

वा=सुअर (कमलासन तथा बैल)

श=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल (काला)

हा=आठ (चार)

व=दा क्र चक्र (घण्टा), धनुष (त्रिशूल), जाल, चमड़ा, बा क्र त्रिशूल (फल), वाण (वरद मु), मछली, तलवार

९. महाकाली

ती=पुष्पदन्त (मगर)

वा=कछवा

श=काला

हा=चार

व=ऊ दा वज्र, नी दा फल (गदा), ऊ बा मुद्गर (वरद मु) नी बा दान मु (अभय मु)

१०. मानवी

ती=शीतलनाथ (कल्पवृक्ष)

वा=काला सर्प (सुअर)

श=हरा (श्याम)

हा=चार

व=ऊ दा मछली (जाल), नी दा माला (अंकुश), ऊ बा मातुलिंग (फल), नी बा दान मु (वरद मु)

११. गौरी

ती=श्रेयोनाथ (गेंडा हाथी)

वा=मृग (काला मृग)

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा मुद्गर (जाल), नी दा कमल (अकुश), ऊ बा कलश (कमल), ना बा वरद म

१२. गान्धारी

ती=वासुपूज्य (भैसा)

वा=मगर

श=हरा (श्याम)

हा=चार (दो)

व=ऊ दा कमल, नी दा मूसल, ऊ बा कमल (फल) नी बा दान मु

१३. बैरोटी (विराटा)

ती=विमलनाथ (सुअर)

वा=सर्प (आकाशयान)

श=हरा (श्याम)

हा=चार (छह)

व=ऊ दा सर्प (वरद मु), ना दा धनुष (तलवार, धनुष), ऊ बा सर्प (वरद मु), नी बा वाण (ढाल-वाण)

१४. अनन्तमती (अनन्तमति)

ती=अनन्तनाथ (सेही)

वा=हंस

श=सुनहला

हा=चार

व=उ दा धनुष, नी दा फल (वाण), ऊ बा बाण (फल), नी बा वरद मुद्रा

१५. मानसी

ती–धर्मनाथ (वज्र)

वा–वाघ

श–मूगा के समान (लाल)

हा–छह

व–दा क्र कमल (त्रिशूल), धनुष (जाल), दान म (चक्र), बा क्र अकुश (डमरू), वाण (फल), कमल (वरद मु)

१६. महामानसी

ती–शान्तिनाथ (मृग)

वा–मोर (पक्षिराज=गरुड)

श–सुनहला

हा–चार

व–ऊ दा चक्र (वाण), नी वा फल (शंख), ऊ बा वाण (वज्र), नी बा वरद मु (चक्र)

१७. जया

ती–कुन्थुनाथ (बकरा)

वा–काला सुअर

श–सुनहला

हा–चार (छह)

व–ऊ दा चक्र (वज्र), नी दा शंख (चक्र, जाल), ऊ बा तलवार (अकुश) नी बा वरद मु (फल, वरद मु)

१८. तारावती (बिजया)

ती–अरनाथ मछली

वा–हंस (सिंह)

श–सुनहला

हा–चार

व–ऊ दा सर्प (वज्र), नी दा मृग (चक्र), ऊ बा व्रज (फल), नी बा वरद मु (सर्प)

१६. अपराजिता

ती–मल्लिनाथ (कलश)

वा–अष्टापद (=आठ पैरों वाला जंगली जानवर)

श–हरा (श्याम)

हा–चार

व–ऊ दा ढाल (तलवार), नी दा फल (ढाल), ऊ बा तलवार (फल) नी बा वरद मु

२०. बहुरूपिणी (बहुल्या)

ती–मुनिसुव्रतनाथ (कछवा)

वा–काला सर्प (सर्प)

श–पीला (सुनहला)

हा–चार (दो)

व–ऊ दा ढाल (तलवार), नी दा फल, ऊ बा तलवार (ढाल), नी बा वरद मु

२१. चामुण्डा

ती–नमिनाथ (नीलाकमल)

वा–मगर (बदर)

श–हरा (लाल)

हा–चार (आठ)

व–ऊ दा दण्ड (शूल), नी दा ढाल (तलवार, मुद्गर, जाल), ऊ बा अक्षमाल (वज्र), नी बा तलवार (चक्र, डमरू, अक्षमाल)

२२. अम्बा

ती–नेमिनाथ (शंख)

वा–सिंह

श–हरा

हा–दो

व–दा आम्रगुच्छा (फल), बा छोटा पुत्र प्रियंकर (वरद मु)

वि–१. बायीं जंघा पर पुत्र प्रियंकर को बैठाकर बायें हाथ से थामती है।

२. दायें हाथ में आम्रगुच्छ लिये रहती है और उसी की एक अंगुलि को बड़ा पुत्र शुभंकर पकड़े रहता है।

३. पृष्ठभूमि पर आम का वृक्ष होता है।

२३. पद्मावती

ती–पार्श्वनाथ (सर्प)

वा–कुर्कुट जाति के सर्प पर कमलासन (मुर्गा पर कमलासन)

श–लाल

हा–अठारह (चार)

व–दा क्र जाल आदि छह तथा शंख आदि तीन (ऊ दा जाल, नी दा अंकुश) बा क्र शंख आदि पांच तथा अंकुश, कमल, अक्षमाला, वरद मु (ऊ बा कमल, नीलाकमल)

२४. सिद्धायिका

ती–महावीर (सिंह)

वा–सिंह

श–सुनहला

हा–दो

व–दा पुस्तक, बा दान मु (अभय मु)

वि–सुभद्रासन (भद्रासन)

हड़प्पा तथा जैन धर्म

मूल लेखक : टी० एन० रामचन्द्रन्

अनुवादक : डा० मानसिंह एम. ए., पी-एच. डी.

सिन्धु-सभ्यता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक वस्तुएं प्रस्तर मूर्तियां है। अभी तक १३ मूर्ति-खण्ड प्रकाश में आएं हैं, जिनमे हड़प्पा से प्राप्त दो सुपरिचित एवं अत्यधिक विवेचित प्रस्तर-प्रतिमाएं हैं, उनमें से तीन में पशुओं का अंकन है। पाँच में नियताकार समुपविष्ट देव का चित्रण किया गया है। हड़प्पा से उपलब्ध दो मूर्तियों ने प्राचीन भारतीय कलाविषयक वर्तमान धारणाओं को आन्दोलित कर दिया है। दोनों ही मूर्तियाँ, जिनकी ऊंचाई ४" से भी कम है, नर-धड़े हैं, जिनमें संवेदन शीलता तथा एक दृढ़ एवं लचीले दोनों ही प्रकार के प्रतिमान का प्रदर्शन है। दोनों ही में पृथक् टुकड़ों में बने शिर एव भुजाओं को लगाने के लिए गरदन एवं कन्धों मे कोटर-छिद्र हैं। विवेच्य मूर्तियों मे से एक (प्लेट १) मे शरीर को एक ऐसे परिणाम के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रतिमान-विधान एक अन्तः-स्फुरित तथा धरातल के प्रत्येक कण को सक्रिय बना देने वाली निर्बाध जीवनी शक्ति द्वारा हुआ है। यह शरीर के आन्तरिक भाग से आविर्भूत होने वाली एक सूक्ष्म एव गतिशील क्रिया के सघर्ष मे विद्यमान है। यद्यपि इस मूर्ति का प्रतिमान-विधान अन्दर से हुआ प्रतीत होता है तथा यह वस्तुत: विश्रान्ति से युक्त है तथापि यह गति से स्फुरित है यह मूर्ति इतनी ओजोयुक्त है कि इसका आकार बढ़ता हुआ सा प्रतीत होता है? किन्तु वास्तव में यह लघुकाय है, जिसकी ऊचाई केवल ३'—३¼" है। यह विपुल धड़ आकारो मे रहस्यात्मक रूप से सन्निविष्ट जीवन का अनावरण करता है, जो एक शिखर के विघूर्णन की भाँति आभासत: गति हीन है; किन्तु इसे चेतना से निर्भर रखता है। सक्षेपतः यह मूर्ति अचेतनतया अपने शरीर की सुघट्य भित्तियों के भीतर जीवन की आन्तरिक गति का अङ्कन करती है। वस्तुतः यह मूर्ति "प्रतिरूपीकृत सघात" है। यह दैहिक रूप भारतीय कला मे उन देवों के सत्य मानक के रूप मे सभी कालो मे प्रचलित रहा है, जिनमें संयम (जितेन्द्रियता) से प्राप्त संरचनात्मक क्रिया की शक्ति का प्रदर्शन करना अभिप्रेत होता है, यथा उदाहरणार्थ, जिनों अथवा तीर्थङ्करो अथवा गहन तपस्या कि वा ध्यान में लीन देवों में।

हड़प्पा से ही उपलब्ध दूसरी मूर्ति एक नर्तक की चुस्त प्रतिमा है, जिसकी विपर्सी वक्रताए एव प्रयास प्रदर्शित समताएं मानों नृत्य की गति के अनुसरण के अनन्त व्यापार मे एक ही स्थान मे परस्पर-ग्रथित हैं। इस मूर्ति का परिमाण अक्ष के चारो ओर केवल सम रूप में सविभक्त ही नहीं है अपितु इसकी शारीरिक गतियों से उत्पन्न स्थान के भीतर ही, समस्थलों के प्रतिच्छेदों मे भलीभाँति संतुलित भी है। शारीरिक गतियाँ इतने सुचारु रूप मे अभिव्यक्त की गई है कि वे इस धड़ के स्थान तथा परिमाण के एकक को अभिभूत कर लेती हैं। दूसरे शब्दो मे, यह **एक स्थान में वक्रीकृत रेखाओं एवं समस्थलों** की मूर्ति है। यह तथा पूर्वत: वर्णित अन्य स्थिर मूर्ति भारतीय मूर्ति-कला के दो विशिष्ट रूपो का प्रतिनिधित्व करती है; एक तो शरीर की सुघट्य भित्तियों के भीतर जीवन की अचेतन गति का अङ्कन करने वाली और दूसरी उसी गति द्वारा घिरे हुए स्थान के भीतर संकल्प के कार्य द्वारा सम्पाद्यमान शरीर की बाह्य गति का चित्रण करने वाली। इन दोनों ही मूर्तियों का काल लगभग २४००-२००० ई० पू० है। नृत्यरत मूर्ति के शिर (एक अथवा एकाधिक), भुजाओं तथा प्रजननाङ्ग पृथक् रूप से खोदे गये थे और धड़ के बरमे द्वारा किये गये छेदों में उन्हें स्थापित किया गया था। टांगे टूट गई हैं।

स्तनाग्र पृथक् रूप से काटे गये थे और संश्लेषण-सामग्री द्वारा स्थिर किये गये। नाभि चषकाकार है। बायें उरु-भाग पर एक छेद किया गया है। दूसरी स्थिर मूर्ति "अग्र स्थित" के भाव में एक सुपुष्ट युवा को प्रस्तुत करती है, जिसमें मांसपेशी वाले प्रदेशों का चित्रण सावधान निरीक्षण, शैली के संयम एवं पृथुता के साथ किया गया है, जो मोहनजो-दड़ो की उत्खात मुद्राओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है। नृत्यरत मूर्ति इतनी अधिक सजीव एवं अभिनव है कि मोहनजो-दड़ो मूर्ति-समुदाय की मृत नियम-निष्ठता से उसकी कोई संगति नहीं बैठती। यह महालिंगी प्रतीत होती है जो इस सुझाव को बल प्रदान करता है कि यह पाश्चात्कालिक नटराज—शिव के नृत्यरत रूप—के आदि रूप का प्रतिनिधित्व कर सकती है। सभी कलासमीक्षकों ने यह घोषणा की है कि अपनी विशुद्ध सरलता एवं भावना के कारण, जिनमें कि इन दोनों श्रेष्ठ कृतियों की कोई भी तुलना नहीं, इनका निर्माण हेल्लास के महान् युग से पूर्व का नहीं है।

"अग्र-स्थिति" के भाव में विद्यमान प्रस्तर-प्रतिमा प्राचीन भारतीय कला के विषय से एक प्राथमिक सत्यता की भी स्थापना करती है, अर्थात् यह कि भारतीय कला की जड़ें उतनी ही दृढ़तापूर्वक प्रकृति मे जमी हुई है जितनी कि वे इसके सामाजिक वातावरण तथा इसकी अलौकिक उत्पत्ति मे भलीभाँति सस्थित है। यह एक युगपदेव जितेन्द्रियता द्वारा उपलब्ध, बहिर्विक्षेप के लिए नहीं बल्कि अन्तर्दृष्टिजन्य शान्ति के लिए उपयोगी बल तथा सरचनात्मिक क्रिया के समग्र गुणों से समन्वित देव का अंकन करती है। यह वस्तुतः वही चीज है जिसे हम जैन देवों तथा तीर्थकरों से सम्बद्ध पाते है, जिनकी मैसूर में श्रवण बेलगोल, कार्कल तथा वेणूर स्थानों पर उपलब्ध विशालकाय प्रतिमाएं लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं। मैसूर मे श्रवणबेलगोल मे उपलब्ध जैन तीर्थंकरों तथा बाहुबली आदि जैन तपस्वियों की विशालकाय प्रतिमा दैहिक प्रयास द्वारा प्राप्त जितेन्द्रियता से, अहिंसा के रेशमी बाने द्वारा तथा मौलिक एवं जन्मजात स्थिति की निरन्तर नग्नता में भी जलवायु तथा ऋतु की कठोरताओं के प्रति पूर्णतया निर्मुक्त दैहिक अंगों द्वारा आध्यात्मिकता नियन्त्रित शक्ति एवं सर्जनात्मिका क्रिया से मानवता को यह पाठ पढ़ाती हैं कि अहिंसा ही मानवीय दुःखों के लिए एकमात्र निदान है [अहिंसा परमोधर्मः]। चूंकि हड़प्पा की मूर्ति ठीक उपरिवर्णित विशिष्ट मुद्रा में है, इसलिए इसमें चित्रित देवकी यदि हम तीर्थंकर अथवा एक यश तथा तप की महिमा [तपो महिमा] से मण्डित जैन तपस्वी से अभिन्न मान ले तो गलत न होगा। यद्यपि इसके वक्त—२४००-२००० ई० पू०—के विषय मे कुछ पुरातत्ववेत्ताओं में मतवैभिन्य है, मोहनजो-दड़ो से उपलब्ध कुछ मिट्टी की बनी मूर्तियों तथा कुछ खुदी हुई मुद्राओं पर किये गये चित्रणों से इसे भिन्न करने वाला कोई भी शैलीगत तत्त्व नहीं है। इस प्रसंग में, इस मूर्ति के विषय में सर मोर्टिमेर व्हीलर के अपने **'इण्डस वैली सिविलजेशन'** [कैंम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, १९५३], पृष्ठ ६६, पर प्रकाशित विचार उद्धरणीय है :—

"ये दो मूर्तियां, जो सुरक्षित रूप मे ऊँचाई में ४" से भी कम ही है, नर धड़ है जिनमे प्रतिमान की उस संवेदनशीलता एव जीवटता का प्रदर्शन है जो उपरिविचारित कृतियो मे सर्वथा अनुपलब्ध है। उनकी विशेषताएँ इतनी अधिक असाधारण है कि इस समय सिन्धु-काल के साथ उनके सम्बन्ध के प्रामाण्य के विषय मे कुछ सन्देह अवशिष्ट रहना चाहिए। दुर्भाग्यवश उनके अन्वेषणो द्वारा प्रयुक्त तकनीकी विधियां ऐसी नहीं थीं जिनसे कि सन्तोषजनक स्तर प्रमाण प्राप्त हो सकें; और ये कथन कि उनमे से एक, नर्तक [की मूर्ति], हड़प्पा में अन्न भण्डार-स्थल पर प्राप्त हुई थी तथा दूसरी उसी सामान्य क्षेत्र में धरातल से "४'—१०"" नीचे उपलब्ध हुई', स्वयं में अन्तर्भेदन की भावना का बहिष्कार नहीं कर पाते है। किसी परवर्ती काल से सम्बद्ध कर देना भी कठिनाई से मुक्त नहीं है, और सन्देह का समाधान तो केवल इसी प्रकार की आगे होने वाली तथा और अधिक पर्याप्त रूप मे तथ्यबद्ध तुलना के योग्य खोजों से ही हो सकता है।"

यद्यपि, सर व्हीलर के उपसंहारात्मक टिप्पणों से यह स्पष्ट है कि इस मूर्ति को किसी परवर्ती काल से सम्बद्ध

करना उतना ही अधिक कठिन है जितना कि इसके लिए तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० की पूर्ववर्ती तिथि का निषेध करना। अवसर इस प्रकार समान है।

चलिए अब हम वर्णनान्तर्गत मूर्ति के विषयीगत तथा विषयगत मूल्यों को निर्धारित कर लें। इसका विषयीगत मूल्य तो पहले ही देख लिया है। **यह एक नग्न देव की है जो सुनिर्मित पृष्ठ भाग से मुक्त कन्धों तथा सुस्पष्ट दैहिक अंगों से युक्त अग्र-स्थिति के तत्त्व में सीधा खड़ा है, जिससे यह अभिव्यक्त होता है कि प्रतिमान-संघात में जीवन की गति एक सुनियमित तथा सुनियन्त्रित सुहाद्य क्रम में हो रही है। नियन्त्रण के साथ शिश्न-मुद्राओं की संगतियां एक जिन [इंद्रिय-विजेता] की धारणा को बल देती हैं।** इसके विरोध में, कोई व्यक्ति मोहनजोदड़ो से प्राप्त तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० की उस खुदी हुई मुद्रा[1] का अध्ययन कर सकता है जिसमें मनुष्यों आदि मर्त्यों, गैण्डा, महिष, व्याघ्र, हाथी, कुरग, पक्षी तथा मत्स्य आदि जन्तुओं के मध्य ध्यानावस्था में बैठे हुए रुद्र—पशुपति—महादेव का चित्रण किया गया है और जिसमे उत्थित [उर्ध्व-रेयस्] का प्रदर्शन सर्जनात्मिका क्रिया की उर्ध्वगामिनी शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। मोहनजोदडो मुद्रा मे प्रदृष्ट, इस देव के प्रतिमा-विज्ञान की पूर्ण व्याख्या ऋग्वेद की निम्न ऋचाओ से हो जाती है :—

२. **ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनां ऋषिविप्राणां महिषो मृगाणां।**
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनाना सोमः पवित्र अत्येति रेभन्।। ९।९।९६

"देवो मे ब्रह्मा, कवियों का नेता, तपस्वियों का ऋषि, पशुओ मे महिष, पक्षियों में बाज, आयुधो मे परशु, सोम गाता हुआ छलनी के ऊपर से जाता है।"

२. **त्रिधा बद्धो वृषभो रो रवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश।।**
ऋ० ४।५८।३

"त्रिधा बद्ध वृषभ पुनः पुनः रम्भा रहा है—महादेव पूर्णतया मर्त्यों में प्रविष्ट हो गया।"

३. **रुद्रः पशूनामधिपतिः।**

"रुद्र प्राणियों का अधिपति है।"

मोहनजोदडो मुद्रा की ऋग्वेद से प्राप्त उपरिनिर्दिष्ट व्याख्या के आलोक मे वर्णनान्तर्गत मूर्ति की पहचान ऋग्वेद के संकेत द्वारा सरल हो जानी चाहिए। मई, जून तथा जुलाई के महीनों मे अफगानिस्तान के लिए पुरातात्त्विक अभियात्रा का नेतृत्व करते हुए, इस लेख के लेखक को युआन् चुआङ् (६००-६५४ ई०) के लेखों के सत्यापन के अवसर प्राप्त हुए, जिनके अफगानिस्तान तथा अन्य क्षेत्रों में की गई यात्रा के विवरण विविधता तथा वैज्ञानिक एवं मानवीय अभिरुचि के तथ्यपरक लेख है। उनका होसिना गजनी अथवा गजना, हजारा अथवा होसाला का वर्णन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं, "यहां अनेक तीर्थक नास्तिक हैं, जो शुन देव की आराधना करते हैं।" "जो उसका श्रद्धापूर्वक आह्वान करते हैं उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति हो जाती है। दूर तथा निकट दोनों ही प्रकार के स्थानों के लोग उसके प्रति गहन भक्ति-भावना का प्रदर्शन करते हैं। उच्च तथा निम्न समान रूप से उसके धार्मिक भय से आप्लावित है।... अपने मन के दमन तथा आत्मयातना द्वारा तीर्थक स्वर्ग की शक्तियो से पुनीत सूत्र प्राप्त करते है, जिनसे वे रोगो पर नियन्त्रण करते है और रोगियों को रोग-मुक्त कर देते है।" शुन देव (शुन अथवा शिश्न देव) सम्भवतः कोई तीर्थकर अथवा तीर्थङ्कर अथवा उनके अनुयायी थे, जिन्होने अहिंसा के सन्देश के लिए जैनधर्म के देवकुल को दीप्तिमान किया। युआन् चुआङ् का लेख अफगानिस्तान मे भी जैनधर्म के प्रसार का साक्षी है। बुद्ध के जीवन वृतान्त में हम यह पढ़ते है कि बुद्ध के विरोधियो मे ६ प्रमुख अथवा तीर्थक थे—पुराण, कस्साय, गोसाल, कच्चायण, निगन्थ नाथपुत्त तथा सञ्जय। हम गोसाल में आजीविक पन्थ के गोसाल तथा निगन्थ नाथपुत्त में अन्तिम एवं २४वें जैन तीर्थङ्कर महावीर की पहिचान कर सकते है। अतः शुन देव के रूप मे युआन् चुआङ् कृतदेव का वर्णन इस बात की ओर सकेत करता है कि वे सम्भवतः नग्न देव जैन तीर्थङ्कर की ओर सकेत कर रहे हैं, क्योंकि तीर्थक शब्द तीर्थकरों अथवा तीर्थङ्करों को ही द्योतित करता है। अफगानिस्तान में जैनधर्म का

[1] कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, १९५३, प्लेट २३।

आगमन निश्चय ही एक दैवी ज्ञानोद्घाटन है।

शुन देव शब्द सम्भवतः **शुन अथवा शिन** या **शिश्न देव** शब्द के लिए प्रयुक्त है। ऋग्वेद तक पीछे पहुँचने पर हम पाते है कि ऋग्वेद **शिश्न देवों** के रूप मे नग्न देवों की ओर दो मन्त्रो में संकेत करता है, जिन मे नग्न देवों (**शिश्न देवों**) से वैदिक यज्ञों की रक्षा के लिए इन्द्र का आह्वान किया गया है : —

१. न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि ग ऋतं नः ।। ७।२२।५

"हे इन्द्र ! हमें किन्ही बुरी शक्तियों अथवा राक्षसियों ने प्रेरित नही किया है। हे शक्तिमान देव ! अपने साधनों द्वारा हमारा सत्य देव शत्रुओं के अशिष्ट जनसम्मर्द का दमन करे। नग्न देव (**शिश्न देव**) हमारे पवित्र यज्ञ अथवा पूजा तक न पहुँचें।"

२. स वाजं यातापदुष्पदा यन्स्वर्षाता परिषदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसाभूत् ।। १०।९९।३

"सर्वाधिक मङ्गल मार्ग पर वह (इन्द्र) युद्ध के लिए जाता है। उसने स्वर्ग की ज्योति प्राप्त करने के लिए परिश्रम किया, जिसकी प्राप्ति से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। उसने सौ द्वारों से युक्त दुर्ग की निधि को कौशल द्वारा, बिना रोके हुए, नग्न देवों (**शिश्न देवों**) को (इस कार्य में) मारते हुए ग्रहण की।"

मैक्डॉनल, अपने **वैदिक माइथोलाजी**, पृष्ठ १५५, में कहते है कि **शिश्न देवों** की पूजा ऋग्वेद के लिए घृणा का विषय थी। इन्द्र से **शिश्न देवों** को वैदिक यज्ञों में आने देने के लिए प्रार्थना नही की गई है, इन्द्र के विषय में कहा गया है कि उसने **शिश्न देवों** का उस समय वध किया जबकि उसने १०० द्वारों वाले एक दुर्ग मे गुप्त खजानों को चोरी-छिपे देखा।

ये दो ऋचाए हमारे समक्ष इस सत्य को प्रकाशित करती हैं कि सम्भवतः हम हड़प्पा की मूर्ति में दैहिक त्याग (**कायोत्सर्ग**) की विशिष्ट मुद्रा—जो एक ऐसी मुद्रा है जिसे श्रवणबेलगोल, कार्कल, वेणूर आदि स्थानों में जैन तीर्थंकरों तथा सिद्धों की पश्चात्कालिक विशालकाय मूर्तियों में अमर बना दिया गया है—में एक पूर्ण जैन तीर्थङ्कर को पहिचान रहे हैं। हड़प्पा अथवा मोहनजो-दडो के युग जैसे प्राचीन काल (तृतीय सहस्राब्दि ई० पू०) मे कायोत्सर्ग सदृश एक पश्चात्कालिक जैन प्रतिमा सम्बन्धी सुघट्य मुद्रा के दर्शन करके किसी को आश्चर्य हो सकता है। निश्चय ही, एकमात्र नितान्त नग्नता तथा अहिंसा के मूलभूत जैन सिद्धान्त के अवगमन के लिए सम्पूर्ण भौतिक चेतना के आन्तरिक उत्सर्ग की धारणाएं ही ऐसी एक मुद्रा की प्रेरक हो सकती हैं। हड़प्पा में उपलब्ध, वर्णनान्तर्गत मूर्ति में हम यही मुद्रा पाते हैं। इस प्रकार इस विचारधारा में एक सातत्य एवं एकत्व विद्यमान है और मूर्ति में कोई भी अन्य प्रतिमा-विज्ञान सम्बन्धी बातें ऐसी नहीं मिलती जो भ्रम उत्पन्न करें अथवा हमें (इस धारणा से) विमुख कर सकें। नग्न मुद्रा अपने देव महादेव >रुद्र> पशुपति के ऊर्ध्व मेढ़ के रूप में—ऐसी मुद्रा जिसे हम मोहनजो-दड़ो की सेलखड़ी की मुद्रा में चित्रित पाते हैं—किए गए वैदिक वर्णन के सर्वथा विरोध में स्थित है (कैम्ब्रिज आफ इण्डिया, २६५३, प्लेट २३)।

२४ जैन तीर्थङ्करों का कालक्रम का इतिहास तथा उनकी क्रमागतता हड़प्पा की मूर्ति को काल के मार्ग में अवरोध नही हैं। तीर्थङ्करों की वर्तमान सूची (**वर्तमान तीर्थङ्कर**) के अन्तर्गत २४ है, जिनमे हमें मालूम है कि महावीर बुद्ध के समसामयिक थे, जो छठी शताब्दी ई० पू० मे हुए। २३वे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ महावीर से १०० वर्ष से अधिक पहले हुए, और २२वे तीर्थङ्कर नेमिनाथ **महाभारत** के यशस्वी पाण्डवो के सखा भगवान् कृष्ण के पितृव्यज थे। मोटे तौर से गणना करने पर भी भगवद्गीता के भगवान् कृष्ण के समकालिक नेमिनाथ के लिए हमें ९वीं शताब्दी ई० पू० जैसा एक काल प्राप्त होता है। पाण्डवों की गतिविधियों की दोला, मेरठ के समीप स्थित हस्तिनापुर मे सम्पन्न हुआ है। अभी हमे क्रमागतता के क्रम में नेमिनाथ के पूर्ववर्ती २१वें तीर्थङ्कर को भी सकारण बतलाना है। यदि हम आनुपातिक रूप से प्रत्येक तीर्थङ्कर की तिथियों को पीछे खिसकाते जाएँ तो हम पाएँगे कि प्रथम तीर्थङ्कर, जिन्हें वृषभदेव नाम से

भी पुकारा जाता है, तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० के अन्तिम चरण के प्रवेशद्वार पर स्थित हैं। वर्णनान्तर्गत मूर्ति का समय आलोचकों ने २४००-२००० ई० पू० के मध्य निश्चित किया है। जैन धर्म के प्रवर्तक, प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का वृषभ नाम से युक्त होना भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि ऋग्वेद की ऋचाओं में इस बात की आवृत्ति की गई है कि एक महान् देव के आगमन को अन्तर्भूत करने वाले महान् सत्यों की उद्घोषणा का कार्य वृषभ ने ही सम्पादित किया :—

त्रिधा बद्धो वृषभ रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश ॥

वृषभदेवापरनामा आदिनाथ द्वारा वैदिक यज्ञों तथा पशुपति के प्रति सर्वथा विरोध की भावना से एक नये धार्मिक मत की स्थापना जैन धर्म के जीवन-काल में हुई प्रथम मूलभूत घटना है। बाद की घटनाओं तथा आदिनाथ के अनुयायियों—तीर्थङ्करों तथा सिद्धों—ने उनके मत को एक दृढ़ चक्र—अहिंसा के चक्र—पर स्थापित किया और उसे गति प्रदान की; काल तथा स्थान मे अपनी गति के साथ-साथ उसने विद्युद्वलयो (electric coils) की भाँति शक्ति प्राप्त की तथा वातारण को को "अहिंसा परमो धर्मः" की गूंज से भर दिया।

वृषभदेव का नग्नत्व एक इतनी अधिक सुविदित बात है कि इसके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता, क्योंकि जैन धर्म का यह केन्द्रीभूत सिद्धान्त है कि नितान्त नग्नता पवित्रता का एक अनिवार्य तत्त्व है। यदि ऋग्वेद वैदिक देवों में से एक देव इन्द्र की सहायता का शिश्न देवों अर्थात नग्न देवों से वैदिक यज्ञों की रक्षा के लिए आह्वान करता है तो यह सुस्पष्ट है कि ऋग्वेद केवल एक ऐतिहासिक तथ्य को इतिहास-बद्ध कर रहा है, अर्थात् वृषभदेव सदृश जैन धर्म की विचारित तथा प्रवेशित उत्पत्ति वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध पशुयज्ञों का अन्त करने के अभिप्राय के साथ हुई। सबके विश्वास को प्राप्त करने तथा मानवता को अपने सन्देश के प्रति विश्वास-युक्त करने के लिए प्रथम तीर्थंकर ने वस्त्र फेंक डाले और इस प्रकार स्वयं तथा अपने अनुयायियों को दैहिक यज्ञ (कायोत्सर्ग) के साथ आरम्भ होने वाले आत्मयज्ञ के प्रति शुभ्र प्रकाश के लिए अनावृत कर दिया। दूसरे तीर्थङ्करों ने इस सिद्धान्त को स्थायित्व प्रदान किया, इसकी आनन्दप्रद कहानी जैन धर्म की सेवा मे रत भारतीय कला मानवता के समक्ष प्रस्तुत करती है। अतएव वर्णनान्तर्गत मूर्ति जैन धर्म के इस विचार का, सम्भवतः इसके बिल्कुल प्रारम्भ के समय का एक शानदार प्रतिनिधि नमूना है।

× × × ×

हेलाचार्य

परमानन्द जैन शास्त्री

हेलाचार्य—यह द्रविड़गण के मुनियों में मुख्य थे। और जिन मार्ग की क्रियाओं का विधि पूर्वक पालन करते थे। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों से संरक्षित थे। उनका विधिपूर्वक आचरण करते थे[1]। यह दक्षिण देश के मलय देश में स्थित 'हेम' नामक ग्राम के निवासी थे। उनकी एक शिष्या कमलश्री थी, जा समस्त शास्त्रों की ज्ञाता—श्रुत देवी के समान विदुषी थी। एक बार कर्मवशात् उनकी शिष्या को ब्रह्मराक्षस लग गया[2]। उसकी महती पीड़ा को देखकर हेलाचार्य 'नील-गिरि' पर्वत के शिखर पर गये। वहाँ उन्होंने 'ज्वालामालिनी' की विधिपूर्वक साधना की। सात दिन में देवी ने उपस्थित होकर हेलाचार्य से पूछा कि क्या चाहते हो? मुनि ने कहा, मैं कुछ नहीं चाहता। केवल कमल श्री को ग्रह मुक्त कर दीजिये। तब देवी ने एक लोहे के पत्र पर एक मंत्र लिख कर दिया और उसको विधि बतला दी। इससे उनकी शिष्या ग्रह मुक्त हो गई। फिर देवी के आदेश से उन्होंने 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रंथ की रचना सम्भवत: प्राकृत भाषा में की।

हेलाचार्य से वह ज्ञान उनके शिष्य गंगमुनि, नीलग्रीव, बीजाव, शान्तिरसब्बा आर्यिका और विरुवट्ट क्षुल्लक को प्राप्त हुआ। तथा क्रमागत गुरु परिपाटी और अविच्छिन्न सम्प्रदाय से आया हुआ मंत्रवाद का यह ग्रंथ कन्दर्प ने जाना और उसने गुणनन्दि मुनि के लिये व्याख्यान किया। इन दोनों ने उस शास्त्र का व्याख्यान ग्रन्थत: और अर्थत: इन्द्रनन्दी के प्रति कहा। तब इन्द्रनन्दि ने उस प्राचीन कठिन ग्रन्थ को अपने मन में अवधारण करके ग्रन्थपरिवर्तन (भाषा परिवर्तनादि) के साथ ललित आर्या और गीतादि छन्दों में और साढ़ेचार सौ श्लोकों में उसकी रचना की। इन्द्रनन्दिने इसकी रचना शक सं० ८६१ (ई० सन् ९३९ और वि. सं. ९९६) राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के राज्य में मान्यखेट के कटक में अक्षय तृतीया को की[3]।

पोन्नूर की कनकगिरि पहाड़ी पर बने हुये आदिनाथ के विशाल जिनालय में जैन तीर्थंकरों और अन्य देवताओं की मूर्तियां हैं। उनमें एक मूर्ति ज्वालामालिनी देवी की है। उसके आठ हाथ हैं। दाहिनी ओर के हाथों में मण्डल, अभय, गदा और त्रिशूल हैं। तथा बाईं ओर के हाथों में शंख, ढाल, कृपाण और पुस्तक हैं[4]। मूर्ति की आकृति हिन्दुओं की महाकाली से मिलती-जुलती है। पोन्नूर से लगभग तीन मील की दूरी पर नीलगिरि नाम की पहाड़ी है, उस पर हेलाचार्य की मूर्ति अंकित है[5]। ●

---

१. द्रविडगण समय मुख्यो जिनपति मार्गोपचित क्रिया पूर्ण:।
व्रत समितिगुप्तिगुप्तो हेलाचार्यो मुनिर्जयति ॥१९

२. 'दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
हेलाचार्यो नाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ॥'
'तच्छिष्या कमलश्री: श्रुतदेवी वा समस्त शास्त्रज्ञा।
सा ब्रह्म राक्षसेन गृहिता रौद्रेण कर्मवशात् ॥'
जैनग्रंथ प्र० सं०

३. अष्टशतस्यैकषष्ठि(८६१)प्रमाण शक संवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्यखेट कटके पर्वण्यक्षय तृतीयायाम् ॥
शतदलसहित चतु:शत परिमाणग्रंथ रचनया युक्तं।
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्या: ॥

४. 'जयताद्देवी, ज्वालामालिन्युद्यत्रिशूल-पाशभष—
कोदण्ड-काण्ड-फल-वरद-चक्र चिन्होज्वलाऽष्टभुजा ॥''

५. See Jainism in South India P. 47

पावापुर

श्री बलभद्र जैन

[आजकल 'पावा' के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ है, चूंकि भगवान महावीर का परिनिर्वाण पावा में हुआ है। श्वेताम्बरीय कल्पसूत्र के अनुसार वह मध्यमा पावा है, जो वर्तमान में निर्वाणभूमि मानी जाती है। परन्तु कुछ लोग केवल बौद्धग्रन्थों के आधार पर महावीर की निर्वाण भूमि पावा को पडरौना या सठियांव में मानने के लिए बाध्य कर रहे हैं। परन्तु अभी तक ऐसे कोई ठोस प्रमाण उपस्थित नहीं हुए हैं। जिनसे उत्तर-प्रदेश वाली पावा को मान्यता दी जा सके। ऐसी स्थिति में विद्वान लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध में इस पर सप्रमाण विचार किया है।

आशा है विद्वान उस पर गहराई से विचार करेंगे। और निर्वाणभूमि पावा के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत करेंगे, जिनसे पावा-सम्बन्धि विवाद समाप्त हो जाय और वस्तु स्थिति पर यथार्थ प्रकाश पड़ सके।

—सम्पादक]

सिद्धक्षेत्र—पावापुर अत्यन्त पवित्र सिद्धक्षेत्र है। यहाँ पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था। आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोयपण्णत्ती' में इस सम्बन्ध में लिखा है कि :—

'कात्तियकिण्हे चोद्दसिपच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥४।१२०८॥

भगवान वीरेश्वर (महावीर) कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रत्यूषकाल मे स्वाति नक्षत्र के रहते पावापुर से अकेले ही सिद्ध हुए।

प्राकृत 'निर्वाण भक्ति' में प्रथम गाथा मे निम्न पाठ आया है—

'पावाए णिव्वुदो महावीरो' अर्थात् पावा में महावीर का निर्वाण हुआ।

संस्कृत 'निर्वाण भक्ति' मे भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना उपलब्ध होती है जो इस भांति है :—

'पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥१६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।
अवशेषं सम्प्रापद्व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥१७॥
परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरुरक्तचन्दनकालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥१८॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवर माल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने ॥१९॥

अर्थात् वह मुनिराज महावीर कमल वन से भरे हुए और नाना वृक्षों से सुशोभित पावा नगर के उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान मे आरूढ़ हो गये। उन्होंने कार्तिक कृष्ण के अन्त मे स्वाति नक्षत्र में सम्पूर्ण अवशिष्ट कर्म कलंक का नाश करके अक्षय, अजय और अमर सौख्य प्राप्त किया। देवताओं ने जैसे ही जाना कि भगवान का निर्वाण हो गया, वे अविलम्ब वहाँ पर आये और उन्होंने पारि-जात, रक्त चन्दन, काला गरु तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ और धूप, माला एकत्रित किये। तब अग्निकुमार देवों के इन्द्र ने अपने मुकुट से अग्नि प्रज्वलित करके जिनेन्द्र प्रभु की देह का संस्कार किया तब देवों ने गणधरों की पूजा की और अपने-अपने स्थान पर चले गये।

इसी संस्कृत निर्वाण भक्ति मे इसी सम्बन्ध में एक श्लोक और भी दिया गया है :—

'पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे,
पद्मोत्पला कुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्री वर्धमान जिनदेव इति प्रतीतो
निर्वाण माप भगवान्प्रविधूतपाप्मा ॥२४॥

पावपुर नगर के बाहर उन्नत भूमि खण्ड (टीले) पर कमलों से सुशोभित तालाब के बीच में निष्पाप वर्धमान ने निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' मे भगवान के निर्वाण का जो वर्णन दिया है, उससे एक विशेष बात पर प्रकाश पड़ता है कि उस समय देवताओं और मानवों ने अधकारपूर्ण रात्रि में जो दीपालोक किया था, उसी की स्मृति में प्रतिवर्ष 'दीपावली' मनाई जाती है। आचार्य ने 'हरिवश' की रचना शक सं० ७०५ (ई० सन् ७८४) में की थी। इतनी प्राचीन रचना मे इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उससे महावीर-निर्वाण के समय जो स्थिति थी, उसका चित्र हमारे समक्ष स्पष्ट हो उठता है। पुराणकार का मूल उल्लेख इस प्रकार है :—

'जिनेन्द्रवीरोऽपिविबोध्य सन्ततं
समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं
मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥६६।१५॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै-
र्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूत
सुप्रभात सन्ध्यासमये स्वभावतः ॥१६॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको
विधूय घातीन्धनवद्विबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो
निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम् ॥१७॥
स पञ्चकल्याणमहामहेश्वरः
प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीर पूजाविधिना विधानतः
सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः ॥१८॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया
सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः
प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्
प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं
जिनेन्द्रनिर्वाण विभूतिभक्तिभाक् ।२०॥

भगवान महावीर भी निरन्तर सब ओर के भव्य समूह को संबोधित कर पावा नगरी पहुँचे और वहाँ के 'मनोहरोद्यान' नामक वन में विराजमान हो गये। जब चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे, तब स्वाति नक्षत्र में कातिक अमास्या के दिन प्रातःकाल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्मरूपी ईन्धन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो ससार के प्राणियों को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से रहित निर्बन्ध-मोक्ष-स्थान को प्राप्त हुए। गर्भादि पाँच कल्याणको के महान अधिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारो निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की। उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई देदीप्यमान दीपको की पक्ति से पावानगरी का का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भारत क्षेत्र मे प्रति वर्ष आदर पूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।

आचार्य वीरसेन विरचित 'जयधवला' टीका मे भववान महावीर के निर्वाण के प्रसग में निर्वाण-स्थान के स्थान के साथ उनकी मुनिःअवस्था की काल गणना भी दी है :—

'वासा णूणतीसं पंच य मासे य वीस दिवसे य।
चउविह अणगारे हिं य बारह दिणेहि (गणेहि)
विहरित्ता ॥३०॥
पच्छा पावाणयरे कत्तिय मासस्स किण्ह चोद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेसरय छेत्तु णिव्वाओ ॥३१॥
जयधवला भाग १, पृ० ८१

२६ वर्ष ५ मास और २० दिन तक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों और १२ गणों अर्थात् सभाओं के साथ विहार करके पश्चात् भगवान महावीर ने पावा नगर में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन

स्वाति नक्षत्र के रहते हुए रात्रि के समय शेष अघाति-कर्मरूपी रज को छेदकर निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण मे महावीर निर्वाण के सन्दर्भ को प्राय अन्य आचार्यों के समान ही निबद्ध किया है, किन्तु इसमे अन्यो से साधारण अन्तर है। अन्य आचार्यों के अनुसार भगवान महावीर एकाकी मुक्त हुए थे किन्तु उत्तरपुराणकार के अनुसार भगवान के साथ एक हजार मुनि मुक्त हुए थे। वह इस प्रकार है :—

'इहान्त्यतीर्थनाथोऽपि विहृत्य विषयान् बहून् ॥७६।५०८॥
क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥७६।५०६॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीत-विहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥७६।५१०॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यानपरायणः।
कृतात्रियोग संरोधः समुच्छिन्नक्रिय श्रितः ॥७६।५११॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनि सहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् ॥७६।५१२॥

(इन्द्रभूति गणधर राजा श्रेणिक को भविष्य के संबंध मे बताते हुए कहते है कि—) भगवान महावीर भी बहुत से देशो मे विहार करेंगे। अन्त मे वे पावापुर नगर में पहुँचेंगे। वहाँ के मनोहर नामक वन के भीतर अनेक सरोवरों के बीच मे मणिमयी शिला पर विराजमान होंगे। विहार छोड़कर निर्जरा को बढाते हुए वे दो दिन तक वहाँ विराजमान रहेंगे और फिर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम समय स्वाति नक्षत्र में अतिशय देदीप्यमान तीसरे शुक्ल ध्यान मे तत्पर होंगे। तदनन्तर तीनो योगो का निरोध कर समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान को धारण कर चारों अघातिया कर्मों का क्षय कर देंगे और शरीर रहित केवल गुण रूप होकर एक हजार मुनियो के साथ सबके द्वारा वाछिनीय मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

असग कवि द्वारा विरचित 'महावीर-चरित्र' मे भगवान के निर्वाण समय का जो वर्णन दिया गया है, उसका आशय यह है :—

'भगवान विहार करके पावापुर के फूले हुए वृक्षों की शोभा से सम्पन्न उपवन में पधारे। जिनका समवसरण विसर्जित हो गया है, ऐसे भगवान योगनिरोध कर मुक्त हुए।

श्वेताम्बर आगम और महावीर निर्वाण

श्वेताम्बर आगमों मे भी महावीर निर्वाण के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता का ही प्रायः समर्थन मिलता है। जो अन्तर है, वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। दिगम्बर परम्परानुसार भगवान का निर्वाण कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर मे हुआ और अमावस्या को उनके मुख्य गणधर को केवलज्ञान हुआ। श्वेताम्बर परम्परा मे भगवान का निर्वाण और गौतम गणधर को केवल ज्ञान दोनों घटनाये अमावस्या को हुई।

'कल्पसूत्र'[1] मे महावीर के निर्वाण का विस्तृत वर्णन मिलता है। उससे पावापुर के सम्बन्ध मे भी विशेष जानकारी प्राप्त होती है। वह उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है।

'तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्य रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिम अंतरावासं उवागए तस्स णं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिय बहुले सस्स णं कत्तियवहुलस्स पन्नरसी पक्खेणं जा सा चरिमारयणि तं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगये विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधण सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे चंदे नामं से दिवसे उवसमि त्ति पवुच्चइ देवाणंदा नामं सा रयणी निरइ त्ति पवुच्चइ अच्चेलवे मुहुत्ते पाणू थोवे सिद्धे नागे करणे सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते साइणा नक्खत्तेण जोगमुवागएणं कालगए विइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥१२३॥

अर्थ—भगवान अन्तिम वर्षावास करने के लिए मध्यम पावा नगरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा मे रहे हुए थे। चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षा ऋतु का सातवां पक्ष चल रहा था अर्थात् कार्तिक कृष्ण अमावस्या आई। अन्तिम रात्रि का समय था। उस रात्रि को

---

१. श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान सिवाना (राज०) से प्रकाशित पृ० १६८।

श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए। संसार को त्याग कर चले गये। जन्म-ग्रहण की परम्परा का उच्छेद कर चले गये। उनके जन्म जरा, और मरण के सभी बन्धन नष्ट होगये। भगवान सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगये सब दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

महावीर जिस समय कालधर्म को प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर चल रहा था। प्रीतिवर्धन मास नन्दिवर्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस (जिसका दूसरा नाम 'उवसम' भी है) देवानन्दा नामक रात्रि (जिसे निरइ भी कहते हैं)। अर्थनामक लव, सिद्धनामकस्तोक, नाग नामककरण, सर्वार्द्धसिद्धि नामक मुहूर्त तथा स्वाति नक्षत्र का योग था। ऐसे समय भगवान कालधर्म को प्राप्त हुए, वे संसार छोड कर चले गये। उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये।"

भगवान के निर्वाण-गमन के समय अनेक देवी-देवताओं के कारण प्रकाश फैल रहा था। तथा उस समय अनेक राजा वहा उपस्थित थे और उन्होंने द्रव्योद्योत किया था, इसका वर्णन करते हुए कल्पसूत्रकार कहते है—

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सा णं रयणी बहूहिं देवेहि य देवेहि य ओवयमाणेण य उप्पयमाणेहि य उज्जोविया यावि होत्या ॥१२४॥

'जं रयणि च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणि च ण नव मल्लइ नव लिच्छई कासी-कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववास पट्ठवइंसु, गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोव करिस्सामो ॥१२७॥

अर्थ—जिस रात्रि मे श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःखपूर्ण रूप से नष्ट हो गये, उस रात्रि मे बहुत से देव और देवियाँ नीचे आ जा रही थी; जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी ॥१२४॥

जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये, उस रात्रि में नौ मल्लसघ के, नौ लिच्छवि संघ के और काशी-कोशल के अठारह गणराजा अमावस्या के दिन आठ-प्रहर का प्रोषधोपवास करके वहाँ रहे हुए थे। उन्होंने यह विचार किया कि भावोद्योत अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है अतः अब हम द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे ॥१२७॥

कल्पसूत्र के इस विवरण से कई महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है—(१) भगवान महावीर का निर्वाण राजा हस्तिपाल की नगरी पावापुरी में हुआ था। (२) भगवान के निर्माण के समय वहाँ पर मल्लगण संघ के नौ, लिच्छवि गण संघ के नौ और काशी-कोशल के अठारह राजा (गण संस्थागार के सदस्य) विद्यमान थे। (३) उस घोर अन्धकाराच्छन्न रात्रि में देवी-देवताओं के कारण तो प्रकाश था ही, उन राजाओं ने द्रव्योद्योत किया। (४) तथा यह पावा मध्यम पावा कहलाती थी।

इस महत्वपूर्ण विवरण के पश्चात् विस्तार सख्या १४६ में इसी सूत्र में यह भी कथन किया गया है कि 'इस अवसर्पिणी काल का दुषम-सुषम नामक चतुर्थ आरा बहुत कुछ व्यतीत होने पर तथा उस चतुर्थ आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीना शेष रहने पर मध्यम पावा नगरी मे हस्तिपाल राजा की रज्जुक सभा में एकाकी, षष्ठम तप के साथ स्वाती नक्षत्र का योग होते ही, प्रत्यूष काल के समय (चार घड़ी का रात्रि अवशेष रहने पर) पद्मासन से बैठे हुए भगवान कल्याण फल-विपाक के पचपन अध्ययन, और पाप फल विपाक के दूसरे पचपन अध्ययन, और अपृष्ट अर्थात् किसी के द्वारा प्रश्न न किये जाने पर भी उनके समाधान करने वाले छत्तीस अध्ययनो को कहते-कहते काल धर्म को प्राप्त हुए।'

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान निर्वाण के समय राजा हस्तिपाल की सभा में थे। वहीं उपदेश करते-करते उनका निर्वाण होगया। इससे एक अन्य निष्कर्ष यह भी निकलता है कि भगवान समवसरण के बिना भी उपदेश करते थे। यदि राजा हस्तिपाल की उस सभा (सस्थागार) मे ही देवताओं ने समवसरण की रचना कर दी थी तो भगवान के निर्वाण-काल तक समवसरण था, इसका विसर्जन नही हुआ था और न भगवान ने अन्तिम समय मे योगों का निरोध ही किया था। वे बोलते ही बोलते मुक्त होगये थे।

इससे आगे के विस्तार मे कल्पसूत्र का रचना काल दिया गया है। और यह काल वीर निर्वाण स० ६८० अथवा ६६३ था।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' के महावीर स्वामी चरित भाग के सर्ग १२ मे भगवान महावीर के अन्तिम काल का वर्णन किया गया है। उसमे लिखा है कि 'भगवान विहार करते हुए अपापा नगरी पहुँचे (जगाम भगवान्नगरीमपापाम् ॥ (सर्ग १२ श्लोक ४४०)। वहाँ भगवान की देशना के लिए इन्द्रो ने समवसरण की रचना की। भगवान ने जान लिया कि अब मेरी आयु क्षीण होने वाली है, अतः अन्तिम देशना देने के लिए वे समवसरण मे गये। अपापापुरी के अधिपति हस्तिपाल को जब ज्ञात हुआ कि भगवान समवसरण मे पधारे है, तो वह भी उपदेश सुनने वहा गया। वहा इन्द्र ने प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए भगवान का उपदेश हुआ। जब उपदेश समाप्त हो गया, तब मण्डलेश पुण्यपाल (हस्तिपाल?) ने अपने देखे हुए स्वप्न का फल पूछा। भगवान ने उसका फल बताया। फल सुनकर पुण्यपाल ने मुनि-दीक्षा लेली और तप द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त की।

तदनन्तर मुख्य गणधर गौतम स्वामी ने भगवान से उनके निर्वाण के अनन्तर होने वाली घटनाओ के बारे मे पूछा। भगवान ने कल्कि, नन्दवंश आदि के बारे मे बताया तथा अवसर्पिणी की समाप्ति तथा उत्सर्पिणी का प्रवर्तन, भावी त्रेसठ शलाका पुरुष आदि के बारे मे भी भगवान ने बताया।

तत्पश्चात् सुधर्म गणधर ने पूछा—केवलज्ञान आदि का उच्छेद कब होगा? इस प्रश्न के बहाने आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान के नाम पर जम्बू स्वामी से लेकर स्थूलभद्र और महागिरि, सुहस्ती तक की श्वेताम्बर आचार्य परम्परा का वर्णन कर दिया है।

इसके बाद भगवान समवसरण से निकल कर हस्तिपाल राजा की शुल्कशाला मे पधारे। भगवान ने यह जान कर कि आज रात्रि मे मेरा निर्वाण होगा, गौतम का मेरे प्रति अनेक भवो से स्नेह है और उसे आज रात्रि के अन्त मे केवलज्ञान होगा, मेरे वियोग से वह दुखी होगा, भगवान ने गौतम से कहा—'गौतम! दूसरे गाँव मे देवशर्मा ब्राह्मण है। उसको तू संबोध आ। तेरे कारण उसे ज्ञान प्राप्त होगा।' प्रभु के आदेशानुसार गौतम वहाँ से चले गये।

भगवान का निर्वाण हो गया। इन्द्र ने नन्दन आदि वनों से लाये हुए गोशीर्ष, चन्दन आदि से चिता चुनी। क्षीर सागर से लाये हुए जल से भगवान को स्नान कराया, दिव्य अगराग सारे शरीर पर लगाया। विमान के आकार की शिविका मे भगवान की मृत देह रक्खी। उस समय तमाम इन्द्र और देवी-देवता शोक के कारण रो रहे थे। देवता आकाश से पुष्प-वर्षा कर रहे थे। तमाम दिव्य बाजे बज रहे थे। शिविका के आगे देवियाँ नृत्य करती चल रही थी।

श्रावक और श्राविकाये भी शोक के कारण रो रहे थे। और रासक गीत गा रहे थे। साधु और साध्विया भी शोकाकुल थे।

तब इन्द्र ने अत्यन्त शोकाकुल हृदय से भगवान का शरीर चिता पर रख दिया। अग्निकुमारो ने चिता मे आग लगाई। वायुकुमारों ने आग को हवा दी। देवताओं ने धूप और घी के सैकड़ों घड़े चिता मे डाले। शरीर के जल जाने पर मेघकुमार देवो ने क्षीर समुद्र के जल की वर्षा करके चिता को शान्त किया। भगवान के ऊपर की दो दाढ़े सौधर्म और ऐशान इन्द्रों ने ली और नीचे की दोनों दाढ़ें चमरेन्द्र और वलीन्द्र ने लीं। अन्य दाँत और हड्डियां दूसरे इन्द्रों और देवों ने लीं। और मनुष्यों ने चिता-भस्म ली। जिस स्थान पर चिता जलाई, उस स्थान पर देवों ने रत्नमय स्तूप बना दिया। इस प्रकार देवताओं ने वहां भगवान का निर्वाण-महोत्सव मनाया।"

वीर भगवान को निर्वाण-भूमि और वर्तमान पावा

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों के उपर्युक्त विवरण के अनुसार भगवान महावीर का निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के अन्तिम प्रहर मे पावापुर मे हुआ था। निर्वाण के समय इन्द्र और देवो के अतिरिक्त वहाँ पर वैशाली गणसघ के नौ राजा, काशी-कोशल के अठारह राजा और मल्ल गणसघ के नौ राजा तथा असंख्य जन-समूह उप-

स्थित था। उस अन्धकार भरी रात मे देवो ने रत्न दीप सजोये और मनुष्यो ने दीपावली जलाई। किन्तु भगवान का निर्वाण चूंकि प्रत्यूष काल मे हुआ था, अतः जनता ने अमावस्या की रात मे दीपावली जला कर निर्वाण-महोत्सव मनाया। उसी की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए प्रतिवर्ष उनके भक्त जन पावापुरी मे आकर और जो वहाँ नही आ सकते वे अपने-अपने घरो मे दीपावली का अर्थात् निर्वाण कल्याणक का उत्सव मनाते थे। चतुर्दशी को छोटी दीपावली और अमावस्या को बड़ी दीपावली मनाने का कारण वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है।

जैनधर्म मे अध्यात्म की प्रधानता है। आत्मा की जन्म-मरण से मुक्ति ही आत्मा का सबसे बडा काम्य है, वही साध्य है। जिन्होने इस काम्य और साध्य की सिद्धि कर ली है, वे ससारी जनों के लिए आत्मकल्याण के मार्ग में प्रेरक स्रोत रहे है। उनकी स्मृति और पूजा का उद्देश्य कोई ऐहिक कामना नहीं है, अपितु आत्म-कल्याण की प्रेरणा प्राप्त करना है। यह भी एक सयोग ही था कि अमावस्या के प्रारम्भ से कुछ पूर्व भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ और उसी दिन उनके मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। निर्वाण और ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। अतः ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि आत्मा की अन्तरंग ज्योति का प्रतीकात्मक बहिरंग प्रदर्शन दीपकों के प्रकाश से किया गया था। दीपकों की आवलियाँ जलाई गई। अतः इस धार्मिक दिवस का नाम ही 'दीपावली' पड़ गया।

इस महत्वपूर्ण धार्मिक घटना की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए जनता ने दो कार्य किये—प्रथम तो इस दिन प्रतिवर्ष दीपावली (छोटी दिवाली और बडी दिवाली) मनाने लगी। दूसरे उस दिन से नया सवत् मनाने लगी। ऐतिहासिक महापुरुषो मे महावीर के नाम पर जो निर्वाण सवत् प्रचलित हुआ, उससे प्राचीन कोई अन्य सवत् नही है। कलि-संवत् अथवा युधिष्ठिर संवत् के बारे मे कुछ उल्लेख मिलते है। किन्तु उनका प्रचलन नही रहा। किन्तु महावीर निर्वाण सवत् ढाई हजार वर्ष बाद भी आज तक प्रचलित है। और उसका प्रयोग भूतकाल में साहित्य, शिलाओं और मूर्तियों आदि के लेखो मे स्वतन्त्रता के साथ किया जाता रहा है।

दीपावली पर पशु-पक्षियो, देवी-देवताओं, मनुष्य-स्त्रियों के मिट्टी और चीनी के खिलौने बनाये जाते है; स्त्रियाँ दीवालो पर, आँगन मे अथवा द्वार पर चित्रकारी करती है; मिट्टी की हटरियाँ बनाई जाती है, ये सब अपने मे भगवान के निर्वाण से पूर्व की समवसरण सभा मे और निर्वाण के अवसर पर एकत्रित हुए देवी-देवताओ, पशु-पक्षियो और नर-नारियो की स्मृति सुरक्षित रक्खे हुए है।

उस काल मे भगवान ने आत्म-शुद्धि की और सम्पूर्ण कर्म-मल को दूर करके आत्मा की आत्यन्तिक निर्मलता प्राप्त की। इसी प्रकार गौतम गणधर ने घातिया कर्मों का विनाश करके जो आत्म-शोधन किया, उससे उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठी। किन्तु जिनकी दृष्टि मे बहिर्मुखता है, उन्होंने इन घटनाओ की स्मृति तो सुरक्षित रक्खी, किन्तु उसको रूप दिया भौतिक। अतः बाहरी सफाई, शुद्धि होने लगी, दीपावली जलने लगी। उन अवसरों पर उपस्थित प्राणियो के प्रतिरूप खिलौने बनने लगे। धीरे-धीरे इस आध्यात्मिक घटना पर भौतिकता का मुलम्मा चढने लगा। आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति और आत्यन्तिक ज्ञान की प्राप्ति से वे दोनो आत्मा श्रीसम्पन्न हुई थी, उससे हमारे मन मे उनके प्रति श्रद्धा तो अकुरित हुई किन्तु भौतिक दृष्टि के कारण हमने उस श्री को भौतिक लक्ष्मी बना दिया और हम उस लक्ष्मी और गणनायक या गणेश की उपासना-पूजा करने लगे, जिनका हमारे आध्यात्मिक जीवन मे कोई स्थान नही है। किन्तु हमे यह बात अत्यन्त कृतज्ञता के साथ स्वीकार करनी होगी कि भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव की स्मृति मे ही 'दीपावली' पर्व प्रचलित हुआ और आज वह प्रान्त, भाषा, जाति और वर्ण के भेद के बिना सारे भारत का राष्ट्रीय पर्व या त्यौहार माना जाता है।

जिस स्थान पर भगवान का निर्वाण हुआ था, वहाँ अब एक विशाल सरोवर बना हुआ है। इस तालाब के

सम्बन्ध मे जनता में एक विचित्र किम्वदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि भगवान के निर्वाण के समय यहाँ भारी जन-समूह एकत्रित हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति ने इस पवित्र भूमि की एक-एक चुटकी मिट्टी उठाकर अपने भाल मे श्रद्धापूर्वक लगाई थी। तभी से यह तालाब बन गया।

यह भी कहा जाता है कि यह सरोवर पहले चौरासी बीघे मे फैला हुआ था। किन्तु आजकल यह चौथाई मील लम्बा और इतना ही चौडा है। सरोवर अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। इसके मध्य मे श्वेत सगमरमर का जैन मन्दिर है जिसे जल मन्दिर कहते है। इसमे भगवान के पाषाण चरण विराजमान है। मन्दिर तक जाने के लिए तालाब मे उत्तर की ओर एक पुल बना हुआ है। जिसके दोनो ओर बिजली के बल्ब लगे हुए है। रात्रि मे जब बिजली का प्रकाश होता है और उसका प्रतिबिम्ब जल मे पडता है तो दृश्य बडा सुन्दर प्रतीत होता है। जिस टापू पर मन्दिर बना हुआ है, वह १०४ वर्ग गज है। इस पुल का निर्माण एक दिगम्बर जैन बन्धु स्व० हीरालाल छज्जूलाल जी प्रयाग वालो ने कराया था। इस पर से मन्दिर मे जाकर सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन बन्धु भगवान के चरणो की वन्दना करते है।

इस सरोवर मे नाना वर्ण के कमल है। विविध वर्ण के खिले हुए कमल-पुष्पो के कारण सरोवर की शोभा अद्भुत लगती है। पुष्पो पर सौरभ और रस के लोभी भ्रमर गुजार करते रहते है। तालाब मे मछलियाँ और सर्प किलोल करते रहते है। कौतुक प्रेमी लोग मछलियों को जब भोज्य-पदार्थ जल मे डालते है, उस समय उन मछलियो की परस्पर छीना-झपटी और क्रीड़ा देखने लायक होती है।

इस स्थान का प्राचीन नाम अपापापुरी (पुण्यभूमि) था। यहाँ का प्राचीन मन्दिर पुरी बस्ती में बना हुआ है। सभवतः पहले पावापुरी नामसे एक गाँव था। किन्तु न जाने कबसे पावापुरी पावा और पुरी इन दो गाँवोमे विभक्त हो गई है। इसमे लगभग एक मील का अन्तर है। जैन तीर्थ पुरी मे है, पावा मे नही है। कुछ वर्ष पूर्व तक जल मन्दिर पर समान अधिकार था। दोनो जैन सम्प्रदाय वाले भगवान के चरणों का दर्शन-पूजन अपनी मान्यतानुसार करते थे तथा यहा जो धर्मशाला है, उसमें ठहरते थे।

जल-मन्दिर के बाहर एक 'समवसरण मन्दिर' है। इसमे भगवान महावीर के प्राचीन चरण विराजमान है।

इस प्रकार इस क्षेत्र पर पहले ये दो मन्दिर और धर्मशाला थी। इन सब पर दोनो सम्प्रदाय वालों का समान अधिकार था। किन्तु श्वेताम्बर समाज के व्यवहार के कारण दिगम्बर समाज को पृथक् धर्मशालाओ और मन्दिरो का निर्माण करना पडा। अब जल मन्दिर और समवसरण मन्दिर पर तो दर्शन-पूजन की दृष्टि से दिगम्बरो और श्वेताम्बरो के समान ही अधिकार है तथा बस्ती वाले मन्दिर मे भी दिगम्बर जैन दर्शनो को जा सकते है।

जल-मन्दिर के निकट ही 'पावापुरी सिद्ध क्षेत्र दि० जैन कार्यालय' है। वहाँ पर सात दिगम्बर जैन मन्दिरो का समूह है। इसमे बडा मन्दिर सेठ मोतीचद खेमचदजी शोलापुर वालों की ओर से निर्मित हुआ और उसकी प्रतिष्ठा वि० स० १९५० में हुई थी। इसमे भगवान महावीर की मूलनायक प्रतिमा है जो श्वेतवर्ण की ३॥ फुट अवगाहना की है।

इस मन्दिर के अतिरिक्त शेष ६ कार्यालय मन्दिरो में से दो मन्दिरो का निर्माण सेठ मोतीचद खेमचद जी शोलापुर ने तथा चार का निर्माण (१) श्रीमती जगपत बीबी धर्मपत्नी स्व० लाला हरप्रसाद जी आरा (२) बा. हरप्रसाद जी (३) लाला जम्बूप्रसाद प्रद्युम्न कुमार जी सहारनपुर तथा (४) श्रीमती अनूपमाला देवी मातेश्वरी बा० निर्मलकुमार चन्द्रशेखरकुमार जी आरा वालों ने कराया। इन सातों मन्दिरो मे प्रतिमाओं की संख्या लगभग १०० है। जिसमे धातु और पाषाण की प्रतिमाये और चरण सभी सम्मिलित है।

कार्यालय के साथ ही धर्मशाला है जिसमे दोनो मजिलों मे ६१ कोठरियाँ व एक नौबतखाना है। इसके अतिरिक्त एक नई धर्मशाला उक्त धर्मशाला के पीछे बन गई है।

दिगम्बर जैन कार्यालय के अधीन निम्नलिखित सम्पत्ति है—

(१) मौजा सिलौया, मौजा केशर सुन्दरपुर बैताड़ी, मौजा विसुनपुरा दियारा ये तीन मौजे आरा जिले मे

ये तीनों रायबहादुर सेठ टीकमचन्द भागचन्द जी अजमेर वालों की ओर से मय खर्चा १०३६५।।।-)।। मे खरीदे गये थे।

(२) मौजा दशरथपुर मे टोपरा नग १७ साढ़े चार बीघे धान के खेत खरीदे गये।

(३) रथ पिंड वाली जमीन लगभग चार बीघा है।

(४) बिहार शरीफ में स्टेशन के पास लहरी मुहल्ला स्थित कोठी है। पास ही शिखरबन्द दिगम्बर जैन मंदिर है, जिसमे धर्मशाला और कुआ है।

(५) पावापुरी मे धर्मशाला के भीतर और बाहर दो कुए है।

वार्षिक मेला—यहाँ पर कार्तिक वदी १३ से १५ तक वार्षिक मेला होता है। कई हजार व्यक्ति निर्वाणोत्सव मनाने यहाँ आते है। इस अवसर पर रथयात्रा होती है। भगवान का रथ दिगम्बर धर्मशाला से चलकर जल मंदिर होते हुए गाव के बाहर जाता है। वहां मण्डप में कलशाभिषेक होता है।

क्षेत्र का प्रबन्ध भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अन्तर्गत बिहार प्रान्तीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी करती है।

पावा की वास्तविक स्थिति

भगवान महावीर की निर्वाण भूमि अब तक बिहार शरीफ से सात मील दक्षिण-पूर्व में और गिरियक से दो मील उत्तर में मानी जाती थी किन्तु जब पुरातत्व वेत्ताओ और इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया कि पावा—जहाँ महावीर का निर्वाण हुआ वह-नालन्दा की निकट वाली पावा नहीं, अपितु कुशीनारा की निकटवर्ती पावा है, तब विद्वानों का ध्यान पावा को सही स्थिति जानने के लिए गया। पावा कहाँ थी, वह कौन सी पावा थी, इसका निर्णय करने के लिए हमे जैन और बौद्ध वाङ्मय के उन साक्ष्यों का अन्तः परीक्षण करना आवश्यक है, जिनमे पावा का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त पुरातत्व सामग्री और शिलालेख से भी-यदि कोई हो तो-इस सन्दर्भ में सहायता मिल सकती है।

श्वेताम्बर साहित्य में पावा—श्वेताम्बर सूत्रों और ग्रन्थों में—कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, परिशिष्ट पर्व, विविध तीर्थकल्प का अपापा बृहत्कल्प आदि—पावा के स्थान पर मध्यमा पावा और अपापा इन दो नामों का प्रयोग मिलता है। भगवान महावीर इस नगरी में दो बार आये। संभव है, वे यहाँ अनेक बार पधारे हों। किन्तु दो महत्वपूर्ण घटनाये इस नगरी मे घटित हुई थी, इस लिए इस नगर मे भगवान के दो बार आगमन की चर्चा (श्वे० सूत्रों मे) विशेष उल्लेखनीय है।

प्रथम बार भगवान केवलज्ञान की प्राप्ति के अगले ही दिन पधारे। ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिक ग्राम के बाहर साल वृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला १० को भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इन्द्रों और देवों ने भगवान के ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। किन्तु समवसरण मे केवल इन्द्र और देवता ही उपस्थित थे। अतः विरति रूप संयम का लाभ किसी प्राणी को नही हो सका। यह आश्चर्यजनक घटना जैनागमो मे 'अछेरा' (आश्चर्यजनक या अस्वाभाविक) नाम से प्रसिद्ध है।

उन दिनों मध्यमा पावा मे—जो जृम्भक गाव से लगभग बारह योजन (४८ कोस) दूर थी-सोमिलाचार्य ब्राह्मण बड़ा भारी यज्ञ रचा रहा था। उसमें बड़े-बड़े विद्वान् देश-देशान्तरों से आकर सम्मिलित हुए थे। भगवान ने यह सोचा कि यज्ञ में आये हुए विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध पायेगे और धर्म के आधारस्तम्भ बनेंगे, अतः वहा चलना ठीक रहेगा। यह विचार कर भगवान ने सन्ध्या समय बिहार कर दिया और रात भर चलकर मध्यमा के महासेन उद्यान में पहुँचे। एकादशी को इसी उद्यान मे भगवान का दूसरा समवसरण लगा। भगवान का उपदेश एक पहर तक हुआ। भगवान का ज्ञान और लोकोत्तर उपदेश की चर्चा सारी नगरी मे होने लगी। सोमिल के यज्ञ में आये हुए इन्द्रभूति आदि ११ विद्वानो ने यह चर्चा सुनी। वे ज्ञान मद से भरे हुए अपने शिष्यों और छात्रो के साथ भगवान के पास पहुँचे। उनका उद्देश्य भगवान को विवाद मे पराजित कर अपनी प्रतिष्ठा मे चार चाद लगाना था। किन्तु वहाँ आकर उनका मद विगलित हो गया। उन्होने भगवान के चरणों में विनयपूर्वक नमस्कार किया और दीक्षा लेली। इस प्रकार मध्यमा के समवसरण मे एक ही दिन मे ४४११ ब्राह्मणों ने भगवान के चरणों में नतमस्तक होकर श्रमण

धर्म अंगीकार कर लिया। भगवान ने उन ग्यारह विद्वानों को अपना मुख्य शिष्य बना कर उन्हे गणधर पद से विभूषित किया। अन्य भी अनेक नर-नारियो ने भगवान का उपदेश सुनकर मुनि-व्रत या श्रावक के व्रत लिये। भगवान ने वैशाख शुक्ला ११ को मध्यमा पावा के महासेन उद्यान मे साधु-साध्वी-श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध सघ की स्थापना की।

इस नगरी मे दूसरी महत्वपूर्ण घटना भगवान के निर्वाण की है। भगवान चपा से विहार करते हुए अपापा पधारे। इस वर्ष का वर्षावास अपापा मे व्यतीत करने का निश्चय करके भगवान राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा मे पहुँचे और वही वर्षा-चातुर्मास की स्थापना की। इस चातुर्मास मे दर्शनो के लिए आये हुए राजा पुण्यपाल ने भगवान से दीक्षा ली। कार्तिक अमावस्या के प्रात: काल राजा हस्तिपाल के रज्जुग सभा-भवन में (कही इसे राजा हस्तिपाल की शुल्क शाला भी लिखा है) भगवान की अन्तिम उपदेश-सभा हुई। उस सभा में अनेको गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। उनमे काशी-कोशल के १८ लिच्छवियो के नौ और मल्लो के नौ गणराजा उल्लेखनीय थे।

भगवान ने अपने जीवन की समाप्ति निकट जानकर अन्तिम उपदेश की अखण्ड धारा चालू रक्खी, जो अमावस्या की पिछली रात तक चलती रही। अन्त मे प्रधान नामक अध्ययन का निरूपण करते हुए अमावस्या की पिछली रात को भगवान सब कर्मो से मुक्त हो गये। भगवान के निर्वाण पर उक्त गणराजाओं ने कहा—संसार से भावप्रकाश उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे।' यह निश्चय करके उन्होने रत्नदीप जलाये। कालक्रम से उनके स्थान पर अग्नि दीप जलाये जाने लगे। इस प्रकार इस लोक मे दीपावली प्रचलित हुई। गौतम स्वामी-जो उस समय भगवान की आज्ञा से निकटवर्ती गांव में देवशर्मा ब्राह्मण को उपदेश करने के लिए गये हुए थे, वे लौटकर भगवान की वन्दना के लिए वापिस आये। तब उन्होने देवताओ को यह कहते हुए सुना—'भगवान कालगत हो गये।' उन्हे तत्क्षण केवलज्ञान होगया।

पावापुरी (जिसे मध्यमा, मध्यमा पावा और अपापा पुरी भी कहा जाता है) इन दो घटनाओं के कारण अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई। श्वेताम्बर वाङ्मय के उपर्युक्त उल्लेखो से पावा की वास्तविक स्थिति पर भी प्रकाश पडता है। चतुर्विध सघ-स्थापना के प्रकरण मे मध्यमा (पावा) को जृम्भक गाव से १२ योजन दूर माना है। तथा निर्वाण की घटना के प्रकाश मे यह बताया है कि भगवान चपा से अपापा पुरी पहुँचे। इस प्रकरण मे भगवान के विहार का क्रम इस प्रकार दिया है—चपा नगरी मे चातुर्मास पूर्ण करके भगवान विचरते हुए जभिय गाव पहुँचे। वहाँ से मिढिय होते हुए छम्माणि गये। यहीं पर ग्वाले ने भगवान के कानो मे काठ के कीले ठोंके थे। छम्माणि से भगवान मध्यमा पधारे। मध्यमा से विचरते हुए जम्भियगाव आये, जहा उन्हे केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान के बाद वे पुन: मध्यमा आये, जहाँ गौतमादि को अपना गणधर बनाया। वहाँ से भगवान राजगृह गये। वहाँ पर चातुर्मास करके भगवान ने राजगृह से विदेह की ओर विहार किया और ब्राह्मण कुण्ड पहुँचे।

प्राचीन भारत के नक्शे को देखने से और भगवान के उपर्युक्त विहार-क्रम को दृष्टि मे रखने पर यह पता चल सकता है कि भगवान चपा से मध्यमा पावा होते हुए राजगृह गये और वहाँ से वैशाली गये, तब असली पावा कहाँ होनी चाहिए।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते है कि पावा के सम्बन्ध मे विवाद का कारण क्या है। पावा नाम के नगर कई थे (१) उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले मे कुशीनारा के पास कोई पपउर को पावा मानते है, कोई पडरौना को और कोई फाजिल नगर के निकट सठियाँव को। (२) दूसरी पावा राजगृह के निकट विहार शरीफ से आग्नेय कोण मे सात मील दूर, जिसे जैन लोग अपना तीर्थ मानते है। (३) तीसरी पावा हजारीबाग और मानभूम प्रदेश मे थी और उसकी राजधानी थी।

पहली पावा मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। महावीर के काल मे मल्ल जनपद भी तीन थे। प्रथम मल्लदेश वह कहलाता था, जिसे आजकल मुल्तान जिला (पश्चिमी पाकिस्तान) कहा जाता है। एलेक्जेण्डर के मतानुसार यहाँ के निवासी मल्ल कहलाते थे और महाभारत (सभापर्व, अध्याय ३२) के अनुसार मालव कहे जाते थे।

मुल्तान इस जनपद की राजधानी[१] थी। महाराज रामचन्द्र ने लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु[२] को यहां का राज्य दिया था।

द्वितीय मल्ल जनपद वह कहलाता था, जिसमे पारसनाथ[३] की पहाडियां है: यह प्रदेश वर्तमान हजारीबाग और मानभूम जिलो के कुछ भाग से बनता था। पारसनाथ की पहाड़ियों को मल्ल पर्वत भी कहा जाता था।

हिन्दू पुराणों और महाभारत (भीष्म पर्व, अध्याय ६) में केवल दो ही मल्ल देशो का वर्णन मिलता है —एक पश्चिम मे और दूसरा पूर्व मे।

कुशीनारा और पावा मे भी मल्ल लोग रहते थे। यह तीसरा मल्ल जनपद था। कसिया (प्राचीन कुशीनगर) मे जो ध्वसावशेष उपलब्ध होते है, उन्हे मल्ल सामन्तों, श्रेष्ठियो के महलो के अवशेष माना जाता है।

प्राचीन भारत मे मल्ल जनपदो की उपर्युक्त स्थिति के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुल्तान जिले वाले पश्चिमी मल्ल जनपद की राजधानी का नाम क्या था, यह तो स्पष्ट ज्ञात नही होता, किन्तु शेष दो मल्ल जनपदों की राजधानी पावा थी। तीसरी पावा इन दोनो के मध्य मे थी अत: वह मध्यमा अथवा मध्यम पावा कहलाती थी। जैन सूत्रागमो मे महावीर का निर्वाण मध्यमा पावा मे माना है। इसी मध्यमा पावा का नाम आजकल पावापुरी है और उसे ही महावीर का निर्वाण क्षेत्र माना जाता है।

कुछ समय मे पावा को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। इस विवाद के कारण कई है—(१) पावा नामक कई नगरो के होने के कारण भ्रम उत्पन्न होना। (२) वर्तमान पावापुरी मे प्राचीनता का कोई चिह्न न मिलना। (३) बौद्ध साहित्य के 'परिनिब्बाणसुत्त मे पावा मे बुद्ध को सुक्कर मद्दव खाने से अतिसार होना और इस तरह पावा की प्रसिद्धि होना। (४) पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा बौद्ध साहित्य के प्रकाश मे कुशीनारा के निकट पावा की खोज करना। ये और ऐसे ही अन्य छोटे बड़े कारण है, जिनके कारण परम्परागत रूप से मान्य पाव ा क्षेत्र के स्थान पर उस पावा को मान्यता देने के लिए प्रयत्न हो रहा है, जिस पावा का सम्पूर्ण जैन साहित्य मे कहीं कोई वर्णन नहीं हैं। इसकी प्रेरणा कुण्डलपुर के स्थान पर भगवान महावीर की जन्म-भूमि के रूप मे वैशाली को मान्यता मिलने से हुई है ऐसा लगता है। वैशाली के पक्ष मे प्रबल प्रमाण उपलब्ध थे, किन्तु कुशीनारा के निकट पावा को महावीर की निर्वाण-भूमि मानने मे प्रमाण नही, नवीनता का व्यामोह और अत्युत्साह ही एक मात्र सम्बल है।

बौद्ध साहित्य में पावा की स्थिति—

बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर विभिन्न प्रसगों मे पावा का उल्लेख मिलता है। उन प्रसंगों का यहाँ उल्लेख करना सचमुच ही उपयोगी होगा और उनसे हमे उस पावा का निर्णय करने मे सुविधा रहेगी, जो वस्तुत महावीर भगवान की निर्वाण भूमि है।

निर्वाण सवाद—१

'एवं मे सुत। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति–'न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि। अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि·· मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो।...ये पि निगण्ठस्स नातपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नातपुत्तिगेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नरूपे अप्परिसरणे।

अथ खो चुन्दो समणुद्देसो पावायं वस्सं वुत्थो येन सामगामो येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो चुन्दो समणुद्देशो आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच–'निगण्ठो भन्ते नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय

१. मि० कनिंघम, आर्क्योलौजीकल सर्वे रिपोर्ट, पृ०-१२६।

२. बाल्मीकि रामायण, उत्तर खण्ड, पर्व ११५

३. McCrindle's Megasthenes and Arrian, p.p. 63, 139

भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता...पे०.. भिन्नथूपे अप्पटिसरणे' ति। एवं वुत्ते आयस्मा आनन्दो चुन्दं समणुद्देसं एतदवोच—'अत्थि खो इदं, आवुसो चुन्द, कथा पाभतं भगवन्तं दस्सनाय। आयाम, आवुसो चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम। उपसङ्कमित्वा एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम'ति। 'एव भन्ते' ति खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि।

—मज्भिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त ३/६/४

एक बार भगवान (बुद्ध) शाक्य देश मे सामगाम मे विहार करते थे। निगंठ नातपुत्त की कुछ समय पूर्व ही पावा मे मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निगठों मे फूट हो गयी, दो पक्ष हो गये, वे कलह करते एक दूसरे को मुख रूपी शक्ति से छेदते विहार रहे थे—'तू इस धर्म विनय को नही जानता, मैं इस धर्म विनय को जानता हूँ, तू भला इस धर्म विनय को क्या जानेगा ? तू मिथ्यारूढ है, मै सत्यारूढ़ हूँ।'

निगण्ठ नातपुत्त के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्रीय निगंठो मे वैसे ही विरक्त चित्त हे, जैसे कि वे नातपुत्त के दुराख्यात (ठीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित (ठीक से साक्षात्कार न किये गये), अनैर्याणिक (पार न लगाने वाले) अनुपशम सवर्तनिक (न शातिगामी), असम्यक् सम्बुद्ध प्रवेदित (किसी बुद्ध से न जाने गये), प्रतिष्ठा (आधार) रहित, भिन्नस्तूप, आश्रयरहित धर्म विनय मे थे।

चुन्द समणुद्देस पावा मे वर्षावास समाप्त कर सामगाम मे आयुष्मान आनन्द के पास आये और उन्हे निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु तथा निगठो मे हो रहे विग्रह की सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले—आवुस चुन्द ! भगवान के दर्शन के लिए यह बात भेट रूप है। आओ, आवुस चुन्द ! जहाँ भगवान है, वहाँ चले। चलकर यह बात भगवान को कहे 'अच्छा भन्ते !' चुन्द समणुद्देस ने कह कर आयुष्मान आनन्द का समर्थन किया।

निर्वाण सवाद —२

'एव मे सुत'। एक समय भगवा सक्केसु विहरतो वे धञ्जा नाम सक्या तेस अम्बवने पासादे।... (शे॰ सामगाम सुत्तन्त के समान)।

—दीर्घनिकाय, पासादिक सुत्त, ३/६

भगवान बुद्ध शाक्य देश मे शाक्यो के वेधञ्जा नामक आम्रवनप्रासाद मे विहार कर रहे थ।...

निर्वाण संवाद—३

'एव मे सुत। एकं समय भगवा मल्लेसु चारिकं चरमानो महता भिक्खुसङ्घेन सद्धि पञ्चमत्तेहि भिक्खुसतेहि येन पावा नाम मल्लान नगर तदवसरि। तत्र सुदं भगवा पावायं विहरति चुन्दस्स कम्मार पुत्तस्स अम्बवने।......

तन खो पन समयेन निगठोनाटपुत्तो पावायं अधुना कालङ्कतो होति। (शेष सामगाम सुत्त के समान)।

—दीघ निकाय, सगीतिपरियाय सुत्त ३/१०/२

एक समय पाचसौ भिक्षुओ के महाभिक्षु सघ के साथ भगवान मल्ल देश मे चारिका करते, जहा पावा नामक मल्लो का नगर है, वहाँ पहुँचे। वहाँ पावा मे भगवान चुन्द कर्म्मारपुत्र के आम्रवन मे विहार करते थे। (मल्लों का उन्नत और नवीन सस्थागार उन्ही दिनो बना था। पावावासी भगवान बुद्ध से सस्थागार मे पधारने की प्रार्थना करने आये। भगवान ने मौन रह कर अपनी स्वीकृति दे दी। तब भगवान अपने भिक्षुसंघ सहित संस्थागार मे पधारे और धर्म कथा कहकर पावावासियों को सम्प्रहर्षित किया। जब पावावासी चले गये, तब भगवान ने शान्त भिक्षु-सघ को देख आयुष्मान् सारिपुत्त को आमत्रित किया और उनसे भिक्षुओं को धर्मकथा सुनाने के लिए कहा।) उस समय निगठ नाटपुत्त अभी-अभी पावा मे काल को प्राप्त हुए थे।

निगंठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण—

'ननु अय नातपुत्तो नालन्दावासिको। सो कस्मा पावाया कालकतो 'ति। सो किर उपालिना गाहापतिना पटिवद्ध सच्चेन दसहि गाथाहि भापिते बुद्ध गुणे सुत्वा उण्ह लोहितं छड्डेसि। अथ नं अफासुकं गहेत्वा पावां अगमंसु। सा तत्थ कालं अकासि।'

—मज्भिम निकाय-अट्ठकथा, सामगाम सुत्तवण्णना, खण्ड ४, पृ० ३४

—वह नातपुत्त तो नालन्दावासी था, वह पावा में कैसे कालगत हुआ ? सत्यलाभी उपालि गृहपति के दस गाथाओं से भाषित बुद्ध के गुणों को सुनकर उसने उष्ण रक्त उगल दिया। तब अस्वस्थ ही उसे पावा ले गये। और वह वहीं कालगत हुआ।

तथागत का विहार

'दीघ निकाय' २/३ मे महापरिनिब्बाण सुत्त है, जिसमे भगवान बुद्ध के अन्तिम विहार और मृत्यु का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसके अनुसार भगवान बुद्ध राजगृह के अम्बलट्ठिका (वर्तमान बडगांव) गये। वहाँ से नालन्दा। वहाँ से पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली होते हुए वेलुव गामक (वेणुग्राम) पहुँचे। वहाँ बुद्ध को भयंकर बीमारी हो गई। प्राणान्तक वेदना हुई। वहाँ से वैशाली मे जाकर भोजन किया। फिर चापाल चैत्य मे ठहरे। यहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की कि तीन माह बाद तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त होंगे। वैशाली से भण्डग्राम, अम्बगाम (आम्रग्राम), जम्बुग्राम, भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे। वहा चुन्द कर्मार पुत्र के आम्रवन मे ठहरे। चुन्द कर्मार पुत्र (सुनार का पुत्र) ने दूसरे दिन बुद्ध को आमन्त्रित किया। उसने सूकर मद्दव तथा अन्य भोज्य सामग्री तैयार कराई। बुद्ध ने भिक्षु संघ के साथ जाकर भोजन किया। सूकर मद्दव खाकर बुद्ध को खून गिरने लगा। मरणान्तक कष्ट हुआ। वहा से कुसीनारा की ओर चले। थोडी दूर चलने पर थक गये तो एक पेड के नीचे लेट गये। पास मे ककुत्था नदी थी। बुद्ध ने पानी मांगा तो आनन्द उस नदी से पात्र मे पानी भरकर ले आया और बुद्ध को दिया। ('उदान अट्ठकथा ८/५ के अनुसार) पावा से कुशीनारा ६ गव्यूति था। किन्तु इतनी दूरी मे बुद्ध पच्चीस बार बैठे। मध्यान्ह मे चलकर सूर्यास्त के समय कुशीनारा पहुँचे। पावा से चलकर ककुत्था-नदी पार की। फिर हिरण्यवती नदी पड़ी। उसके परले तीर पर, जहाँ कुसीनारा के मल्लो का शाल वन है, वहाँ गये। वहा जोडे शालवृक्षो के बीच में उत्तर को ओर सिरहाना करके लेट गये और निर्वाण होगया। निर्वाण से पूर्व आनन्द ने तथागत से प्रार्थना की कि आप इस क्षुद्र नगर मे, जगलो नगर मे, शाखा नगर मे निर्वाण न करे, अपितु चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी में से कहीं करें। किन्तु बुद्ध ने इसे स्वीकार नही किया।

पर्यालोचन—बौद्ध ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रसगो में पावा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। किन्तु जिस पावा के सम्बन्ध मे उल्लेख आये है, वह जैन आगमों की मध्यमा पावा नही है, अपितु वह मल्लो की पावा है। जैन आगमो के अनुसार भगवान महावीर का निर्वाण मल्लो की पावा मे नही, मध्यमा पावा मे हुआ था।

बौद्ध ग्रन्थो मे महावीर का निर्वाण पावा मे लिखा है, किन्तु कही ये नही लिखा कि उनका निर्वाण मल्लो की पावा मे हुआ और न उस पावा के गणराज का नाम हस्तिपाल ही कही दिया है। जैन आगमो मे स्पष्ट ही मध्यमा पावा के राजा का नाम हस्तिपाल दिया है। यह भी उल्लेख योग्य है कि जैनागमो मे कही भी कुशीनारा की निकटवर्ती पावा का उल्लेख नही किया गया।

मज्झिम निकाय अट्ठकथा सामगाम सुत्तवण्णना मे महावीर का निग्गंठ नातपुत्त के नाम से उनकी मृत्यु का जो वर्णन किया गया है, उसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वह वर्णन यद्यपि धार्मिक विद्वेष, असत्य और धूर्तता से भरा हुआ है। एव शत प्रतिशत अविश्वसनीय भी है। किन्तु उसमे एक तथ्य की ओर संकेत भी है। इसके अनुसार महावीर रुग्णावस्था मे नालन्दा से पावा ले जाये गये। विचारणीय यह है कि जो रोगी मरणासन्न हो, उसे कई सौ मील दूर उस अवस्था में नही ले जाया जा सकता, विशेषकर उस रोगी को, जो मुनि हो और जिसका जीवन सयम के विविध अनुशासनों से अनुशासित हो। कुशीनारा की निकटवर्ती पावा नालन्दा से बहुत दूर है, जब कि वर्तमान पावापुरी नालन्दा के निकट है। अतः यह बुद्धिगम्य और तर्क संगत लगता है कि नालन्दा से पावापुरी ले जाया जाय।

यदि ऐतिहासिक और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से बौद्ध साहित्य के महावीर से सम्बन्धित पावा के उल्लेखों पर विचार किया जाय तो उसमे हमें इतिहास से विरोध, साम्प्रदायिक व्यामोह और हीन मनोवृत्ति के ही दर्शन होते है। धर्म सेनापति सारिपुत्र बुद्ध से पूर्व ही परिनिर्वाण

को प्राप्त हो गये थे। सयुक्त निकाय ४५/२/३ मे ऐसा वर्णन मिलता है—

एक बार भगवान बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन मे विहार करते थे तब स्थविर सारिपुत्त ने भगवान से आज्ञा —मांगी-भन्ते ! भगवान अनुज्ञा दे, सुगत अनुज्ञा दे, मेरा परिनिर्वाण काल है। आयु संस्कार खत्म हो चुका भगवान ने पूछा '—कहाँ परिनिर्वाण करोगे ?' 'भन्ते ! मगध में नालकग्राम में जन्म गृह है, वहाँ परिनिर्वाण करूँगा ?' भगवान ने उन्हें आज्ञा देदी और वे अपने ५०० भिक्षुओं के साथ एक सप्ताह मे नालकग्राम मे पहुँचे। और अपने जन्म स्थान वाले घर में ठहरे। वहां खून गिरने की भयंकर बीमारी हुई, मरणान्तक पीड़ा होने लगी और उसी बीमारी मे उनकी मृत्यु होगई।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा रचित 'बुद्धचर्या' पृ.५२५ के अनुसार सारिपुत्र की मृत्यु के प्रायः एक वर्ष बाद भगवान नालन्दा में विहार करते थे, तब सारिपुत्र ने भगवान से प्रश्नोत्तर किये। इस पर राहुलजी को टिप्पणी देनी पड़ी—'सारिपुत्र का निर्वाण पहले ही हो चुकने से, यह भाणको के प्रमाद से यहाँ आया मालूम होता है।

बौद्ध शास्त्रों में कई बार निगंठनातपुत्त की मृत्यु की सूचना कही चन्द्र के मुख से, कहीं सारिपुत्त के मुख से दिखलाइ गई है। प्रत्येक सूचना मे यह भी कहा गया है कि निगंठ नातपुत्त की मृत्यु होते ही निगठों में फूट हो गई। वे परस्पर में कलह करने लगे, परस्पर दुर्वचन बोलने लगे। निगठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य निगंठों (दिगम्बर साधुओं) में विरक्त है। किन्तु बौद्ध शास्त्रों का कथन मिथ्या है। भगवान महावीर के अखण्ड जैन संघ मे दो भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के काल मे उस समय हुए, जब वे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ राजपाट छोड़कर मुनि बनकर दक्षिण की ओर चले गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परायें इसे स्वीकार करती हैं। तब बौद्ध शास्त्रों की इस निराधार कल्पना को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यह तो इतिहास के मान्य तथ्यों के विपरीत है। ऐसा लगता है कि बौद्धशास्त्रों के ये उद्धरण जैन सघ के भेद होने के पश्चात् लिखे गये

यह भी सम्भव लगता है कि महावीर के निर्वाण सम्बन्धी उल्लेख केवल धर्मद्वेष वश ही लिखे गये हों। तभी तो चुन्द द्वारा महावीर-निर्वाण का समाचार सुनकर आनन्द इस वार्ता को तथागत के लिए भेंट स्वरूप बतलाते हैं उपालि द्वारा बुद्ध की प्रशंसा सुनकर महावीर का उष्ण रक्त वमन करना इतिहास विरुद्ध और द्वेष द्वारा प्रचारित मिथ्या कल्पना मात्र है। अतः ये सभी उल्लेख अप्रमाणिक एवं अविश्वसनीय है।

बौद्ध ग्रन्थों के इन उल्लेखों को एक ही शर्त पर स्वीकार किया जा सकता है। वह यह है कि जैन शास्त्रों का महावीर सम्बन्धी सम्पूर्ण कथन अप्रामाणिक मान लिया जाय। उस स्थिति मे 'महावीर के मुख से उष्ण रक्त का वमन, रुग्णावस्था मे पावा मे उनकी मृत्यु, मृत्यु के पश्चात् जैन संघ में कलह और संघ-भेद जैसी असंगत और परम्परा विरुद्ध बातें भी स्वीकार करनी पड़ेंगी। फिर भी पावा—जहां महावीर की मृत्यु बताई गई है—वर्तमान पावापुरी ही माननी होगी, क्योंकि नालन्दा से वे इसी पावा में ले जाए गए।

जो लोग बौद्ध शास्त्रों के स्पष्ट कथन को प्रामाणिक मानकर शताब्दियों से परम्परागत रूप से मान्य वर्तमान पावापुरी को उखाड़-उजाड़ कर नई पावा बसाने की तैयारी में जुट पड़े हैं, उन्हें अपने प्रयत्नों के समर्थन में कुछ ठोस प्रमाण सग्रह करने होंगे। केवल कुछ ग्रन्थों के कल्पित, विवादग्रस्त और धार्मिक द्वेषपूर्ण उद्धरणों के बल पर और नवीनता के व्यामोह में अपनी परम्परा और शास्त्रों को अमान्य नही ठहराना चाहिए।

इतिहासकार और पावा—कई पाश्चात्य और भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं और इतिहासकारों ने म० बुद्ध के परिनिर्वाण के लिए जाते हुए पावा में ठहरने और वहां की नदी ककुत्था में स्नान और पान करने की घटना के सिलसिले मे पावा की खोज की है। इस खोज के परिणाम सभी के एक से नहीं हैं। बल्कि भिन्न-भिन्न रहे हैं। अपने निष्कर्षों के समर्थन मे कोई भी प्रमाण तो नहीं दे पाया, किन्तु सम्भावनाओं को आधार मानकर उनकी पुष्टि की। किन्तु सभी का एक ही उद्देश्य रहा कि जहां

भोजन करके बुद्ध को सांघातिक रोग हुआ, उस पावा की खोज की जाय। कपिलवस्तु से लेकर कुशीनारा, पडरौना, फाजिलनगर, सठियांव, सरेया, कुक्कुरपाटी, नन्दवा, दनाहा, आसमानपुर डीह, मीर विहार, फरमटिया और गांगीटिकार तक प्राचीन भवनों, मन्दिरों और स्तूपों के ध्वंसावशेष बिखरे पड़े है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि श्रावस्ती की राजगद्दी पर बैठकर विदूडभ ने अपने पिता प्रसेनजित को मरवा कर शाक्यों और उनके नगरों का विध्वंस कर दिया और इस प्रकार शाक्यों से बदला लेने की अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया। इसी प्रकार श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने पिता को बन्दी बना कर मगध की राजगद्दी हथियाली और उसने भी विदूडभ की तरह ही अपनी ननिहाल, वैशालीगण सघ और उनके मित्र देश मल्ल संघ और काशी-कोशल संघ को बर्बाद कर दिया। इस प्रदेश मे मीलों मे बिखरे हुए ये डीह (टीले) और अवशेष इन दो महत्वाकांक्षी राजाओ के प्रतिशोध के परिणाम है। किन्तु यह निष्कर्ष भी सर्वांश मे सत्य नहीं है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनकी अस्थियों का आठ भागों में विभाजन हुआ था। उनमें एक भाग शाक्यों ने लिया था, दो भाग—पावा और कुशी नारा के मल्लों ने लिए थे। दोनों सघों ने उन अस्थि-भस्मों पर स्तूपों का निर्माण कराया था। उपर्युक्त दोनों युवक राजाओं में से विदूडभ ने तो बुद्ध के जीवन काल में ही शाक्यों पर आक्रमण करके उनका विनाश किया था। किन्तु अजातशत्रु ने बुद्ध के निर्वाण के बाद मल्लसंघ का वैशाली के के साथ विनाश किया। विदूडभ के समय में तो कपिलवस्तु में कोई स्तूप ही नही थे, स्तूप तो शाक्यों के मृत्यु के बाद और बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बनाये गये थे। शाक्यो के नष्ट करने के बाद विदूडभ और उसकी सेना एक नदी के किनारे ठहरी हुई थी। तभी भयकर ओला-वृष्टि होने लगी। उससे नदी में बाढ़ आ गई और सब बह गए।

आजात शत्रु ने कुशीनारा और पावा का विनाश किया होगा, किन्तु वह स्तूपों का विनाश नहीं कर सकता था। उसने अस्थि-भस्म का एक भाग प्राप्त कर उसके ऊपर राजगृह में स्तूप बनवाया था।

जब ह्वेनसाग भारत यात्रा के लिए आया था, तब उसने कपिलवस्तु के बाहर सैकड़ों-हजारो स्तूप देखे थे।

इन कारणो से इस विश्वास की पुष्टि होती है कि प्रकृति के प्रकोप से अथवा आततायी आक्रमणकारियों के अत्याचारों से इनका विनाश होगया। यह सब लिखने का हमारा आशय इतना ही है कि कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावा का विनाश बुद्ध की मृत्यु के आसपास हुआ और स्तूपो का विनाश इसके हजार-बारह सौ वर्ष बाद हुआ। अतः नगरों के अवशेषों के ऊपर स्तूपो के अवशेष होने चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो इस विशाल भूभाग मे बिखरे हुए अवशेष और टीले स्तूपों के हो सकते हैं।

इन अवशेषों की यात्रा भारत सरकार की ओर से मि० कनिंघम, वैगलर, कारलाइल आदि ने १८७५ या उसके आसपास की थी। इन विद्वानों के यात्रा[1] विवरण सरकार की ओर से प्रकाशित हो चुके है। उल्लेखनीय यह है कि इन्होंने इस सारे प्रदेश की यात्रा करके छानबीन की, किन्तु उन्होंने अपनी रिपोर्ट में किसी जैन मूर्ति, मन्दिर मानस्तम्भ, शिलालेख के मिलने का कोई उल्लेख नही किया। उन्हों ने अपनी रिपोर्ट में सर्वत्र बौद्ध स्तूपों की ही चर्चा की है। इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं को कोई जैन चिन्ह मिले हों ऐसी भी जानकारी हमे नहीं है। सठियांव में तालाब और स्तूपों के ध्वंसों को देखकर यहां पर महावीर के निर्वाण की कल्पना कर लेना युक्तियुक्त नहीं लगता।

मि० कनिंघम ने अपनी इस रिपोर्ट में पावपुरी का वर्णन करते हुए उसे ही जैनों का महान् तीर्थ और महावीर की निर्वाण-भूमि बताया है।

---

1. a–Report of tours in the Gangetic Provinces from Badaon to Bihar in 1875-76 and 1877-78 by Alexander Cunningham Vol. XI

b - Report of a tour in the Gorakhpur District in 1875-76 and 1876/77 by A.C.L. Carlbyle, Vol. XVIII

एक अन्य रिपोर्ट मे (Archeaological Survey Report 1905) डॉ० वोगेल ने बताया है कि कुशीनगर और सठियाँव आदि में कोई इमारत मौर्यकाल के बाद की नही है, सब इसके पहले की है।

मि० कनिंघम ने अपनी १८६१-६२ की रिपोर्ट में और बाद मे Ancient' Geogrophy of India में पडरौना को पावा माना है।

मि० कर्लाइल का मत है कि पावा वैशाली-कुशीनारा मार्ग पर अवस्थित थी। अतः वह कुशीनारा से दक्षिण पूर्व मे होनी चाहिये। जब कि पडरौना उत्तर और उत्तर पूर्व मे १२ मील दूर है। वह तो प्राचीन वैशाली-कुशीनारा मार्ग पर भी नही है।' उनके मत से फाजिल नगर-सठियांव पुरानी पावा होना चाहिये।

लका की बौद्ध अनुभूतियों के अनुसार पावा कुशीनारा से १२ मील दूर गण्डक नदी की ओर होनी चाहिए। अर्थात् कुशीनारा से पूर्व या दक्षिण-पूर्व मे। सिंहली अनुश्रुति पावा और कुशीनारा के बीच मे एक छोटी नदी भी बताती है,। जो ककुत्था कहलाती थी। यहीं बुद्ध ने स्नान और जल-पान किया था। सभवतः इसी नदी का नाम वर्तमान में घागी नदी है। यह कसिया से पूर्व, दक्षिण-पूर्व की ओर ६ मील दूर है।'

बुद्ध और महाकाश्यप क्रमशः मगध और वैशाली से कुशीनारा जाते हुए पावा मे ठहरे थे।

फाजिलनगर मे एक भग्न स्तूप है। फाजिलनगर और सठियाँव पावा के अवशेषों पर बने है, ऐसा लगता है। भग्न स्तूप मे लगभग डेढ़ फर्लांग उत्तर-पूर्व में नदी है जो सोनुआ, सोनावा या सोनारा नदी कहलाती है। कुछ दक्षिण की ओर बढ़ने पर इसी का नाम कुकू पड़ गया है। सठियाँव के दक्षिण मे १० मील परे एक घाट अथवा कुकू घाटी है। इस नदी के किनारे इससे मिलते जुलते नाम पाये जाते है—जैसे कुर्कटा, खुरहुरिया, कुटेया। लंका और बर्मा की अनुश्रुतियों मे इस नदी का नाम ककुत्था या ककुखां बताया है। यह पावा और कुशीनारा के बीच बहती थी। वर्तमान मे सठियाँव से डेढ़ मील पश्चिम की ओर प्राचीन नदी के चिन्ह मिलते हैं जो अन्हेया, सोनिया और सोनाका कही जाती है। संभवतः इसी नदी में बुद्ध ने स्नान और जल-पान किया था। अन्हेया के दो मील पश्चिम मे एक बड़ी नदी बहती है जो घागी कहलाती है।

पड़रौना से १० मील उत्तर-पश्चिम में सिघा गांव के पास एक झील है। उसी मे से घागी, अन्हेया और सोनवा नदी निकलती है। वस्तुतः घागी बड़ी नदी है। इसकी पश्चिम की साखा अन्हेया है और पूर्व की शाखा सोनवा है। घागी का अर्थ है कुक्कुट और ककुत्था पर्यायवाची शब्द है।

पावा के खण्डहर ही अब सठियाँव डीह कहलाते है। इन्ही टीलों पर सठियाव गांव बसा है। फाजिलनगर और सठियाँव दोनो एक प्राचीन गाव के दो भाग है। सठियांव डीह के पश्चिम में एक बड़ा तालाब है जो ११०० फुट लम्बा और ५५० फुट चौडा है। इसके आसपास छोटे बड़े कई तालाब है। सठियांव का बड़ा डीह उत्तर मे १७०० फुट लम्बी एक सड़क से जुड़ता है, जो कसिया फाजिलनगर सड़क से मिलती है। इसके पास मे ही फाजिलनगर पटकावली सड़क जाती है।

सारा सठियांव डीह प्राचीन नगर के ही अवशेष है। डीह पर सघन वृक्ष खड़े हुए है। इसके दक्षिण भाग में लगभग तीन चौथाई भाग में ईटें बिखरी पड़ी हैं। ईंटों के ऊँचे-ऊँचे ढेर भी जहां तहां मिलते है। सभवतः ये स्तूपों के अवशेष है एक टीले पर लोगों ने देवी का थान बना लिया है एक पेड़ के सहारे देवी की मूर्ति खड़ी है। यहां जो ईटें मिलती है, उनमें कुछ ११ इंच लम्बी, कुछ १३ और १४ इंच लम्बी है। खुदाई में १५ इंच की भी ईटे मिली है।

फाजिलनगर में थाना, पोस्ट आफिस है। ये भी ईटो की टीले पर बने है इसके आसपास भी बहुत से टीले है। मुख्य सड़क से उत्तर की ओर ३५० फुट की दूरी पर एक बड़ा टीला है विश्वास किया जाता है, यह टीला किसी स्तूप का अवशेष है। टीले के ऊपर स्तूप की ऊंचाई ३५ फुट है। स्तूप का ऊपरी भाग ४० से ४४ फुट के घेरे मे है। सभव है बुद्ध के अस्थि, भस्म के ऊपर बना हुआ स्तूप यही हो। यहाँ मन्दिर या विहार के भी कुछ चिन्ह मिले है। एक ध्वस्त भवन भी है। इन दोनों के बीच मे मुसलमानों ने करवला बना लिया है। यह स्तूप सठियाँव डीह

के पूर्व, उत्तर पूर्व मे ३३०० फुट दूर है। स्तूप के उत्तर में ३०० फुट दूर से फाजिलनगर गांव शुरू होता[1] है।'

'महावीर का निर्वाण दक्षिण बिहार की पावा में हुआ था और बौद्ध पिटक उत्तर विहार की पावा का वर्णन करते हैं। वे अयथार्थ हैं।'

—डॉ. कार्पेण्टियर— Indian Antiquary 1914

'बौद्ध आगमों मे वर्णित महावीर के निर्वाण-प्रसंग ऐतिहासिक निर्धारण मे किसी प्रकार उपेक्षा के योग नहीं है।'

—डॉ० के० पी० जायसवाल, Journel of Bihar nnd Orissa Research Society 1, 103

'५२७ ई० पू० के लगभग महावीर का देहान्त आधुनिक पटना जिले की पावापुरी मे हुआ।'

—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास 'ईसा के १३वी, १४वी शताब्दी के अनेक परिस्थितियों के कारण जैनधर्म उत्तर विहार से विलकुल कट गया था। इन और आगे की शताब्दियों में दक्षिण विहार के जैनजगत मे नई चेतना जागृत हुई। इस जागृत का केन्द्र राजगिर-पावापुरी-विहार शरीफ बन गया। राजगृह महावीर के समय से ही जैनतीर्थ माना जाता रहा है। पावापुर अथवा पावापुरी मे जैन सम्मेलनों के होने का पता चलता है। ये सम्मेलन १३वी शताब्दी में हुए, ऐसा पता चलता है। जब कि ई० सन् १२०३ मे वहां भगवान महावीर की मूर्ति विराजमान की गई[2]। मदन कीर्ति अपने समय के २६ तीर्थों का वर्णन करते हुए इस शताब्दी के द्वितीय चरण में पावापुरी के वीर जिन का वर्णन करते है जिनप्रभ सूरी ने इससे अगली शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'तीर्थकल्प' मे पावापुरी के सम्बन्ध में दो अध्याय दिये हैं। इस प्रकार पावापुरी की स्थिति, जिसके बारे में 'महावीर का निर्वाण-क्षेत्र होने का विश्वास किया जाता है, चौदहवीं शताब्दी मे सुदृढ़ होगई।'

—Dr. Yogendra Mishra, An Early History of Vaishali, P. 235-36

'राजगृह के निकट पावापुरी मे कार्तिक अमावस की रात उनका (महावीर का) निर्वाण हुआ।' भारतीय इतिहास की रूपरेखा, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, भाग १, पृष्ठ ३७२।

'कुशीनारा (कसया) से चन्द मील उत्तर पपउर (जिला गोरखपुर, ही पावा है) परम्परा को भूलकर पटना जिले की पावा नई कल्पना है।'

—राहुल सांकृत्यायन, दर्शन, दिग्दर्शन, पृ० ४६२

'भगवान महावीर की निर्वाण भूमि के विषय मे हमें कोई संदेह नही है। भगवान की निर्वाण-भूमि वही पावा है जो विहार नगर से आग्नेय कोण मे सात मील पर पुरी अथवा पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध जैन तीर्थ है। जैन शास्त्रों मे इसको मध्यमा पावा कहा है।'

—मुनि कल्याण विजय जी, श्रमण भगवान महावीर—प्रस्तावना, पृ. xxviii

इस प्रकार पुरातत्ववेत्ता और इतिहास कार इस विषय में एकमत नही है। स्पष्ट ही इस विषय मे दो पक्ष रहे हैं। जिन्होंने मल्लो की पावा से महावीर का निर्वाण माना है, उनके पास बौद्ध ग्रन्थों का आधार है। जिन्होंने वर्तमान पावापुरी से महावीर का निर्वाण माना है, उन्होंने अपने पक्ष में जैन ग्रन्थों और परम्परागत जैन मान्यता का समर्थन पाया।

उपर्युक्त उद्धरणोमे डा० वोगेल, कर्लाइल, डा० जायसवाल ने मल्लों की पावा से महावीर-निर्वाण का कोई समर्थन नही किया। डा० योगेन्द्र मिश्र और राहुल सांकृत्यायन ने अवश्य इस पक्ष का स्पष्ट समर्थन किया है। राहुल जी केवल बौद्ध शास्त्रो के पावा सम्बन्धि उल्लेखो को ही प्रमाण मानते है। किन्तु वे उल्लेख अस्पष्ट हैं और उनका जैन ग्रन्थों के महावीर निर्वाण सम्बन्धी विवरणों से समन्वय नही हो पाता। फिर बौद्ध ग्रन्थो मे भी मतैक नहीं है। 'अट्ठकथा' तो महावीर को नालन्दा से पावा जाकर मृत्यु का उल्लेख करती है।

डा० मिश्र के पास श्री नाहर के 'जैन लेख सग्रह' का एक लेख प्रमाणभूत तर्क है, जिसमे १२०३ ई० में पावा मे भगवान महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठा की चर्चा है। किन्तु उस शिलालेख से उस मूर्ति की प्रतिष्ठा-काल आदि सम्ब-

१. Report of a tour in the Gorakhpur District in 1875-76 and 1076-77, by A. C. L. Carlbyle Vol. XVIII

२. श्री पूरण चन्द्र नाहर, जैन लेख संग्रह, भाग २, कलकत्ता १९२७ पृ० २६३

न्धित बातों पर प्रकाश पडता है, किन्तु उससे यह तो सिद्ध नही होता कि महावीर की उस मूर्ति की प्रतिष्ठा से पहले पावापुरी में कोई जैन मन्दिर नहीं था और उसकी जैन तीर्थ के रूप में मान्यता नही थी। यदि मदन कीर्ति ने 'शासन चतुस्त्रिशिका' मे 'पावापुर' के भगवान महावीर की प्रतिमा का अतिशय बताया है। उक्त शिलालेख और मदन कीर्ति के उद्धरणों से तो यह सिद्ध होता है कि १३वी १४वीं शताब्दी में भी पावापुरी एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डा० कार्पेण्टियर, डा. रमाशकर त्रिपाठी, जयचन्द्र विद्यालंकार, मुनि कल्याण-विजय जी आदि सभी विद्वान् स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन करते है कि वर्तमान पावापुरी ही महावीर का निर्वाण-क्षेत्र है। महावीर के सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो की प्रामाणिकता असंदिग्ध रूप से मान्य की जानी चाहिए, जब कि बौद्ध वाङ्मय मे महावीर का जो भी विवरण मिलता है, वह साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण तथ्य विरुद्ध, अपमानजनक और भ्रान्ति कारक है। इसलिए बौद्ध साहित्य इस विषय मे वहीं तक मान्य किया जा सकता है, जहाँ तक वह जैन साहित्य और परम्परा के अनुकूल हो। बौद्ध साहित्य की प्रामाणिकता के मोह में जैन साहित्य को अप्रमाणिक करार नही दिया जा सकता।

अन्त मे हम उन शंकाओं और संभावनाओ के सम्बन्ध मे भी कुछ पंक्तियाँ लिखना आवश्यक समझते है जो वर्तमान पावापुरी की मान्यता के विरोध मे उपस्थित की जा सकती है। (१) महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्ल राजा भी उपस्थित थे। मगध मल्लों का शत्रु था। तब वे शत्रु-प्रदेश के इतने निकट अथवा शत्रु-प्रदेश मे कैसे आ सकते थे? (२) पावापुरी में प्राचीनता के कोई चिन्ह नहीं मिलते।

पहली शंका या सभावना के उत्तर में निवेदन है कि मल्ल राजा जैन थे। मगध सम्राट भी जैन थे। हजारीबाग -मानभूमि प्रदेश भी मल्ल देश कहलाता था। हो सकता है, वहाँ के राजा निर्वाण के समय उपस्थित हुए हों। इतिहास ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि जब महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय मगध की गद्दी पर अजात शत्रु बैठा हुआ था। लगभग तभी श्रेणिक बिबसार की मृत्यु हुई थी[1]। अजात शत्रु उस समय शोक और राजनैतिक उलझनों में फंसा हुआ था। वह ऐसी स्थिति में नही था कि वह कही आक्रमण कर पाता। वस्तुत: वह अपनी स्थिति जमाने मे लगा हुआ था। इसी लिए वह स्वयं उत्सव मे नही आ सका। दूसरी बात यह है कि वह भी महावीर का अनुयायी था और तीर्थंकर भगवान के निर्वाणोत्सव मे पधारे हुए साधर्मी राजाओ से युद्ध करके वह अपयश मोल नही ले सकता था। युद्ध करने के लिए उसके पास अन्य अवसर भी थे। अपनी स्थिति सुदृढ कर लेने पर राज्यारोहण के आठवे वर्ष मे उसने वैशाली गणसघ से युद्ध ठान दिया और अन्त मे (कुछ विद्वानो के मत से १६ वर्ष युद्ध करने के पश्चात्) उसने वैशाली और मल्ल गणो का विनाश कर दिया।

भगवान महावीर पावा मे राजगृह से पधारे थे, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर शास्त्रो में मिलता है। राजगृह से मल्ल देश बिलकुल मिला हुआ था[1]।

(२) दूसरी शका कि यहां कोई पुरातत्व नही है, विशेष ठोस नहीं है। सम्मेद शिखर मे भी कोई पुरातत्व नही। इस लिए क्या वह भी वास्तविक तीर्थ-स्थान नही है? पावापुरी के मन्दिर मे प्रारम्भ से चरण विराजमान रहे है। मन्दिर का जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा। किसी आततताई की कुदृष्टि उस ओर नही गयी। अत: सुरक्षित रहा।

सारांशत: हमारी मान्यता है कि वर्तमान पावापुरी ही भगवान की निर्वाण-स्थली है, यह पावन भूमि है, विश्व वेद्य है। दूसरो से प्रभावित होकर अपनी परम्परागत तीर्थ-भूमियो की मान्यता का विसर्जन नही करना चाहिए। और न भावुकता में बहकर इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न ही बना देना चाहिए। जब तक सर्वसम्मत ठोस प्रमाण न मिले, तब तक यथा स्थिति रहनी चाहिए।

---

१. मुनि श्रीचन्द्र कृत 'कहा कोसु' सन्धि १५ कडवक १

१. इसके लिए देखिए The Geographical Dictionary of Ancient And Mediaeval India, by Nunda Lal Dey मे प्राचीन भारत का नक्शा,

महामात्य कुशराज

परमानन्द जैन

गोपाद्रि में तोमरवंशी राजाधिराज वीरमेन्द्र के राज्य में महामात्य कुशराज थे जो जैसवाल कुल के भूषण थे। इनके पिता का नाम जैनपाल और माता का नाम 'लोणा' देवी था, पितामह का नाम 'भुल्लण' और पितामही का नाम उदिता देवी था। कुशराज के पांच भाई और भी थे, जिनमें चार बड़े और एक छोटा था। हसराज, सैराज, रैराज्य, भवराज, ये बड़े भाई थे और हेमराज छोटा भाई था। इन सबमें कुशराज बड़ा और धर्मात्मा तथा राजनीति में कुशल था। जैनधर्मका प्रतिपालक और देवशास्त्र-गुरुका भक्त इसने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ जिन का एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और उसके प्रतिष्ठादि कार्य को बड़े भारी समारोह के साथ सम्पन्न किया था। कुशराज की तीन स्त्रिया थी, रल्हो, लक्षणश्री और कौशीरा। ये तीनों ही पत्नियां सती, साध्वी तथा गुणवती थी और नित्य पूजन किया करती थी; रल्हो से कल्याणसिंह नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बड़ा ही रूपवान, दानी और जिनगुरु चरणाराधन में तत्पर था।

कुशराज जहाँ धर्मनिष्ठ और कर्तव्य परायण था वहाँ वह राजनीति में भी चतुर था। वह राज्य-सेवा को अपना कर्तव्य मानकर करता था। महामात्य होते हुए भी उसमें अहंकार नही था, बड़ा ही उदार और हँसमुख था। वह वीरमदेव का महान विश्वासपात्र महामात्य था और पृथ्वी की रक्षा करने में तत्पर था

सर्वगुण सम्पन्न कुशराज ने श्रुतभक्तिवश यशोधर चरित की रचना पद्मनाभ कायस्थ से कराई थी, जिसमें राजा यशोधर और रानी चन्द्रमती का जीवन परिचय दिया हुआ है। यह पौराणिक चरित्र बड़ा ही रुचिकर प्रिय और दयारूपी अमृत का श्रोत बहाने वाला है। इस पर अनेक विद्वानों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी गुजराती भाषा में ग्रन्थ रचे गये हैं।

कवि ने यह ग्रंथ वीरमदेव के राज्यकाल में कुशराज की प्रेरणा से रचा था। सन् १४०० के आस-पास ही राजसत्ता वीरमदेव के हाथ में आई थी, हिजरी सन् ८०५ और वि० सं० १४६२ में अथवा १४०५ A. D. में मल्ल इकवाल खां ने ग्वालियर पर चढ़ाई की थी। परन्तु उस समय उसे निराश होकर ही लौटना पड़ा।

आचार्य अमृतचन्द्र की 'तत्त्वदीपिका' (प्रवचनसार टीका) की लेखक प्रशस्ति में जो वि० स० १४६९ में लिखी गई है, गोपाद्रि (ग्वालियर) में उस समय वीरमदेव के राज्य का उल्लेख किया गया है। कुशराज ने स० १४७५ में एक यंत्र को प्रतिष्ठित किया था जो नरवर के मन्दिर में विद्यमान है—सं० १४७५ अषाढ सुदि ५ गोपाद्रि ·· राजाधिराज श्री वीरमेन्द्रराज्ये श्री कर्षता जनैः संघीन्द्रवंशे साधु भुल्लण भार्या पितामही पुत्र जैनपाल भार्या लोणा देवी तयोः पुत्राः परम श्रावकः साधु कुशराजोऽभूत भार्ये रल्हो, लक्षणश्री कौशीरा तत्पुत्रं कल्याण मलभूत भार्ये द्वे धर्मश्री जयतम्मिदे इत्यादि परिवारेण समं शाह कुशराजो यंत्र प्रणमति। और अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की आमेर प्रति में, जो स० १४७९ को लिखी हुई है उसमें भी वीरम देव के राज्य का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि १४६२ से १४७९ तक वीरमदेव का राज्य रहा है। वही समय कुशराज्य का है।

(जैन ग्रंथ प्रशस्ति सग्रह भा. १ पृ० ५-६)

खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की भित्तियों की रथिकाओं में जैन देवियां

मारुति नंदन प्रसाद तिवारी

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले मे स्थित खजुराहो का भारतीय वास्तु तथा शिल्पकला के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान है। चंदेलो के शासन काल मे निर्मित खजुराहो के मदिरो की भित्तयो पर शैव, वैष्णव और जैन सम्प्रदायों से सबंधित मूर्तिया उत्कीर्णित है, जिन सबके शिल्प विधान मे प्रायः समान तत्व मिलते है। वर्तमान खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मदिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी मदिर समूह कहलाता है। समस्त नवीन व प्राचीन दिगबर जैन मन्दिर एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे के अन्दर स्थित है। दो प्राचीन मन्दिरों आदिनाथ व पार्श्वनाथ, मे से पार्श्वनाथ सभी दृष्टियो से सर्वोत्कृष्ट है, जिसका समस्त खजुराहो के मंदिरो मे भी शिल्प व स्थापत्य दोनों ही दृष्टियो से विशिष्ट स्थान है। पार्श्व मदिर मूलत. आदिनाथ का मदिर था इसकी पुष्टि गर्भगृह मे स्थापित बैल चिन्ह से युक्त पीठिका से होती है, जिस पर १९वी शती में पार्श्वनाथ की नवीन प्रतिमा स्थापित की गई। पार्श्वनाथ मन्दिर के पूर्वी द्वार पर उत्कीर्ण १०११ विक्रम सवत् (९५४) के लेख के आधार पर इसे १०वीं शती मे निर्मित स्वीकार किया गया है। इस मदिर की बाह्य भित्तियों पर जैन तीर्थकरों और अम्बिका की आकृतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य देवियो को भी विशिष्टता प्रदान करने की दृष्टि से विभिन्न रथिकाओं में स्थापित किया गया है[1]। इन्हीं देवियों की मूर्तियो का अध्ययन हमारा अभीष्ट है। विभिन्न देव कुलिकाओं में प्रतिष्ठित सरस्वती, लक्ष्मी और ब्रह्माणी मूलतः ब्राह्मण धर्म की देवियां होने के बावजूद जैन शिल्प व धर्म मे काफी प्रचलित थी। खजुराहो के हिन्दू मंदिरों पर उत्कीर्ण देवियों से पार्श्वनाथ मंदिर की देवियों को अलग करने की दृष्टि से कलाकार ने प्रत्येक देवी के साथ कई तीर्थकर आकृतियो को चित्रित किया है, जो वास्तव मे उनके जैनधर्म के प्रचलित और विशिष्ट देवी रहे होने की ओर सकेत करता है।

मंदिर के मण्डप की भित्ति के नीचे अधिष्ठान पर उत्तर और दक्षिण की ओर सरस्वती की दो आकृतियां (३९"×२५") उत्कीर्ण है। दक्षिणी भित्ति की ललितासन मुद्रा मे एक ऊंची पीठिका पर आसीन सरस्वती मूर्ति मे देवी छह भुजाओ से युक्त है। देवी का दाहिना लटकता पैर कमल पर स्थित है। सरस्वती के ऊपरी दो भुजाओं, दाहिने और बायें, मे क्रमशः पद्म और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि देवी की मध्य की दोनों भुजाएं वीणा वादन मे व्यस्त है। वीणा का ऊपरी भाग कुछ खण्डित है। देवी ने अपने निचले दो दाहिने व बाये हाथो मे क्रमशः वरद-मुद्रा और कमण्डलु धारण कर रखा है। देवी की भुजाओं मे वीणा का प्रदर्शन मात्र ही देवी के सरस्वती से पहचान के लिए पर्याप्त है। देवी के प्रत्येक पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में खडी एक चामरधारी सेवक आकृति को मूर्तिगत किया गया है, जिसकी दूसरी भुजा कटि पर स्थित है। इन सेवक आकृतियों के समक्ष दो हाथ जोडे उपासक आकृतियां उत्कीर्ण है। देवी के वाम चरण के समीप ही एक भग्न उपासक आकृति चित्रित है। सरस्वती के शीर्ष भाग मे दोनों ओर दो खडी तीर्थंकर आकृतियो का अंकन ध्यातव्य है। इन आकृतियों के बगल मे दोनो कानो पर दो युगल मालाधारी गन्धर्वों की उड्डायमान आकृतिया देखी जा सकती है इनके नीचे पुनः प्रत्येक छोर पर एक उड्डायमान विद्याधर की आकृति अकित है। देवी ग्रीवा मे हारों, धोती, धम्मिल, मेखला, कंगन नूपुर, पायजेब और एक लम्बी माला से सुसज्जित है। सरस्वती की

---

१ ब्रुन, क्लाज, "दि फिगर ऑफ दि टू लोवर रिलीफ्स आन दि पार्श्वनाथ टेम्पुल एट खजुराहो," आचार्य श्री विजय वल्लभसूरि स्मृति ग्रन्थ, १९५६, अंग्रेजी विभाग, पृ. २३-२४,

दूसरी मूर्ति उत्तर की भित्ति के अधिष्ठान में उत्कीर्ण है, जिसमें ललितासन मुद्रा में आसीन देवी चार भुजाओं से युक्त है। देवी के दोनों पैर खण्डित हो चुके है। सरस्वती की दो ऊर्ध्व भुजाओं मे सनाल कमल प्रदर्शित है, जब कि दोनों निचली भुजाए भग्न हो चुकी है। पीठिका के बायीं ओर देवी का वाहन हंस, जिसका शीर्ष भाग खण्डित है, को मूर्तिगत किया गया है। समस्त प्रचलित अलंकरणों से युक्त देवी की पहिचान मात्र हंस के आधार पर ही सरस्वती से की जा सकती है। देवी के दोनों पार्श्वों में हाथ जोड़े उपासक आकृतियों के साथ ही देवी के दाहिने चरण के समीप एक काफी भग्न उपासक आकृति को चित्रित किया गया है। देवी के शीर्ष भाग के ऊपर एक आसीन तीर्थंकर आकृति के अतिरिक्त मूर्ति के दोनों अन्तों पर उत्कीर्ण दो अन्य आसीन तीर्थंकरों का अंकन इसकी विशेषता है। इन जिन आकृतियो के पार्श्वों मे भी उपासक आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है। सरस्वती के पृष्ठभाग मे उत्कीर्ण प्रभामण्डल कमल पुष्प और गुलाब से अलंकृत है।

पार्श्वनाथ मंदिर के उत्तरी और दक्षिणी भित्तियों पर लक्ष्मी की कुल तीन प्रतिमाये उत्कीर्ण है, जिन सबमें लक्ष्मी की निश्चित पहचान किसी विशिष्ट प्रमाण के अभाव में संदेहास्पद है। ऊर्ध्व दो भुजाओं मे प्रदर्शित कमलों के आधार पर ही इन्हें लक्ष्मी अंकन बताया गया है। उत्तरी भित्ति के बायें कोने पर उत्कीर्ण एक मूर्ति में चतुर्भुज देवी को एक पीठिका पर खड़ा उत्कीर्ण किया गया है। देवी की ऊर्ध्व दो भुजाओं में अर्ध विकसित सनाल कमल और निचले वाम हस्त मे एक शंख चित्रित है। देवी की निचली दाहिनी भुजा खण्डित है। देवी दोनों पार्श्वों मे सेविकाओं द्वारा वेष्टित है। देवी के चरणों के समीप दोनो ओर काफी भग्न उपासक आकृतियों को चित्रित किया गया है। स्त्री आकृतियों के समीप ही दोनों अंतिम छोरों पर दो खड़ी (नग्न) तीर्थंकर आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। इन आकृतियों के पार्श्वों में पुन: दो काफी भग्न पुरुष आकृतियां उत्कीर्ण है। मूर्ति के ऊपरी कोनों पर भी दो खड़ी तीर्थंकर आकृतियां (नग्न) अंकित है। देवी के शीर्ष भाग के ऊपर प्रत्येक पार्श्व में एक उड्डायमान विद्याधर को चित्रित किया गया है।

त्रिभंग मुद्रा मे एक पीठिका पर खडी चतुर्भुज देवी की एक अन्य मूर्ति दक्षिण की भित्ति पर देखी जा सकती है, जिसमे देवी के मात्र ऊर्ध्व दाहिनी भुजा में सनाल कमल स्थित है और दूसरी ऊर्ध्व भुजा संप्रति भग्न हो चुकी है। देवी की निचली दाहिनी भुजा वरदमुद्रा मे प्रदर्शित है और वाम भुजा पुन: भग्न है। अलंकृत मुकुट, कर्णफूल,, दो हारों, एकावली, मेखला, कगन, नूपुर, बाजूबन्द, धोती और लम्बी माला से सुसज्जित देवी के दोनों पार्श्वों मे दो स्त्री सेवक आकृतियां अंकित हैं। वाम पार्श्व की सेवक आकृति के साथ ही इस ओर की अन्य समस्त आकृतियां काफी भग्न हैं। सामान्य अलंकरणों से युक्त चामरधारी सेवकों को स्त्री सेविकाओं के पार्श्व में मूर्तिगत किया गया है। इन आकृतियों के समक्ष प्रत्येक पार्श्व में एक खड़ी तीर्थंकर आकृति (नग्न) उत्कीर्ण है। वाम पार्श्व की तीर्थंकर आकृति पूरी तरह नष्ट हो चुकी है। देवी के दाहिने चरण के समीप एक हाथ जोड़े उपासक आकृति को चित्रित किया गया है और दूसरी ओर की उपासक आकृति नष्ट हो चुकी है। इस मूर्ति के उपरी भाग में प्रत्येक पार्श्व में एक मालाधारी उड्डायमान गन्धर्व युगल को मूर्तिगत किया गया है इनके समीप ही प्रत्येक पार्श्व में तीर्थकर की एक खड़ी (नग्न) आकृति उत्कीर्ण है। इसी मूर्ति के ऊपर एक दूसरी रथिका में चतुर्भुज लक्ष्मी की त्रिभंग मुद्रा मे खड़ी एक अन्य मूर्ति स्थापित है। देवी की ऊपरी दाहिनी भुजा भग्न है, पर ऊपरी बायी भुजा मे सनाल कमल प्रदर्शित है। देवी के निचले दाहिने व बायें हाथों मे क्रमशः उभय मुद्रा और कमण्डलु स्थित हैं। पार्श्व स्थित सेविका आकृतियों के एक हाथ मे कमल व दूसरा कटि पर स्थित है। इन आकृतियों के समीप ही जिनकी दो खड़ी (नग्न) आकृतियां उत्कीर्ण है। इस चित्रण की विशिष्टता है देवी के स्कन्धों के ऊपर दो चतुर्भुज देवियों का अंकन, जो जैनधर्म की दो अत्यन्त लोकप्रिय देवियाँ सरस्वती और चक्रेश्वरी, का चित्रण करती हैं। देवी के वाम स्कन्ध के ऊपर आसीन आकृति की ऊपरी भुजाओं में चक्र (दाहिना) और अर्ध विकसित कमल (बायां) प्रदर्शित है। देवी की निचली दाहिनी भुजा से धनुषकर्षण

[शेष टाइटल पेज ३ पर]

[शेपास पृ० ८४]

मुद्रा व्यक्त है, जिसमे अनामिका और अगुष्ठ एक दूसरे को छू रहे है। देवी की निचली वाम भुजा मे कमण्डलु स्थित है। मात्र चक्र के आधार पर ही इसकी पहचान निर्विवाद रूप से चक्रेश्वरी से की जा सकती है। देवी के दाहिने स्कन्ध के ऊपर प्रदर्शित दूसरी आकृति के ऊपरी दोनों भुजाओ मे अर्धविकसित कमल (दाहिना) और पुस्तक (बाया) प्रदर्शित है, जब कि निचले दोनो हाथो मे अभय (दाहिना) और मातुर्लिग (बाया) स्थित हे। पुस्तक की उपस्थिति नि सन्देह देवी के सरस्वती होने की सूचक है। इन आसीन आकृतियो के बगल मे दोनो कोनो पर तीर्थकरो की दो खडी (नग्न) आकृतिया उत्कीर्ण है। इस प्रकार इस मूर्ति मे सरस्वती और चक्रेश्वरी की निश्चित पहचान के कारण मध्यवर्ती मूल आकृति का लक्ष्मी होना स्वय सिद्ध है, क्योकि इन्ही तीन देवियो को कुछ एक अन्य देवियो के साथ खजुराहा के जैन शिल्प मे बहुलता से मूर्तिगत किया गया है।

सरस्वती और लक्ष्मी के अतिरिक्त ब्रह्माणी की एक त्रिमुख मूर्ति, जिसकी चारो भुजाएं खण्डित हैं, पार्श्वनाथ मंदिर के उत्तरी भित्ति पर लक्ष्मी अ कन के ऊपर उत्कीर्ण है। सामान्य अलकरणो से युक्त देवी त्रिभंग मुद्रा मे एक पीठिका पर खडी है। देवी के दोनो पार्श्वों में तीर्थकरों की दो खडी (नग्न) प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। देवी के वाम चरण के समीप दो स्त्री उपासक आकृतियाँ चित्रित है। पूर्व प्रतिमा के अनुरूप ही मध्यवर्ती ब्रह्माणी के दोनों स्कन्धों के ऊपर चतुर्भुज आसीन देवियो को उत्कीर्ण किया गया है। दोनो ही देवियो की ऊपरी दो भुजाओं मे कमल और निचले दाहिने मे अभय मुद्रा प्रदर्शित है। दाहिनी ओर की आकृति की नीचली वाम भुजा मे जहां बीज पूरक (फल) चित्रित है, वही बायी ओर की आकृति की भुजा मे कमण्डलु स्थित है। इन दोनों ही आकृतियो की पहचान लक्ष्मी से करना ज्यादा उचित प्रतीत होता है। ●

२५००वीं महावीर जयन्ती पर दि० जैन समाज का कर्तव्य

दि० समाज का परम कर्तव्य है कि वह २५००वी महावीर जयन्ती पर कुछ ऐसा ठोस कार्य सम्पन्न करे। जिसमे महावीर के सिद्धान्तों का लोक मे प्रचार व प्रसार हो सके। और ढाई हजार वर्षों में दि० जैन समाज ने जो कुछ कार्य किया उसका लेखा-जोखा करना भी आवश्यक है। साथ ही साहित्यिक प्रगति के लिए शास्त्र भडारो और मूर्ति लेखो की ऐसी सूची तैयार करवा कर छपाई जा सके, जिससे दि० शास्त्रो की गणना और भारतवर्ष के दिगम्बर मन्दिरों की मूर्तियो के लेखों का संकलन करवा कर प्रकाश में लाया जा सके और जैन ग्रन्थो की लिपि प्रशस्तियों तथा ग्रंथ प्रशस्तियों का सकलन भी प्रकाशित हो सके। इन तीनों कार्यो के सम्पन्न हो जाने पर जैन इतिहास को महत्व-पूर्ण सामग्री तैयार हो सकती है। उससे विभिन्न जातियों के इतिवृत्तों का सकलन करने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा। आशा है समाज इस उपयोगी कार्य के लिए अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करेगी, विद्वानों और संस्थाधिकारियो को भी पूरा सहयोग प्रदान करना चाहिए।

———

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम ए., डी लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द। १५.००

आप्तपरीक्षा श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८.००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २.००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १.५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १.५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १.२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित .७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३.००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४.००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४.००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित .२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... .२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १.२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, **समन्तभद्र विचार-दीपिका**, **महावीर पूजा** प्रत्येक का मूल्य .१६

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १.००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२.००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७.००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५.००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०.००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६.००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५.००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

वर्ष २४ : किरण

दिसम्बर १९७१

अनेकान्त

पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर (नरेणा)

जैन तीर्थङ्कर और हाथी (नरेणा)

प्राचीन जैन मन्दिर का तोरण जो नये मन्दिर में लगा दिया है (नरेणा)

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६ रुपया जिन ग्राहकों ने अभी तक नहीं भेजा है, उन्हे चाहिए कि वे अपना पिछला वार्षिक मूल्य छह रुपया मनीआर्डर से भेज दे। क्योंकि अगली छठी किरण के साथ उनका वर्ष २४ का वार्षिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

सूचना

अनेकान्त मे समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है पुस्तक प्रकाशक या लेखक अनेकान्त मे समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां भेजने का कष्ट करे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

निवेदन

प्रत्येक पुस्तक प्रकाशक और लेखकों से निवेदन है कि पुरातत्त्व अन्वेषक वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी के लिए अपने बहुमूल्य प्रकाशन भेंट स्वरूप भेजने की कृपा करें। साथ ही यदि महत्व के हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रंथ हो तो उन्हे भी सुरक्षा की दृष्टि से भेजकर अनुगृहीत करे। इस सम्बन्ध मे विशेष पत्र व्यवहार वीर-सेवा-मन्दिर के मन्त्री महोदय से करे।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागंज
दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २४ किरण ५ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२७ | नवम्बर दिसम्बर १६७१

अर्हत् परमेष्ठी स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्त संगग्रहात्,
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषो ऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा—
मानन्दादि गुणा श्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥३॥

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रह रूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहंत परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की भी संभावना नहीं की जा सकती है। इसी लिए राग-द्वेष रहित हो जाने के कारण उनके समता भाव आविर्भूत हुआ है, और इस समता भाव के प्रकट हो जाने से उनके आत्मावबोध तथा इससे उनके कर्मों का वियोग हुआ है। अतएव कर्मों का क्षय से जो अर्हत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणों के आश्रय को प्राप्त हुए हैं वे अर्हत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करें।।३

———

चन्द्रवाड का इतिहास

परमानन्द जैन शास्त्री

चन्द्रवाट, चन्दावर और चन्द्रवाड नाम का एक प्रसिद्ध नगर यमुना नदी के तट पर बसा हुआ था, जो आज प्राचीन ध्वंसावशेषों—खण्डहरों—के रूप में दृष्टि-गोचर हो रहा है। वह अतीत की उस झांकी को प्रस्तुत कर रहा है कि हम भी किसी समय श्री सम्पन्न और समुन्नत थे; किन्तु काल की कराल गति से आज हमारा वैभव भूगर्भ में स्थित है। कहा जाता है कि विक्रम सं० १०५२ मे चन्द्रपाल नाम के एक जैन पल्लीवाल राजा की स्मृति में इस नगर को बसाया गया था[1]। जिसका दीवान रामसिंह हारुल था[2]।

चन्द्रवाड मे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक चौहान वंशी राजाओं का राज्य रहा है। जो अजमेर के चौहान वंशी राजाओं के वंशधर थे। इन राजाओं ने केवल चन्द्रवाड पर ही शासन नहीं किया, प्रत्युत इटावा और उसके समीपवर्ती भू भाग पर भी शासन किया है। उनमें हतिकान्त, रायवद्दिय (रायभा) रपरी, कुरावली, मैनपुरी, दत्तपल्ली और भोगांव आदि स्थान है, जिन पर उनका शासन १६वीं शताब्दी तक तो रहा ही है, किन्तु कहीं कही कुछ बाद में भी रहा है। इन राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म का खूब उत्कर्ष रहा है; क्योंकि इनके मंत्रीगण प्राय: जैन ही रहे हैं, उन्होने अपनी बुद्धिमत्ता से राज्यकार्य का संचालन किया है।

विक्रम की १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी में रचे गये अपभ्रंश और सस्कृत के ग्रन्थो में चौहान वश के राजाओं का उल्लेख है[3]।

विक्रम की १३वी शताब्दी मे (वि० सं० १२३० मे) चन्द्रवाट या चन्द्रवाड निवासी माथुरवशी साहु नारायण और उनकी धर्मपत्नी रूपिणीदेवी ने, जो देव-शास्त्र और गुरुभक्त थी, संसार वर्धक कथाओ को सुनने में विरक्त थी, उसने श्रुत पंचमी के उपवास-सम्बन्धी फल को प्रकट करने वाले भविष्यदत्त कुमार के जीवन-परिचय को व्यक्त करने वाली 'भविष्यदत्तकथा' कवि श्रीधर से लिखवाई थी[4]। यद्यपि कवि श्रीधर ने ग्रन्थ प्रशस्ति मे

---

१. हिन्दी विश्वकोष के भाग ७ पृ० १७१ में लिखा है कि चन्द्रपाल इटावा अंचल के एक राजा का नाम था। कहा जाता है कि राजाचन्द्रपाल ने राज्य प्राप्ति के बाद चन्द्रवाड में सं० १०५३ मे एक प्रतिष्ठा कराई थी। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित स्फटिक मणि की एक मूर्ति जो एक फुट की अवगाहना को लिए हुए है आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की थी और जिसे यमुना की मध्य धारा से निकाल कर फिरोजाबाद में सोत्सव लाया गया था, अब वह फिरोजाबाद के मन्दिर में विराज-मान है।

२. चन्द्रपाल का दीवान रामसिंह हारुल लंबकंचुक (लमेचू) आम्नाय का था। उसने वि० सं० १०५३ और १०५६ में कई मूर्तियों की प्रतिष्ठा चन्द्रवाड में कराई थी जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

१ देशी पाषाण बादामी रंग २ फुट की मूर्ति सं० १०५३ वैशाख सुदि ३ रामसिंह हारुल……।

२ देशी पाषाण बादामी रग ३ फुट ऊंची मूर्ति—स० १०५६ अगहन सुदि ५ गुरौ तिथौ……। कान्त्या वलिकनकदेव: सुत: कोक:……।

३ देशी पाषाण सवातीन फुट—ओं मनु सं० १०५३ वैशाख सुदि ३……।

३. देखो, जैन ग्रंथप्रशस्तिसंग्रह द्वितीय भाग, वीर-सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली तथा अनेकान्त वर्ष १३ किरण ६ पृ० २२७ में प्रकाशित 'नाग-कुमार चरित और कवि धर्मधर नाम का लेख।

४. णरणाह विक्कमाइच्च काले, पवहंतए सुहय रए विसाले।
वारह सय वरिसहिं परिगएहिं,
दुगणिय पणरह वच्छर जुएहिं ॥
फग्गुण-मासम्मि वलक्ख पक्खे,
दसमिहदिणे तिमिरुक्कर विवक्खे।
रविवार समाणिउ एक्कु सत्थु,
जिह मइं परमाणिउ सुप्पसत्थु ॥ —भविसयत्त कहा

उस समय चन्द्रवाड के राजा के नामादिक का कहीं उल्लेख नहीं किया। अतएव निश्चयतः यह कहना कठिन है कि उस समय वहां किसका राज्य था। पर उस समय चन्द्रवाड समृद्ध था और वहां हिन्दू जनता के साथ जैन जनता भी अपने धर्म का साधन करती थी। उसके कुछ समय बाद अर्थात् सन् ११९४ (वि० सं० १२५१ में) शहाबुद्दीन गोरी ने—जब वह बनारस और कन्नोज की ओर जा रहा था, रास्ते में उसकी मुठभेड़ चन्द्रवाड में जयचन्द गहडवार से हो गई थी, जिसमे राजा जयचन्द हाथी के हौदे पर बैठे हुए सैन्य सचालन कर रहे थे। सहसा शत्रु का एक तीर लगने से मृत्यु को प्राप्त हुए, किन्तु उसके पुत्र हरिश्चन्द्र ने कन्नोज का गढ़ अपने हाथ से नही जाने दिया[5]। मुहम्मद गोरी जयचन्द को विजित कर १४०० ऊँट लूट के माल से भरवा कर ले गया[6]।

चौहानवंशी राजाओं के राज्यकाल में जैनधर्म :

चौहान वंशी राजाओं के शासन काल में चन्द्रवाड जन-धन से परिपूर्ण एक अच्छा शहर हो गया था। आगरा से इटावा, कन्नोज और इनके आस-पास के मध्यवर्ती भूभाग पर इनका शासन रहा है। इनके समय मे लब कंचुक और जैसवाल आदि जैन कुलों के श्रेष्ठी जन उनके दीवान होते थे, जो जैनधर्म के अनुष्ठाता और धर्मात्मा थे। इस कारण चन्द्रवाड और उसके आस-पास का प्रदेश जैन संस्कृति का केन्द्रस्थल बन रहा था, वहां जैनियों की अच्छी आबादी थी और अनेक जैन व्यापारी उच्चकोटि के व्यापार द्वारा अच्छे सम्पन्न और राज्यमान थे। अनेक जैन मन्दिरो के उन्नत शिखरो से अलंकृत वह नगर श्री सम्पन्न था।

वि० सं० १३१३ में कवि लक्ष्मण ने 'अणुवय-रयण-पईव' नाम के ग्रंथ को चन्द्रवाड के चौहान वंशी राजाओं के राज्यकाल में रचकर समाप्त किया था। उसकी आदि अन्त प्रशस्ति मे वहां के राजाओं और राजमंत्रियों की परम्परा का विवेचन किया गया है[7]।

कवि लक्ष्मण या लक्ष्मणसेन ने जो स्वयं जायसवाल थे अपने ग्रंथ में चन्द्रवाड के चौहानवंशी राजाओ की परम्परा, और जैन मंत्रियो आदि का परिचय निम्न प्रकार अंकित किया है। भरतपाल, अभयपाल, आहड और श्री बल्लाल नाम के राजा हुए। श्री बल्लाल के पुत्र आहवमल्ल थे, जिन्होंने 'रायवद्दिय' नामक नगर मे शासन किया था। वह चन्द्रवाड का ही एक शाखा नगर था। जिसकी स्थापना वि० सं० १३१३ से पूर्व हो चुकी थी। क्योंकि जिस समय उक्त आहवमल्ल राज्य कर रहे थे, तब उनके प्रधानमंत्री लब कचुक कुल (लमेचू)के मणिसाहू सेठ के द्वितीय पुत्र थे, जो मल्हादेवी से उत्पन्न थे, जो बड़े बुद्धिमान और राजनीति मे दक्ष थे। इनका नाम कण्ह या कृष्णादित्य था। श्री बल्लाल के बाद चन्द्रवाड के राजाओं का इतिवृत्त इस ग्रन्थ से ज्ञात नहीं होता। चन्द्रवाड के चौहानवंश के उक्त चार राजाओ के समय एक महत्वपूण नगर के रूप मे प्रसिद्ध था। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी था कि उस समय वह व्यापार का एक केन्द्र भी बना हुआ था। बाहर के लोग चन्द्रवाड में यमुना नदी को पार करके ही आ सकते थे, और उसे नौकाओं द्वारा पार करना होता था; क्योंकि नगर यमुना नदी से घिरा हुआ था, वहां सैकडों नौकाएं और नौका संचालक नाविक रहते थे। उनके द्वारा ही माल का आयात निर्यात होता था। बड़े-बड़े व्यापारी वहां बसते थे। व्यापार से खूब अर्थोपार्जन होता था, उससे राज्य और जनता दोनों को अर्थ लाभ होता था। उसकी यह समृद्धि विरोधी राज्यों द्वारा ईर्ष्या और द्वेष का कारण बनी हुई थी, अतएव वह लड़ाई का क्षेत्र भी बना हुआ था। वहां अनेक युद्ध हुए थे, इस कारण वहां के लोगों को जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी; किन्तु वहां का कोट (किला) अत्यन्त सुदृढ़ था, अतएव शत्रु पक्ष उस पर

---

५. देखो राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द दूसरा संस्करण और Shahabudin met him at chandrawar in the Etawah District near yumra and Hiving defialed his hart with the immense slaughlor.
The Early history of in India P. 400.

६. देखो, मछली शहर का शिलालेख तथा ताजिलमासी हसन निजामी, तावकाते नसीरी जिल्द १ पेज ४७० नसीरुद्दीन मुहम्मद इलियट वाल्यूम १ पृ० ५४३-४४

७. देखो, अणुवयरयणपईव प्रशस्ति। रायवद्दिय नगर यमुना नदी के उत्तर तट पर बसा हुआ था और श्री सम्पन्न था। वही प्रशस्ति सं० पृ० २७।

जल्दी कब्जा करने में समर्थ नहीं हो पाता था। उक्त राजाओं के समय लमेचू वंश के निम्न मत्री हुए, जो राजनीति के साथ धर्मनीति का जीवन में आचरण करते थे। राजा भरतपाल के समय साहू हल्लण नगरसेठ के पद पर प्रतिष्ठित थे। और अभयपाल के समय उनके पुत्र अमृतपाल, जो जिन धर्मभक्त, सप्तव्यसन रहित, दयालु, परोपकारी और प्रधानमत्री थे। राजा अभयपाल की मृत्यु के बाद उनके पुत्र 'जाहड' नरेन्द्र के समय भी उन्होंने मंत्रित्व का कार्य कुशलता के साथ संचालित किया था। इन्होंने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहां एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया था, जो उन्नत शिखरो, तोरणो और ध्वजाओं से अलंकृत था। यह १३वी शताब्दी के आस-पास की घटना है। इनके बाद इनके पुत्र श्रीबल्लाल' ने वहाँ शासन किया है। श्री बल्लाल के समय अमृतपाल के पुत्र साहू सेढ़ प्रधान मंत्री हुए। इनकी दो पत्नियां थी, उनमें प्रथम पत्नी से रत्नपाल का जन्म हुआ था, यह व्यापार पटु और गम्भीर प्रकृति के थे। इनकी पत्नी माल्हादेवी से कण्हड या कृष्णादित्य का जन्म हुआ था। यह धर्मात्मा विद्वान और राजनीति का पडित था। यही रायवद्दिय (रायभा) के राजा आहवमल्ल का प्रधान मत्री था। यह कुटुम्ब सम्भवतः रायवद्दीय चला गया था। वहां रत्नपाल के पुत्र शिवदेव को अपने पिता की मृत्यु के बाद आहवमल्ल ने नगरसेठ बना दिया था और उसका अपने हाथ से तिलक किया था।

आहव मल्ल एक वीर शासक था। इसने मुसलमानो से युद्ध मे विजय प्राप्त की थी। इसकी पट्टरानी का नाम ईसरदे था। इसने रणथभोर के राजा हम्मीर की शल्य को नष्ट किया था[८]। यह चौहानवंश रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान था। उस समय रायवद्दिय नगर श्री सम्पन्न और जैन संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था, वहां अनेक विशाल जैन मन्दिर थे। आहवमल्ल के प्रधान मत्री कृष्णादित्य ने रायवद्दिय के जिनालयों का जीर्णोद्धार किया था और जिन शासन का प्रचार किया था।

विक्रम सवत १४४५ में चन्द्रवाड मे दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य कवि धनपाल ने 'बाहुबली' चरित की रचना की थी[९]। उन्होंने उसमे उससे पूर्व चन्द्रवाड की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि—उस समय भी वहां चौहानवंशी राजाओं का राज्य था और उस वंश के शासक सारग नरेन्द्र राज्य कर रहे थे[१०]।

८. ये हम्मीर वीर चौहान वंशी राजा हम्मीर है, जिनकी हठ प्रसिद्ध है और जिनका किला, दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने सं० १३५७ (सन् १३००) में चौहान राज्य को वहाँ समाप्त कर दिया था। और हम्मीर वीरगति को प्राप्त हुए थे।

पुप्पिच्छ-मिच्छरण रंग मल्ल,
हम्मीर-वीर-मण-णट्ठ-सल्लु।
चउहाणवसतामरसभाणु मुणियइ ण जासु भुयबलपमाणु॥
—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० २८

९. विक्कम-णरिंद-अंकिय समए,
चउदह-सय-संवच्छरहि गए।
पंचास वरिस-चउ अहिय-गणि,
वइसह होसिय-तेरसि-सु-दिणि।
साई णक्खत्ते परिट्ठियइं वरसिद्ध-जोग-णामें ठियई॥
ससि वासरे रासि मयंक तुले गोलग्गे मुत्ति सुक्के सबले॥"
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० २, पृ० ७७

१०. राजा सभरी राय के बाद उनके पुत्र सारंग नरेन्द्र ने राज्य किया। सारगदेव की मृत्यु के बाद उनक पुत्र अभयचन्द्र ने पृथ्वी का पालन किया। अभयचन्द के दो पुत्र थे—जयचद और रामचन्द्र। सभरीयराय के समय यदुवंशी (जैसवाल) साहु जसरथ या दशरथ मंत्री थे, जो जैनधर्म के संपालक थे। सारग नरेन्द्र के समय उनके पुत्र गोकुल व कर्णदेव मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। किन्तु राजा अभयचन्द और उनके पुत्र जयचद के समय राज्य के मंत्री लब कचुक (लमेचू) वंश के साहु सोमदेव मत्री पद पर कार्य कर रहे थे। परन्तु द्वितीय पुत्र रामचन्द्र के समय सोमदेव के पुत्र साहु वासाधर मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित हुए। रामचन्द्र ने इसी १४५४ संवत् मे जयचन्द के बाद राज्य पद प्राप्त किया था। तथा राज्यकार्य में दक्ष और कर्तव्य परायण था, परन्तु उस समय की राजनैतिक परिस्थिति भी बड़ी भयावह थी और मुसलमान बादशाहों की निगाहें उस पर लग रही थी। ऐसे समय अपनी स्वतंत्रता कायम रखना बुद्धिमत्ता का ही कार्य है।

जो संभरीराय के पुत्र थे। अतः सिद्ध है कि उस समय भी उक्त नगर समृद्ध और सुन्दर था। तथा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं से सुशोभित था। तथा साहू वासाधर मंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे, जो लब कचुक कुल (लमेचू वश) के थे और सोमदेव श्रेष्ठी के सात पुत्रों में से एक थे। उन्ही की प्रेरणा और आग्रह से कवि ने उक्त ग्रंथ की रचना की थी। कवि धनपाल ने साहु वासाधर का परिचय देते हुए उन्हे सम्यक्त्वी, जिन चरणों का भक्त, जैनधर्म के पालन मे तत्पर, दयालु, बहुलोक मित्र, मिथ्यात्व रहित और विशुद्ध चित्त वाला बतलाया है। साथ ही आवश्यक दैनिक देव-पूजादि षट्कर्मों मे प्रवीण, राजनीति मे चतुर और अष्ट मूलगुणो के पालन मे तत्पर प्रकट किया है[११]। वासाधर ने भी चन्द्रवाड मे एक जैन मन्दिर बनवाया था, और उसकी प्रतिष्ठा भी की थी। इनकी पत्नी का नाम 'उदयकी' था, जो पतिव्रता और शीलव्रत का पालन करने वाली थी, तथा चतुर्विध सघ के लिए कल्पनिधि थी। इनके आठ पुत्र थे—जसपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, वाहड़ और रूपदेव। ये आठों ही पुत्र अपने पिता के समान ही योग्य, चतुर और धर्मात्मा थे। वासाधर के पिता सोमदेव श्रेष्ठी भी अभयचन्द्र और उनके पुत्र जयचन्द के समय मंत्री पद पर आसीन रह चुके थे। यद्यपि सोमदेव यदुवशी थे परन्तु उनका कुल 'लम्ब कंचुक' (लमेचू) था। क्योकि जैन साहित्य सदन दिल्ली की प्रति मे उनके पुत्र को 'लमेचू' लिखा है, जैसा कि ग्रन्थ की चौथी संधि के निम्न पद्य से जान पडता है :—

> श्री लम्ब कंचुकुल पद्मविकासभानुः,
> सोमात्मजो दुरितदारु चयकृशानुः।
> धर्मैक साधनपरो भुविभव्य बन्धु—
> र्वासाधरो विजयते गुणरत्नसिन्धुः ॥
> —बाहुबलि चरित संधि ४.

कवि धनपाल ने अपनी ग्रंथ प्रशस्ति में सं० १४५४ से पूर्व के इतिवृत्त का भी कुछ उल्लेख किया है। और चन्द्रवाड के निम्न चौहान वंशी राजाओं का उल्लेख किया है, जिनकी सख्या ५ है। सभरीराय, सारंग नरेन्द्र, अभयचन्द्र और इनके पुत्र जयचन्द, रामचन्द्र। रामचन्द्र के पुत्र प्रतापरुद्र। इनमें प्रारभ के तीन नामों का अच्छा परिचय ज्ञात नहीं होता, अन्वेषण करने पर उस समय के साहित्य मे मिल सकता है पर वह मेरे देखने में नहीं आया।

विक्रम सवत् १४५४ मे अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र के राज-काज करने का उल्लेख अवश्य उपलब्ध हुआ है। अवशिष्ट पूर्ववर्ती तीन राजाओ का राज्यकाल यदि ६० वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है तो भी इनकी सीमा १३७५ या १४०० के आस-पास होगी। तब सं० १३७५ से १४२५ तक किनका राज्य रहा, यह विचारणीय है। सभरीराय से पूर्व किसका राज्य था यह भी चिन्तनीय है। इस सम्बन्ध मे अन्वेषण करने की आवश्यकता है जिससे स० १३१३ से १४५४ तक की शृखला का सामजस्य ठीक बैठ जाय।

सवत् १४५४ मे चन्द्रवाड मे निर्मित होने वाले ग्रन्थ मे कवि ने जिन राजाओ का उल्लेख किया था वह ऊपर दिया जा चुका है। हाँ सेठ का कूचा दिल्ली के बड़े मन्दिर मे स्थित एक चौबीसी धातु की मूर्ति के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र का राज्य था। उसके राज्य शासनकाल मे ही उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी[१२]। इससे स्पष्ट है कि अभय-

११. जिणणाह चरणभत्तो जिणधम्म परोदया लोए।
सिरि सोमदेव तणओ णंदउ वासद्धरो णिच्च ॥
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोयमित्तो।
मिच्छत्त चत्तो सुविसुद्धचित्तो
वासाधरो णंदउ पुण्णचित्तो ॥
—बाहुबली चरित्र सं० ३

१२. सर्वश्रेयसे वोऽस्तु गुणादिदेवः, सुरासुरे निर्मित पादसेवः।
यस्या बभातीतिसरोरुहाली
भगावलीवास्य सरोजलुब्धा ॥१॥
स० १४५४ वर्षे वैशाख सुदि १२ सोम दिने श्री चन्द्रपाटदुर्गे चाहुवाणराज्ये श्रीअभयचन्द्रदेव सुपुत्र श्री जयचन्द्रदेव राज्ये श्री काष्ठासघे माथुरान्वये आचार्य श्री अनन्तकीर्तिदेवास्तत्पट्टे क्षेमकीर्ति देवा पद्मावती पौरपाटान्वये साधु माहण पुत्र सा० देवराज भार्या पमा, पुत्राः पच—करमसीह, नरसीह, हरिसिह, वीरसिह, रामसिह एतैः कर्मक्षयार्थ चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठाकारितः पडित मारू शुभ भवतु।
(कूचा सेठ दिल्ली बड़ा मन्दिर

चन्द्र का राज्य उससे पहले रहा है, पर वह कब से कब तक रहा है यह अभी विचारणीय है। द्वितीय पुत्र रामचन्द्र का राज्य उससे बाद में हुआ जान पड़ता है। क्योंकि विक्रम संवत् १४६८ में उनका राज्य विद्यमान था। उक्त संवत् में ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या शुक्रवार के दिन चन्द्रवाड नगर में रामचन्द्र देव के राज्यकाल में भट्टारक अमरकीर्ति का षट्कर्मोपदेश नाम का ग्रंथ लिखा गया था, और जिसे चन्द्रवाड के निवासी साहू जगसीह के प्रथम पुत्र उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र देल्हा के द्वितीय पुत्र अर्जुन ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखवाया था"। और मूलसंघी गोलाराडान्वयी पण्डित असवाल के पुत्र विद्याधर ने लिखा था।

कविवर रइधू ने 'पुण्णासव कहाकोस" की रचना अपभ्रंश भाषा में की है। जिसमे सम्यक्त्वोपादक एवं पुण्यवर्धक कथाओ की सृष्टि की गई है। कथाएँ बड़ी रोचक है। इस ग्रंथ की प्रशस्ति मे कवि ने चन्द्रवाड का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'चन्द्रवाड पट्टन कालिंदी (यमुना) नदी से चारो तरफ घिरा हुआ है। फिर भी वह धन-कन-कंचन और श्री से समृद्ध है। वहाँ चौहानवंशी राजा रामचन्द्र ने अपना राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापरुद्र को दे दिया। प्रतापरुद्र एक वीर पराक्रमी शासक था। धीर रूपवान, गंभीर, राजनीति मे चतुर और युद्ध करने मे कुशल था। उसने अपनी तलवार से अनेक शत्रुओं को विजित किया था। वह शत्रुओं के लिए प्रलय काल के समान था, गुणग्राही अतुलित साहस और उत्साह से साम्य था।

उसी समय योगिनीपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवाल वंशी साहु तोसउ के चार पुत्रों में से प्रथम पुत्र साहु नेमिदास ने वहाँ व्यापार करके बहुत द्रव्य अर्जित किया था। तथा जिन भक्ति वश विद्रुम (मूंगा) रत्नों और पाषाण आदि की अनेक मूर्तियों का निर्माण कराकर प्रतिष्ठित किया था और वहां जिनमन्दिर बनवाया था"। यह उस समय चन्द्रवाड के राजा प्रतापरुद्र द्वारा सम्मानित थे"। साहू नेमिदास श्रावक व्रतो के अनुष्ठाता, शास्त्रस्वाध्याय, पात्रदान और परोपकार आदि सत्कार्यों में प्रवृत्ति करते थे। उनका चित्त उदार था, और लोक में उनकी धार्मिकता और सुजनता का सहज ही आभास हो जाता है। कवि रइधूने साहू नेमिदास का जयघोष करते हुए उनकी मगल कामना की है"। इन्ही साहु नेमिदास के अनुरोध से कवि रइधू ने उक्त 'पुण्यास्रव कथाकोष' की रचना की थी। ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की १५वी शताब्दी का अन्तिम चरण जान पडता है।

---

१३. अथ सवत्सरे १४६८ वर्षे ज्येष्ठ कृष्ण पचदश्यां शुक्रवासरे श्रीमच्चन्द्रपाटनगरे महाराजाधिराज-रामचन्द्रदेव राज्ये तत्र श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री मूलसंघे गूजर (गुर्जर) गोष्ठि तिहुयणगिरिया साहु जगसीहा भार्या सोमा तयोः पुत्राः [चत्वारा.] प्रथम पुत्र उदैसीह भार्या रतो, [द्वितीय] अर्जैसीह तृतीय पहराज चतुर्थ खाम्हदेव। ज्येष्ट पुत्र उदैसीह भार्या रतो अयाः पुत्राः ज्येष्ठ पुत्र देल्हा, द्वितीय राम, तृतीय भीखम। ज्येष्ठ पुत्र देल्हा भार्या हिरो (तयोः) पुत्रा द्वयोः ज्येष्ठ पुत्र हालू, द्वितीय अर्जुन ज्ञानावरणा कर्म क्षयार्थं इद षट्कर्मोपदेश लिखापितं।"

—नागौर शास्त्र भंडार

१४. बहु-विह-धाउ-फलिह-विदुम-मउ,
कारावेप्पिणु अगणिय पडिमउ।
पतिट्ठाविवि सुहु आविज्जउ,
सिरि तित्थेसर गोत्तु समज्जिउ।
जिं णह-लग्ग सिहरु चेईहरु,
पुणु णिम्माविय ममिकर-पह हरु।
णेमिदास णामे सघाहिउ,
जं जिण संघभार-णिव्वाहिउ॥

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति सग्रह भा० २ पृ० १००

१५. णिव पयावरुद्द सम्माणिउ।

—पुण्यासव कथाकोश प्रशस्ति

१६. "प्रताप रुद्र नृपराज विश्रुत-
स्त्रिकालदेवार्चन वंचिता शुभा।
जैनोक्तशास्त्रामृतपान शुद्धधीः
चिरं क्षितौ नन्दतु नेमिदासः॥३॥"
"सत्कवि गुणानुरागी श्रेयान्निव पात्रदान विधिदक्षः।
तोसउ कुल नभचन्द्रो नन्दतु नित्यमेव नेमिदासाख्या॥"
—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ प्रस्तावना पृ० १०१

संवत् १५११ मे पण्डित धर्मधर ने 'दत्तपल्ली' में, जो इक्ष्वाकुवंशी गोलाराडान्वयी साहु महादेव का प्रपुत्र और आशापाल तथा हीरादेवी का पुत्र था। संस्कृत भाषा में दो ग्रन्थ बनाये थे। इसके दो भाई और भी थे, विद्याधर और देवधर[१७]। यह मूलसंघ सरस्वतीगच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और जिनचन्द्र का अनुयायी था। यह संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान और कवि था। इसने सबसे पहले 'श्रीपाल चरित' की रचना की। और बाद मे सं० १५११ मे 'नागकुमार चरित की रचना दत्तपल्ली' नगर के निवासी साहु नल्हू की प्रेरणा से की, जो चन्द्रवाड का एक शाखा नगर था[१८], और वहाँ पर चौहान वंशी राजा का राज्य था। साहू नल्हू के पिता का नाम घनेश्वर था, उस समय वहाँ भोजराज का पुत्र माधवचन्द्र राज्य कर रहा था। उक्त घनेश्वर या घनपाल उनका मंत्री था। नागकुमार चरित की प्रशस्ति में राजा रामचन्द्र के तीन पुत्रों का उल्लेख है[१९]। प्रताप-रुद्र, अभयचन्द्र, और रणवीर सिंह। साहू नल्हू ने चन्द्रवाड के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था[२०]। और चतुर्विध संघ को दान दिया था और पूजा की थी। वह गुणानुरागी बुद्धिमान और शास्त्र का ज्ञाता था। घनेश्वर के पुत्र साहू नल्हू की प्रेरणा से कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

चन्द्रवाड की श्रीवृद्धि प्रतापरुद्र के समय में ही बिगडने लगी थी। सं० १४६४ मे खिजरखाँ ने इस पर अधिकार कर लिया था और भो गाँव के राजा से खिराज वसूल किया था।

स० १४६१ मे हुसनखा लोदी ने उसे अपनी जागीर बनाया, किन्तु सैयदो ने उसका अधिकार नहीं होने दिया। बाद में राजा प्रतापरुद्र को, जो एकजागीरदार था चन्द्रवाड, भोगाँव और मैनपुरी की जागीर स्वीकृत की। रपरी और इटावा कुतुब खाँ की जागीर में रहे। मुसलमानों के शासनकाल मे चन्द्रवाड की स्थिति अत्यन्त विषम हो गई, और कुछ समय के उपरान्त चन्द्रवाड श्री विहीन हो गया।

मुस्लिम शासनकाल में चन्द्रवाड्

मुस्लिम शासनकाल मे चन्द्रवाड का किला अपनी मजबूती के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ चौहान वंशज क्षत्रिय राजाओं की मुस्लिम शासकों से कई बार मुठभेड़ हुई थी। उनके आक्रमण के कारण वहाँ क्षत्रियो का शासन प्रायः समाप्त हो गया था। फिर भी शासन उन्हीं का चलता रहा, जागीरदार के रूप में भी उनके शासन का उल्लेख मिलता है।

सन् १३८६ (वि० स० १४४६) मे सुलतान फिरोज

---

१७. इक्ष्वाकु वंश संभूतो गोलाराडान्वयः सुधीः।
महादेवस्य पुत्रोऽभूदाशापालोबुधः क्षितौ ॥४४
तद्भार्या शील संपूर्णा हीरानाम्नेति विश्रुता।
तत्पुत्र त्रितय जातं दर्शनज्ञानवृत्तवत् ॥४५
ज्येष्ठो विद्याधरः ख्यातः सर्व्वविद्याविशारदः।
ततो देवधरः जातस्तृतियोद्धर्मनामकः ॥
—देखो, नागकुमारचरित प्रशस्ति 'अनेकान्त वर्ष १३ कि० ६ पृ० २३०।

१८. चन्द्रपाट समीपेऽस्ति दत्तपल्ली पुरी पुरा।
राजते कल्पवल्लीव वांछितार्थ प्रदायका ॥
—नागकुमारचरित पृ० ६

१९. श्री रामचन्द्रो जितवक्रचन्द्रः,
स्वगोत्र पाथोनिधि वृद्धिचन्द्रः।
विपक्ष पंकेरुह वृन्दचन्द्रो,
जातो गुणज्ञोऽभयचन्द्रपुत्रः ॥३॥
श्रीमत्प्रतापनृपतिस्तनयस्तदीयो,
ज्येष्ठो नराधिपगुणैरऽतुलो विनीतः।
नातः सुरैः सकलसौख्ययुतं स्वलोकं,
ज्ञात्वा गुणाधिकमिमं कमनीयकांति ॥७
तस्यानुजः श्रीरणवीर नामा,
भुक्ते महाराजपदं हतारिः।
श्रीमत्सुमत्रीश्वररायतासे,
भ्रात्रा समं नदतु सर्वकालं ॥८॥
—नागकुमार चरित प्रशस्ति

२०. श्रीचंद्रपाट पुरवर जिनालयस्याऽऽस्य जीर्ण्णतोद्धरणं।
येनाऽकारि सुभद्रं स सर्वदानंदतान्नल्हूः ॥
—नागकुमार चरित्र ७वी संधि पत्र ३१

शाह तुगलक ने 'हतिकान्त' पर हमला किया था, उस समय 'हसनखाँ' नाम का एक अफगान लोदी रपरी का अधिकारी बन बैठा था, और वही वरायनाम चन्द्रवाड का भी जागीरदार कहलाने लगा। तुगलक शाह ने जो फतेहखां का पुत्र और फीरोजशाह का पोता था, चन्द्रवाड को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उस समय यहाँ के राजा ने भागकर अपनी रक्षा की थी, उसका नाम सावंतसिंह था। जो चन्द्रसेन का पुत्र था। उस समय तो वह किसी तरह बच गया; किन्तु उसने कुछ ही समय बाद बड़ी भारी फौज के साथ पुन: घेर लिया, और उसे बर्बाद किया। कहा जाता है कि उसी समय चन्द्रप्रभ भगवान की स्फटिक मणि की एक सुन्दर मूर्ति यमुना नदी की बीच धारा में डाल दी गई थी। यह मूर्ति बड़ी सातिशय थी और जो बाद को यमुना नदी के प्रवाह से बाहर निकाली गई थी। जो उस समय फिरोजाबाद के अटा के मन्दिर में विराजमान की गई थी। सवत् १४८४ मे खिजरखां ने इसे अपने अधिकार मे कर लिया और भो गांव के राजा से खिराज वसूल किया।

सं० १४९१ में हसनखाँ लोदी ने चन्द्रवाड को अपनी जागीर बनाया, किन्तु सैयदों ने उस पर अधिकार नहीं होने दिया। पश्चात् राजा प्रतापराय या प्रतापरुद्र को, जो जागीरदार था। चन्द्रवाड, भोगांव, मैनपुरी की जागीरे, और रपरी, इटावा की जागीर कुतुब खाँ को मंजूर की।

जब सुलतान बहलोल लोदी का जौनपुर के नवाब से युद्ध हुआ, उस समय गडबडी में कुत्वखां रपरी का जागीरदार नियत किया गया। तब चन्द्रवाड और इटावा भी उसके अधिकार मे रहे थे। सन् १४८७ (वि. सं. १५४४) में बहलोल लोदी ने रपरी में जौनपुर के बादशाह हुसेनखा को हराया था। अनन्तर सिकन्दर लोदी ने सं० १५४६ मे (सन् १४८९) मे चन्द्रवाड और इटावा की जागीरें अपने भाई आलमखां को प्रदान कर दीं। परन्तु वह उससे रुष्ट हो गया और उसने बाबर को बुला भेजा; किन्तु चन्द्रवाड में उसे हुमायूं ने पराजित कर दिया, यह परिस्थिति राणा सांगा से सहन न हुई और उसने मुसलमानों पर आक्रमण कर दिया और मुगलों का अधिकार चन्द्रवाड और रपरी पर हो गया। पर यह सब क्षणिक था। शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उस समय प्रजा में कुछ जोश आया और अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये उसने विद्रोह कर दिया। किन्तु शेरशाह १२००० घुडसवार हिन्द सरकार से लाकर हतिकांत में रहा और उसने अपना अधिकार अक्षुण्ण बनाये रखा। उसने इस देश मे सड़के तथा सराय बनवाईं। अकबर के समय रपरी और चन्द्रवाड के प्रदेश सूबा आगरा में मिला लिये गए।

इस तरह चन्द्रवाड आदि की परिस्थिति विषम होती गई और वह अपनी खोई हुई श्री सम्पन्नता को फिर नहीं पा सका, और आज वह खण्डहरों के रूप में अपनी पूर्व जीवन गाथा पर आंसू बहा रहा है, वहां जैनियों के अनेक विशाल मन्दिर थे, जो भूगर्भ में अपनी श्री सम्पन्नता को दबाये हुए सिसकियाँ ले रहे है, वहा आज भी भूगर्भ मे अनेक मूर्तिया दबी पड़ी है। खुदाई होने पर जैन कीर्तियो के प्रचुररूप में मिलने की संभावना है, साथही जैनेतर सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिल सकती है। खुदाई मे ऐतिहासिक सामग्री का मिलना सभव है। वहां एक जीर्ण मन्दिर अवशिष्ट था, जिसका जीर्णोद्धार फिरोजाबाद पंचायत ने कराया था, उसमे इस समय कोई जैन मूर्ति नहीं है किन्तु मेले के समय मूर्ति फिरोजाबाद से ले जाई जाती है।

इस सब विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि आगरा और रुहेलखण्ड मे चन्द्रवाड, इटावा, हतिकान्त, रपरी, असाईखेड़ा, करहल, मैनपुरी और भोगांव आदि स्थान उत्तर भारत की जैन सस्कृति के प्रमुख केन्द्र थे। ये स्थान जहाँ चौहान वंश की उज्ज्वलता के प्रतीक है वहाँ जैन सस्कृति के अतीत गौरव की झांकी प्रस्तुत करते हैं। ★

देखो भूगोल का संयुक्त प्रान्त अक, भूगोल कार्यालय इलाहाबाद।

Atkenson 'Statistical des criptione and Historical Acount of the N. W. P. S. of India Vol. TV, P.T. P. 373–375.

हिन्दी भाषा का महावीर साहित्य

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

वीर निर्वाण संवत् २४९९ व्यतीत हो चुका है और एक वर्ष से भी कम समय पश्चात् चिर प्रतीक्षित २५००वां निर्वाण संवत् प्रारम्भ हो जावेगा। इस अवसर पर २५००वे निर्वाण महोत्सव तक उनके जीवन से सम्बन्धित जितना भी साहित्य है उसके प्रकाशन की योजना विचाराधीन है। भगवान महावीर के जीवन पर संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी तीनो ही भाषाओं में विभिन्न कवियों ने चरित काव्य, पुराण एवं रास काव्य लिखे है। गीत एवं स्तवन लिख कर उनका यशोगान गाया गया है और इसी तरह कथा, चौपाई, बत्तीसी, छत्तीसी, चौढाल्या एवं अष्टक के माध्यम से उनके जीवन को विभिन्न दृष्टियो से आंका गया है। लेकिन दुःख इस बात का है कि हमारे इन प्राचीन कवियों की अधिकांश रचनायें अभी शास्त्र भण्डारों की शोभा बढा रही है और अपनी दुर्दशा पर आंसू बहा रही है। क्योंकि इनके निर्माताओं ने जब इनकी रचना की होगी तो उनके हृदय मे कितना उमंग और उत्साह होगा उसकी कल्पना एक कवि हृदय ही कर सकता है। भगवान महावीर के चरणो मे उन्होंने स्थायी श्रद्धांजलि समर्पित की थी लेकिन हम स्वयं उनकी कृतियो का मूल्यांकन नही कर सके और न दूसरों को ही उसके मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान किया।

अभी जब भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से भगवान महावीर से सम्बन्धित सभी काव्यो के प्रकाशन की योजना सामने आयी तो पहिले यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि देश के विभिन्न भण्डारो मे जितने काव्य पुराण अथवा चरित संज्ञक रचनाएं है उनका कम से कम परिचय तो प्राप्त कर लिया जावे जिससे उनके प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया जा सके। इस दृष्टि से राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूचियो के चार भागो को देखा गया। ग्रन्थ सूची पाँचवा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। यह भाग सारे देश मे अब तक प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ भण्डारों के सूचीपत्रों में सबसे बड़ा सूचीपत्र होगा। जिसमे एक ही भाग मे २० हजार से भी अधिक ग्रन्थों का विवरण दिया गया है। राजस्थान के इन विभिन्न दिगम्बर शास्त्र भण्डारों मे भगवान महावीर के जीवन पर अब तक जो काव्य उपलब्ध हुए हैं उनमें सबसे अधिक काव्य हिन्दी भाषा मे निबद्ध है। वैसे संस्कृत भाषा मे अब तक जिन रचनाओं की उपलब्धि हो चुकी है उनके नाम निम्न प्रकार है।

१. वर्द्धमान चरित	महाकवि असग
२. वर्द्धमान पुराण	भट्टारक सकलकीर्ति
३. वर्द्धमान चरित	मुनि विद्याभूषण
४. वर्द्धमान चरित	मुनि पद्मनन्दि

अपभ्रंश भाषा की अब तक जो रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है उनका परिचय निम्न प्रकार है।

१. महावीर चरित	पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण मे से संकलित
२. वड्ढमाणचरिउ	जयमित्रहल
३. वड्ढमाणचरिउ	श्रीधर
४. सन्मति जिन चरिउ	रइधू
५. वड्ढमाण चरिउ	नरसेन

उक्त पाँचो काव्य विभिन्न विद्वानो द्वारा सम्पादित किये जा रहे है जिनमे से महावीर चरित का सम्पादन डा० हीरालाल जी जैन कर रहे है। यह चरित काव्य सचित्र प्रकाशित होगा। जयमित्रहल कृत वड्ढमाणचरिउ का सम्पादन डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री आरा, कर रहे है। डा० राजाराम जैन श्रीधर कृत वड्ढमाणचरिउ पर कार्य कर रहे है और नीमच के डा० देवेन्द्र कुमार नरसेन कृत वड्ढमाणचरिउ का सम्पादन कार्य प्राय: समाप्त कर चुके है। इन सभी विद्वानों को महावीर साहित्य शोध विभाग की ओर से पाण्डुलिपियाँ भेजी जा चुकी है।

सन्मतिजिन चरित्र पर सभवत: डा० राजाराम जैन पहिले ही कार्य कर चुके है और इसका प्रकाशन संभवतः रइधू ग्रन्थावली मे हो सकेगा।

हिन्दी भाषा मे १७वी शताब्दी से ही भगवान महावीर के जीवन पर रचनाएँ लिखी जाने लगी थी जो हिन्दी भाषा भाषी जनता मे महावीर स्वामी के जीवन एव उनके सिद्धान्तो के प्रति उत्सुकता का द्योतक है। यद्यपि हिन्दी रचनाओ मे सस्कृत एव अपभ्रंश काव्यो के समान उच्चस्तरीय काव्य रचना ा की जा सकी; क्योंकि हिन्दी कवियो का काव्य रचना का उद्देश्य सदैव सरल एवं सरस काव्यो को लिखना रहा है इसलिए वे अलंकारिक भाषा एवं काव्यगत विशेषताओ की परवाह किये बिना ही काव्य रचना करते रहे है। फिर भी उनकी रचनाओ मे हमे काव्यगत सभी तत्वों की उपलब्धि होती है। हिन्दी भाषा मे अब तक जो रचनाएं मिली है व निम्न प्रकार है।

१. महावीर नी विनती — भट्टारक शुभचन्द्र
२. महावीर छंद — ,, ,,
३. महावीर नो रास — पद्मा रचना सं० १६०६
४ वर्द्धमान रास — कुमुदचन्द्र १७वी शताब्दी
५. वर्द्धमान रास — वर्द्धमान कवि रचना स० १६६५
६. वर्द्धमानपुराण — नवलशाह रचना सं. १८२५
७. वर्द्धमान चरित — केशरीसिह र. स. १८७७
८. वर्द्धमान सूचनिका — बुधजन १६वा शताब्दी
९. महावीर गीत — भ. रतनकीर्ति १७वीं शताब्दी
१०. महावीर रास — जिनचन्द्र सूरि
११. महावीर पुराण — मनसुख सागर १८वीं शताब्दी

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त भगवान महावीर के जीवन पर गीत एवं स्तवन के रूप में और भी कितनी ही रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है जिनमें विनयचन्द्र, सकलचन्द्र, वादिचन्द्र विजय मंत्र : स० १७२३ एवं समयसुन्दर के स्तवन उल्लेखनीय हैं। ये सभी हिन्दी पद्य मे हैं जो काव्यगत विशेषताओं से परिपूर्ण है तथा भाषा एवं शैली की दृष्टि से सभी अच्छी रचनाएँ है लेकिन अभी तक उनमे एक भी रचना का प्रकाशन नही हो सका है। हमारा विचार है कि इन ग्रन्थो को तीन भागों मे प्रकाशित करने की योजना है। क्योकि ४-५ रचनाओ को छोड़कर शेष सभी रचनाएँ छोटी है और उनका तीन भागों में अच्छी तरह प्रकाशन किया जा सकता है।

उक्त बारह कृतियो मे महावीर नो रास प्रथम रास काव्य है। जिसमे भगवान महावीर के जीवन पर विस्तार से काव्य शैली में वर्णन मिलता है। पाण्डुलिपि मे ६५ पृष्ठ है तथा उसका लेखन काल सं० १८९१ है। इसका रचना काल स० १६०६ है। पद्मा कवि हिन्दी के अच्छे विद्वान थे तथा भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य थे। रास की रचना कवि ने सागवाड़ा नगर मे की थी।

संवत् सोलनवोतरे मार्गसिर पंचमी रविवार।
रास कीयो मे नीरमलो, शुभवे सागवाडा नगर मझार।।२०

वर्द्धमानकवि कृत वर्द्धमान रास सं० १६६५ की रचना है इस प्रति मे २३ पृष्ठ है तथा इसकी एक प्रति उदयपुर के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है। काव्य की दृष्टि से यह भी अच्छी रचना है। वर्द्धमान् कवि ब्रह्मचारी थे और भट्टारक वादिभूषण के शिष्य थे।

संवत् सोल पा[पे]सठि मार्गसिर सुदि पंचमी सार।
ब्रह्म वर्धमान रास रच्यो ते साभलो तहमे नरनारि।।

तीसरी महत्व पूर्ण रचना नवलशाह कृत वर्द्धमान पुराण की है। जो प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित होकर सूरत से छप चुका है। इसमे कवि ने सं० १६६१ के अगहन मास मे अपने पूर्वजों द्वारा बनवाए जाने वाले जिन मंदिर की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया है। उस प्रतिष्ठा मे साहू भीषम को 'सिंघई' पदवी प्रदान की गई थी। उस समय वहां बुंदेलखंड के राजा वीरसिंह के सुपुत्र राजा जुझारसिंह का राज्य था। इस घटना क्रम का उल्लेख निम्न पद्य में किया है—

सोरहसै इक्याणवे अगहन शुभ तिथि वार।
नृप जुझार बुंदेल कृत जिनके राज मझार।।

इस ग्रंथ को कवि ने प्रतिष्ठा स. से १७४ वर्ष बाद सं. १८२५ चैत्र शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन प्रातः काल में पूर्ण किया है। यह वर्द्धमान पुराण भ० सकल कीर्ति के वर्द्धमान पुराण के अनुसार रचा गया है। इसकी यह

विशेषता है कि उसे पिता-पुत्र ने बनाया था ग्रथ का रचना काल कवि के शब्दों मे निम्न प्रकार है—

ऊर्जयंति विक्रम नृपति सवत्सर गिनि तेह ।
सत ग्रठार पच्चीस ग्रधिक, समय विकारी एह ।।३२
द्वादश में सूरज ग(गि)नो, द्वादश ग्रंशहि ऊन ।
द्वादशमो मासहि भनो, शुकल पक्ष तिथि पूर्न ।।३३
द्वादश नखत बखानिये, बुद्धवार वृधि जोग ।
द्वादश लगन प्रभात में थो दिन लेख मनोग ।।३४
ऋतु वसत प्रफुल्ल ग्रति, फागु समय शुभ होय ।
वर्द्धमान भगवान गुन, ग्रथ समापति कोय ।।३५

भ० कुमुदचन्द्र का वर्धमान रास भी एक लघु कृति है। लेकिन भाव भाषा एव शैली की दृष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है। कुमुदचन्द्र हिन्दी के ग्रच्छे विद्वान थे ग्रौर उनकी ग्रब तक बहुत सी रचनायें प्राप्त हो चुकी है और यह उन ही कृतियो मे से एक नवोपलब्ध कृति है।

केशरीसिंह कृत वर्द्धमान चरित भी उसी की एक रचना है। जिसका निर्माण काल स० १८७३ है। केशरी-सिंह जयपुर नगर के कवि थे ग्रौर उनका साहित्य केन्द्र जयपुर नगर का लश्कर का दिगम्बर जैन मन्दिर था। केशरीसिंह कृत यह पुराण मूलत: भट्टारक सकल-कीर्ति कृत वर्द्धपुराण की भाषा वचनिका है। यह रचना बालचन्द छावड़ा के पौत्र ज्ञानचन्द्र के ग्राग्रह पर की गई थी। इसकी भाषा दौलतराम कासलीवाल की गद्य कृतियों जैसी हैं कवि ने टीका के रचना काल का निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

सवत् ग्रष्टादश शतक ग्रौर त[ति]हत्तरि जानि ।
सुकल पक्ष फागुन भलो, पुष्य नक्षत्र महान ।।२१।।
शुक्रवार शुभ द्वादशी पूरन भयो पुरान ।
बाचो सुनै जु भव्य जन पावै गुन ग्रमलान ।।२२।।

बुधजन कृत वर्द्धमान सूचनिका एक लघु कृति है। जिसमे भगवान महावीर का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसका रचना काल सं० १८६५ है। इसकी दसपत्र वाली एक प्रति जयपुर के एक शास्त्र भडार मे संग्रहीत है। जिनचन्द्र सूरि के महावीर रास की सूचना डा० राजाराम जी जैन द्वारा प्राप्त हुई है। इस रासे की प्रति यहाँ उपलब्ध है। इसके बारे मे सूचना एकत्रित की जा रही है।

मनसुख सागर कृत महावीर पुराण कोई स्वतन्त्र रचना नही है किन्तु शिखर महात्म्य भाषा का ही ग्रन्तिम ग्रध्याय है। इस ग्रध्याय म ६६ पद्य है इसका प्रारम्भिक ग्रश निम्न प्रकार है।

सुमति सदन भव करन मदन कर,
सिद्धारथ जनक सुहारक वरन है ।
ग्रसला सुमात गात उन्नत धनुष सात,
वरस वहत्तरि सुक्षिति जु धरेन है ।
पंचानन चिन्ह पर कुंडलपुरि विख्यात,
ग्रैसो महावीर शिव सपत्ति करन है ।
मनसुख उदधि निहार काल पंचम में,
ग्रौर कोहि मांहि जिन चरन शरण है ।।

दोहा—**सन्मति सन्मति देत है पमम पसम रस लीन ।**
सरम सरम ग्रनुभूति उत, धर्म सुधर्म प्रवीन ।।२
महावीर के चरित को ग्रलप कथन मनधारि ।
सुनि श्रेणिक गौतम कहै, मनवांछित दातार ।।३

मनसुख सागर लोहाचार्य के पट्ट के भट्टारक महीचन्द्र की परम्परा मे होने वाले भट्टारक गुलाबकीर्ति के प्रशिष्य एव ब्रह्म सतोष सागर के शिष्य थे। रचना काल का स्पष्ट उल्लेख नही है; क्योकि रचनाकाल वाले पद्य मे एक शब्द कम है।

भट्टारक शुभचन्द्र कृत महावीर नो विनती का एक स्तवन है जिसमे भगवान महावीर का स्तवन किया गया है। महावीर छन्द भी इसी तरह की एक लघुकृति है जिसमे महावीर के गर्भ कल्याण का वर्णन किया गया है। १६ स्वप्नों का ग्रच्छा वर्णन किया गया है। छन्द की भाषा सस्कृतनिष्ठ है।

उक्त रचनाग्रो के ग्रतिरिक्त भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित ग्रौर भी कृतियां मिल सकती है लेकिन इनके सम्बन्ध मे राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, ग्रागरा एव ग्रन्य प्रदेशो की छानबीन के पश्चात् ही कोई निश्चित मत पर पहुचा जा सकता है। उपलब्ध रचनाग्रो का विस्तृत एवं तुलनात्मक ग्रध्ययन शीघ्र ही किसी ग्रन्य लेख मे प्रस्तुत किया जावेगा।

★

जैन कला में प्रतीक तथा प्रतीकवाद

मूल लेखक : ए० के० भट्टाचार्य

अनुवादक · डा० मानसिंह एम. ए. पी-एच डी.

बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण-धर्म की भाँति जैनधर्म मे किसी अप्रतिमात्मक प्रतीक को कदापि विशुद्ध जैविक तथा उस पुरुष अथवा वस्तु की समता का कार्य नही करने दिया जाता जिसका कि वह प्रतीक है। मानव मस्तिष्क ने परम देव के विषय मे उसकी नितान्त समता के रूप मे नहीं प्रत्युत बहुत प्राचीन काल से ही अप्रतिमात्मक निरूपणों के रूप मे विचारना सीखा। तथापि इन अप्रतिमात्मक निरूपणो के ऐसे अर्थ एवं अभिव्यञ्जनाएँ थी जो उन्हे विशुद्धत: अलङ्करणात्मक अथवा कलात्मक रूपो से भिन्न करती थी। उनका प्रभाव नेत्र के भौतिक व्यापार की अपेक्षा बुद्धि पर अधिक होता है। भारतीय धार्मिक, अथवा अधिक उचित रूप मे ईश्वरपरक विचारो मे इस प्रतीकात्मक आराधना का इतिहास ऐसा इतिहास है जो स्वय धार्मिक परम्परा जितना प्राचीन है। "रूप-भेद" अर्थात् प्रतिमाशास्त्र, जो पुरुषविध निरूपित प्रतिमाओ का अध्ययन करता है, एक सर्वथा पाश्चात्कालिक विकास है।

पुराकालिक बौद्ध साहित्य मे हम स्वय बुद्ध के मुख के माध्यम से निसृत ऐसे कथन पाते है जिसमे पुरुषविध प्रतिमाओ के प्रति अनभिरुचि अभिव्यक्त की गई है। उसी प्रसङ्ग मे अनुमत चैतिय इस प्रकार का है कि जिसे सुविधापूर्वक "सम्बद्ध" प्रतीको के वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। वे भगवान् (बुद्ध) के दृष्टिगत न होने की स्थिति मे उनके स्थानापन्न पदार्थो के रूप मे प्रयुक्त करने के लिए है। ये सम्बद्ध प्रतीक फिर भी बौद्ध कला मे एक विशेषता है, जिसके लिए जैनधर्म मे हमारे पास कोई ठीक सादृश्य नही है। जैनों द्वारा अपनी पाण्डुलिपियो तथा धार्मिक मूर्तिकला मे प्रयुक्त प्रतीकात्मक निरूपण अधिक या कम कभी-कभी अकेले ही, कभी-कभी वर्गबद्ध रूप मे पवित्र पूजा-पदार्थों के स्वरूप के है। उपर्युक्त कथनो के बल पर बुद्ध द्वारा अपनायी गई समझी जाने वाली मूर्ति विरोधी प्रवृत्ति पर भी केवल प्रारम्भिक बौद्ध कला मे प्रतिमात्मक निरूपण की स्वल्पता तथा परवर्ती कालो मे इसकी बहुलता को न्याय्य रूप मे प्रस्तुत करने के लिए ही प्रयुक्त की गई है। तथापि **दिव्यावदान** में एक बौद्ध मूर्तिपूजक की स्थिति स्पष्टत: बतलाई गई है कि वह प्रतिमा के लिए नही प्रत्युत इसमे निहित सिद्धातों के लिए मूर्ति-पूजा करता है। हिन्दुओं तथा बौद्धों की भाति, मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे जैन लोगों की भी अपनी विचारधारा है। उनके अनुसार मूर्तियों की प्रतिष्ठा अधिकांशत: इसलिए नही की जानी चाहिए कि वे वास्तविक **अवतारों,** तीर्थङ्करों तथा देवकुल के अन्य देवों का निरूपण करती है बल्कि प्राथमिकतया इसलिए कि उनमे दिव्य गुणो के सर्वाधिक सत्य तत्त्व के ध्यान की खोज की जा सकती है। इन भौतिक पदार्थो मे दिव्य गुणो को अभिव्यक्त रूप मे खोजा जाता है, जिससे इन रूपो पर ध्यान करने से आराधको के मन मे दिव्य उपस्थिति के प्रभाव का अनुभव हो सके। उन दिव्य गुणो के माहात्म्य मे प्रशमन से भिन्न जिनका कि वे निरूपण करती है इन मूर्तियो की पूजा का कोई अर्थ नही है। इसी भावना का अनुसरण करके हम किसी जलाशय अथवा निवास-भवन के अधिष्ठातृ देव की धारणा के सच्चे महत्त्व को समझ सकते है। इस प्रकार यही कारण है कि एक तीर्थङ्कर की प्रतिमा की कल्पना उस पदार्थ के रूप में की जाती है जो उन सभी गुणो के समुच्चय का निरूपण करता है अथवा उन्हें अभिव्यक्त करता है जिनकी कल्पना हम अधिकतम स्वाभाविक रूप मे एक धर्मदाता अथवा धर्म-निर्माता या कृपा करने—एक तीर्थङ्कर मे कर सकते है, जिसके फल स्वरूप यह उस व्यक्ति के प्रति आदर-भावना को प्रेरित करती है जिसका कि यह निरूपण करती है। यह कहा

गया है कि **प्रतिष्ठा** प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा पदार्थ के माहात्म्य तथा प्रभाव की मान्यता को अभिव्यञ्जित करने वाले (पवित्रीकरण के) उत्सव के अतिरिक्त कुछ नहीं है (**प्रतिष्ठा नाम देहिनं वस्तुनश्च प्राधान्यमन्यवस्तुहेतुकं कर्म**)। एक **यति** उस समय प्रतिष्ठित कहा जाता है जबकि वह एक **आचार्य** की अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है, एक **ब्राह्मण** वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से प्रतिष्ठित होता है। एक **क्षत्रिय** अपनी शासकीय गरिमा में प्रवेश करने से, एक **वैश्य** व्यापार-वृत्ति में प्रविष्ट होने से, एक **शूद्र** शासकीय कृपा का प्राप्तकर्ता होने से और एक कलाकार उनमें प्रधान रूप से माने जाने से, और वे इस मान्यता के अवसर पर माथे पर लगाये गये **तिलक** आदि द्वारा पूजित होते हैं; इससे यह अभिव्यञ्जित नहीं होता कि ये चिह्न स्वयं सम्बन्धित व्यक्ति अथवा पदार्थ पर कोई भौतिक प्रभाव डालते हैं प्रत्युत वे इस मान्यता के प्रतीक हैं तथा उन्हें दार्शनिक रूप से सङ्केत मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, **प्रतिष्ठा** जिनकी गुणराशि का **न्यास** या दान अथवा बिना किसी रूप के इसका ध्यान है। इस प्रकार की स्थिति में या तो जिन का शरीर ही गुणसमुच्चय में निमग्न कर दिया जाता है या गुणदेव के व्यक्तित्व को अतिक्रान्त कर जाते हैं। इसी प्रकार किसी रूप से युक्त या रहित (**घटितस्याघटितस्य**), पत्थर आदि में से खुदी हुई तथा जिन, शिव विष्णु, बुद्ध चण्डी, क्षेत्रपाल आदि के नामों से अभिहित प्रतिमाओं की पूजा केवल उनमें कल्पित देवत्व के सन्निवेश के कारण ही की जाती है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक वर्गों के देवों के इस प्रकार अपने दिव्य स्थायित्व से युक्त रूप में माना गया है, जो इन प्रतिमाओं में व्यक्त किया गया है। और इसी प्रकार सिद्धों, अर्हतों आदि की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा गृह्य जलाशयों तथा कुओं के पवित्रीकरण तक में ऐसी वस्तु जिस पर बल देना अभिप्रेत होता है सम्बद्ध देवों के दिव्य गुणों अर्थात् **विभूतियों** की अभिव्यक्ति है, इन प्रतिमाओं में तथा इनके माध्यम से उनका वास्तविक अवतार नहीं। किसी रूप से युक्त अथवा रहित पदार्थ को तब ही किसी व्यक्ति या किसी देव का प्रतिनिधि माना जाता है जबकि हम इसे उसके गुणों से युक्त माने, जैसा कि इसे उनके साथ प्रतिष्ठित करने के बाद मूर्तियों से विदित होता है। यह स्थापना (**न्यास**) ही प्रतिष्ठा है (तुलना कीजिए, (**श्रुतेन सम्यग्ज्ञातस्य व्यवहारप्रसिद्धये स्थाप्यस्य कृतनाम्नोऽन्तः स्फुरतो न्यासगोचरे साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते न्यासस्तदिदमुक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा**)। यह सिद्धान्त जैन धर्म के अन्तर्गत नरदेवों के सिद्धान्तों से पूर्णतया सङ्गत है, क्योंकि उच्चतम देव जिन मुक्त मानव हैं तथा वे पत्थर या लकड़ी के टुकड़े में अवतरित नहीं हो सकते, जैसा कि उदाहरण स्वरूप, आस्तिक हिन्दू धर्म के विष्णु शिव आदि की कल्पित अतिमानवीय शक्तियों से युक्त सर्वथा दिव्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में सम्भव है। दोनों पद्धतियों में यही मूलभूत भेद है, जिसे जैन प्रतिमाओं के प्रतिमाविज्ञान के किसी भी अध्ययन में मानना आवश्यक है। जैन धर्म की तर्कयुक्तता यह संकेत करने तक आगे बढ़ जाती है कि स्वयं आकाश या झंझावात या विद्युत् में ब्राह्मणधर्मीय अर्थ में देवत्व विद्यमान नहीं है प्रत्युत प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक स्वरूप ही उपरिवर्णित वस्तुओं से सम्बद्ध क्रिया-कलापों के लिए उत्तरदायी है। वायु में विद्यमान कुछ निश्चित स्थितियों (**अन्तरिक्खम्**) के कारण ही वर्षा होती है, इससे सम्बद्ध की जा सकने योग्य किन्हीं दिव्य शक्तियों के कारण नहीं। अतएव यह कहना मिथ्या है कि "आकाश देव", "गर्जन तथा झंझावात का देव", "विद्युद्देव", "वर्षा करने वाला देव" आदि है, तथा किसी श्रमण अथवा श्रमणी को ऐसे वचन का परिहार करना चाहिए, किन्तु कोई भी व्यक्ति इसकी अपेक्षा यह कहेगा कि 'वायु . गुह्य का अनुयायी : एक मेघ एकत्रित हो गया है अथवा नीचे उतर आया है।'

पुरुषविध निरूपण से युक्त ईश की प्रतिमा फिर भी जैन-परम्परा में बहुत प्राचीन है। खारवेल के **अभिलेख** में एक जैन प्रतिमा का संकेत नन्दों के युग तक के प्राचीन समय में तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जैसा कि **कल्पसूत्र** में उल्लिखित है, कुछ पशुओं तथा देवों की प्रतिमाएँ पर्दे पर चित्रित कही गई हैं. **अन्तगडदसाओसूत्र** में उल्लेख है कि सुलस ने हरिणैगमेसिन् देव की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की तथा वह नित्य

प्रति उसकी पूजा किया करता था। सम्भवत: जैन धर्म में उपलब्ध सर्व प्राचीन प्रतिमा का समय कुषाण-काल है, यद्यपि हमारे पास तीर्थङ्करों का निरूपण करने वाली दिगम्बर मूर्तियों का एक जोड़ा है जो मौर्य युग से सम्बद्ध किया गया है। तथापि, प्रतीकवाद अथवा पूजा-पदार्थों के प्रतीकात्मक निरूपणों अथवा कभी-कभी विशुद्धतया लौकिक महत्त्व से युक्त पदार्थ अथवा उन पदार्थों तक के विषय मे जिनकी पृष्ठभूमि मे केवल एक वैज्ञानिक कारणा निहित है, यह कहा जा सकता है कि जैन कला रूढियों मे उन्होने बहुत प्रारम्भिक काल से ही स्थान ग्रहण कर लिया था।

चलिए हम जैन कला-रूढियों मे अग्नि के प्रतीक को लेकर आगे बढे। अग्नि-तत्त्व को सदैव जागृत अथवा प्रबोध से सम्बद्ध किया गया है। वेदो मे समग्र अग्न्यात्मक ऊर्जाओ का मूल स्रोत सूर्य समग्र चैतन्य एवं जीवन का सर्वोच्च प्रबोधक है। यह ज्ञान (**प्रज्ञा**) की ही लपट है कि जो मार को पराजित कर देती है। अमरावती से प्राप्त कतिपय आन्ध्र चित्रो मे बुद्ध का एक अग्नि-स्तम्भ के रूप मे निरूपण केवल वैदिक विचारधारा का उज्जीवन मात्र है जिसमे अग्नि की उत्पत्ति जलो से कही गई है अथवा अधिक सीधे रूप में पृथ्वी से, क्योंकि यह एक कमल पर आधृत है। **तेजस्** अथवा अग्न्यात्मिका शक्ति के रूप में अग्नि जैन धर्म मे प्राचीनतम अङ्गों मे से एक अङ्ग **आचाराङ्ग सूत्र** की जैसी प्राचीन परम्परा मे उपलब्ध होती है। यह कहा गया है कि जगत् के सम्पूर्ण सजीव पदार्थ (**जीव**) **एकेन्द्रिय जीव** या **तेउकाय**, **वायुकाय** तथा **वनस्पतिकाय** के लिए पाँच **कायों** मे से किसी न किसी से युक्त होते है। जैन तत्त्वविदो के **काय**-सिद्धान्त के अनुसार **एकेन्द्रिय जीव** उपर्युक्त पाँच प्रकार के भिन्न-भिन्न नियमित अस्तित्व ग्रहण करते है, तथा इनका कारण पूर्वकृत कर्मों को कहा गया है। जब वह **तेउकाय** अथवा अग्नि-जीवन से युक्त हो जाता है तो उसे सामान्य अग्नि, दीपक के प्रकाश, वाडवग्नि अथवा विद्युत् आदि मे जाना पड सकता है। जैन परम्परा के अनुसार अग्नि वाणी (**वाच्**) का अधिष्ठाता-देव है। चौदह अथवा सोलह मङ्गल-स्वप्नो मे से एक वह है जिसका विषय अग्नि-शिखा होती है। **तेजस्** की जैन धारणा इतनी पूर्ण है कि यह मङ्गल-स्वप्न के विषय के रूप में निर्धूम अग्निशिखा को ही स्वीकार करती है। वह अग्नि-शिखा जिसे इस प्रकार एक मङ्गल स्वप्न का विषय बनाया जाता है उस व्यक्ति की अन्यात्मिका शक्ति का प्रतीकात्मक निरूपण है जिसे स्वप्न की पूर्णता द्वारा आना है। यह जैनों के छह "**लेस्सो**" (**लेश्याओं**) अर्थात् मनः शक्तियों के अनुकूल है। यह देख लेना मनोरञ्जक है कि छह भिन्न-भिन्न "लेस्सो" अथवा मनःशक्तियों मे प्रत्येक का एक अपना विशिष्ट वर्ण है तथा अग्नि अर्थात् "**तेउलेस्स**" (तेजोलेश्या) का सकेत उदीयमान सूर्य के विसवादी स्वर्ण के चमकने वाले वर्ण द्वारा किया जाता है। यह मन: शक्ति अर्थात् अग्नि शक्ति धर्मपरक जैन परम्परा के अनुसार प्रचण्ड तपस्याओ द्वारा प्राप्त होती है। फिर भी इस शक्ति को कभी-कभी एक दूरी पर विनाशात्मक रूप मे प्रयोग किया जाता है। एक विशुद्ध जैविक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि मानव-शरीर मे चार अन्य रूपों के साथ-साथ इस अग्नि का रूप, अथवा अपेक्षाकृत अधिक उचित रूप मे उष्णता (**तैजस**) रहती है। यहाँ इस धारणा में केवल व्यापारात्मक रूप ही ग्रहण किया जाता है। वह उष्णता जो जीवन की स्थिति को बनाए रखती है उसी शाश्वत अग्नि, आदिम तथा शाश्वत मन: शक्ति का ही एक अङ्ग है।

बौद्ध धर्म तथा आस्तिक ब्राह्मण-धर्म में जीवन-वृक्ष ने जीवन तथा इसके सम्बन्धों से सम्बन्धित विचारो की एक महत्त्वपूर्ण उपज्ञा के रूप मे एक निश्चित स्थान ग्रहण कर लिया है। कला मे इस धारणा के निरूपण के लिए प्रतीकात्मक रूपों का विचार निश्चय ही एक ऐसी बात है जिसे कला-रूपो के प्रतीकवाद के स्थान के मूल्यांकन में छोड़ा नही जा सकता, चाहे वे हिन्दू धर्म के हों, चाहे बौद्ध के या जैन के। साँची में जीवन के रत्न-वृक्ष के शिखर तथा पादो के प्रतीकों मे निरूपणो तथा अमरावती मे अग्नि-स्तम्भों के निरूपणों को बौद्ध धर्म के अपेक्षाकृत दूर-दूर तक विस्तृत त्रिशूल के प्रतीकवाद से सम्बद्ध किया जाता है। किन्तु हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि त्रिशूल का प्रतीक केवल जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म मे ही उपलब्ध

नहीं होता अपितु इसके महत्त्व को एक इससे भी प्राचीन परम्परा मे खोजा जा सकता है। अग्नि वैश्वानर के तीन रूपों को त्रिशूल के इस तीन शूलों से युक्त प्रतीक मे संस्थित कर दिया गया है। पश्चाद्वर्ती शैव धर्म मे स्वय शिव के साथ त्रिशूल के सम्बन्ध के विषय मे तो हम जानते ही है। इस पश्चाद्वर्ती सम्बन्ध को एक बहुत प्राचीन परम्परा मे खोजा जा सकता है; धार्मिक कला के प्राचीन स्थान मथुरा से प्राप्त कला-रूप इसके त्रुटि-विहीन साक्ष्य है। इससे भी पहले, मोहन-जो-दड़ो की प्रागैतिहासिक सस्कृति मे इस सम्बन्ध के प्रारम्भ को स्पष्टतः पहिचाना जा सकता है। कैदफिसेस् द्वितीय के शैव सिक्के तथा सिरकप से प्राप्त शैव मुद्रा (seal) शैव सम्प्रदाय के साथ त्रिशूल के इस सम्बन्ध के कुछ प्राचीनतम निरूपणो मे से है। जैन कला मे त्रिशूल एक दिग्पाल के प्राचीन प्रतीको मे एक है। धर्मपरक तथा धर्मनिरपेक्ष स्थापत्य से सम्बन्धित पाठ्यों मे यह विधान है कि किसी प्रासाद के निर्माण हेतु चुनी गई भूमि पर एक **कूर्मशिला** की स्थापना करनी चाहिए, जो किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा एक धार्मिक आवश्यकता की बात अधिक है। जैनों के पश्चाद्वर्ती पाठ्यो मे भी इस विधान का अनुसरण किया गया है। **वत्थुसारपयरणम्** इस परम्परा का अनुसरण करते हुए **कूर्मशिला** की स्थापना के सम्बन्ध मे इसी नियम का विधान करता है। इसके आठ पार्श्वो पर आठ **दीपकों** के प्रतीक रखे जाते है। अष्टम दिग्पाल के लिए वहाँ प्रयुक्त प्रतीक **सोभागिनी** प्रस्तर-पट्ट पर स्थापित **त्रिशूल** है। यहाँ त्रिशूल तान्त्रिक स्वरूप के अष्टम दिग्पाल ईशान का प्रतीक है। यह वास्तव मे एक तथ्य को व्यक्त तथा स्पष्ट करता है, वह यह कि एक त्रिक का विचार, जो बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के लिए **त्रिरत्न** की संरचना मे सर्व पवित्र है और जिसका काल सम्भवतः **कुषाण** काल के समान प्राचीन है, वह या जिसने जैनो की अप्रतिमात्मिका धार्मिक प्रवृत्ति मे मूलभूत तत्त्वो मे से एक की रचना की। इस प्रसङ्ग मे मथुरा कङ्काली टीला स्थान से उपलब्ध वस्तु की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। एक जिनकी इस मूर्ति की पादपीठिका (Pedestal) के सामने की ओर उभार मे खुदे त्रिशूल के ऊपर स्थापित एक चक्र का चित्र है, श्रमणों का एक समुदाय जिसकी पूजा कर रहा है (?)। सचमुच इसका चक्र अथवा **धर्म-चक्र** के निरूपण की बौद्धकला के साथ निकट सम्बन्ध है, जो प्राचीन समाम्नाय मे स्वय भगवान् (बुद्ध) के लिए एक स्थानापन्न वस्तु थी। वास्तव मे, ब्यूहलेर के शब्दों में, "जैनो की प्राचीन कला बौद्धो की कला से तत्त्वतः भिन्न न थी। वास्तव मे कला साम्प्रदायिक कभी न थी। दोनो सम्प्रदाय समान अलङ्करणो, समान कला-उद्देश्यों तथा समान पवित्र प्रतीकों का प्रयोग करते थे। भेद मुख्यतः केवल गौण बातो मे ही था। जैन धर्म में **त्रिरत्न** प्रतीक पूर्ण वस्तुओं के त्रिविध स्वरूप अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा तथा आचार का अङ्कन करता है। एक त्रिक का यह विचार जिसने बौद्ध धर्म मे तीन रत्न अर्थात् बुद्ध धर्म तथा सघ का रूप धारण किया, कभी-कभी त्रिकोणीय चित्र अथवा **त्रिकोण** से अङ्कित किया जाता था जो बील के अनुसार "तथागत के देहनिष्ठ रूप" का बोध कराता था, और कभी-कभी तीन वर्णों के अक्षर अ-उ-म् द्वारा। ब्राह्मण-धर्म मे 'अ' विष्णु के लिए प्रयुक्त होता है, उ' शिव के लिए और 'म्' ब्रह्मा के लिए। बौद्ध **त्रिरत्न** विविध प्ररूपो मे तक्षशिला तथा आस-पास के बौद्ध स्थलों से कुषाणों के प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता है।

कङ्काली टीला, मथुरा से उपलब्ध उपरिसंकेतित स्थापत्य खण्ड का विचार हमे सर्वाधिक सङ्गतिपूर्वक धर्म के प्रतीक के रूप मे चक्र के स्थान के मूल्याकन की ओर अग्रसर करता है, जिसने प्राचीन तथा मध्यकालीन बौद्ध-धर्म में विशिष्ट लोकप्रियता ग्रहण की। वैष्णव प्रतिमा-शास्त्र के प्रतीक अथवा **रूप** के रूप मे चक्र का आरम्भ स्वयं भगवान् विष्णु के साथ इसके गहन सम्पर्क मे होता है। लगभग ७वीं शताब्दी ई० पू० के चक्र के चिह्न से युक्त प्राचीनतम आहत सिक्के इस परम्परा के प्राचीन स्वरूप के स्पष्ट प्रमाण है। **त्रि-रत्न** प्रतीकों से सम्बद्ध चक्र विशिष्टता पूर्वक जैन नही है। यह कुषाण युग की तक्षशिला मे भी उपलब्ध होता है, जहाँ यह निःसन्देह बौद्ध है। वहाँ इसे प्रतीकात्मक रूप मे त्रिशूल अथवा **त्रि-रत्न** प्रतीक के साथ सम्बद्ध करके अङ्कित किया गया है। बुद्ध का हाथ धर्मचक्र का स्पर्श करता है। जो **त्रि-रत्न**

प्रतीक पर स्थापित है, जिसके दो ओर एक-एक हरिण स्थित है, जो मृगदाव मे दिये गये प्रथम उपदेश के प्रवचन का चित्रण करता है। पश्चाद्वर्ती कालो मे सम्भवतः इस प्रकार के प्रतीको ने अपनी साम्प्रदायिक सीमाओ को लाँघ लिया, क्योंकि जैन लेखक ठक्कुर फेरु उल्लेख करता है कि चक्रेश्वरी का परिकर पादपीठिका पर मृगो से युक्त धर्मचक्र दिखलाए बिना पूर्ण नही होता। चक्र-रत्न की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है, जो जैन चक्रवर्ती के साथ उसके प्रतीक तथा आयुध के रूप मे सम्बद्ध किया जाता है। जैन कला मे चक्र के निरूपण को खृष्टीय युग के कुछ प्रथम शतको तक प्राचीन माना जा सकता है। मथुरा मे कङ्काली टीले से खोदे गए, कुषाण-युग से सम्बद्ध उन्नत फलकों, आयागपट्टों पर उस स्तम्भ के उच्च शिखर के रूप मे चक्र की आकृतियां अङ्कित है जो एक ध्यान की मुद्रा मे स्थित जिन की प्रतिमा मे युक्त सबसे अन्दर के वृत्त का स्पर्श करने वाले चार दिग्बिन्दुओं के ऊपर चार त्रिरत्न चित्रण से युक्त चार किनारों पर फूल-पत्तियो के परिवेश मे बने चार श्रीवत्स प्रतीको को धारण करने वाले मध्य चतुष्कोण के बगल में स्थित है। इसी स्थान से प्राप्त एक अन्य आयागपट्ट में चक्र एक अलङ्करणो से घिरी हुई मध्यवर्ती वस्तु है (न० जे० २४८—मथुरा सग्रहालय)। यह तीन एक केन्द्रीय पट्टो से परिवृत्त सोलह आरो से युक्त एक षोडसार धर्मचक्र है, जिसमे प्रथम पट्ट मे सोलह नन्दीपाद प्रतीक है। उस फलक को भली भांति कुषाण काल मे रखा जा सकता है। तदनन्तर गुप्त-काल मे राजगिर मे वैभारगिरि से हमें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की अनुपम मूर्ति उपलब्ध होती है, जिसमे पादपीठिका पर धर्मचक्र का प्रदर्शन किया गया है तथा जिसके बगल मे एक शखो का जोड़ा स्थित है। यहाँ चक्र का मानवीकरण किया गया है और चक्र का निरूपण स्वय चक्र के साथ सम्बद्ध पुरुषविध रूप से युक्त चक्र-पुरुष के रूप में किया गया है। यह सम्भवतः वैष्णव मूर्तियो, यथा गदादेवी तथा चक्र-पुरुष मे आयुध-पुरुषो के प्रदर्शन की ब्राह्मण-धर्मीय परम्परा का प्रभाव है। ★

संग्रह और दान

कवि—जलधर! तुझे रहने के लिए बहुत ऊंचा स्थान मिला है। तू सारे संसार पर गर्जता है। सारा मानव-समाज चातक बनकर तेरी ओर निहार रहा है। तेरे समागम से मयूर की भांति जन-जन का मानस शांति उद्यान में नृत्य करने लग जाता है। तू सबको प्रिय लगता है। तू जहाँ जाता है, वहीं तेरा सम्मान होता है। पर थोडा गौर से तो देख, तेरे पिता समुद्र की आज नयी स्थिति हो रही है। पिता होने के नाते उसे भी बहुत ऊंचा सम्माननीय स्थान मिलना चाहिए था किन्तु उसे तो रसातल—सबसे निम्न स्थान मिला है। उसकी सम्पत्ति का तनिक भी उपयोग नहीं होता। मेघ! इतना बड़ा अन्तर क्यों?

जलधर—कविवर! इस रहस्य को गिरि कन्दरा में एक गहन तत्त्व छिपा हुआ है। वह है—संग्रहशील न होना। सग्रह करना बहुत बड़ा पाप है। यही मानव को नीचे को ओर ढकेलने वाला है। संग्रह वृत्ति के कारण ही समुद्र को रहने के लिये निम्न स्थान मिला है। और उसका पानी भी पड़ा-पड़ा कडुवा हो गया है। समुद्र ने अपने जीवन में लेना ही सीखा है और देना अत्यन्त अल्प। मैं देने का ही व्यसनी हूं। सम्मान और असम्मान का, उन्नति और अवनति का, निम्नता और उच्चता का यही मुख्य निमित्त है।

अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों का नीति-वर्णन

डा० बालकृष्ण 'अकिंचन'

उत्कृष्ट दर्शन, पवित्र आचरण तथा अहिंसा-प्रचार की दृष्टि से जैनधर्म विश्व मानवता का महान उपकारक है। आरम्भिक काल से ही जैन-मेधा, साहित्य-जगत की सम्पूर्ण चुनौतियों को स्वीकार करती आ रही है। प्राचीन जैनाचार्यों ने अपने सैद्धान्तिक प्रचार के लिए, अनेकानेक पुराणों, कथाओ, चरित्रों एवं चूर्णिकाओ की रचना की थी। निःसन्देह ये सभी रचनाएँ धर्म-प्रेरित है। पर क्या इसी कारण इन्हे काव्य गरिमा से बहिष्कृत किया जा सकता है? और फिर यह स्थिति केवल जैन कृतियों के साथ ही तो नही, समस्त धार्मिक साहित्य इसी श्रेणी मे है। तीसरी बात यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से धर्म एवं काव्य का कोई विरोध नहीं है। काव्य का विरोध नीरसता, अस्वाभाविकता एव प्रभाव साहित्य से है। इसीलिए आचार्यों ने अन्तिम रूप से किसी विषय विशेष को नहीं अपितु अर्थ प्रतिपादन की रमणीयता को काव्य की कसौटी माना था और इसी निष्कर्ष पर रामचरितमानस, सूरसागर एवं रास पचाध्यायी आदि वैष्णव कृतिया उत्कृष्ट काव्य घोषित की गई है। अतः कोई कारण नही कि, अपभ्रंश भाषा की अनेक सरस, सुन्दर अलकृत जैन कृतियो का भी काव्य का गौरव प्रदान न किया जाय। यदि राम और कृष्ण की जीवन-गाथाओ से सम्बन्धित सन्देश प्रेरित उत्कृष्ट कृतिया काव्य हो सकती है तो प्रतिभा सम्पन्न कवियो की लेखनी से रचित तीर्थंकरों तथा जैन धर्माचार्यों की पुनीत धर्म-कथाएँ भी काव्य की सज्ञा म विभूषित की जायेगी। अपभ्रश भाषा मे रचित इस प्रकार की कृतियों के महान भडार जैन मन्दिरो मे आज भी सुरक्षित है। किन्तु हम उनकी चर्चा न करते हुए नितान्त प्रसिद्ध काव्य मणियों का ही नैतिक निरीक्षण करेगे।

शास्त्रीय दृष्टि से जीवन काव्य-ग्रंथों को दो भागों मे विभाजित किया जाता है—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्यो को भी समग्रता एव खण्डता की दृष्टि से महाकाव्य एवं खण्ड काव्य को दो वर्गों में बाँटा गया है। अपभ्रंश के जैन कवियो ने मुक्तक एव प्रबन्ध दोनो ही प्रकार के काव्य रचे है। प्रबन्ध के दोनो प्रकार—महाकाव्य एवं खण्ड काव्य भी अपभ्रंश काव्य मे प्रचुर रूप मे प्राप्त है। महाकाव्य किसी भी जाति के गौरव ग्रथ होते है अपभ्रश जैन कवियों ने इस प्रकार के अनेक ग्रंथ रत्नो से भारती-भडार को आपूरित किया है। पउम चरिउ, रिट्ठुनेमि चरिउ तथा महापुराण को इस वर्ग की बृहद त्रयी कहा जा सकता है। ये तीनो ही ग्रथ भारतीय नीति काव्य के विद्यार्थी के लिए अमूल्य है।

पउमचरिउ स्वयंभू कृत महा काव्य है, जिसे सामान्यतः स्वयभू—रामायण माना जाता है। इस रामायण मे कथानकों, पात्रों तथा घटनाओं को विचित्र विदग्धता के साथ विन्यस्त किया गया है। समूचे ग्रथ का बंधान, अलकार विधान कवि की नजक नैतिक मनोवृत्ति व्यक्त करता है। इसका समग्रतः नैतिक अनुशीलन अपने मे एक पृथक् विषय है। छोटे-बडे वर्णनो, सूक्तियो, कथोपकथनो, रूपको तथा उपमाओ मे नीतिका सुन्दर पुट दिया गया है। एक उदाहरण लीजिए—

लक्खण कहिं गवेसहिं तं जलु।
सज्जण हियउ जेम जं निम्मलु॥

अर्थात् लक्ष्मण उसी जलाशय मे जल लेने जाते है, जो सज्जन के हृदय के समान निर्मल हो। यहाँ नीति और काव्य का सूक्ष्म समन्वय सहज ही देखा जा सकता है। कथन की महत्ता के साथ उसकी मार्मिकता भी दर्शनीय है। इस प्रकार की नैतिक अभिरुचि और उसकी सूक्ष्म काव्यात्मकता मे 'रिट्ठुनेमि चरिउ' और भी आगे है। छोटी-छोटी सूक्तियो में जैन-सिद्धान्तों का मार्मिक

विन्यस्ताकरण, इस ग्रंथ की बहुत बड़ी विशेषता है। धर्म, नीति और ज्ञान के प्रति कवि के हृदय में अगाध अनुराग है—

वरि सूसह समुद्दु वारि मंदरो णमेइ।
ण विवव्वण्हु भासियं अण्णहा हवेइ॥

अर्थात् चाहे समुद्र-जल शुष्क हो जाये, चाहे अचल, मंदराचल पर्वत झुक जाये किन्तु विद्वानों (ज्ञानियों) के कथन कभी भी अन्यथा नहीं होते। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कथन में जितना बल है, उतना ही विश्वास है। साथ ही मे एक प्रकार की सर्वकालिकता भी है जो तब भी सत्य थी और आज भी सत्य है। ऐसे त्रिकाल सत्यों का निर्वचन अनेक स्थलों पर हुआ है। आज की परिस्थितियों का मार्ग-दर्शक एक अन्य उदाहरण लीजिए—

जहिं पहु दुच्चयरिउ समायरइ।
तहिं जणु सामण्णु काइ करइ॥

अर्थात् जहाँ स्वामी दुश्चरित्र होगा, वहाँ जन सामान्य क्या करेगे। आज भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक स्थिति में यह कथा और भी विचारणीय है। यह किसी से छिपा नहीं है कि राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक दुर्दशा का प्रमुख कारण हमारा भ्रष्ट चरित्र ही है। भारत में अन्न-जल-धन-धान्य किसी भी भौतिक—अभौतिक वस्तु की कमी नही है, कमी है तो केवल चरित्र की। और यह भी अपने में कटु सत्य है कि चरित्र की यह गिरावट, सम्भ्रान्त घरानों, राजकुलों एवं नेता कहलाने वाले वर्ग से ही आई है। अतः सदियों पुराने हमारे इस जैन कवि का कथन अपने में शाश्वत है, अपने मे सिद्ध है। लोक मे भी यह कहावत प्रचलित है—यथा राजा तथा प्रजा।

यहाँ हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष पर कीचड़ उछालना नहीं, किन्तु सत्य, सत्य ही है। और यह कहने मे कोई भी संकोच नहीं करेगा कि हमारा नेता-वर्ग नैतिक एवं चारित्रिक आदर्श प्रस्तुत करने में सर्वथा असफल रहा है। हाँ इस कथन में कुछ अपवाद भी है जो गेहूं के साथ घुन की अवस्था प्राप्त कर पिसते और लोकापवाद का कारण बनते हैं। सज्जनों और समझदारों के हृदय में आज भी सच्चरित्र राष्ट्र नेताओं, समाज सेवियों एवं गृह स्वामियो के प्रति श्रद्धा है और उनका निरन्तर यश-गान होता रहता है। जो दुर्जन ऐसा पुनीत चरित्रों का भी छिद्रान्वेषण करते हैं, वह उनके स्वभाव का दोष है और इसे कोई बदल नहीं सकता। 'महापुराण' के सुप्रसिद्ध जैन कवि पुष्पदंत जी ने इस तथ्य पर बड़ी मनोरमता से प्रकाश डाला है। उन्होंने ऐसे दुर्जनों को चन्द्रमा पर भौंकने वाले कुत्तों की संज्ञा दी है और कहा है कि सज्जनों को अपना कार्य निरन्तर करते रहना चाहिए; क्योंकि कुत्ते कितने भी भौंके इससे चन्द्रमा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यही विचार कर महाकवि सज्जनों की प्रशंसा करता हुआ, 'महापुराण' लिखने में प्रवृत्त हुआ है। उसने ६३ जैन महापुरुषों की चरित्र-गाथा गाते हुए, बीच-बीच में नीति-आचार-धर्म और दर्शन पर सुन्दर छन्द लिखे हैं। नीति-निरूपण ही नहीं, काव्यात्मक-निदर्शन के कारण भी इन कथनों का महत्व बहुत अधिक है। प्रश्न शैली का एक उदाहरण लीजिए—

खग्गे मेहे किं णिज्जलेण,
तरुणा सरेण किं णिप्फलेण।
मेहे कामे किं णिद्दवेण,
मुणिणा कुलेण किं णित्तवेण॥
कव्वे णडेण किं णीरसेण,
रज्जें भोज्जें किं पर वसेण। (१–८–७)

अर्थात् पानी रहित मेघ (बादल) और खड्ग (तलवार) से क्या? फल रहित तरु (वृक्ष) और (सर) बाण से क्या? अद्रवणशील (न पिघलने वाले) बादल और यौवन से क्या? तप हीन मुनि और कुल से क्या? नीरस काव्य और नट से क्या? पराधीन भोजन और राज्य से क्या? —यहाँ पानी (जल तथा चमक), फल (खाने के काम आने वाले फल तथा बाण की नोक), अद्रवणशील (न बरसने वाले तथा भाव विभोर न होने वाले), तप कर (कष्ट-साधन और कुल-व्रत) नीरस (शृंगार-वीर-शांतादि नवरस विहीन तथा शुष्क), परवश (पराया शासन तथा दूसरे का कब्जा) आदि शब्दों के दो-दो अर्थ है। इन दोनों अर्थों का प्रयोग करने पर सुन्दर एवं उपयोगी सन्देश सामने आता है। उस बादल के उमड-घुमड़

कर घिर-घिर आना व्यर्थ है जो तृषित धरा को अपनी शीतल जल-वृष्टि से शांत न कर दे, उस तलवार की विशालता और सुन्दरता व्यर्थ है जिसकी चमचमाती हुई धार में तेजी न हो। उस सुन्दर तथा सुहावने वृक्ष की शोभा भी अधूरी ही है जिस पर मीठे फल न लगते हों, उस बाण का धारण करना भी व्यर्थ है जिसके आगे की पैनी नोक ही गायब है। इसी प्रकार भावोद्रेक से शून्य युवक-युवती, चुटीले हास्य व्यंग्यादि से शून्य नट, विभावानुभाव संचारी प्रवाह से शून्य काव्य, विदेशी के अधिकार में फँसा राज्य तथा दूसरे की पोटली मे बँधा भोजन व्यर्थ है, बेकार है, अपने लिए किसी प्रकार भी उपयोगी नहीं है। कहना न होगा कि यहाँ कथ्य की उपयोग्यता के साथ कविता की सुन्दरता भी विद्यमान है। दोहरे अर्थों के निर्वाह ने श्लेष अलंकार की सुन्दरता भी ला दी है। ऐसा ही एक प्रतीतात्मक कथन और लीजिए—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ।
सो जीवंतु दुद्धु ण णिहालइ ।।
जो मालारू बेल्लि णउ पोसइ।
सो सुफुल्ल फलु केंव लहेसइ ।। (५–१२–१)

अर्थात् जो गुवाला गौ नहीं पालेगा, वह जीवन भर दूध को नहीं निहार सकेगा। जो माली बेल-बूटों का पालन-पोषण नहीं करेगा, उसे फूल-फल कैसे प्राप्त हो सकेंगे—शब्द बड़े साधारण हैं। किन्तु काव्य के विद्यार्थी के लिए इनकी व्यंजनाएँ इतनी अधिक हैं कि उसमें व्यक्ति से लेकर सारे राष्ट्र के नैतिक मूल्य सन्निहित दिखाई देते हैं। यहाँ ग्वाला और माली राष्ट्रनायक के प्रतीक है, गौ और बेलें सज्जन-समाज की प्रतीक हैं, दूध और फूल समृद्धि एवं सुराज्य के प्रतीक जान पड़ते हैं। जिस राष्ट्र या समाज में सज्जनों की अपेक्षा चार सौ बीस, तस्कर तथा जमानेसाज़ लोगों को बल-धन-आदर और आरक्षण प्राप्त होता है वह जीवन भर पुष्ट-बलिष्ट, पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हो सकता। यह तथ्य महाकवि पुष्पदन्त के समय में भी सत्य था, सहस्राब्द पश्चात् आज भी सत्य है और सहस्रों वर्षों पश्चात् भी सत्य रहेगा।

इस प्रकार के मनमाने नीति-कथन उक्त महाकाव्य त्रय से संकलित किए जा सकते हैं किन्तु हम उस दिशा में और आगे न बढ़ते हुए एक अन्य कृति, 'भविसयत्त कहा' की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। इसे हमने उक्त बृहद्त्रयी के साथ इसलिए नहीं रखा क्योंकि इसका नायक, एक लौकिक पुरुष है। किन्तु इससे क्या ? कृति अपने नैतिक मूल्य मे स्पृहणीय है। नायक के लौकिक पुरुष होने के कारण, काव्यकार श्री धनपाल धक्कड़ को गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों के नैतिक निर्वचन का और भी अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है। किन्तु कवि का हृदय गृहस्थ-वर्णन प्रसंगों में न रमकर उनके नैतिक एवं धार्मिक निदर्शन में अधिक रमता प्रतीत होता है। वे परम्परागत मान्यताओं का खण्डन करते हुए उनका नवीन नैतिक मूल्य निर्धारित करते हैं। केवल बानगी के लिए, शूरता को हिंसा से हटा कर नैतिक निष्कर्ष प्रदान करने वाली दो पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

जोव्वण वियार रस बस पसारि, सो सूरउ सो पंडियउ।
चलम्मण वयणुल्लावएहिं, जो पर तियहिं ण खंडियउ।।
३–१८–९

अर्थात् शूर भी वही है, पण्डित भी वही है जो परनारी के कामोद्दीपक प्रपंचों एवं वचनों के द्वारा खंडित नहीं होता। यहाँ यह निर्देश कर देना अनुचित नही होगा कि जैन-नैतिकता केवल अहिंसा पर ही नहीं अपितु इन्द्रिय-संयम एवं आत्म त्याग इत्यादि मानवीय चरित्र के उदात्त अंशों पर भी पूरा-पूरा बल देती है। जो दूसरों के प्रति पापाचरण द्वारा हानि पहुँचाने की बात सोचता है, उसका पाप उल्टा उसे ही नष्ट कर देता है ।।६-१०-३।। कर्म निश्चित ही दैवाधीन हैं किन्तु पुरुषार्थ करना, प्राणी का परम पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है कि लाभ के विचार से किए हुए कर्म में कभी-कभी मूल भी नष्ट हो जाता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुरुषार्थ कर्मों को त्याग दिया जाय ।।३-११-५।। इस प्रकार के शताधिक कथन सहज सुलभ है। दान, उपकार, क्षमा, दया तथा अहिंसादि विषयक कथनों के लिए तो यह ग्रन्थ अक्षय भण्डार है।

जैसा कि प्रारम्भ में निवेदन किया जा चुका है कि अपभ्रंश के जैन कवियों ने महाकाव्यों के अतिरिक्त कथारूपक खण्ड काव्यों की भी रचनाएँ की हैं। जो महाकाव्यों

से कहीं अधिक मात्रा मे प्राप्त हैं। ये काव्य कृतियां भी नैतिक दृष्टि से, संस्कृत प्राकृतादि भाषाओं के काव्यो से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसका कारण जैनधर्म के उदात्त नैतिक सस्कार ही है। उच्च संस्कार सम्पन्न कवियो की कृतियों में उच्च विचारों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। ये उच्च विचार काव्य की चाशनी में पग कर और भी ग्रहणीय हो गये है। इस दृष्टि से 'सुदसण चरिउ' तथा 'करकंड चरिउ' इत्यादि काव्य, अपना सानी नही रखते। इन काव्यों मे दार्शनिक एव धार्मिक सिद्धान्तो की अपेक्षा नित्य-नैमित्तिक जीवन के आचरण एव मनोभावो की व्याख्या अधिक हुई है।

नयनदी ने अपनी सुप्रसिद्ध काव्य कृति सुदसण चरिउ (सुदर्शन चरित्र) मे प्रेम, स्त्री, पुरुष, भाग्य, यौवन, उपहास, हिंसा, क्रोध आदि पर बहुत ही सारगर्भित छन्द लिखे है। वे प्रेम को समय एव दूरी के व्यवधान से परे की वस्तु मानते है और कहते है दो सच्चे प्रेमियो मे भौतिक अन्तराल बाधा उपस्थित नही कर सकते इसके लिए वे सूर्य एवं नलिनी का उदाहरण प्रस्तुत करते है। कहां आकाश विहारी सूर्य और कहा उसकी अनन्य प्रमिका कमलनी परन्तु वह उसे गगनतल मे देखकर ही हुलसित रहती है— **जइ विहु रवि गयणयले इह तहवि सुहु णलिणी। ८-४॥** यह उल्लास तथा आकर्षण अतीन्द्रिय होता हुआ भी इन्द्रिय गम्य है, अनुभव जन्य है। परन्तु इसके अनुभव का परिणाम सुख नही होता। जहां भी प्रेम है, ममत्व है, आसक्ति है, वहीं दुःख निश्चित है। कौन ऐसा प्राणी है जिसे स्नेह ने सताप न दिया हो—**अह ण कवणु णेहें संताविउ॥ ७-२॥** इसी प्रकार यौवन वेग को पहाड़ी नदी के चढाव की भांति क्षणिक, हिंसा को अनिवार्यतः दुखद तथा स्त्री चरित्र को देवताओं के लिए भी दुर्बोध सिद्ध किया गया है— **देवेहं वि दुलक्खउ तिय चरितु॥ ६-१८॥**

जैन मुनि कनकामर जी का दशाध्यायी खड काव्य करकड चरिउ, निर्वेदपरक नीति वचनों का अक्षय भडार है। ग्रंथ को आद्योपान्त पढ जाने पर एक अलौकिक शान्ति एवं वीतरागता की अनुभूति होती है। निष्ठावान् अध्येताओ पर तो यह प्रभाव और भी गहनतर होता है। कनकामर जी के कथनो मे कुछ इस प्रकार की सार्व-भौमिकता एवं सार्वकालिकता है कि उनके निर्वेद-वचन आज के सामाजिक संदर्भो मे भी खरे उतरते प्रतीत होते है। सम्पूर्ण कृति एक कल्याणमय आनन्द की सृष्टि करती है परन्तु यह आनन्द अन्यान्य कवियो के आनन्द से निश्चित ही भिन्न है। उस अनुभूति मे उतना ही अन्तर है जितना युवती मुख दर्शन तथा देवमूर्ति दर्शन की अनु-भूति मे होता है। कनकामर जी लौकिक अनुभूति की तुलना एक दाहक ऊष्मा से करते है। उनके मत मे सारा ससार एक सघन वन के समान है जिसमे नश्वरता की भयंकर दावाग्नि प्रज्वलित है और उसमें ककोल, निम्ब कुटज और चंदन सभी भस्म हो जाते है। काल अपने विकराल गाल मे युवा, बृद्ध, बालक, विद्याधर, किन्नर, खेचर, सुर, अमरपति सभी को समेट लेता है, न श्रोत्रिय ब्राह्मण बचपाते है, न तपस्वी, न वह धनवानो को छोड़ता है और न निर्धनो को। इस लिए धर्म-पथ का सम्बल जितनी शीघ्रता से प्राप्त किया जाय उतना ही श्रेयस्कर है—

पाउ सोत्तिउ बभणु परिहरइ,
णव छंडइ तवसिउ तवि ठियउ।
धणवंतु ण कुट्टइ ण विजिहणु,
जह काणणे जलणु समुट्ठियउ॥

९-२-१०

इस प्रकार के अन्य अनेक काव्य रत्नो से अपभ्रंश वाङ्मय का विशाल भवन आलोकित है। आवश्यकता उसको पढने, समझने तथा सुलभ कराने की है। न जाने कितनी अमर कृतिया अब भी जैन ग्रथागारो एव मंदिरो मे अब भी अप्रकाशित पड़ी है। वह दिन विश्व-वाङ्मय के लिए स्वर्णिम दिवस कहा जायेगा जब कि विशाल ज्ञान पिण्ड प्रकाशित होकर अपने दिव्य आलोक से मानवता के अनैतिक अंधकार को समाप्त कर देगे।

दुःख आर्यसत्य–एक विवेचन

धर्मचन्द्र जैन (शोध-छात्र)

चार आर्यसत्यों का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। जिनका वर्णन पालि तथा संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुरता से मिलता है। बौद्ध-धर्म सम्बन्धी आधुनिक भाषा के ग्रंथों में भी इसकी खूब चर्चा हुई है।

आर्यसत्योंका उपदेश भगवान् बुद्धने अपने प्रथम 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' में पंचवर्गीय भिक्षुओं को ऋषिपत्तनमृगदाव में दिया था। जिनका साक्षात्कार उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते समय किया था[१]। आर्यसत्य चार है— दुःख आर्यसत्य', 'दुःख समुदय आर्यसत्य', 'दुःख निरोध आर्यसत्य' और दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् आर्यसत्य'। इनमें से प्रथम 'दुःख' आर्यसत्य ही प्रस्तुत अनुबन्ध का विवेच्य विषय है।

'मज्झिम निकाय' में आर्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है "आरकास्यहोन्ति पापका अकुशला धम्माति 'अरियो' होति"[२]। वसुबन्धु ने भी 'आर्य' शब्द की व्याख्या इस प्रकार से की है—"आरात् याता. पापकेभ्यो ऽकुशलेभ्योधर्मेभ्यः इत्यार्या" आर्य वह है जो अकुशल पाप धर्मों से दूर हो गया है[३]।

वसुबन्धु और बुद्धघोष "आर्यसत्य" शब्द की एक ही प्रकार से व्याख्या करते हैं यथा—'ये आर्यों के सत्य हैं'[४]। प्रश्न उठता है कि क्या ये दूसरों के लिए सत्य नहीं हैं या दूसरों के लिए झूठ है? (किमन्येषा मृषा)। वसुबन्धु इस पर कहते हैं कि 'वे सब के लिए सत्य है। अविपरीत होने के कारण (अविपरीतत्वात्)। किन्तु जिस प्रकार आर्य इनको यथार्थ रूप में देखते हैं, दूसरे उनको उस प्रकार से नहीं देखते हैं, अतः ये आर्यसत्य कहे जाते हैं[५]।

वसुबन्धु एक गाथा उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि 'जिसको आर्य सुख कहते हैं, दूसरे उन्हें दुःख जानते हैं, जिनको दूसरे सुख बतलाते हैं आर्य उसको दुःख जानते हैं—

यदार्यासुखतः प्राहुस्तत्परे दुःखतो विदुः।
यत्परेसुखत. प्राहुस्तदार्या दुःखतो विदुः" ॥[६]

अभिधर्मकोश के छठे कोश स्थान में वसुबन्धु ने चार आर्य सत्यों की व्याख्या की है। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि–दुःख आर्य सत्य प्रथम क्यों लिया गया? इसके उत्तर में वसुबन्धु कहते हैं कि 'आर्य सत्यों का क्रम अभिसमय के अनुसार है—

"सत्यानि उक्तानि चत्वारि दुःख समुदयस्तथा।
निरोधो मार्गस्तेषां यथा अभिसमयं क्रमः" ॥[७]

अर्थात् जिस सत्य का पूर्व अभिसमय[८] (अभिसम्बोध) होता है अर्थात् जिस सत्य का पहले अभिसमय होता है उसी का पूर्वनिर्देश किया गया है। प्रश्न है कि 'तृष्णा जो दुःख का हेतु है उसका पूर्व निर्देश क्यों नहीं है और दुःख जो तृष्णा के कारण उत्पन्न होता है जो फलरूप भी है उसका बाद में निर्देश क्यों नहीं किया गया है। इसका उत्तर

१. देखिए: महावग्ग-धम्मचक्कपवत्तन-ललितविस्तरसूत्र परि. २६, पृ० २९५-३०२।
२. देखिए: मज्झिमनिकाय १, ३४३।
३. देखिए अभिधर्मकोश ३।४४।
४. अभिधर्मकोश भाष्य ६।३ पृ० ३२८; सं० नि० भा० ५ पृ० ४२५, ४३५; विसुद्धिमग्ग १६।२०—२२।

५. अभिधर्मकोशभाष्य ६।३, पृ० ३२८; अर्थविनिश्चय-सूत्र पृ० १५८।
६. तुलना कीजिए—
यं परे दुःखतो आहृतदरिया आहू दुःखतो।
य परे दुःखतो आहू तरिया सुखतोविइ ॥
—सं० नि० ४, पृ० १२७।
७. अभिधर्मकोश ६।२।
८. अभिसमयकोऽर्थः। अधिसम्बोधइणो बोधनत्वात्— अभि० को० भाष्य० ६।३, पृ० ३२८।

पञ्चउपादान, स्कंधरूप, संज्ञासंस्कार, विज्ञान और वेदना, ये भी दुःख हैं। पञ्चोपादान, स्कंधहेतु तथा प्रत्यय सहित अनित्य दुःख और अनात्म रूप कहा गया है, अतः दुःख रूप है[1]।

पालि और संस्कृत ग्रंथों में इसकी बार-बार पुनरावृत्ति हुई है कि "सब्बे सङ्खारा दुःखा (सर्वसंस्काराः दुःखाः) सभी संस्कार दुःख हैं। वसुबन्धु ने अपने अभिधर्म कोश भाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि जब केवल वेदना ही दुःख रूप होती है तो सब संस्कार दुःख क्यों कहे गये है? वसुबन्धु ने व्याख्या करते हुए कहा है कि दुःख तीन प्रकार के हैं—दुःख दुःखता, संस्कार दुःखता और विपरिणाम दुःखता। इन तीन दुःखताओं मे सास्रव सस्कार आ जाते है। जो चीज अच्छी लगती है जो 'मनाप' है वह भी विपरिणाम रूप होने के कारण विपरिणाम दुःखता है। जो अपनाप (अच्छी न लगने वाली) है वह तो दुःख दुःखता ही है। इन दोनों में से भिन्न बाकी सब सस्कार दुःखता हैं। इस लिए सुख वेदना मे भी जिसको मनाप वेदना की संज्ञा दी जा सकती है, विपरिणाम स्वरूप होने के कारण दुःख रूप है। सूत्र में कहा गया है कि सुखावेदना क्या है? जो उत्पत्ति में सुख है, स्थिति मे भी सुख है किन्तु विपरिणाम में दुख है। दुखवेदना तो उत्पत्ति, स्थिति और विपरिणाम तीनों में दुःख रूप है। अदुःख सुखावेदना संस्कार (संस्कारेण) से ही दुःख है। इस प्रकार सब सास्रव संस्कारों को आर्य(विज्ञजन) यथार्थ रूप मे दुःखतः देखते है किन्तु विद्वान् या आर्य श्रेष्ठतम लोक (भवाग्र) में भी दुख का अनुभव करते है।

'अभिधर्म कोश भाष्य' मे दुःख के अस्तित्व पर एक बहुत ही दिलचस्प विवाद आया है जो विवाद सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों के सुख-दुख आस्तित्व संबन्धी भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों को प्रस्तुत करता है। वैभाषिक कहते है कि 'जब सुख है तो दुःख ही केवल आर्यसत्य क्यों कहा गया? इसके उत्तर मे वसुबन्धु ने एक मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'सुख के अल्प होने के कारण (अल्पत्वात्) सुख नही है जैसे—उड़द की दाल के ढेर मे यदि मूंग, मसूर आदि के कुछ कण हों तो हम उसे उड़द की दाल का ढेर ही कहेंगे न कि मूंग-मसूरादि का। इसी प्रकार सुख के अत्यन्त अल्प होने से उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह एक निकाय का व्याख्यान है[2]। वसुबन्धु ने 'इत्येके' करके इसका उल्लेख किया है। कभी-कभी फोड़े के खुजलाने में भी कुछ सुख (सुखाणुकेन) का आभास होता है लेकिन कौन इसे सुख कहेगा, वह तो दुःख ही है। इस लिए सौत्रान्तिकों का कहना है कि 'सुख का भी दुःख हेतु है'। वास्तव मे दुःख ही है। लेकिन उस दुःख में इच्छा होने के कारण ही (तदिष्टेः) दुःख-दुःख समझ लेते है परन्तु आर्य सुख सहित सर्व संस्कार को दुःख रूप देखते हैं क्योंकि सब संस्कार दुःखमय है[3]। इसलिए दुःख ही आर्य सत्य व्यवस्थापित करते हैं न कि सुख को। पूर्व पक्ष का कहना है कि "सुखावेदना" को दुःखतः क्यों देखते हैं? इसका उत्तर है क्योंकि वह अनित्य है और प्रतिकूल है यह कैसे है कि सुखावेदना है ही नही? यह कैसे जाना जाय? वसुबन्धु कहते है कि यह युक्ति और सूत्र से प्रमाणित किया जा सकता है।

सूत्र में भगवान ने कहा है कि जो कुछ वेदनीय है वह दुख है, और सुखावेदना को भी दुःख से देखना चाहिए, दुःख मे दुःख को देखना संज्ञाविप्रयास है।" इत्यादि सूत्र वचन है। युक्ति से यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है? यह जो कभी-कभी पान, भोजन, ठण्डक, गर्मी आदि की चाहना (इष्टि) होना है और इनको सुख-हेतु समझा जाता है लेकिन यदि पानादि भोजन मे सुख होता तो अधिक खा लेने पर या अकाल मे खा लेने पर पान भोजनादि दुःख के कारण नहीं होते। वास्तव मे भोजन पानादि की कामना भूख-प्यास आदि दुःख के कारण होती है। उस दुख की निवृत्ति के लिए हम भोजनपानादि करते हैं और उसे ही सुख समझते हैं, इस प्रकार से दुःख की निवृत्ति को ही सुख समझा जाता है। इसी प्रकार ईर्यापथ (सोने, बैठने, खड़े होने आदि) में जो सुख की अनुभूति होती है वह भी दुःख (थकावट आदि) के

---

१. संयुक्तनिकाय २१।१; ३४।३

२ सुखस्याल्पत्वात् मुद्गादिभावेऽपि माषराश्यप देशवदित्येके।"—अभि० को० भा० ६।३, पृ० ३२६।

३. सह सुखेन सर्वम् भवमार्या दुःखतः पश्यन्ति संस्कार दुःखतैक रसत्वात्। —वही० पृ० ३३०।

कारण होती है । सौत्रान्तिक कहते हैं कि वास्तव मे दुःख के प्रतिकार मे या दुःख के विकल्प के रूप में सुख की अनुभूति होती है । तब तक दुःख की अनुभूति नहीं होती जब तक मनुष्य किसी दुःख विशेष से यथा—भूख प्यास, सर्दी, गर्मी, थकावट, काम, रागादि से उपद्रुत नहीं होता । इस प्रकार दुःख के प्रतिकार में ही सुख बुद्धि होती है, न कि सुख में । अथवा दुःख के विकल्पमान में अज्ञजन (बाल) सुखानुभव करता है यथा—भार को एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रखने मे सुख प्रतीत होता है । अतः सौत्रान्तिकों के अनुसार यथार्थता सुख रूपी कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु अभिधार्मिकों (वैभाषिकों) का सौत्रान्तिकों से सुख के अस्तित्व पर बहुत बडा मतभेद है । वसुबन्धु ने 'अभिधर्म कोश भाष्य' के छठे कोश स्थान में जहाँ उन्होंने चार आर्य सत्यों की व्याख्या की है इसका विशद वर्णन दिया है । वैभाषिकों का कहना है कि "सुख नाम का द्रव्य है ।[1] वैभाषिक सुख की सत्ता को इंकार करने वाले (सुखापवादी) सौत्रान्तिकों से पूछते है कि दुःख क्या है ? (किमिदं दुःखम्) यदि वह बाधनात्मक है तो किस प्रकार से है, यह बतलाइये ? यदि आप दुःख को उपघातक समझते हैं तो इसमे अनुग्राहक सुख की सिद्धि प्रमाणित होती है । यदि दुःख अनभिप्रेत है तो अभिप्रेत सुख की सिद्धि होती है ।[2] जो वेदना अपने लक्षण (सुखत्व)से अभिप्रेत है उसी से अनभिप्रेत नहीं हो सकती । वह अनभिप्रेत तभी होती है जब आर्य (विज्ञजन) उसको प्रयत्न साध्य, प्रमाद युक्त, विपरिणामिनी अनित्य समझते है । इस दृष्टि से वह अवश्य अनभिप्रेत है किन्तु स्वलक्षण से सुख-वेदना अनभिप्रेत नहीं है । यदि वह स्वलक्षण से अनभिप्रेत होती तो किसी को भी सुख में राग नहीं होता, प्रकारान्तर से वह उसे दोष-युक्त देखता तथा उससे विरक्ति (वैराग्य) पाने का अभिलाषी होता । अतः वैभाषिक कहते हैं कि "सुख (सुखावेदना) स्वलक्षणतः है ।"

इसके बाद वैभाषिक सूत्र से उत्पन्न सुख के अस्तित्व के सम्बन्ध मे उठाई गई आपत्तियों का समाधान करते हैं । यह जो भगवान ने कहा है कि जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है[3] । इस पर उनका (वैभाषिकों का) कहना है कि वह सूत्र नीतार्थ है, क्योंकि एक ओर सूत्र में कहा गया है कि 'संस्कार अनित्य को लेकर ही कहा गया है क्योंकि जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है'[4] । यह केवल दुःख के संदर्भ में ही नहीं कहा गया है ।

वैभाषिक आगे पूछते हैं कि स्वलक्षणतः (स्वभावतः) समस्त वेदनीय धर्म दुःख यदि होते, तो तीन वेदनाओं—सुखा, दुःखा, असुखा-दुखा–सूत्र में प्रतिपादित कैसे होतीं[5] । इसलिए स्वभावतः तीनों वेदनाओं का अस्तित्व है ।

वैभाषिक आगे कहते है कि 'यह जो प्रतिपक्ष (सौत्रान्तिकों) का कहना है कि सूत्र मे कहा है कि—सुखावेदना को दुःखतः देखना चाहिए, इसका क्या अर्थ है । वैभाषिक उत्तर देता है कि सूत्र में दोनों वेदनायें–सुख और दुःख अभिप्रेत हैं । अच्छे लगने के कारण (मनापत्वात्) स्वभावतः सुखत्व है और विपरिणामत्व तथा अनित्यत्व के कारण वही वेदना दुःख है । अर्थात् दुःखत्व की प्रतीति कराती है । आस्वाद के कारण सुख दृष्टि से जब मनुष्य देखता है तो वह बन्धन मे आता है किन्तु वैराग्य के कारण जब दुःख दृष्टि से देखता है तो वह मुक्त होता है । जिस दृष्टि से देखने के लिए मोक्ष की प्राप्ति हो उस दृष्टि से देखने के लिए ही बुद्धों का उपदेश होता है । इसलिए ही कहा गया है कि 'सुखावेदना को दुःख जानना चाहिए ।' अतः स्वभावतः सुखावेदना का अस्तित्व है । वैभाषिक एक गाथा को उद्धृत करते हैं—

संस्कारानित्यताज्ञात्वा अथो विपरिणामतां ।
वेदना दुखतः प्रोक्ता सुबुद्धेन प्रजानता' इति ॥[6]

---

१. तस्मिन्नस्त्येव सुखमिति—सौत्रान्तिकाः ।
—अस्तिएव अभिधर्मिकाः—वही० ।

२. उपघातकं चेत् । अनुग्राहकं सुखमिति सिद्धम् । अनभिप्रेतं चेत् । अनभिप्रेत सुखमिति सिद्धम् ।
वही० प० ३३१ ।

३. यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्रदुःखस्येति ।" वही पृ० ३३१

४. संस्कारानित्यमानन्दमयासंधाय भाषितं संस्कारविपरिणामतां च यत् किञ्चिद्वेतमिदमत्रदुःखस्येति । वही.

५. तुलना कीजिए—तिस्सो वेदना—सुखा वेदना, दुक्खावेदना, अदुक्खासुखा वेदना ।"
—दीर्घनिका संगीति पर्याय सूत्र, पृ० १७१

६. दे० अंगुत्तरनिकाय ४ पृ० २१६ ।

(संस्कारों की अनित्यता और विपरिणाम को जानकर ही बुद्ध ने वेदना को दुःखतः बतलाया है।)

यदि सुखावेदना केवल दुःख रूप होती तो संस्कार अनित्यता और विपरिणामता का उल्लेख न होता।

वैभाषिक एक और सूत्र वचन से उत्पन्न आपत्ति का समाधान करते हैं कि 'सूत्र में कहा गया है—'दुःख मे सुख की प्रतीति संज्ञाविप्रयास है।' वे(वैभाषिक) इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह 'आभिप्रायिक उपदेश है। लोगों की काम गुण और भव (दूसरे जन्मादि) आदि मे सुख संज्ञा होती है उस संज्ञा को एकान्त सुख समझना ही संज्ञा विप्रयास है। कारण की सुखावेदना अन्ततोगत्वा विपरिणाम शील और अनित्य है अतः उसे नित्य सुख समझना गलत है। अतः सुख की अभाव सिद्धि प्रमाणित नही होती। इस प्रकार वैभाषिक और कई सूत्रों तथा युक्तियों से सुख की द्रव्य-सत्ता सिद्ध करता है[1]। वैभाषिक सुख की द्रव्य-सत्ता मानते हुए भी यह स्वीकार करने मे हिचकिचाहट नहीं करते हैं कि अन्ततोगत्वा सुख अनित्य है विपरिणाम शील है और दुःख में परिणत होता है। वास्तव में त्रिदुःखता[2] (दुःख-दुःखता, संस्कार-दुःखता और विपरिणाम दुःखता के कारण ही सब सास्रव दुःखहैं। इस प्रकार 'अभिधर्म कोश भाष्य' में दुःख सत्य का गम्भीर विवेचन किया गया है। अब महायान मे दुःख के विवेचन को देखें—महायान में दुःख को कुछ और ही दृष्टि से देखा गया है, बोधिसत्व दूसरों के दुःखों का परिवहन करता है उनके दुःखों को सहने में उन्हे अद्भुत प्रसन्नता होती है। वास्तव मे देखा जाय तो महायान में दुःख का स्थान करुणा ने ले लिया है और महायान ग्रन्थो का करुणा ही मूल आधार है। हरदयाल ने बोधिसत्व डाक्ट्रिन् में चन्द्रगोविन्द के शिष्य लेख नामक ग्रथ से एक उक्ति को (श्लो० १४) उद्धृत किया है जिसमे उन्होने कहा है कि 'दूसरों के लिए दुःख सहन करना ही सुख है।'[1] इसी प्रकार के विचार 'अवदान कल्पलता' और 'महायान सूत्रालंकार' में भी आते है। 'शिक्षा समुच्चय' में इतना तक कहा गया है कि 'बोधिसत्व सब सत्वो के दुःखों का भार अपने कंधों पर लेने के लिए तैयार है।' वह भीषण अपायों के दारुण दुःखों को भी सहन करता है ताकि सत्व मुक्ति प्राप्त करें, कितनी उदारता से वह कहते है—"वरम् खलु पुनरहमेको दुःखितः स्याम न चे मे सर्वसत्वा अपाय भूमि प्रपतिताः।" इस प्रकार दुःख की कल्पना को महायान मे एक नया मोड़ दिया गया है। दुःख से मुक्ति पाने की इच्छा नही अपितु दुःख सहन करने में ही सुख की अनुभूति महायान मे बोधिसत्व के आदर्श में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान मे दुःख को हेय दृष्टि से नही देखा गया है या उससे मुक्ति पाने के लिए बोधिसत्व प्रयत्न शील नही दिखाई देता है। वहाँ तो सब सत्यों के प्रति करुणा के कारण बोधिसत्व दुःखों को सहन करने के लिए अग्रसर है।

★

१. अभि० को० भा०, पृ० ३३३।

२. मिलाइये—'दुक्खदुक्खतासङ्खारदुक्खता, विपरिणामदुक्खता।" —दी. नि. संगीतिपर्याय सूत्र पृ. १७१

१. देखिये—बोधिसत्व डाक्ट्रिन, पृ० १६०।

२. देखिये—शिक्षा समुच्चय, १६।३० पृ० १४।८

"सज्जन और दुर्जन अपने ही सुगुण, दुर्गुणों के कारण होता है, सर्प के दांत में विष होता है। बिच्छू के डंक में और ततइया के डंक में, और मक्खी के मुख में विष होता है। किन्तु दुर्जन के सर्व शरीर में विष रहता है। विषैले जन्तु पीड़ित होने पर ही अपने अस्त्र का उपयोग करते हैं, किन्तु दुर्जन बिना किसी कारण के ही उसका प्रहार करते हैं।"

पारसनाथ किला के जैन अवशेष

कृष्णदत्त वाजपेयी

उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिला में नगीना रेलवे स्टेशन से लगभग ६ मील उत्तर-पूर्व की ओर बढापुर नामक कसबा है। वहां से करीब ३ मील पूर्व एक प्राचीन किला' के भग्नावशेष दिखाई पड़ते है। इसे 'पारसनाथ किला' कहते है। इस नाम से अनुमान होता है कि किसी समय वहाँ जैनतीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का मन्दिर था। कुछ वर्ष पूर्व इन तीर्थंकर की एक विशाल काय भग्न प्रतिमा बढापुर गांव से प्राप्त हुई है जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

इस किले के सम्बन्ध में अनेक जन श्रुतियाँ हैं। एक जन श्रुति यह है कि पारस नाम के राजा ने वहाँ अपना किला बनवाया था। श्रावस्ती के शासक सुहेलदेव के पूर्वजों के साथ भी इस किले का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। जो प्राचीन अवशेष अब मिले हैं उनसे इतना कहा जा सकता है कि ई० की दशवी शताब्दी के लगभग किसी शासक ने वहाँ अपना किला बनवाया और कई जैन मंदिरों का निर्माण कराया।

यह बताना कठिन है कि इस किले तथा मन्दिरों को किसने नष्ट किया। संभव है कि रुहेलों के समय में या उनके पहले यह बरबादी हुई हो। कालान्तर में इस स्थान को उपेक्षित छोड़ दिया गया और धीरे-धीरे वह बीहड़ वन गया।

कुछ वर्ष पहले मुझे इस स्थान को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश सरकार ने जंगल के एक भाग को साफ करवा कर उसे खेती के योग्य बना दिया है। वहाँ 'काशी वाला' नाम से एक बस्ती भी आबाद हो गई है। इसके उत्साही निवासियों ने जमीन को हमवार कर उसे खेती के योग्य कर लिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने वहाँ पर बिखरी हुई पुरानी मूर्तियों की भी रक्षा की है। सरदार रतनसिंह नाम के सज्जन ने किला से एक अत्यन्त कलापूर्ण पाषाण-प्रतिमा प्राप्त की है। यह बलुये सफेद पत्थर की बनी है और ऊंचाई में दो फुट आठ इंच तथा चौड़ाई में दो फुट है। मूर्ति जैन तीर्थंकर महावीर की है। भगवान महावीर कमलांकित चौकी पर ध्यान मुद्रा में आसीन हैं। उनके एक ओर नेमिनाथ जी की तथा दूसरी ओर चन्द्रप्रभु जी की खड़ी मूर्तियां हैं। तीनों प्रतिमाओं के प्रभा मंडल उत्फुल्ल कमलों से युक्त हैं। प्रधान मूर्ति के शिर के दोनों ओर कल्पवृक्ष के पत्ते प्रदर्शित हैं। मूर्ति के घुंघराले बाल तथा ऊपर के तीन छत्र भी दर्शनीय हैं। छत्रों के अगल-बगल सुसज्जित हाथी दिखाये गए हैं, जिनकी पीठ के पीछे कला पूर्ण स्तम्भ हैं। हाथियों के नीचे हाथों में माला लिये हुए दो विद्याधर अंकित हैं। प्रधान तथा छोटी तीर्थंकर प्रतिमाओं के पार्श्व में चौरी वाहक दिखाए गए हैं।

मूर्ति की चौकी भी काफी अलंकृत है। उसके बीच में चक्र है, जिसके दोनों ओर एक-एक सिंह दिखाया गया है। चक्र के ऊपर कीर्ति मुख का चित्रण है। चौकी के एक किनारे पर धन के देवता कुबेर दिखाये गए हैं। और दूसरी ओर गोद में बच्चा लिए देवी अंबिका हैं। चौकी के निचले पहलू पर एक पंक्ति में ब्राह्मी लेख है जो इस प्रकार है—

'श्री विरुद्धमन समिदेवः। स्म १०६७ राणलसुत्त भरथ प्रतिमा प्रठपि।' (अर्थात् संवत् १०६७ मे राणल के पुत्र भरथ (भरत) द्वारा श्री वर्द्धमान स्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई)।

लेख की भाषा शुद्ध संस्कृत नहीं है। पहला अंश 'श्री वर्द्धमान स्वामिदेवः' का बिगड़ा हुआ रूप है। 'स्म' शब्द विक्रम संवत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा मानने पर मूर्ति की प्रतिष्ठा की तिथि १०१० ई० आती है। पारसनाथ किले से इस अभिलिखित मूर्ति तथा समकालीन अन्य मूर्तियों के प्राप्त होने से पता चलता है कि १०वीं ११वीं शती में पारसनाथ किला जैन धर्म का एक अच्छा

केन्द्र हो गया था। जान पड़ता है कि वहां एक बड़ा जैन विहार भी था। इस स्थान की खुदाई से प्राचीन इमारतों के कई अवशेष प्रकाश में आये हैं। किला का सर्वेक्षण और उत्खनन करने पर अधिक महत्वपूर्ण वस्तुएं प्राप्त हो सकेगी।

पारसनाथ किला की जो आंशिक सफाई हुई है उसमे अनेक बेल-बूटेदार ईंटें, पत्थर के कला पूर्ण खभे, सिरदल, देहली तथा तीर्थंकर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अनेक शिला पट्टों पर बेल-बूटे का काम बहुत सुन्दर है। एक पत्थर पर सगीत मे सलग्न स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। इन अवशेषों में से मुख्य का परिचय नीचे दिया जाता है—

सं० १—दरवाजे का सिरदल—इस सिरदल के बीच मे कमल-पुष्पों के ऊपर दो सिंह बैठे हुए दिखाये गए है। सिंहासन के ऊपर भगवान तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में अवस्थित है। उनके अगल-बगल में एक-एक तीर्थंकर मूर्ति खड्गासन में दिखाई गई है। मध्य भाग के दोनों ओर भी इसी प्रकार का चित्रण है। सिरदल के दोनों कोनों पर एक-एक तीर्थंकर प्रतिमा खड्गासन मे दो खम्भों के बीच मे बनी है। सभी तीर्थंकरो के ऊपर छत्र है।

सं० २—देहली का भाग—यह अवशेष उस स्थान से प्राप्त हुआ जहाँ से भगवान महावीर जी की बड़ी प्रतिमा मिली है। इसके बीच में कल्प वृक्ष का अलकरण है, जिसके प्रत्येक ओर दो-दो देवता हाथ में मंगल घट लिए हुए खड़े है। उनके खड़े होने का त्रिभगी भाव बहुत आकर्षिक है। इस पत्थर मे किनारे की ओर शेर की मूर्ति है। ऐसी ही मूर्ति पत्थर के दायें कोने पर भी थी, जो टूट गई है।

स० ३—संगीत का दृश्य—एक अन्य देहली पर, जो किले के बीच से मिली थी, संगीत का दृश्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। इसमें एक ओर कई आकृतियाँ तथा अलकरण बने हैं। तथा दूसरी ओर भाव पूर्ण मुद्रा में एक युवती नृत्य कर रही है। उसके अगल बगल मृदंग और मंजीर बजाने वाले पुरुष उकेरे हुए हैं। इन तीनों की वेषभूषा बड़े कला पूर्ण ढंग से दिखाई गई है।

सं० ४—द्वार स्तम्भ—पारस नाथ किले से अनेक सुन्दर द्वार स्तम्भ भी मिले है। एक स्तम्भ के नीचे मकर के ऊपर खडी हुई गगा दिखाई गई है। उनके अगल-बगल दो परिचारिकाएँ त्रिभगी भाव मे प्रदर्शित है। ये मूर्तियां ग्रैवेयक, स्तनहार, किंकिणि सहित मेखला तथा अन्य अलंकरण धारण किये हुए है। खम्भे के ऊपर पत्रावली का अंकन दिखाया गया है।

सं० ५—यमुना सहित द्वार स्तम्भ—इस स्तम्भ पर नीचे के भाग मे अपने वाहन कच्छप पर आरूढ़ यमुना दिखाई गई है। इनके साथ भी उसी प्रकार परिचारिकाएँ प्रदर्शित है जैसी कि पहले द्वार स्तम्भ पर। इससे पता चलता है कि ये दोनों खम्भे एक ही द्वार पर लगे हुए थे। द्वार खम्भों के ऊपर गंगा-यमुना का चित्रण गुप्त काल के प्रारम्भ से मिलने लगता है। गुप्त काल के महाकवि कालीदास ने दरवाजे पर लगी हुई देवी रूपा गगा-यमुना की मूर्तियो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"मूर्ते च गगा यमुने तदानी सचामरे देव से विषाताम्" (कुमार सभव ७, ४२) अर्थात् उस समय मूर्ति रूप मे गगा और यमुना हाथो मे चँवर लिए हुए देव की सेवा मे उपस्थित थी।)

सं० ६—द्वारपाल सहित द्वार-स्तम्भ—इस खम्भे के नीचे एक मोटा दड लिए द्वरपाल खड़ा है। उसकी लम्बी दाढ़ी तथा बालो का जूडा दर्शनीय है। इसका ढंग उसी प्रकार का है जैसा कि मध्य कालीन चदेल कला मे मिलता है। इस खम्भे के ऊपरी भाग में फूलों का अलकरण दिखाया गया है।

सं० ७—द्वार स्तम्भ का निचला भाग—इस खम्भे का केवल नीचे का हिस्सा बचा है, जिस पर पूर्वोक्त ढग का एक द्वारपाल खड़ा है। इसकी भी वेशभूषा पहले के द्वरपाल जैसी है।

सं० ८—भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति—यह मूर्ति बढापुर गाँव से आई थी। यह पारसनाथ किला से ही वहाँ किसी समय गई होगी। दुर्भाग्य से इसका मुह, हाथ तथा पैरों का भाग तोड़ डाला गया है। यह मूर्ति काफी विशाल है। भगवान ध्यान मुद्रा मे सिंहासन के ऊपर बैठे हुए हैं। आसन पर सर्प की ऐंड़कार कुण्डलियाँ दिखाई गई हैं और सिर के ऊपर फण का घटाटोप है। अगल-

शोध-कण

श्री यशवंत कुमार मलैया

(१) दमोह से कुछ दूरी पर कुंअरपुर गाँव है। अभी मै वहाँ गया था और उसे शोध की सम्भावनाओं से भर पूर पाया। यहाँ बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव चारों मतो की मूर्तियाँ पायी जाती है। एक बुद्धमूर्ति के पादमूल मे दो पंक्तियों का लेख अंकित है—"ओम् नमो बुद्धाय। ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतु तेषाम् तथा गतो ह्यवदत श्री नी। एव वादी महाश्रमणः।"

दूसरा और तीसरा वाक्य प्रसिद्ध बौद्ध मत्र है, जो नालदा मे बहुतायत से पाया गया है। इस इलाके मे बौद्धमूर्ति पाये जाने का यह संभवत: पहला अवसर है।

एक दान स्तम्भ मे सं० १३६५ में श्री वाघदेव जू द्वारा कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण को दान दिए जाने का उल्लेख है।

अनेक तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ के दो जैन मूर्ति खण्ड उल्लेखनीय है। एक सर्वतोभद्र चौपहलू मूर्ति-खण्ड मे हर पार्श्व पर एक ऊपर एक नीचे इस तरह दो अंकन है। एक पार्श्व पर ऊपर एक पद्मासन तीर्थंकर और नीचे एक चतुर्भुजा देवी अंकित है। तीर्थंकर के नीचे "वर्धमान देव" और देवी के नीचे "श्री चक्रेश्वरी महादेवी" उत्कीर्ण किया हुआ है यह आश्चर्य जनक है; क्योंकि अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान की शासन देवी सिद्धायिनी है। दूसरे पार्श्व पर ऊपर पद्मासन तीर्थंकर और नीचे एक बालक को लिए देवी अंकित है। तीर्थंकर के नीचे शान्ति-नाथ अंकित है। तीसरे पार्श्व के सिर पर फणाटोप वाले एक पद्मासन और दो खड्गासन तीर्थंकर और इनके नीचे एक छ: भुजा वाली ढाल, धनुष, तलवार आदि लिए देवी अंकित है। इनके नीचे का लेख मिट गया है। चौथे पार्श्व पर ऊपर सरस्वती अंकित है और नीचे दो शिष्यों को उपदेश देते हुए आचार्य अंकित है। इनके नीचे लेख में 'रामसिंघ नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख है।

इसी तरह के एक अन्य अश के एक पार्श्व पर युद्ध रथ दो हाथी-सवार और दूसरे पार्श्व पर एक आर्यिका दो अन्य आर्यिकाओं को उपदेश देती हुई अंकित है। इसके नीचे एक लेख था, जिसके कुछ अक्षर ही शेष रह गए हैं। जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

आर्यिकाओं का अकन पाये जाने का यह पहला ही अवसर है। लिपि के आधार पर दोनों मूर्ति खण्ड १२वीं शताब्दी के मालूम होते हैं।

(२) बहोरीबंद की शातिनाथ भगवान की विशाल मूर्तिमें एक लेख उत्कीर्णित है। इस लेख को श्री शकरलाल अधिकारी पुरातत्व विभाग (नवभारत १६-१२-५४ मे) ने इस तरह पढ़ा था—"स्वस्ति श्री वि० सं० १०१०

बगल नाग और नागिन की मूर्तिया उत्कीर्ण हैं। उनके ऊपर ध्यानमुद्रा मे तीर्थंकर-युग्म की प्रतिमाएँ है चरण चौकी के ऊपर दो अलकृत सिंह दिखाये गए है। यह मूर्ति भगवान महावीर की पूर्वोक्त प्रतिमा की तरह बड़ी कलापूर्ण है। संभवतः मध्य काल में पारसनाथ किला की भूमि पर निर्मित मुख्य मदिर की यह मूर्ति थी।

पारस नाथ किले के कितने ही प्राचीन अवशेष इधर-उधर पहुच गए है। मुझे नगीना के जैन मंदिर में कई प्राचीन मूर्तिया देखने को मिली, जिनकी शिल्प-रचना पारस नाथ की कला के अनुरूप है। इन मूर्तियों में ध्यान मुद्रा मे बैठे हुए तीर्थंकर की एक मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। स्तम्भ का एक भाग भी यहा सुरक्षित है जिस पर खड्गासन में भगवान तीर्थंकर दिखाए गए हैं इन सभी प्राचीन अवशेषों को सुरक्षित रखना आवश्यक है। मध्य काल मे उत्तर भारत मे जैन धर्म का जो विकास हुआ उसे जानने मे ये कला कृतियाँ तथा अभिलेख सहायक सिद्ध हुए हैं। ●

फाल्गुन सुदी ६ भौमे श्रीमदगयाकर्णदेवविजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भव, महासामन्ताधिपति श्रीमद् गोल्हण देवस्य प्रवर्धमानस्य। श्रीमद् गोलापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायमुरुकुताम्नाये तर्क-तार्किक छत्रचूडामणि-श्रीमन्माधव नन्दिनानुगृहीतः साधु-श्रीसर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः धर्म दानाध्ययनरतः। तेनेदं कारितं रम्यं शान्तिनाथस्य मन्दिरम्।

स्वलात्यम्सज्ञक-सूत्रधारः श्रेष्ठिनामा, तेन वितान च महाश्वेतं निर्मितमतिसुन्दरम्।

श्रीमच्चन्द्रकराचार्याम्नाये देशीयगणान्वये समस्त विद्या-विनयानन्दित विद्वज्जनाः प्रतिष्ठाचार्याः श्रीमन्तः सुभद्राः चिरं जयतु।"

इस लेख मे दूसरे वाक्य मे "गोलापूर्वाम्नाये" निश्चित ही "साधु श्री सर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः" के साथ सम्बद्ध है क्योकि आचार्य (माधवनन्दि) को जाति कभी नही लिखी जाती।

इस तरह यह गोलापूर्व जाति का प्राचीनतम उल्लेख है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि बहोरीबन्द क्षेत्र द्वारा अक्सर इस तरह का प्रचार किया जाता है कि "विक्रम सं० १०१० एक हजार फागुन बदी ६ सोम श्रीमद् गया-कर्णदेव ने प्रतिष्ठा कराई।"

अभी मन्दिर के बाहर एक बोर्ड लगाया गया है। जिसमें पहला वाक्य तो ठीक लगाया गया है लेकिन गोला-पूर्वाम्नाये" शब्द विचित्र तरह से तोड़ा गया है जिससे "गोल्ला" किसी व्यक्ति के नाम का भाग बन गया है। दूसरे शब्दों में "गोलापूर्वाम्नाये" शब्द प्रबन्धक स्वीकार नहीं करते।

मैं अभी बहोरीबंद गया था। लेकिन मूर्ति पर चिक-नाई रखने के उद्देश्य से तेल का लेपन किया जाता है। इस कारण लेख पर तेल की परत चढ़ी हुई है।

प्रबंधक श्री कल्याणदास जी, जो उत्साही और योग्य पुरुष हैं, उन्हें तेल की परत साफ करवा कर लेख की फोटो-कापी प्रकाशित कराना चाहिए।

(३) अहार के मूर्ति लेखों में एक बात नोट करने की है। मूर्तियों के निर्माता विविध जातियों के व्यक्ति हैं, जिन्होंने मूर्तियों का निर्माण करा कर प्रतिष्ठित किया है। इनसे विविध उपजातियों के नामों का परिज्ञान होता है। इनमें २४ गोल पूर्वो की (१२०२ से अब तक) १५ जैस-वाल (सं० १२०० से १२८८ तक) १३ गृहपति (सं० १२०३ से १२३७ तक) है। अन्य जातियां पौरपाट (परवार), खण्डेलवाल, मेडवाल, लमेंचू, मइडित, माधुव, गोलाराड, गर्गराट, वैश्य, माथुर, महेशणउ, देउवाल, और अवधपुरा है।

एक मूर्ति "ठक्कुर पद्मसिंह" की है जो स्पष्टतः क्षत्रिय वर्ण के होंगे। एक अन्य अवधपुरा जाति की मूर्ति में श्रावक के नाम के आगे 'ठक्कुर' है। यह गोत्र है। यहां ठकुर शब्द जाति वाचक नही है।

कुछ मूर्तियों के निर्माताओं के आगे 'पंडित' लगा है। ये ब्राह्मण होंगे।

'कुटकान्वय' के लेख उल्लेखनीय है। इनके निर्मा-ताओं के नाम के आगे 'पडित' है लेकिन यह 'अन्वय' पिता-पुत्र वंश परम्परा का नहीं, गुरु-शिष्य परम्परा का लगता है।

संवत् १७२० के एक लेख में गोलापूर्व जाति के पंथवार गोत्र का उल्लेख है। यह गोत्र वर्तमान में नष्ट हो चुका है।

(४) वर्तमान में गोलापूर्वों का स्वाभिमान प्रसिद्ध है। लगता है यह प्रवृत्ति भूत काल मे भी थी। अहार के सं० १२८८ के मूर्तिलेख में "प्रख्यातवंशे गोलापूर्वान्वये" है। कवि शंकर ने सं० १५२६ में हरिषेण चरित्र में लिखा है—"गोलापूर्व वंश सुपवित्त।"

[अनेकांत अप्रैल ७१]

———

नरेणा का इतिहास

डा० कैलाशचन्द्र जैन

नरेणा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीब बारह मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवी और बारहवीं सदी में समृद्ध अवस्था में था। शिलालेखों और साहित्य में इसके प्राचीन नाम, 'नराज' और नराणक'[1] मिलते हैं। इस पर सांभर और अजमेर के चौहानों का राज्य था। उस समय यह सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान समझा जाता था। ११७२ ई० में पृथ्वीराज तृतीय ने यहां पर अपना सैनिक कैम्प (पड़ाव) डाला था[4]। इसका सैनिक महत्व राणा कुंभा के समय (१४३३-६८) तक चलता रहा। वह इसके प्रसिद्ध किलों का उल्लेख करता है जिसको कि जीतना व तोड़ना बड़ा कठिन है।[5]

नरेणा में प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण हुए जान पड़ते हैं। १००९ ई० में महमूद गजनी ने नरायणा पर आक्रमण किया। यहां का राजा बड़ी बहादुरी से अपने देश की रक्षा के लिए लड़ा किन्तु उसकी हार हुई। सुल्तान ने बुरी तरह से यहां की मूर्तियों को तोड़ा तथा बड़ी लूटमार करके गजनी को लौट गया। प्राचीन समय में व्यापार की दृष्टि से भी इसका महत्व था; क्योंकि इसका व्यापार भारत के कोने-कोने तथा विदेशों से होता था। प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने इस स्थान को अलवर के पास वाला नरायणपुर बतलाया है। अन्य विद्वानों ने भी इसको स्वीकार कर लिया है[6] किन्तु यह विचार ठीक ज्ञात नहीं होता है। अलवर के पास वाला नरायणपुर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में नरायण के नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसके विपरीत नरेणा प्राचीन समय में नरायण के नाम से विख्यात था। यह नगर उस समय समृद्धिशाली था तथा यहां धनी व्यक्ति बसते थे। यहां पर जमीन से निकली हुई दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्तियाँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि इस स्थान पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ था। जो राजा महमूद गजनी से लड़ा था, वह शाकंभरी के दुर्लभराज का पुत्र गोविंदराज द्वितीय था। फिरिश्ता भी इस बात का उल्लेख करता है कि महमूद सांभर की तरफ से सोमनाथ की ओर आया था।[6]

चौहानों के राज्य में नरेणा जैनधर्म का बड़ा केन्द्र हो गया था। बारहवीं सदी के लेखक सिद्धसेन सूरि ने इसको अपने सकल तीर्थस्तोत्र में जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थ-रूप में वर्णन किया है।[8] जैन साधु
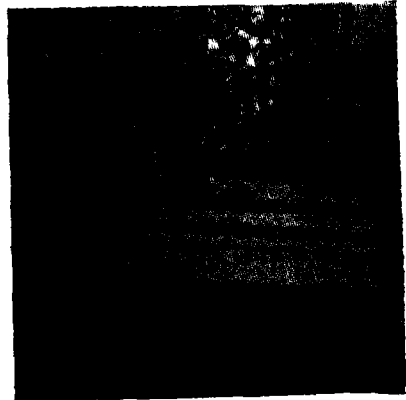
चरणपादुका जैनाचार्य, और सरस्वती

इस स्थान पर रहा करते थे। १०२६ ई० को

१. खरतरं गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २२।
२. पाटण के जैन भंडारों की सूची, पृ० ३१२—३६१।
३. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २६, पृ० ८४।
४. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २५।
५. आर्कियालाजिकल सर्वे इंडियल एगुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० २०५।
६. दी स्ट्रिगल फोर अम्पायर, पृ १०।
७. वही, पृ२३।
८. पाटन के जैन भंडारों की सूची पृ० ३१२-१६।

पादुका पर जैन आचार्य का नाम खुदा हुआ है।[9] ११७० ई० के बिजोलिया के शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के लोलक के पुरखे पुन्यरासि ने यहां पर वर्द्धमानस्वामी का जैन मंदिर बनवाया।[10] १०७६ के यहां से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के मथन नाम के व्यक्ति ने अपने परिवार के सदस्यों सहित मूर्ति प्रतिष्ठा की।[11]
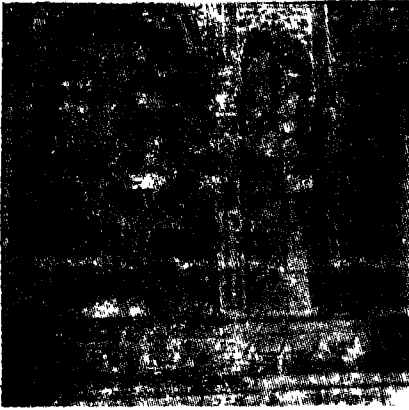
जैन तीर्थंकर की खड्गासन मूर्ति

इन शिलालेखों से यह विदित होता है कि पोरवाल जैन यहां पर रहते थे। पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा ६५२ ई० की है।[12] यहां पर अन्य प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी हैं। यहां से प्राप्त जैन देवियों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उच्च हैं। सरस्वती की प्रतिमा पर १०४५ का शिलालेख अंकित है।[13] इसके अतिरिक्त दो श्वेत पाषाण

सिंहवाहिनी देवी

तथा एक काले पत्थर की सिंह पर बैठी बहुत ही कलापूर्ण सिंहवाहिनी की मूर्तियाँ हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक धनपाल अपनी कविता 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' में यहां के महावीर स्वामी के मन्दिर का उल्लेख करता है।[14] संभव है जो प्राचीन मूर्तियां, स्तंभ तथा तोरणद्वार भैरूजी के मन्दिर के समीप से प्राप्त हुए हैं, वे सब महावीर के मंदिर के प्राचीन अवशेष हों। ऐसा लगता है कि यह समस्त मन्दिर संगमरमर का बना हुआ हो तथा अपनी पूर्ण अवस्था में कला का एक अद्भुत नमूना होना चाहिए। यह मन्दिर बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया क्योंकि इस मन्दिर में बाद की मूर्तियाँ नहीं मिलतीं।

११६२ ई० में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज तृतीय को हराने के पश्चात् नरेणा पर देहली के सुलतानों का अधिकार हुआ। १३८८ ई० में फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद मुसलमानों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। जफरखां ने जो नागौर का स्वतंत्र शासक हो गया था, नागौर का राज्य

---

९. संवत् १०८३ माघ सुदी १४ आचार्य गुणचन्द्रस्य इदं पाद युग्म।

१०. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २६, पृ० ८४ (श्लोक, ३६)।

११. संवत् ११३५ फागुन सुदि प्राग्वाट् जातय श्रेष्टि सुजन सुत मथन सुश्रेयोर्थं पितृपय भातृ माल्हा भार्या मथन सुत चाहड सहिता भार्या प्रथम मनमख बाहुवलि देव निज श्रेयोर्थं प्रतिष्ठापितं।

१२. संवत् १००६ वैशाख बुदि १।

१३. संवत् ११०२ वैशाख सुदि ६ श्री नेमिनारवीय समस्त वालमो प्रतिष्टा कारिति, ओं ह्रीं श्री सरस्वती नमः।

१४. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अंक १।

अपने भाई शम्सखां को दिया। शम्सखां के पश्चात् फिरोजखां सुलतान हुआ। इस समय नरेणा भी नागोर के अन्तर्गत था। मोकल जो १४२० ई० में मेवाड़ का महाराणा हुआ, उसने नागौर के सुल्तान फिरोजखां को हराकर समस्त सपादलक्ष को जीत लिया।[१५] इस प्रकार नरेणा भी मोकल के अधिकार में आ गया। बाद में फिरोजखां के छोटे भाई मुजेरखां ने मोकल को हराकर नरेणा को फिर से हस्तगत किया। १४३७ ई० में उसने किले तथा तालाब की मरम्मत करवाई तथा अपने नाम पर तालाब का नाम रखा।[१६] यहां के मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ा। मुजेदखां ने यहां के प्राचीन कला-पूर्ण हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करके जामा मस्जिद बनवाई। इस मस्जिद के स्तम्भ अब भी हिन्दू कला का दिग्दर्शन कराते हैं। मस्जिद के समीप ही एक विशाल दरवाजा है जो त्रिपोलिया के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी प्राचीन हिन्दु मन्दिरों के अवशेषों से बना है। अब भी कलापूर्ण आकृति के खुदे हुए चित्र इसकी शोभा बढाते हैं। मेवाड़ का फिर से नरेणा पर अधिकार हो गया। राणा कपूर के १४३९ के शिलालेख से पता चलता है कि मेवाड़ के राणा कुंभा ने फिर से नरेणा के किले को जीत लिया। अकबर के राज्य (१५५६ ई०-१६०६) यह नगर अजमेर सरकार के आधीन था।[१७] १६०५ ई० के शिलालेख के अनुसार अकबर स्वयं इस स्थान पर आया था।[१८]

मुगलों के समय में नरेणा पर कच्छावों का राज्य रहा। आम्बेर के राजा पृथ्वीराज क पुत्र जगमल ने तेजसिंह और हम्मीरदेव को हराया और जोबनेर और नरेणा पर अपना अधिकार कर लिया। सम्राट् अकबर ने उसको एक हजार का इनामत दिया।[१९] महाराणा प्रताप के विरोध में लड़ने के लिए वह मानसिंह के साथ गया। जगमल के दो पुत्र थे। एक का नाम खंगार और दूसरे का नाम रामचन्द्र। बड़े पुत्र खंगार से खंगारवंश प्रारम्भ हुआ जो जोबनेर और नरेणा पर राज्य करता था। उसके छोटे लड़के ने जम्बू राज्य की स्थापना की और इस कारण वह काश्मीर क राजाओं का पुरखा समझा जाता है। राव खंगार एक बहादुर सेनापति था जिसने सिरोही के राव सुल्तान तथा बून्दी के राव दुर्जनसाल हाड़ा को हराया। राव खंगार के नारायणदास तथा मनोहरदास दो पुत्र थे जिनको नरेणा तथा जोबनेर की अलग-अलग जागोर दी गई। नारायणदास के तीन लड़के दुर्जनसाल, शत्रुसाल तथा गिरधरदास अयोग्य तथा निकम्मे होने के कारण मुगल सम्राट् जहांगीर को अपनी सेवाओं से खुश नहीं रख सके। इस कारण जहांगीर ने २४६००० की नारायणदास को जागीर बीकानेर के राजा सूरसिंह को दे दी।[२०] तथा नरेणा नारायणदास के भतीजे भोजराज को दे दिया। भोजराज एक वीर सैनिक था। उसने जहांगीर जनाने की खुरम के अचानक आक्रमण से रक्षा की। उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर सम्राट् ने उसका मन्सब बढ़ा दिया। वीर होने के साथ-साथ भोजराज को धर्म के प्रति रुचि थी। उसने नरेणा को दादुपंथी संप्रदाय के संस्थापक दादुदयाल को दान में दे दिया। इसके पश्चात् नरेणा इस सम्प्रदाय का एक बड़ा केन्द्र हो गया।

मध्य कालीन युग में भी नरेणा के लोग जैन धर्म का पालन करते थे। प्राय: जैन साधु इस समय यहां पर आते जाते रहते थे। १६९१ ई० में ईडर के भट्टारक क्षेमेन्द्र कीर्ति और चाकसू के भट्टारक

१५. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९२४-२५ न० ६।

१६. एपिग्राफिया इंडो मुस्लिमिका, १८१३-२४, पृ० १५। अभी इस तालाब को गौरीशंकर तालाब कहते हैं।

१७. आइने अकबरी, जिल्द२, पृ० २७३।

१८. आर्कियालाजिकल सर्वे इडियन एनुअल रिपोर्ट १९२५-२६, पृ० १२८।

१९. वीर विनोद, पृ० १९७।

२०. दयालदास की ख्याति पृ० १५२।

खजुराहो के आदिनाथ मंदिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियां

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

मध्य प्रदेश के छतरपुर स्थित खजुराहो का भारतीय वास्तु तथा शिल्प कला के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मन्दिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी देव मन्दिर समूह कहलाता है। घण्टई मन्दिर के अतिरिक्त समस्त नवीन व प्राचीन दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित जैन मन्दिर एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे के अन्दर स्थित है। ग्यारहवीं शती मे निर्मित आदिनाथ मन्दिर, जिसके प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण मूर्तियों का अध्ययन हमारा अभीष्ट है, पार्श्वनाथ मन्दिर (९५४ ईसवी) के समीप ही स्थित है। जैन शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से आदिनाथ मन्दिर की विशिष्टता मन्दिर की बाहरी भित्तियो के विभिन्न रथिकाओं मे स्थापित १६ जैन देवियों की मूर्तियों, जिनमे से दो मूर्तियाँ संप्रति अपने स्थान से गायब हैं और जो जैन धर्म के १६ विद्या देवियो का अकन करती प्रतीत होती है, और प्रवेश द्वार के सोहवटी (डोर लिंटेल) द्वार शाखाओं और चौखट पर उत्कीर्ण विभिन्न देवियो के अकन मे है। कुछ प्रमुख जैन देवियों यथा लक्ष्मी, पद्मावती, अबिका, चक्रेश्वरी के अतिरिक्त प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण अन्य आकृतियों की निश्चित पहचान उनके जैन परम्परा मे प्राप्त वर्णनों से मेल न खाने की वजह से कठिन है। फिर भी इस लेख में मात्र वाहन के आधार पर, विशेषकर द्वार शाखाओ के, आकृतियों की पहचान की चेष्टा की गई है, क्योंकि जहाँ तक भुजाओ मे प्रदर्शित आयुधों या प्रतीकों के आधार पर इनके पहचान का प्रश्न है, वह उनमे किसी निश्चित क्रम या किसी विशेष अन्तर के अभाव में सम्भव नहीं है। खजुराहो के जैन शिल्प में सर्वत्र कलाकार ने परम्परा के निर्वाह से ज्यादा नवीनताओ के समावेश की ओर ध्यान दिया है। कुछ विशिष्ट देवो यथा, अबिका, सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती, लक्ष्मी, कुबेर, गोमुख, धरणेन्द्र के अकन मे ही कुछ सीमा तक कलाकार जैन परम्परा का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि प्रवेश द्वार की सभी आकृतियों के वाहन, आयुध व स्वरूप काफी अस्पष्ट है। सभी चतुर्भुज आकृतियाँ अर्धस्तभों से वेष्टित अलग-अलग रथिकाओ मे स्थापित है।

प्रवेश द्वार के मध्य मे ललाटबिंब पर उत्कीर्ण चतुर्भुज चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा मे आसीन है, जिसका एक पैर नीचे लटका है और दूसरा आसन पर स्थित है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओ मे क्रमशः गदा और कमल (?) प्रदर्शित है, जब कि निचली भुजाओ मे अभय मुद्रा (दाहिना) और शख (बायी)। देवी के आसन के नीचे प्रदर्शित उड्डायमान मानव आकृति निश्चित रूप से देवी का वाहन गरुड़ है। देवी के दाहिने पैर के नीचे अवस्थित एक भग्न आकृति देवी का उपासक है। इस चित्रण मे चक्रेश्वरी के हाथों में सदैव प्रदर्शित चक्र

जगतकीर्ति एक ही समय मे इस स्थान पर आये और उनके उपलक्ष में एक बड़ा उत्सव लोगों द्वारा मनाया गया।[21] भक्तामर स्तोत्रवृत्ति की प्रति नयनरुचि ने इसी स्थान पर तैयार की।[22]

सामाजिक दृष्टि से भी नरेणा का बड़ा महत्व है क्योंकि साढे बारह वैश्यो की जातियो में नरेणा जाति का भी उल्लेख है जैसा १६३६ ई० मे लिखी हुई सिंहासन बत्तीसी से पता चलता है।[23] अब भी कुम्हारो के गोत्रों मे इस स्थान के नाम पर नरेणा कुम्हार मिलते हैं।

२१. उदयपुर के सभवनाथ के मन्दिर मे भट्टारक पट्टावली, देखो ग्रथ सख्या ४३०।

२२. बून्दी के शास्त्र भडार का ग्रथ न० २४७।

२३. जैन गुर्जन कवियो, जिल्द १ पृ० २३५।

की अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है। देवी के स्कन्धों के ऊपर प्रत्येक पार्श्व में एक मालाधारी उड्डायमान गन्धर्व को मूर्तिगत किया गया है। द्वार बिंब की चक्रेश्वरी मूर्ति के आधार पर इस मन्दिर का जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को समर्पित होना, जिनके यक्षिणी के रूप में गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी का उल्लेख प्राप्त होता है, निश्चित है।

डोर-लिटेल के बायें कोने पर ललितासन मुद्रा में आसीन चतुर्भुज अंबिका की मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी के दाहिनी ओर उनका वाहन सिंह चित्रित है। जैन परंपरा में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी के रूप में मान्य अंबिका को खजुराहो के जैन शिल्प में काफी लोकप्रियता प्राप्त थी। अंबिका की लोकप्रियता का प्रमाण उनकी स्वतंत्र मूर्तियों के अतिरिक्त डोर-लिटेल्स के कोनों पर उत्कीर्ण अंबिका की आकृतियां भी हैं। अंबिका की ऊपरी और निचली दाहिनी भुजाओं में क्रमशः कमल और आम्रलुंबि चित्रित है, जबकि ऊपरी वाम भुजा में पुस्तक व कमल। देवी की बायीं गोद में उनका पुत्र, जिसे वे अपनी निचली भुजा में सहारा दे रही है, बैठा है जो अपने हाथ से देवी के स्तन छू रहा है। देवी के शीर्ष भाग के दोनों ओर आम्रफल से युक्त टहनियां चित्रित है।

डोर लिंटेल के दाहिने कोने पर पांच सर्पफणों के घटाटोपों से आच्छादित चतुर्भुज देवी ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण है। सर्पफणों और पाश के आधार पर इसकी पहचान २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षिणी पद्मावती से की जा सकती है। पद्मावती की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः पाश और कमल (अंकुर) चित्रित है, जबकि निचली अनुरूप (Corresponding) भुजाओं में अभय मुद्रा और कमण्डल प्रदर्शित हैं। देवी का वाहन अनुपस्थित है। जार्डन संग्रहालय, खजुराहो में स्थित एक डोर-लिटेल (नं० १४६७) में भी पद्मावती की एक भुजा में पाश देखा जा सकता है।

ललाटबिंब के चक्रेश्वरी चित्रण में दोनों पार्श्वों में दो चतुर्भुज खड़ी देवियां उत्कीर्ण हैं। दोनों ही आकृतियों के ऊपरी दोनों हाथों में सनालकमल चित्रित हैं, जब कि निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः वरदमुद्रा और कमण्डलु (नीचे लटकता) प्रदर्शित है। हाथों में प्रदर्शित कमल के आधार पर इन देवियों की सभावित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है।

अब हम प्रत्येक द्वार शाखा पर उत्कीर्ण चार देवियों के अंकनों का अध्ययन करेंगे, जो सभी जैनधर्म की विशिष्ट देवियां होनी चाहिए। यद्यपि इन देवियों की निश्चित पहचान संभव नहीं है, पर मात्र वाहनों के आधार पर इनके पहचान का प्रयास किया गया है। आयुधों के आधार पर इन देवियों की पहचान असंभव है; क्योंकि उनके अंकन में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता, है और कुछ सीमित प्रतीकों को ही थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ प्रत्येक के साथ चित्रित किया गया है। ललितासन मुद्रा में आसीन सभी चतुर्भुज मूर्तियां अर्ध स्तंभों से वेष्टित रथिकाओं में स्थापित है। सर्व प्रथम हम बायीं द्वार शाखा की मूर्तियों का अध्ययन करेंगे। ऊपर से पहली मूर्ति के ऊपरी दाहिनी और बायीं भुजाओं मे क्रमशः शक्ति और पाश (?) प्रदर्शित है, जब कि निचली अनुरूप भुजाओं से अभय और वरद मुद्रा व्यक्त है। देवी के बायीं ओर उत्कीर्ण वाहन बैल या श्वान (?) प्रतीत होता है। यदि वाहन को बैल स्वीकार किया जाय तो इस आकृति की पहचान ९वें तीर्थंकर सुविधिनाथ की यक्षिणी सुतारा से की जा सकती है, जिसका वाहन बैल है। पर यह ध्यातव्य है कि बैल वाहन केवल श्वेतांबर परम्परा में वर्णित है और दिगंबर परम्परा में इसी को महाकाली नाम से संबोधित किया गया है और इसका वाहन कूर्म बताया गया है। दूसरी मूर्ति की दाहिनी ऊपरी व निचली भुजाओं में क्रमशः पाश और अभय मुद्रा प्रदर्शित है, जबकि बायीं ऊपरी भुजा में सनाल कमल। देवी की निचली वाम भुजा खंडित है। देवी के दाहिनी ओर चित्रित वाहन गौरैया (?) है, जिसे जैन परम्परा मे किसी भी देवी के वाहन रूप में नही स्वीकार किया गया है। फलतः इस देवी की पहचान किसी ज्ञात जैन देवी से करना संभव नहीं है। तीसरी मूर्ति के ऊपरी दाहिने व बायें हाथों मे शक्ति व पुस्तक व कमल प्रदर्शित है, जबकि निचला दाहिना हाथ भग्न है और बायें में फल (मातुलिंग) चित्रित है। देवी के वाम पार्श्व मे प्रदर्शित वाहन निश्चित रूप से मृग

है, जो दिगबर परंपरा मे ७वी विद्यादेवी काली और ११वें तीर्थंकर श्रेयासनाथ की यक्षिणी गोरी के वाहन के रूप में वर्णित है। चौथी मूर्ति, जिसका वाहन नष्ट हो गया हैं, के ऊपरी दोनो भुजाओ मे सनाल कमल और निचली दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमश: अभय मुद्रा और कमन्डलु प्रदर्शित है। वाहन के अभाव में भुजाओ मे स्थित कमल के आधार पर इसकी पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है।

अब हम दाहिनी द्वार शाखा की मूर्तियों को देखेगे। ऊपर से पहली मूर्ति की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं मे सनाल कमल और पुस्तक व कमल प्रदर्शित है, जबकि अनुरूप भुजाओं में अभय मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है देवी के वाम पार्श्व में उत्कीर्ण आकृति श्वान (?) प्रतीत होती है, जिसके आधार पर देवी की पहचान संभव नही प्रतीत होती है, अन्यथा पुस्तक व कमण्डलु के आधार पर इसे सरस्वती का चित्रण स्वीकार किया जा सकता था। दूसरी आकृति, जिसका शीर्ष भाग खंडित है, की दोनों दाहिनी भुजाएं भग्न हैं, और बायी भुजाओ में पुस्तक व कमल (ऊपरी) व फल (निचली) प्रदर्शित है। देवी के वाम पार्श्व मे उत्कीर्ण वाहन श्वान या मृग (?) है। मृग स्वीकार करने पर बायीं द्वार शाखा की तीसरी आकृति के समान ही इसकी पहचान ७वी विद्या देवी काली या यक्षिणी गौरी से की जा सकती है, जिसकी पुष्टि शेष हाथों मे प्रदर्शित समान प्रतीको से भी होती है। तीसरी आकृति की चारो भुजाएं खण्डित हैं, और बायी ओर अंकित वाहन शुक है। यहा पुन: वाहन के आधार पर देवी की पहचान सभव नहीं है। चौथी आकृति की दोनों दाहिनी भुजाएं संप्रति भग्न हैं और बायीं भुजाओं में सनाल कमल (ऊपरी) और फल (निचली) प्रदर्शित है। देवी के बायीं ओर उत्कीर्ण मकर वाहन के आधार पर देवी की पहचान १६वीं विद्यादेवी महामानसी या १२वें तीर्थंकर वासुपुज्य की यक्षिणी गान्धारी, से की जा सकती है।

द्वार शाखाओं के इन आकृतियों के अतिरिक्त चौखट के दोनों कोनों पर दो ललितासन मुद्रा मे आसीन चतुर्भुज पुरुष आकृतियां उत्कीर्ण है। दाहिने कोने की तुन्दीली आकृतिकी ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमश: परशु और सनाल कमल प्रदर्शित है, जबकि निचली वाम भुजा से अभय मुद्रा व्यक्त है। देवता की दाहिनी भुजा का आयुध भग्न हो गया है। बायें कोने की आकृति के निचले दोनों हाथ खण्डित हो चुके है और ऊपरी दोनों भुजाओं मे पूर्ववत परशु और सनाल कमल प्रदर्शित है। दोनों ही आकृतियों का मुख मण्डल काफी अस्पष्ट है। इन आकृतियों की सभावित पहचान हाथों मे प्रदर्शित परशु और तुन्दीलेपन के आधार पर आदिनाथ के यक्ष गोमुख से की जा सकती है, पर आश्चर्य की बात है कि अन्य मूर्तियों के विपरीत आकृति गोमुख नहीं है, वैसे मुखाकृति के काफी अस्पष्ट होने के कारण इसके गोमुख न रहे होने के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

चौखट पर उत्कीर्ण बाये कोने की पुरुष आकृति के बगल में गज लक्ष्मी की एक चतुर्भुज मूर्ति देखी जा सकती है। स्वतत्र रथिका मे स्थापित देवी पद्मासन मुद्रा में कमल पर आसीन है। देवी ने ऊपरी दोनों भुजाओं में कमल धारण किया है, जिस पर चित्रित दो गज आकृतियां मूर्ति के गज लक्ष्मी होने का निश्चित प्रमाण है। देवी की निचली दोनों भुजाएं भग्न हो चुकी हैं। देवी की मुखाकृति, भुजाएं पयोधर काफी भग्न है। दाहिनी ओर की रथिका मे स्थापित पद्मासन मुद्रा मे आसीन देवी की सभी भुजाएं खण्डित है, पर पिछली मूर्तियो की तरह ही यह भी चतुर्भुज रही होगी। वैसे इस आकृति का ऊपरी दाहिनी भुजा में कमल रहे होने क प्रमाण अभी शेष हैं। देवी के आसन के नीचे वाहन कूर्म प्रदर्शित है, जिसके आधार पर देवी की पहचान ९वें तीर्थंकर सुविधिनाथ के यक्षिणी महाकाली से की जा सकती है। पर सर पर प्रदर्शित तीन सर्पफणों का घटाटोप उपर्युक्त पहचान के विरुद्ध है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त बायें और दाहिने द्वार शाखाओं के निचले भाग मे क्रमश: गगा और यमुना की चतुर्भुज आकृतियां उत्कीर्ण हैं। द्वार शाखाओं के नीचे गंगा और यमुना का अंकन खजुराहो के जैन और हिन्दू मदिरों दोनों ही में समान रूप से प्रचलित था। मूर्ति में गगा की केवल एक भुजा ही शेष है, जिसमें कमल

प्रदर्शित है। यमुना की चारों भुजाएं खण्डित हो चुकी है। गंगा और यमुना की आकृतियो के पीछे क्रमशः उनके वाहन मकर और कूर्म चित्रित है।

डोर लिंटेन के ऊपर एक पैनेल (architrave) में तीर्थंकरों की माता द्वारा उनके जन्म से पूर्व देखे गये १६ शुभ स्वप्नों को अंकित किया गया है¹, जिसका अंकन खजुराहो के समस्त जैन मंदिरों के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। यहां यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि कई प्रवेश द्वारों, जो नवीन मंदिरों के निर्माण में प्रयुक्त हुए है, और कई डोर लिंटेल्स जो संग्रहालयों में स्थित है व नवीन मन्दिरो मे प्रयुक्त हुए है। खजुराहो में कई जैन मंदिरों के अस्तित्व को प्रमाणित करते है, जिनकी संख्या किसी भी प्रकार २० से कम नहीं थी। साथ ही श्वेतांबर परंपरा में प्रचलित १४ स्वप्नों के विपरीत दिगंबर परंपरा के १६ स्वप्नों का चित्रण खजुराहो के जैन शिल्प के दिगंबर संप्रदाय से सम्बन्धित रहे होने का अकाट्य प्रमाण है। स्वप्नों के चित्रण के पूर्व बायी ओर तीर्थंकर की माता को शय्या पर लेटे और सेवक आकृतियों से वेष्टित चित्रित किया गया है, जिसके बाद एक पुरुष और स्त्री को वार्तालाप करते हुए उत्कीर्ण किया गया है, जो संभवतः किसी साधु से तीर्थंकर की माता द्वारा स्वप्नो के फल पूछे जाने का चित्रण है। फिर क्रम से गज, बैल और सिंह को उत्कीर्ण किया गया है। तदुपरान्त चतुर्भुज लक्ष्मी को कमल पर आसीन चित्रित किया गया है, जिसकी ऊपरी भुजाओ मे कमल प्रदर्शित है और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओ मे क्रमशः अभय मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। पांचवे स्वप्न माला के चित्रण के पश्चात् एक वृत के मध्य उत्कीर्ण अश्व छठे स्वप्न चन्द्रमा का अंकन है। सातवें स्वप्न में, द्विभुज सूर्य को एक वृत्त के मध्य में उत्कुटिकासन मुद्रा में दोनो भुजाओं सनाल कमल धारण किये उत्कीर्ण किया गया है। ८वां स्वप्न मत्स्य युगल ९वां दो कलश, १०वां दिव्य झील और ११वां समुद्र हैं, जिसमें कूर्म, मत्स्य आदि जल के जानवर दिखाए गए है। दो छोरों पर दो सिंहों द्वारा धारित और मध्य में धर्मचक्र युक्त सिंहासन १२वां स्वप्न है। १३वें स्वप्न विमान में आसीन द्विभुज आकृति की भुजाओं मे अभय मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायी) चित्रित है। १४वां स्वप्न नागेन्द्र। भवन है, जिसमें सर्पफणों के घटाटोपों से आच्छादित द्विभुज नाग-नागी की आकृतिया अंकित है। दोनों की दाहिनी भुजाओं मे अभय मुद्रा और बायीं में कमण्डलु चित्रित है। १५वां स्वप्न धनराशि एक ढेर के रूप में उत्कीर्ण है। अन्तिम स्वप्न धूम्र विहीन अग्नि के अंकन में अग्नि शिखाओं भामण्डल से युक्त द्विभुज अग्नि की तुन्दीली श्मश्रुयुक्त आकृति की भुजाओं मे अभय मुद्रा और स्रुक (?) प्रदर्शित है। ★

१. महापुराण (आदिनाथ), सर्ग १२, VV; हरिवंशपुराण, सर्ग ८, श्लोक ५८-७४।

आत्म-विश्वास

धरती में अनाज बोते समय किसान को कुछ आत्म-विश्वास की आवश्यकता प्राप्त होती है। वह सुन्दर मूल्यवान भविष्य पर भरोसा जो करता है। तब क्या धर्म का आचरण करने के लिए मानव को आत्म-विश्वास को आवश्यकता नहीं होती? आत्म-विश्वास के विना उसका धर्माचरण भी ठीक नहीं हो पाता। आत्म-विश्वास या आत्मनिष्ठा ही मानव को सर्वत्र प्रतिष्ठा दिलाती, और आदर्श की ओर ले जाती है। और वही उसके धर्म में साधक बनती है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव का उद्देश्य एवं दृष्टि

श्री रिषभदास रांका

तीर्थङ्कर भगवान श्री महावीर ने प्राणीमात्र को उसकी आत्मा की अनन्त शक्ति का बोध कराते हुये विषय-वासनाओं एवं विकारों से मुक्त बनकर पवित्र जीवन की महान् प्रेरणा दी। उन्होंने जगत को कल्याण-कारी स्वावलबन एव पुरुषार्थ का उद्बोधन देते हुए जीने की वह कला सिखाई जिसके द्वारा सामान्य आत्मा भी क्रमशः अपना विकास कर परमात्मा बन सकता है। अहिंसा, अनेकान्त, सयम और त्याग की जो दृष्टि जगत को महावीर ने दी है वह अढाई हजार बरसों के बाद वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण सहायक बन सकती है। महावीर का उपदेश देश, काल अथवा जाति-सम्प्रदाय तक ही सीमित नही था। उनकी दृष्टि विशाल थी।

ऐसे महान तीर्थङ्कर की २५वी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर सारे ससार मे उनके अमर उपदेशो एव जीवन-साधना की स्मृति श्रद्धा, कृतज्ञता एव भक्तिभाव से होनी ही चाहिए और उसमे भी उनके भक्त जैनों द्वारा इस अवसर पर उत्साह, जागृति एवं उल्लास होना स्वाभाविक है। जैन समाज मे इस महान उपलक्ष के लिए अनेक योजनाएँ, कार्यक्रम और चिन्तन चल रहा है। करोडों रूपयों की धनराशि एकत्र की जा रही है जिससे महोत्सव सारे संसार मे धूमधाम से मनाया जाय और भगवान महावीर तथा जैन धर्म की प्रभावना बढ़े। इसके लिये जैन पत्र-पत्रिकाओं, सम्मेलनों एव सभाओं मे सुझावों, विचारों एव योजनाओं की बाढ़ आ रही है। सभाएँ, जलूश, स्वागत-समारोह, भाषणमालाएँ फिल्म-निर्माण, संस्थाओं की स्थापना, मन्दिर निर्माण, साहित्य-प्रकाशन, विश्वविद्यालय, शोध-संस्थान, स्मारक, डाक-टिकिट आदि एवं डांडिया-नृत्य आयोजित करने तक के विविध सुझाव आ रहे है। इसमे सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार, इच्छा और शक्ति के अनुसार उत्साहपूर्वक सुझाव प्रस्तुत कर रहे है और इन सुझावों की क्रियान्विति के लिये प्रयत्नशील भी है।

मुख्य प्रश्न यही है कि भगवान महावीर और जैन-धर्म के इस प्रसंग पर अधिकाधिक प्रभावना हो। प्रभावना का हमारे यहाँ जो प्रचलित रूप है वह सब जानते ही है आचार्यों के पदार्पण अथवा धार्मिक उत्सवों पर प्रभावना की दृष्टि से हम स्वागत समारोह, भव्य जुलूश, भाषण, सह-धार्मिक-भोजन कराना अथवा नारियल, मिठाई, बताशे या अन्य सामग्री बाँटकर हम प्रभावना करते है। हम यह नही कहना चाहते कि ये कार्य प्रभावना की दृष्टि से उचित नही है। हमारा सकेत यही है कि क्या केवल इतना मात्र करना ही तीर्थङ्कर भगवान महावीर एव जैनधर्म की प्रभावना जैसी होनी चाहिए वैसी सम्भव है?

यदि नही तो इनके अतिरिक्त अन्य कौन से मार्ग या कार्य है जिनसे अधिक प्रभावना हो सकती है—सच्ची प्रभावना की जा सकती है।

हमारी नम्र राय मे किसी महापुरुष क प्रति अपनी सच्ची भक्ति एव श्रद्धा व्यक्त करने तथा उनकी स्मृति को अधिक तीव्र एवं ताजा बनाने के लिये दो मुख्य मार्ग हो सकते है—एक मार्ग है, उनके उपदेशो का बाह्य साधनों द्वारा प्रचार और दूसरा मार्ग है तत्वों को जीवन में उतार कर जीवन एवं व्यवहार उदाहरण से प्रचार करना।

प्रचारात्मक साधनों का अपना विशेष महत्व है किन्तु केवल प्रचार स्थायी नहीं होता उसकी नींव रचनात्मक आधार पर होनी आवश्यक होती है। हम भगवान महा-वीर के जीवन एवं सिद्धान्तों की सभाओं, व्याख्यानों, संस्थाओं अथवा अन्य साधनों से चाहे जितनी व्याख्य क्यों न करे वह हमारे लिये तब तक अधरी है जब तक

हम स्वयं अपने जीवन मे उन सिद्धान्तों को उतारने की दिशा मे प्रयत्नशील न हों। यदि हमारे जीवन और आचार-व्यवहार मे महावीर के सिद्धान्त मूर्तरूप लेते है तो वह हजारों भाषणो एव सेमिनारो से ज्यादा प्रभावशाली प्रचार होता है।

दुनिया के सभी महापुरुषों के अनुयायियों अथवा भक्तो ने अपने आराध्य की पूजा और प्रचार को ही भक्ति मान लिया है; क्योकि यह मार्ग सरल और सस्ता है लेकिन होना इसके विपरीत चाहिये था। भक्त की भक्ति तो आराध्य के बताए मार्ग पर चलने मे है न कि उनके बताये मार्ग से उलटा चलते हुए केवल उनके सिद्धान्तो के गीत गाने मे। इसमे संदेह नही कि त्याग सयम और साधना का मार्ग उच्च एवं कठिन है जिसे अपनाने की भूमिका सभी प्राणियो की एक जैसी नही होती, अपनी अपनी शक्ति और स्थिति की मजबूरिया है लेकिन जिसको जितनी योग्यता एवं शक्ति हो उतना प्रयास तो इस दिशा मे करते हुए आगे बढ़ना ही चाहिए ऐसे भी प्रसग और उदाहरण सामने आते है जब त्याग धर्म का उपदेश देने के पहले उसकी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति पर ध्यान देना होता है। भगवान बुद्ध ने अपने सामने मूर्ख लोगो को उपदेश के लिए लाए जाने पर अपने शिष्यो को कहा था कि इन्हे भोजन दो फिर उपदेश। इस दृष्टि को ध्यान मे न रखा जाय तो धर्म सार्वभौम नही बन सकता।

हम अन्य धर्मों से जैनधर्म एव उसके तीर्थंकरो को महान् सिद्ध करते है। तत्त्वों की गहराई एवं उच्चता अन्य दर्शनो से अधिक बताते है। यह सही है लेकिन संसार के सामने प्रत्यक्ष रूप मे इसे सिद्ध करने मे हम अब तक सफल नही हुए। संसार मे अहिंसा और प्रेम के उदाहरणो मे बुद्ध, ईसा और गांधी का नाम ही बार-बार आता है इस गहराई से चिन्तन कर हमे पुनर्विचार करना एवं आवश्यक सुधार करना आवश्यक है।

बौद्ध धर्म मे तत्त्वों और सिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ सेवा को स्थान दिया। उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया जिसके फलस्वरूप अनेक देश बौद्ध धर्मावलम्बी बने। यद्यपि उन देशो में एक ही बौद्ध धर्म के कुछ भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं लेकिन मूल उपदेश एव सिद्धान्तों में अन्तर नही। जो थोड़ी भिन्नता है वह स्थानीय वातावरण, स्थिति एवं सुविधा असुविधा के साथ बौद्ध धर्म का एकात्मक होना ही है। यदि ऐसी उदारता या सुविधा नही होती तो भारत का बौद्ध धर्म जापान चीन तिब्बत, वर्मा, मलाया आदि क्यो और कैसे अपनाते? धर्म किसी देश विशेष का होता भी तो नही है।

ईसाइयो के प्रचार की हम भले ही कितनी आलोचना करे किन्तु उनकी सेवा की विशेषता को नकार नहीं सकते। घनघोर, जालों, आदिवासियों, कोढ़ियों, दुःखियों एवं दीनो मे अपना सारा जीवन समर्पित कर देने वाले पादरी वहाँ शिक्षा एव सेवा के साथ ईसा के तत्त्वों का प्रचार करते है, वह प्रचार स्थायी बनता है। ईसाई मिशनरियो की शिक्षा-सस्थाओं का स्तर भी ऊचा और अच्छा रहता है कि वहा जैन समाज के कट्टर व्यक्ति भी अपने बच्चों को पढने भेजने मे गौरव अनुभव करते हैं। हमारे कथन का आशय यही है कि ईसा की करुणा का शब्दो से उतना प्रचार नही हो पाता जितना सेवा द्वारा पादरियो के जीवन-व्यवहार से हो रहा है।

भगवान महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के महोत्सव को हम आत्म-निरीक्षण एव आत्मचिंतन का अवसर मानते है। हमे चिन्तन करना है कि जैन धर्म को क्या हमें कुछ लाख लोगो तक ही सीमित रखना है अथवा उसे जन धर्म के रूप में व्यापक, जगतारक धर्म बनाना है। भगवान महावीर विश्व-उद्धारक, विश्व कल्याणकारी तथा उनके धर्म, उनके उपदेश को विश्वधर्म बनाने की क्या योजना है? क्या इसके लिए कुछ विशिष्ट, धार्मिक आचारो का पालन, भक्ति, उपासना, पूजा, तपस्या अथवा व्यक्तिगत साधना ही पर्याप्त है या इससे आगे बढ़ने की भी जरूरत है।

हमारी विनम्र राय मे तीर्थंकर भगवान महावीर के कल्याणकारी तत्त्वो एवं उपदेशों का सम्यक् प्रचार, अपने जीवन के आचार एवं जनसेवा द्वारा ही करना अधिक उपयोगी लगता है। २५वी निर्वाण शताब्दी महोत्सव की विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों की नींव में ये दो मूल और मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। हमारा आचार सच्चे जैन

जैनधर्म के संबंध में भ्रांतियां एवं उनके निराकरण का मार्ग

श्री वंशीधर शास्त्री एम. ए.

विश्व भर मे दर्शन, इतिहास एव धर्म के सम्बन्ध मे प्रकाशन होते रहते है । । विश्व की विभिन्न भाषाओ मे जैनधर्म, जैनदर्शन एव जैन इतिहास के सम्बन्ध में क्या लिखा जाता है जैन लोग बहुत कम जानते हैं । जो जानते हैं वे उसे प्रकाश में नहीं लाते ।

इसमें कोई संदेह नही है कि जैन धर्म का समस्त धर्मों में एक स्वतत्र एव महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु उसका पूर्ण तथा सही विवरण पाठकों तक नहीं पहुँचता है । मैं समझता हूँ कि इसका उत्तरदायित्व उन प्रकाशनों से सम्बन्धित व्यक्तियो के अतिरिक्त जैन विद्वानों, प्रकाशकों एव समाज पर अधिक है जो जैन वाङ्मय को पूर्ण रूप से प्रकाश में नही ला सके है और विश्व के कोने-कोने में नही पहुँचा सके है । इस दिशा मे दिगम्बर जैन समाज का प्रयास तो बहुत ही अल्प रहा है । बैरिस्टर चम्पतराय जी जैसे कुछ ही विद्वानो ने जैन सिद्धान्तो आदि की जानकारी पश्चिम वालो को दी है । अन्य देश वालो ने अजैनो द्वारा लिखित अपूर्ण एव कही-कही भ्रामक सामग्री को पढ़ा और उसी के आधार पर वे लिखते रहे हैं ।

इस प्रसगमे मैं पाठकों का ध्यान श्री अरनेस्ट एडवर्ड कीलट द्वारा लिखित 'ए शार्ट हिस्टरी आव रिलीजन्स' मे जैन धर्म सम्बन्धी विवरण की ओर आकर्षित करना चाहत्ता हूँ ।

यह पुस्तक विश्व भर के प्रमुख धर्मों का इतिहास प्रस्तुत करती है एव प्रामाणिक समझी जाती है । एक समालोचक ने लिखा है यह पुस्तक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति, भले ही वह आस्तिक हो या नास्तिक के लिए 'आवश्यक है ।

इस पुस्तक मे ५७३ पृष्ठ है । सुदूरपूर्व के धर्मों संबन्धी अध्याय ६४ पृष्ठो में लिखा गया है—जिनमे हिन्दू धर्म पर २० पृष्ठ, जैन धर्म पर १ पृष्ठ, बौद्ध धर्म पर २६ पृष्ठ एवं शेष पृष्ठ कान्फ्यूसियज्म, लाओइज्म एव थियोसोफी पर है । इस पृष्ठ राशि से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का कितना सक्षिप्त विवरण दिया गया है । अन्य धर्मों के परिचय मे उनके प्रवर्तको एवं सिद्धान्तो का

का आचार हो और जनसेवा के कार्यों द्वारा हम महावीर की वाणी का प्रचार करे ।

सेवा कार्य की योजना की दृष्टि के साथ-साथ साहित्य-निर्माण, सेमिनार, व्याख्यान, कला, प्रदर्शनी, आयोजन, जुलूस आदि के कार्य-क्रम हो तो दोनों पक्ष सबल हो जाते है । हमें तो यह ध्यान में रखना ही है कि उत्साह के आवेश में हम इस प्रसंग पर जैसा-तेसा कुछ भी कार्य करने मे अर्थ और शक्ति बर्बाद, न करे क्योकि जो कुछ भी किया जाय वह महावीर की गरिमा के अनुकूल होना चाहिए ।

जैन समाज द्वारा आज भी उनकी संख्या के अनुपात मे सेवाके अनेक कार्य होते है किन्तु उसके पीछे योजना और व्यापक दृष्टि का अभाव रहता है । अधिकाश सेवा सस्थाएं व्यक्ति, गुरु, आचार्य अथवा सम्प्रदायो के नामो पर चलती है । हमारा लक्ष्य रहे कि निर्वाण महोत्सव तक अब जो भी नई सस्था जैन समाज द्वारा बने, उसमें भगवान महावीर का ही नाम रहे ।

हमारा हमने इन पंक्तियों द्वारा केवल चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया है कि इस महान अवसर के पीछे उद्देश्य एवं दृष्टि क्या हो ? यह तो समाज के मनीषियों, चिन्तकों एवं नेताओं का कार्य है कि इस ओर सही दिशा दर्शन करें । आशा है कि २५वी निर्वाण शताब्दि का महोत्सव मनाते समय आत्मचिन्तन पूरक यह दृष्टि रहेगी कि स्वयं के जीवन में जैनत्व का विकास किया जाय । एवं सेवा द्वारा उसका संसार में प्रचार करने की योजनाएं प्रारम्भ की जांय । ●

विस्तृत विवरण दिया गया है।

इस विवरण का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—जैन धर्म हिन्दू धर्मों मे से एक बहुत ही दिलचस्प एव बहु प्रचलित धर्म है फिर भी इसका सक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त है। ये भी सिक्खों की तरह, ब्राह्मणों द्वारा नास्तिक माने जाते हैं किन्तु वे संभवतः सही रूप में स्वतंत्र माने जाते हैं। यद्यपि इनके धर्म (जैन धर्म) का मूल ब्राह्मण धर्म में है। ईसा से लगभग ५ शताब्दी पूर्व हुए वर्धमान द्वारा संस्थापित यह धर्म वेदों की मान्यता अस्वीकार करता है, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को इस प्रकार परिवर्तित करता है कि साधु जीवन मृत्यु के बाद अमरत्व प्रदान करता है, समस्त ब्राह्मण देवी देवताओं को हटाता है, जाति भेद को अमान्य करता है। उनके आगम ग्रंथ इन सिद्धान्तों का स्वतत्रता पूर्वक उल्लेख करते हैं। उनके चौबीस अमर साधु अधिकतः ईश्वर का स्थान ग्रहण किए हुए हैं। कुछ वस्तुतः यह मानते है कि जैन धर्म व्यवहारतः एकेश्वरवादी हैं, किन्तु पूर्वी धर्मों में जैसा प्रायः होता है, शास्त्रों की भाषा इस मत पर अस्पष्ट है।

अनेक विषयों मे वर्धमान अपने समकालीन बुद्ध से मिलते है। बुद्ध की तरह उन्होने ब्राह्मण धर्म का साथ छोड़ा, और उन्हीं की तरह से जीवन की पवित्रता को मान्यता दी, यहां तक कि कीडे भी न मारे जाने चाहिए, पौधे भी मनुष्य जाति के भाई की तरह माने जाने चाहिए। किन्तु कई विषयो मे स्पष्ट भेद भी है। विशेषतः साधुओं के अन्तिम साध्य स्थान-निर्वाण-के सम्बन्ध मे।"

उक्त विवरण में क्या भूले है या कितनी अपूर्णता है उसे साधारण पाठक भी आसानी से जान सकता है। मैं समाज के विद्वानों विशेषतः शोधरत तथा पी० एच० डी० उपाधि विभूषित विद्वानो से अनुरोध करता हूँ कि वे इन विषयों पर विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजें जिनमें जैन धर्म, इतिहास, दर्शन, कला आदि सम्बन्धी पूर्ण विवेचन किया जावे ताकि तत्सम्बन्धी भ्रांतियाँ दूर हों एव विश्व साहित्य मे जैन धर्म को यथोचित स्थान मिले।

इस सम्बन्ध में विद्वत् परिषद या संघ जैसी संस्थाओं को आगे आकर योजनाबद्ध कार्य करना चाहिए। इस योजना की रूप रेखा इस प्रकार हो सकती है—

१ भारतीय एव अन्य भाषाओं की उन पुस्तकों की सूची बनाई जावे जिनमें जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, पुरातत्त्व आदि का विवरण है।

२. प्रारंभ मे हिन्दी एवं अंग्रेजी की उक्त पुस्तकों का संकलन करवाया जाय। यथा सभव अन्य भाषाओं की प्रमुख पुस्तकों के संकलन का भी प्रयास रहना चाहिए।

३. इन पुस्तकों में आगत जैन विषयों से संबन्धित सामग्री सकलित कर अलग से साइक्लोस्टाइल करवा कर विभिन्न विद्वानों को भेजी जावे।

४. जैन विषयों से सम्बन्धित संकलित सामग्री निम्न प्रकार की होगी—

(क) सही विवरण हो और पर्याप्त भी हो।
(ख) सही हो किन्तु अपर्याप्त हो।
(ग) सही न हो और पर्याप्त भी न हो।

५. इन पर अधिकारी विद्वान अपने मत प्रस्तुत करें और उनको इस प्रकार उपयोग किया जावे।

(अ) यदि लेखक जीवित न हो तो प्रकाशक को सुधार करने की प्रेरणा दी जावे। वे शायद पुस्तक में परिवर्तन न कर सके किन्तु उन्हें उस मत को नवसस्करण मे उल्लेख कराने की प्रेरणा दी जावे।

(इ) दोनो ही स्थितियों में उक्त अभिमतों को पत्र-पत्रिकाओं में या स्वतंत्र रूप से प्रकाशित कराते रहना चाहिए। आशा है विद्वान इस ओर ध्यान देंगे। इस कार्य मे वे भाई भी सहयोग दे सकते है जो अध्ययनशील हैं वे विभिन्न पुस्तको या पत्र-पत्रिकाओं में आगत जैन सम्बन्धी उल्लेखों का संकलन करते रहें और उन्हें छपा दें ताकि अन्य विद्वान उन पर अपनी राय लिखें।

ब्रह्म जिनदास एक अध्ययन

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म जिनदास मूलसंघ सरस्वती गच्छ के विद्वान भट्टारक सकलकीर्ति के कनिष्ठ (लघु) भ्राता और शिष्य थे। जैसा कि जंबू स्वामी चरित और हरिवंश पुराण की प्रशस्तियों के निम्न पद्यो से स्पष्ट है—

भ्रातास्ति तस्य प्रथितः पृथिव्यां
सद् ब्रह्मचारी जिनदास नामा।
तनोति तेन चरितं पवित्रं
जम्बूदि नामा मुनि सत्तमस्य ॥२८

सद्ब्रह्मचारी गुरु पूर्वकोस्य,
भ्राता गुणज्ञोस्ति विशुद्धचित्तः।
जिनेश भक्तो जिनदास नामा,
कामारिजेता विदितो धरित्र्याम ॥२६

इनके माता-पिता पाटन के निवासी और हूमड़ वंशी थे। इनकी माता का नाम शोभा और पिता का नाम कर्णसिह था। इनके पिता समृद्ध थे भोगोपभोग की सभी सम्पदा इन्हें सुलभ थी, फिर इन्हे सांसारिक भोग-विलास और धन-धान्य सम्पदा साधु जीवन के रोकने मे समर्थ न हो सके। क्योंकि अन्तर में वैराग्य की जागृति जो थी। उन्होंने उन सबका परित्याग कर अपने भाई का अनुसरण किया।

ब्रह्म जिनदास प्राकृत-संस्कृत, गुजराती और राजस्थानी भाषा और हिन्दी से परिचित थे। बाल ब्रह्मचारी थे। इसी से उन्होने अपने को, कामारि जेता' विशेषण के साथ उल्लेखित किया है। इनका समस्त जीवन अध्ययन और ग्रंथ रचना में व्यतीत हुआ है। इन्होंने विविध स्थानों मे विहार कर जनता को जैनधर्म में स्थिर किया है।

संवत् १४८१ में बड़ाली नगर के चातुर्मास मे 'अमीझरा' के पार्श्वनाथ मन्दिर में भट्टारक सकलकीर्ति ने ब्रह्म जिनदास के अनुग्रह से, मूलाचार प्रदीप' की रचना की थी।[1] ब्रह्म जिनदास के जीवन का अधिकांश समय पठन पाठन और आत्म-साधना के साथ साहित्य सृजन में व्यतीत होता था। मालूम होता है सरस्वती का वरद हस्त इनके ऊपर था। इसी से वे विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण कर सके। उन्होंने विभिन्न स्थानों से भ्रमण कर जनता को केवल सम्बोधित ही नही किया था, किन्तु उन्हे धर्मयोग मे भी स्थिर किया। जैन सिद्धान्त के सूक्ष्म तत्त्वो के रहस्य का परिचय पाने की ओर उनका उतना ध्यान नही था, जितना ध्यान काव्य, चरित, पुराण, कथा, भक्ति, पूजा और रासो साहित्य रचना की ओर था। आप के बनाये हुए अनेक पद प्रचलित हैं। मैंने ब्रह्मचारी जिनदास के गुजराती मे छपे हुए अनेक पद देखे थे, पर मैं उस समय उनको नोट नही कर सका। विनतियां, स्तुति, और पूजाएं भी उपलब्ध है। इससे उनके भक्ति रस में विभोर होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

ब्रह्म जिनदास प्रतिष्ठाचार्य भी थे इन्होंने अपने गुरु भ्राता सकलकीर्ति के समान जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठा की है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियों का अन्वेषण अभी नहीं किया गया है। अन्वेषण करने पर अनेक मूर्ति लेख उपलब्ध हो सकते है। गंजबासौदा के बड़ेपुरा के जैन मन्दिर मे ब्रह्म जिनदास के उपदेश से प्रतिष्ठित सं० १५१६ की

---

१. "तिहि अवसरे गुरु आविया बड़ाली नगर मझार रे।
चातुर्मास तिहां करो शोभतोश्रावक कीधा हर्ष अपार रे।
अमीझरा पधरावियां वधाई गावे नरनार रे।
सकल संघ मिल वंदियां पाम्या जय जयकार रे।
× × ×
संवत चौदह सौ इक्यासी भला, श्रावणमास लसंत रे।
पूर्णिमा दिवसे कर्या मूलाचार महंत रे।
× × ×
भ्राता ना अनुग्रह थकी कीधा ग्रंथ महान रे।

मूर्ति प्राप्त है, जैसा कि उसके निम्न मूर्ति लेख से स्पष्ट है—

"सं० १५१६ माघसुदी ५ श्री मूलसंघे भ० सकलकीर्तिदेवः तच्छिष्य ब्र० श्री जिनदासस्य उपदेशात् ब्र० मल्लिदास जोगडा पोरवाड साहु नाऊ भार्या नेई भ्राता षणा भार्या हूर्षी नित्यं प्रणमति ।"

—गंजवासोदा मूर्ति लेख बूढ़ेपुरा मन्दिर

आपके अनेक शिष्य थे, ब्रह्म जिनदास ने अपनी रचनाओं में अपने ४-५ शिष्यों का उल्लेख तो किया है पर अन्य शिष्यों का उल्लेख अन्वेषणीय है ।

ग्रन्थ रचना—

आपकी रचनाओ को देखने से पता चलता है कि आपके जीवन का अधिकांश भाग उनकी रचनाओं में बीता है । आपकी उपलब्ध रचनाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती है । पुराण चरित कथा और पूजन तथा रासा साहित्य हैं । उनकी सख्या ७० से अधिक है । उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१ जंबू स्वामि चरित	२ पद्मपुराण
३ हरिवंशपुराण	४ पुष्पाञ्जलि व्रत कथा
५ जबूद्वीप पूजा	६ सार्धद्वयद्वीपपूजा
७ सप्तर्षि पूजा	८ ज्येष्ठ जिनवर पूजा
९ सोलह कारण पूजा	१० गुरु पूजा
११ अनन्तव्रत पूजा	१२ जलयात्रा विधि

राजस्थानी रासा साहित्य :—

१ रामसीतारास(रामा.रास)	२ यशोधर रास
३ हनुवंत रास	४ नागकुमार रास
५ परमहंस रास	६ अजितनाथ रास
७ होली रास	८ धर्मपरीक्षा रास
९ ज्येष्ठ जिनवर रास	१० श्रेणिक रास
११ समकितमिथ्यात्व रास	१२ सुदर्शन रास
१३ अंबिका रास	१४ रात्रिभोजनवर्जनरास
१५ श्रीपाल रास	१६ जंबूस्वामी रास
१७ भद्रबाहुरास	१८ कर्मनिष्ठाक रास
१९ सुकौशलस्वामी रास	२० रोहिणी व्रत रास
२१ सोलहकारणव्रत रास	२२ दशलक्षणव्रत रास
२३ अनन्तव्रत रास	२४ बंकचूल रास
२५ धन्यकुमार रास	२६ चारुदत्तप्रबन्ध रास
२७ पुष्पांजलि रास	२८ धनपाल रास (दान कथा रास)
२९ भविष्यदत्त रास	३० जीवन्धर रास
३१ नेमीश्वर रास	३२ करकण्डु मुनि रास
३३ सुभौमचक्रवर्ती रास	३४ अठावीस मूलगुण रास
३५ जयकुमार रास	३६ मड्डूकनो रास
३७ सुकमाल स्वामी रास	३८ निर्दोष सप्तमी रास
३९ पुरंदर विधान रास	४० लब्धिविधान रास
४१ आकाश पंचमी रास	४२ मालिन कथा रास
४३ जिनेन्द्रभक्ति रास	४४ वारिषेण रास
४५ गुणस्थान रास	४६ पंचपरमेष्ठी रास
४७ मौनव्रत रास	४८ विष्णुकुमार कथा रास
४९ सुगधदशमी कथा रास	५० गुणपाल श्रेष्ठिनो रास
५१ अठाई व्रत रास	५२ मउड सप्तमी रास
५३ जोगी रास	५४ चन्दन षष्ठी रास
५५ निर्दोष सप्तमी रास	५६ सम्यक्त्व अष्ट अंग रास
५७ श्रुतस्कंध रास	५८ जीवदयारास
५९ हरिवंश रास	६० आदिपुराण रास

इन सब रास रचनाओं का परिचय देना इष्ट नही है । इन रासाओं मे से दो रासो मे रचना काल उपलब्ध है । कवि ने रामरास[1] सं० १५०८ में, और हरिवंश रास[2] की रचना स० १५२० में की थी । शेष रासो मे रचना काल नही है । इन रासो की भाषा राजस्थानी और गुजराती मिश्रित है । 'प्रणमीने', रूवडो, तणो, हवु, सोहामणुं, धर्मनी, पामीइ, लीधु, सांभले, आव्यु, वधावणा, चग, कीधुं, मी, दीठिउ आदि शब्द गुजराती भाषा के है जो रासक कृतियों मे उपलब्ध होते है । चूंकि ब्रह्म जिनदास गुजरात प्रदेश के निवासी थे और सागवाड़ा आदि राजस्थान के प्रदेशों मे रहे है । अतएव तत्सम्बन्धी भाषा शब्दों का पाया जाना स्वाभाविक है । कथा रास और चरित्रादि रासों के

---

१ संवतपन्नर अठोतरा मगसिर मास विशाल ।
शुकल पक्ष चउदिसिदिनी, रास कियो गुणमाल ।।

२ संवत पद्रह वीसोत्तरा विशाखा नक्षत्र विशाल ।
शुकल पक्ष चौदसि दिना रास कियो गुणमाल ।।

अतिरिक्त अनेक व्रत सम्बन्धी रासको की भी ब्रह्म जिनदास ने रचना की है। जिनमे व्रत का स्वरूप, पालन की विधि और फल का वर्णन समाविष्ट है। जैसे—लब्धि विधान रास, अठाई व्रतरास, रोहिणी व्रतरास, मौनव्रतरास, आदि। रास या रासक की रचना सरल है। कवि के रासों मे एक रूपक काव्य-रास भी है। जिसका नाम 'परमहंस रूपक रास' है। इस रास में मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की दो स्त्रियों से दो पुत्र उत्पन्न होते है, मोह और विवेक प्रवृत्ति ने मन को वश में कर अपनी सौत निवृत्ति और उसके पुत्र विवेक को विदेश मे भिजवा दिया। मन, प्रवृत्ति और माया इन तीनों ने मिलकर त्रिपुरी राजा को बन्धन मे डालकर अपनी आन्तरिक इच्छा की पूर्ति करते है। इस समय राजा अपनी चेतना रानी की शिक्षाओं का स्मरण कर रोने लगता है। और अपनी करुण दशा का यथार्थ दिग्दर्शन कर चेतना से उसकी सम्हाल करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु चेतना अब तुमको माया मिल गई है, मेरा अब क्या काम है, मन मन्त्री का राज्य है, जिस तरह वह तुम्हे विवश करे, वह सहन करो, कहती हुई चुप हो जाती है।

निवृत्ति के चले जाने पर प्रवृत्ति मन को समझाकर अपने सुपुत्र मोह को राज्य दिला देती है। मोह के राज्य पाते ही लोक में सर्वत्र मोह की आज्ञा का प्रसार होता है। मोह राजा निर्लज्ज हृदय स्थान मे 'अविद्या' नामक नगर की स्थापना कर राज्य करने लगता है। उसकी दुर्मति नाम की रानी से काम, राग और द्वेष ये तीन पुत्र है। और निद्रा अधृति और मारी ये तीन पुत्रियां है। मिथ्या दर्शन मंत्री, सप्तव्यसन सदस्य, निर्गुण संगति सभा, आलस्य सेनापति, छद्म पुरोहित और कुकवि रसोइया इत्यादि मोह का वृहद् परिवार है। काम, क्रोध, अविवेक आदि अनेक सुभट उसके राज्य के सरक्षक है। मोहराय का राज्य हो जाने से निवृत्ति बिना विश्राम के अविरल गति मे आगे बढती जा रही है। मार्ग मे पशु-बालिका अत्यन्त करुणा जनक दृश्य देखती तथा अपनी असमर्थता पर खेद प्रकट करती हुई चली जाती है। मार्ग मे उसे 'प्रवचनपुर' नाम का सुन्दर नगर मिलता है, वह उस नगर के आत्माराम नामक वन की सुन्दरता देखकर और विवेक की प्रेरणा से वृक्ष की छाया मे विश्राम करती है। वहां 'विमल बोध' कुलपति से निवृत्ति विवेक के सुख आदि के सम्बन्ध में पूछती है। विमल बोध विवेक के लक्षणों को देखकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी सुमति नाम की पुत्री से उसका विवाह कर देता है। और अरहृत के अतिशयो का वर्णन अपनी कार्य सिद्धि का सूचक जान सन्तुष्ट होता है।

निवृत्ति भी कुलपति के वचनानुसार पुत्र वधू के साथ उस नगरी मे निवास करती हुई विवेक को अर्हन्त की आराधना के लिए प्रेरित करती है। विवेक माता की आज्ञा मान प्रभु-सेवा म लग जाता है, अवसर आने पर माता मोहराय के द्रोह का वर्णन करती है। मोहराय के भय से भयभीत जगत को मुक्त कराने के लिए विवेक को आज्ञा प्रदान करती है। विवेक अपना कार्य बडी चतुराई से सम्पन्न करता है, अपने सैन्य बल तथा शक्ति की सम्हाल करता है। विवेक राज्य का स्वामी होता है। विवेक की आज्ञा चलने पर अज्ञानी पाखंडी के प्राण खडित हो जाते है। ज्ञान तलारक्ष को सावधान कर विवेक नगर में किसी अपरिचित जन के प्रवेश को रोक देता है।

मोह विवेककी राज्यप्राप्ति से अत्यन्त क्षुभित होता है, और उसके कार्य-कलापो को तथा उसकी शक्ति का परिचय पाने के लिए दंभ, कदागम (कजूस) और पाखड दूतों को भेजता है। दंभ आन्तरिक भेष बदल कर विवेक नगर, परिवार, राज्य और शक्ति का समाचार मोह को देता है, उससे मोह का क्षोभ और भी अधिक बढ़ जाता है, वह उसका विनास करने के लिए अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। किन्तु मोह को सचिन्त्य देख काम कुमार युद्ध के लिए आज्ञा मांगता है और मोह उसे शिक्षा देकर युद्ध के लिए भेजता है। वह सर्वत्र विजय प्राप्त करता हुआ ब्रह्मलोक मे ब्रह्मा, विष्णु और शकर (महेश) को सावित्री, गोपियो और पार्वती द्वारा वश मे कर अन्य ऋषियो आदि को भी स्त्रियो के आधीन करता हुआ सर्वत्र मोह की आज्ञा को आरोपित करता है।

इधर विवेक का सजमश्री के साथ विवाह सम्पन्न हो जाता है, इससे काम कुमार का अत्यधिक ईर्ष्या उत्पन्न होती है, अतएव विवेक के साथ युद्ध के लिए तैयार होता

अपभ्रंश की एक अज्ञात जयमाला

डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

अपभ्रंश-साहित्य की विविध भक्ति मूलक प्रवृत्तियो म जयमाला की साहित्यिक विधा निश्चय ही भावानुरंजन के साथ शिक्षा, इतिहास, संस्कृति और अर्चना-विधि की व्यावहारिक परम्परा की अभिव्यंजक है। जयमाला जहां विविध राग-रागनियों मे पूजा-पाठ के मध्य मे गाई जाती रही है वही नृत्य-गान के साथ बहुविध हावों-भावो मे जिनमूर्ति के समक्ष सस्वर स्वरो मे मुखरित होती रही है। आज भी जैन मन्दिरों मे जिन-पूजा के मध्य मे जय-माला-पाठ करने की प्रथा प्रचलित है। जयमाला में सार रूप मे पूजा-अर्चना के मूल भावो को संक्षिप्त रूप मे प्रकट किय जाता है। इनमे इतिहास, संस्कृति और परम्परा तक का गुणानुवाद किया जाता है। जयमाला कई रूपों में लिखी जाती रही है। प्रथम वे जयमालाएं है जो पुष्प जयमाला के नाम से प्रसिद्ध रही है, जिनमे जिनमूर्ति के कलशाभिषेकोत्सव के अनन्तर जयमाला की बोली लगती है और पुष्पमाला को जिनशासन की माला के प्रतीक के रूप मे ग्रहण कर भक्त श्रावक या श्राविका स्वीकार कर अपने उत्साह और उमग को प्रकट कर स्वेच्छा से धन-

---

है। दोनो का परस्पर युद्ध होता है। युद्ध मे दोनों ओर के योद्धा अपना-अपना पराक्रम दिखलाते है, सन्धि का भी उपक्रम किया जाता है परन्तु वह हो नही पाती। मोह के प्रबल सेनानियो का विवेक के पराक्रमी सुभटों के साथ भीषण युद्ध होता है। परन्तु एकाएक मोह की सेना मे भगदड मच जाती है। मोह का निग्रह हो जाता है। उसके गिरते ही सब सामन्त निष्प्रभ हो जाते है। विवेक की कुशलता की प्रशसा होती है, और वह लोक मे शान्ति स्थापित करता है।

इसी अवसर पर चेतना रानी परमहस राजा से कहती है कि—स्वामी, माया ने जो किया, उसका आपने अनुभवन किया ही है। अब तक जो हुआ सो हुआ; किन्तु आगे को सावधान होना आवश्यक है। अब आप जिस अशुचि, मल-मूत्र संयुक्त दुर्गन्धित कायापुरी मे अनुरक्त हो रहे है, काम-क्रोधादि १०८ चोरी वाली वस्ती में आप का रहना ठीक नही। आप स्वय विचार करे और अपने अखड चैतन्य तेज धाम की ओर ध्यान दे। मोह राजा और मनमंत्री का विनाश हो चुका है। रानी के इस सुन्दर सुझाव का समा-दर करते हुए परम हस ने अपने चैतन्य स्वरूप की ओर ध्यान दिया। और योग्य अनुष्ठान द्वारा आत्मशक्ति को जाग्रत कर स्वात्मलब्धि को प्राप्त किया। इस तरह यह रूपक-काव्य स्व-पर-सम्बोधक है। ब्रह्म जिनदास के अन्य चरित रासको मे भी काव्य रस मिलता है। ये रासा प्रका-शन के योग्य है।

ब्रह्म जिनदास के शिष्य—

ब्रह्म जिनदास के अनेक शिष्य थे। उनमे छह का नामोल्लेख नीचे किया जाता है। अन्य शिष्योंके नामादिका उल्लेख अन्वेषणीय है। हरिवंश रास की प्रशस्ति मे उन्होंने अपने तीन शिष्यो का[1] उल्लेख किया है। मनोहर, मल्लि-दास, और गुणदास। और परम हंस रास मे 'नेमिदास' नाम के एक शिष्य का उल्लेख मिलता है।[2] जिनदास ने अपने एक शिष्य शान्तिदास का भी उल्लेख किया है जिसने अपभ्रंश गुजराती और सस्कृत मिश्रित पूजा-पाठ-विषयक ग्रंथों की रचना की है। जिनदास ने 'गुणकीर्ति' नाम के अन्य शिष्य का भी उल्लेख किया है जो अच्छे विद्वान थे और जिन्होने 'राम-सीता-रास' बनाया था। ★

---

१. ब्रह्म जिनदास भणे रूबडो पढता पुण्य अपार।
शिष्य मनोहर रूबडो मल्लिदास गुणदास ॥
—हरिवश रास

२. ब्रह्म जिनदास शिष्य निरमला नेमिदास सुविचार।
—परमहस रास

राशि अर्पित करते हैं, जिसका सदुपयोग जिनमन्दिर के लिए किया जाता है। दूसरे जयमाला-पूजा के अन्त मे निबद्ध की जाती है, जिसमे अर्चना के विषय का सार गर्भित रहता है। तीसरे जयमाला स्वप्न के रूप में किसी भी विषय का महात्म्य प्रतिपादन करने के लिए पूजा-पाठ के अन्त में सयुक्त रूप से निबद्ध की जाती है। अतएव जयमाला के रूप में भगवद्‌भक्ति करने की विधि साहित्यिक रूप में अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी और हिन्दी भाषा की रचनाओं में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इससे यह भी पता चलता है कि यह मध्य युग की देन है और सांस्कृतिक इतिहास की एक परम्परा। यह केवल देश के किसी एक भू-भाग तक सीमित न रह कर पूजा के साथ दक्षिण भारत से लेकर उत्तर और पूर्व से लेकर पश्चिम तक भाषा-भेद के साथ लगभग समान साहित्यिक विधा के रूप में जैन मन्दिरों मे प्रचलित हुई और तब से आज तक अनवच्छिन्न प्रवर्तमान है। जयमाला-साहित्य का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इनकी रचना प्रायः बोल-चाल की भाषा मे की गयी। क्योंकि जन सामान्य के लिए पूजा-साहित्य लिखा जाता रहा है। परन्तु इनमे साहित्यिकता का अभाव नही है। जन भाषा मे लिखित होने पर भी इनमें साहित्यक पुट बराबर दिया गया है। इस बात का निर्णय स्वय पाठक रचनाओ को पढ़ कर कर सकते हैं कि इनमें साहित्यिकता किस स्तर तक विषय के अनुरूप मार्मिकता से अभिव्यंजित हो सकी है।

प्रस्तुत लेख मे अपभ्रंश की एक ऐसी अज्ञात जयमाला को प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है जो कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस रचना की प्रतिलिपि मध्य प्रदेश के जैन शास्त्रभंडार के गुटके से की गई है। इसमे रचना के लेखक का नाम श्री उदयकीर्ति मुनि कहा गया है। रचना के रचयिता कब और कहा उत्पन्न हुए थे, इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। रचना मे जैनधर्म के सुप्रसिद्ध परम नमस्कार-मन्त्र का माहात्म्य, वर्णन है। जयमाला निम्न-लिखित है—

पणवेप्पणु भावें विमल सहावें भत्तीए, सतिजिणेसरहो।
निसुणिज्जउ भवियउ भववुहखवीउ, पुणुअक्खमिनवकारफलु।
नवकारविहूणउ जीव तुहुं, भवि भवि संपत्तु अणंत दुहुं।
एकेंदिय जोणिहिं परिभमीउ, वियलेंदिय बहु दुक्खइं गमीउ
अलहंतउ पुणु नवकार तुहु, पचेंदिय जोणिहिं पत्तु दुहुं।
नारी ए नरइ भमाडियउ, पुणु मोगरघायहिं ताडीयउ।
नवकार विविज्जिय तिरी हूउ, बहुकायकिलेसइं तहवि मूउ।
मणुयत्त-णिरोय-सोयभारीउ, नवकार तहमि न समाचरीउ।
मिच्छत्तसहिय देवत्त पत्त,
तित्थेवि माणस-दुखेण तत्त।
इय हिंडिवि जिय तुहुं चउगयहिं,
सुहु कहवि न लद्धउ भवसयहिं।
चउरासी लक्खइं जोणि दुहुं, जइ वण्णउ धम्मउ जीव तुहुं।
पंचहं परमिट्ठिहिं तणउ सुहु, जिय माय जहि नवकार लहु।
जिय क्षायहिं विहुं नवकार मणे, जे असुहकम्म विहडेइ खणे।
जं पंचपयइ आराहियाइं, तें बारह अंगइं साहियाइं।
नवकार बप्प नवकार माइ, नवकारें खणि उवसग्गु जाइ।
सुहुसज्जणबंधवइट्ठमित्तु, नवकारें कोवि न होइ सत्तु।
गह-रक्खस-भूय-पिसाय जेवि, नवकारमंति नासंति तेवि।
नवकारें हलहरचक्कवइ, नवकारें विषडाहिवइ।
नवकारफलें तित्थयरदेव, जसु इदफणिद करंति सेव।
नवकार जि इंदियबलखंडउ, भव-समुद्द नवकार-तरंडउ।
नवकारजि सबल जंत सग्गि, नवकारसहिज्जउ मोक्खमग्गि।
घत्ता—इह नवकारह तणुं फलु, जिय कायहि एक्क मणु।
दसणनाणसमुज्जलु, पुणु पामइ सिद्धितणु॥
चक्किणिसासणिदेवीयहं, कीय साहित्तु विचित्तु।
आराहिप्पणु मंति जिणु, किय नवकार कवित्तु।
दिगंबर दस दरसणहिंच्छ, इच्छ म भेत्ति धरिज्ज।
जिणसासणि भवियणहो, अविचल चित्त धरिज्ज।
चंदप्पह जिणचंदप्पह, चंदकित्ति वंदेप्पिणु चंदाणण।
पसरंतिय सियलणु कंतिय, धवलय सयल दिसासण॥१॥
णमो गयराय जगत्तयराय, सुसीलहिं लक्खण एवहिं जाय।
पयासिय णिम्मल केवलणाण, दियट्ठ धणुसय देहपमाण।
सुहासिय तोसिय पोसियभव्व, सुलक्खणनाह समुब्भियगव्व।
मए जिय संकुलि जम्म-समुद्दि, जरामरणुब्भव मोहरउद्दि।
दुरुत्तरदुस्सह दुक्खतिरगि, कसायविहीसण वाडवअग्गि।
अणतउ काल दुरंत विचित्तु, निरंतर दुक्ख परंपर पत्तु।
न कोइ विकासु वि बंधु न मित्तु,
न कोइ विकासु वि सयण न सत्तु।

न कोइ विकासु वि देण समत्थु,
न कोइ वि हरेवइ होइ समत्थु ।
अणस्स सुहासुह कम्म मएवि,
न सुक्ख वि दुक्ख वि ढोयइ कोवि ।
महारउ बप्पु महारउ पुत्तु, महारउ वल्लहुं एहु कलत्तु ।
महारउ गेह महारउ दव्वु, महारउ परियण एहु जि सव्वु ।
भणंतहो ढुक्कइं जाम कयंत, न कोइवि दीसइ रक्खकरंत ।
अणेण जिएण जयम्मि दुरंत, मरंति ण वउलिउ जम्म अणंत ।
भमंति ण हिंडिय जोणिहिं लक्ख,
भिडंति ण मग्ग अणेय विवक्ख ।
पीयंति ण सोसिय सायर सव्व,
घसंति ण नट्ठिय पोग्गलदव्व ।
ण एयहो तित्ति कयायवि जाय, जिणेसरएवहिं तुम्ह पाय ।
णियच्छवि मण्णिय अप्पउ धण्ण,
चउगइ दुक्खहो पाणिय दिण्ण ।
जयत्तयसामिय वल्लहो बोहि, दुहक्खउ उत्तमदेह समाहि ।
घत्ता—पइं वंदइं अप्पउं निंदह, जे नर वियलिय भवहु-हइ ।
दुस्सज्जइ ताह सुसज्जइ, कणयकित्ति सासयसुहइं ॥२॥

णिव्वाण जयमाला

कमकमलणवेप्पिणु हियइ धरेप्पिणु,
वाई सिरिगिरि गुणहरयं ।
निव्वाणइट्ठाणइ तित्थसमाणइं, पयडिय भत्तीए जिणवरहं ॥
कइलाससिहरि सिरिरिसहनाह,
जो सिद्धउ पयडिउ धम्मालाह ।
पुणचंपणयरि जिणवासपुज्ज, निव्वाणपत्तु छंडेवि रज्जु ।
उज्जंतमहागिरि सिद्धि पत्तु, सिरिणेमिणाहु जादव पवित्तु ।
अण्णु वि पुणु सामिपज्जुण णवेवि,
अणरुद्धसहिय हउ तं णविते वेवि ।
अण्णु वि पुणु सत्त सयाइ तित्थ, बाहत्तरि कोडिसिद्ध जेत्थु ।
पावापुरि वंदउं वड्ढमाण,
जिण महियलि पयडिय सिद्धठाण ।
सम्मेदमहागिरि सिद्धजेवि, हउं वंदउं वीसजिणंद तेवि ।
अवरे वि तित्थ महिअलि पसिद्ध, हउं वंदउं अइसयसमिद्ध ।
णागद्दहिपास सयंभुदेव, हउ वंदउं जस, गुण णत्थि छेउ ।
जो देव पतिट्ठिय आसरम्मि, मुणिसुव्वय वंदउं अंतरम्मि ।
मालवइ सति वंदउं पवित्त विससेणराय कड्ढिउ ण रत्त ।
मंगलउरि वंदउं जगिपयास, अहिण दण अइसय गुणनिवास ।
बाहुबलिदेउ पोयणपुरंमि, हु वंदउं जो मइ अंतरंमि ।
हत्थिणउरि वंदउ संतिकुंथु,
अरु तिण्णि वि वंदउं पयडे वि तित्थु,
वाणारसि पास सयभुसत्थु, वंदउ परिहरिउ दव्वगंथ ।
पावइ लव अंकुस रामसुया, पचेवकोडि जहिं सिद्धहुवा ।
सेत्तुंजयसिहरि अट्ठदेव कोडि, पांडव सू ववउ हत्थजोडि ।
ताराउरि वंदउ मुणिवरंग, आहुट्ठकोडि किउसिद्धिसंग ।
वडवाणी रावणगुणनिलउ, वंदीजइ देवत्रिभुवनतिलउ ।
वडवाणी रावणतणउ पुत्त हउं वंदउ इद्रजित मुनि पवित्त ।
करकडुराउ णिम्मियउ भेउ, हउं वंदउ अग्गलि देवदेउ ।
अरु वंदउ सिरिपुर पासणाहु,
जो अन्तरिक्ख थिउ नाणलाह ।
होलागिरि संख जिणद तेउ,
विज्जण णरिंद णवि लद्धछेउ ।
हउ वंदउ तिउरिहि गयणि लग्गु,
तियलोउतिलउ जो सिद्धिमग्गु ।
णव णवइ कोडि बलभद्दजुत्त, तुंगीगिरि वंदुं मुणि पवित्त ।
पुणु अट्ठकोडि बलएव सत्थ गयवह गिरिम्मि णिव्वाणपत्त ।
पचकोडि रावणसुआइं, रेवाणइं वंदउं संयभुवाइ ।
कण्णाडि वसइ वाडइजिणंद, जसु आगलि नच्चइ सुरवरिंद ।
वं दिज्जइ माणिकदेव देउ, जसु अप्पविणु पणवइ सुरवरिंदु ।
वंदिज्जइ गोमटदेउ तित्थु, जसु अणविणु पणमउ सुरहसत्थु ।
पच्छिमसमुद्द ससिसंखवण्ण, तिलयाउरि चंदपहरवन्न ।
मइ अइसइ तित्थइ पयडियाइ,
श्रीउदयकित्ति मुनि वंदियाइं ।
इय तित्थंकर तित्थइ पुण्णपवित्तइ,
पढइ विहाणइं विमलहरे ।
तसु पापपणासइ दुरियविणासइ, मंगल सयलवि तासु घरे ॥
इति श्रीकमकमलजयमाला समाप्त: ।

कोषाध्यक्ष, मंत्री और सेनापति

परमानन्द जैन शास्त्री

हुल्ल या हुल्लराज—वाजिवंशी यक्ष राज और लोकाम्बिका का पुत्र था। जैन धर्म के बड़े भक्त थे। वह जैन धर्म का सच्चा पोषक था। उसकी उपाधि सम्यक्त्व चूड़ामणि थी। इसकी धर्म पत्नी का नाम पद्मावती था। यह एक आदर्श जैन और शक्तिशाली सेनापति था। तथा एक महान सेनापति और जैन धर्म के सरक्षक रूप मे उसकी ख्याति थी। वह केवल धार्मिक पुरुष ही नही था, किन्तु विलक्षण राजनीतिज्ञ भी था। वह महान मन्त्री, प्रधान कोषाध्यक्ष, सर्वाधिकारी और सेनापतिके पदों को सुशोभित करता था। वह कार्य-साधन में योगन्धरायण से और राजनीति मे वृहस्पति से भी अधिक दक्ष था। उसने राजा विष्णुवर्द्धन, नरसिंह और बल्लाल प्रथम को आधीनता में कार्य किया था।

मंत्री हुल्लराज के गुरु कुक्कुटासन मलधारि देव थे। मंत्री हुल्ल को जैन मन्दिरों का निर्माण, और जीर्णोद्धार कराने, जैन पुराण सुनने, तथा जैन साधुओ को आहारादि दान की बड़ी अभिरुचि थी। इसने श्रवण बेलगोल में पर कोटा रङ्गशालों व दो आश्रमों सहित चतुर्विंशति जिनालय का निर्माण कराया था। इसका निर्माण कार्य संभवत: सन् ११५६ ई० में हुआ था, जब राजा नरसिंह द्वितीय अपनी विजय यात्रा के निमित्त से उधर गया, तब उसने बड़े आदर के साथ गोमट्टदेव और पार्श्वनाथ की मूर्तियों तथा चतुर्विंशति जिनालय के लिए दर्शन किये और जिनालय की पूजादि के लिए 'सवणेरु' नाम का ग्राम प्रदान किया। और हुल्ल की चूड़ामणि उपाधि के कारण जिनालय का 'भव्यचूड़ामणि' नाम प्रदान किया। और सेनापति हुल्लराज ने महमण्डलाचार्य नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती को उक्त चतुर्विंशति जिनालय का आचार्य बनाया। जो सणेरु गांव की आय का उपयोग जिनालयो की मरम्मत तथा पूजादि कार्य मे करते थे। सन् ११७५ ई० मे हुल्ल ने राजा बल्लाल द्वितीय से सवणेरुके साथ बेक्क और कगोटे नामके गाँवो को प्राप्त किया और उन्हे उक्त जिनालय तथा गोम्मटदेव और पार्श्वनाथ की पूजा के लिए प्रदान किया।

सेनापति हुल्ल ने केल्लगेरे, बकापुर और कोप्पण इन तीन जैन केन्द्रों को भी अपनी उदारता से सिंचित किया। केल्लगेरे एक प्राचीन तीर्थ स्थान था, जो गङ्ग नरेशों द्वारा स्थापित किया गया था। वह खण्डहर हो गया था। वहां उसने एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण कराया, तथा तीर्थंकरो के पंचकल्याणको की भावना से अन्य पांच बस्तिया बनवायी थी। हुल्ल ने इसे नया रूप प्रदान किया था। बकापुर के प्राचीन एवं विशाल दो जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। तथा कोपण मे नित्य दान के लिए वृत्तियो का प्रबन्ध किया था। (देखो, जैन लेख संग्रह भा० १ १३७ (३४५, पृ० २६६)

श्रवण बेलगोल से लगभग एक मील दूर पर स्थित जिननाथ पुर गाव मे एक भिक्षा गृह बनवाया था। इस तरह हुल्ल का जीवन जिन शासन की सेवा मे व्यतीत होता था।

जिन गेहोद्धरणङ्गलि जिन महा-पूजा-समाजङ्गलि,
जिन-योगि-व्रज-दानदि जिन-पद-स्तोत्र-क्रिया-निष्ठेयि।
जिन सत् पुण्य-पुराण-संश्रवणादि सन्तोषमं तान्दिभ-
व्यनुतं निच्चलु मिन्ते पोलतुगलेवं श्रीहुल्ल-दण्डाधिपं॥२४॥

—श्रवण बेल्गोल शिलालेख

साहित्य-समीक्षा

१. जन फिलासफी—लेखक डा. मोहनलाल, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम रिसर्च इन्स्टिट्यूट वाराणसी ५। पृष्ठ संख्या २३४, मूल्य १० रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० मोहनलाल जी मेहता है, जो अच्छे विद्वान, लेखक और सम्पादक है। और पार्श्वनाथ विद्याश्रम के डायरेक्टर है। इनके तत्त्वावधान मे वहाँ शोध सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियां चल रही है, और अनेक ग्रंथो का प्रकाशन हो रहा है। यह पुस्तक जैन दर्शन के सम्बन्ध मे अग्रेजी भाषा मे उपयोगी एवं सार पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। यह ग्रंथ लेखक द्वारा पहले लिखित 'आउट लाइन्स ऑव जैन फिलासफी का परिवर्धित सस्करण है। समस्त सामग्री आठ अध्ययों मे विभक्त है—जो इस प्रकार है—१ जैन धर्म का इतिहास, २ धार्मिक एव दार्शनिक साहित्य ३ तत्व, ४ आत्मा, ५ पुदगल, ६ ज्ञान, ७ प्रमाण और कर्म। अन्त मे पुस्तक मे प्रयुक्त पुस्तक सूची एवं महत्व पूर्ण शब्दों की तालिका दी गयी है। ग्रंथ रचना मे ४६ जैन ग्रंथों एवं ३४ जैनेतर ग्रंथों का आधार लिया गया है।

तत्त्व शीर्षक अधिकार मे अन्य दार्शनिको के तत्त्व सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है, जो पठनीय है। अन्य अध्यायों मे जैन मन्तव्यों का विचार प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदों को भी सयत भाषा मे प्रस्तुत किया है। इसके लिए वे विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र है। आशा है लेखक और प्रकाशक दोनों ही नये-नये मौलिक एव महत्वपूर्ण प्रकाशन जनता की भेट करते रहेगे।

—परमानन्द जैन शास्त्री

नोट—शेष ग्रंथों की समीक्षा अगले अंक में दी जायेगी।

जैन संस्कृति के विकास में राजस्थान का योगदान

ग्रन्थ प्रकाशन की योजना

उदयपुर, १५ सितम्बर, १९७१। भगवान महावीर २५००वां निर्वाण कल्याणक महोत्सव जो आगामी १३ नवम्बर, १९७४ को मनाया जाने वाला है, उस अवसर पर प्रकाशनाधीन 'जैन संस्कृति के विकास में राजस्थान का योगदान' नामक ग्रथ की रूप-रेखा को अन्तिम रूप देने के लिए राजस्थान के विद्वानों की एक मीटिंग श्री अगरचन्दजी नाहटा की अध्यक्षता में १३, १४, १५ सितम्बर, ७१ को उदयपुर मे सम्पन्न हुई। जिसमे श्री अगरचन्द जी नाहटा (बीकानेर), डा० कैलाशचन्द जैन (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन), डा० नरेन्द्र भानावत (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर), डा० कमलचन्द सोगानी (उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर), श्री बलवन्त सिंह जी मेहता (उदयपुर), श्रीजोधसिंह मेहता (उदयपुर) एवं श्री देव कोठारी (उदयपुर) आदि विद्वान सम्मिलित हुए।

मीटिंग मे यह निर्णय लिया गया कि उक्त ग्रन्थके लेखन मे जैन संस्कृतिके मूलाधार, राजस्थान का भौगोलिक व ऐतिहासिक परिवेश, जैन संस्कृति का विकास, पुरातत्व, कला साहित्य, ग्रन्थ भण्डार, जैन सघ के विशिष्ट व्यक्तित्व, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में जैन संस्कृति का योगदान आदि विषयो का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाय।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

वर्ष २४ : किरण १ फरवरी १९७२

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

धातु की यह तीर्थंकर मूर्ति दिल्ली दरवाजे के दि० जैन मन्दिर की है, जो सं० १५३९ में किसी गर्ग गोत्री अग्रवाल द्वारा ग्वालियर में राजा मानसिंह के राज्यकाल में प्रतिष्ठित हुई है।

विषय-सूची

●

अनेकान्त को सहायता

११) सेठ रामस्रूप नेमीचन्द १४/१६, आरजीकर रोड, कलकत्ता ने अनेकान्त के लिए दानस्वरूप ग्यारह रुपया भेजे है। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

५) वैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल ने अपने सुपुत्र राजेशकुमार एव शुभचन्द्र सेठी गया निवासी की सुपुत्री मजुलता के विवाहोपलक्ष मे निकाले दान मे से पाच रुपया अनेकान्त के लिए सधन्यवाद प्राप्त हुए है।

समाज के महानुभावो का कर्तव्य है कि वे विवाहादि शुभावसरो पर अनेकान्त को अच्छी सहायता भिजवाने का यत्न करे। कारण अनेकान्त ही जैन समाज का शोध-खोज विषयक एक प्रतिष्ठित पत्र है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

★

पुस्तक प्रकाशकों से निवेदन

समाज की पुस्तक प्रकाशक सस्थाओं के संचालकों से निवेदन है कि वे अपने-अपने प्रकाशनों की एक-एक कापी वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी को भेंट स्वरूप भेजें। कारण कि वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी का उपयोग दिल्ली यूनिवर्सिटी और बाहर के अन्वेषक (शोध-छात्र और छात्राएं) कर रहे है। आशा है संस्थाओं के प्रकाशक इस ओर ध्यान देने का प्रयत्न करेगे।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागंज
दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४ किरण ६ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९८, वि० सं० २०२७ { जनवरी फरवरी १९७२

सिद्ध स्तुति

सिद्धो बोधमितिः स बोध उदितो ज्ञेय प्रमाणो भवेत् ।
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृग नभस्तादृशः ।
प्राक्कायात् किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति ॥५

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—जो सिद्ध परमेष्ठी अपने कर्मरूपी कठोर शत्रुओं को जीतकर नित्य मोक्ष पद को प्राप्त हो चुके हैं। जन्म जरा एवं मरण आदि जिनकी सीमा को भी नहीं लांघ सकते—जो जन्म जरा एवं मरण से मुक्त हो गए हैं तथा जिनमें असाधारण ज्ञान आदि के द्वारा अचिन्त्य एवं अद्वितीय अनन्त चतुष्टयरूप ऐश्वर्य का संयोग कराया गया है; ऐसे वे तीनों लोकों के चूडामणि के समान सिद्ध परमेष्ठी मेरे कल्याण के लिये होवे ॥४॥

राजस्थान में जैन धर्म व साहित्य : एक सिंहावलोकन

डा० गजानन मिश्र एम० ए० पी-एच० डी०

राजस्थान में जैनधर्म का प्रसार :—

जैनधर्म भारत के प्राचीन धर्मो मे से है। इनके प्रवर्तक ऋषभदेव माने जाते है। इनके पश्चात् २३ अन्य तीर्थङ्कर भी हुए जिनमें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर थे। महावीर स्वामी का समय ईसा से ५वी शताब्दी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार ये बुद्ध के समकालीन थे। इनके (महावीर) समय मे वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार अत्यधिक था। इससे समाज जर्जरित हो चुका था। कर्मकाण्ड की आलोचना करते हुए महावीर स्वामी ने आचार धर्म को प्रधानता दी। संयम से रहना, बिना अधिकार कोई वस्तु ग्रहण न करना, मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न देना, सदाचार-पालन करना, यज्ञ करना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि जैन धर्म के मूल सिद्धान्त है। इनके लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र पर बल दिया गया है।

जैन समाज मुख्यतः दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो शाखाओं मे विभक्त है। यह विभाजन सम्भवत: जैन मूर्तियो को वस्त्रादि से सज्जित करने के विषय को लेकर हुआ है। श्वेताम्बर जैन अपनी मूर्तियों को वस्त्र पहनाने लगे और दिगम्बर जैन नग्न मूर्तियों की उपासना करने लगे। श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते है और दिगम्बर साधु वस्त्रहीन रहते है। डा० मित्तल के अनुसार इस भेद का सूत्रपात जैन धर्म के मूल सिद्धात त्याग और वैराग्य की सीमा का निर्धारण करने से हुआ जान पड़ता है[१]। कालान्तर मे श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्दर भी कई मत-मतान्तर हो गये जिन्हे स्थानकवासी, तेरहपंथी आदि कहा जाता है। मत-मतान्तरो के कारण ही जैन धर्म के अन्तर्गत विभिन्न गच्छो की स्थापना हुई[२]।

राजस्थान मे जैनधर्म के सकेत ईसा से दो शताब्दी पूर्व तक के मिलते है। लेकिन ईसा की आठवी शताब्दी के पश्चात् तो जैनधर्म का प्रभाव राजपूत राजाओ के शासन-काल मे बहुत अधिक हो गया[३]। यद्यपि वे राजा प्रारम्भ मे वैष्णव तथा शैवधर्म के अनुयायी थे, तथापि उन्होने जैनधर्म का आदर किया। इसका कारण हेमचन्द्र आदि जैनियों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी था। जैन धर्म के अनुयायियों का राजघरानो मे बहुत सम्मान था। यही नही वे बहुत अच्छे पदो पर आसीन भी थे। पृथ्वीराज चौहान के शासनकाल में जैनियों के अनेक मन्दिर बनवाये गये। उस काल के बने हुए रणथम्भोर तथा अजमेर का पार्श्वनाथ का मन्दिर उल्लेखनीय है, जिन पर सोने के कलश सुशोभित थे। राजस्थान के वीर सेनानी महाराणा प्रताप ने तत्कालीन जैन सन्त हीरविजय को धर्मोपदेश देने के लिए मेवाडी भाषा मे सन् १५७८ को एक पत्र लिखा था[४]। राजस्थान का कोई राज्य ऐसा नही है जहाँ जैन धर्म का प्रचार न हुआ हो, जैन मन्दिर न बने हो और जैन कवियो द्वारा साहित्य न रचा गया हो।

जैन धर्मावलम्बियो ने विपुल साहित्य की रचना की। प्रारम्भ मे साहित्य-रचना तथा अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र मन्दिर हुआ करते थे। उन मन्दिरो मे बैठकर जो भी साहित्य विरचित किया गया, उसे वही सुरक्षित

१. व्रज के धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास—डा० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ५२।

२. राजस्थान साहित्य का इतिहास—डा० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया, पृ० १०४–५।

३. जैनिज्म इन राजस्थान—बाई के. सी. जैन, पेज १८।

४. राजपूताने के जैनवीर—अयोध्याप्रसाद गोयलीय पृ० ३४१–४२।

रख लिया गया। कालान्तर मे ऐसे मन्दिर ग्रंथालय बन गये, जिन्हे शास्त्र भंडार कहा जाने लगा। जैनियों ने स्वरचित साहित्य को ही इन भडारो मे सुरक्षित नही रखा अपि तु जैनेतर कवियो के साहित्य को भी सुरक्षित रखा। जिस समय भारत में विदेशी जातियों ने आकर यहाँ की सस्कृति और साहित्य को नष्ट करने का प्रयास किया उस समय इन जैन भण्डारो ने भारतीय साहित्य को सुरक्षित रखने मे बहुत बड़ा योगदान दिया। निस्सदेह इन भण्डारों से भारतीय साहित्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। राजस्थान मे इन शास्त्र भण्डारों की सख्या अत्यधिक है। इनकी सूची यहां दी जा रही है—

(क) जैसलमेर के शास्त्र भण्डार—

१. बृहद् जैन भण्डार—स्थापित १४४० ई०।
२. डूगरसी भडार।
३. करतार गच्छ का पचायती भंडार।
४. तपगच्छ भंडार।
५ थावरसाह भडार—स्थापित १७वी शताब्दी।

(ख) बीकानेर के शास्त्र भंडार—

१. बृहद् ज्ञान भडार।
२. श्री पूज्य जी का भंडार।
३. श्री जैन लक्ष्मीमोहन शाला भंडार।
४. क्षमा कल्याण जी का भडार।
५. छत्तीबाई के उपाश्रय का भडार।
६. श्री अभय जैन पुस्तकालय।
७. सेठिया लाइब्रेरी आदि।

इनके अलावा अलवर, जयपुर, कोटा, जोधपुर, बूदी आदि मे भी जैन भडारो की विपुलता है। जिनमे सहस्रों हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। वस्तुतः जैन विद्वानों ने बड़े ही उदार भाव से जैनेतर साहित्य का सरक्षण किया। सैकडो फुटकर रचनाएँ और कई जैनेतर उपकाव्य तो उन्ही की कृपा से अब तक बच पाए है। जैनेतर सग्रहालयो मे जिन रचनाओ की एक भी प्रति नहीं मिलती, उनकी अनेकों प्रतियाँ जैन भंडारो में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अनेको जैन ग्रथों मे जैनेतर कवियों के पद्य उद्घृत मिलते है।[1]

आलोच्यकालीन राजस्थान में रचित जैन हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त परिचय—

पूर्व पृष्ठो मे दी गई जैन शास्त्र भडारों की सूची से ही यह विदित हो जाता है कि जैन विद्वानो को साहित्य-रचना करने एव उसे सुरक्षित रखने का शौक था। राजस्थान मे जैनियो द्वारा साहित्य रचना प्राचीन समय मे ही होने लग गई थी। लेकिन प्राचीन जैन ग्रन्थो मे उनके निर्माण-काल, रचना-स्थान आदि का उल्लेख नही मिलता, इसलिए ७वी शताब्दी से पहले के किसी भी ग्रथ को, वह कहाँ रचा गया था? निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ८वी शताब्दी के आचार्य हरिभद्र सूरि राजस्थान के बहुत बड़े विद्वानों में से है जिन्होंने धूर्ताख्यान की रचना चित्तौड़ मे की। जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओ मे अपनी रचनाएँ की है। १३वीं-१४वी शताब्दी मे जैन विद्वानों की रचनाएँ गुजराती मिश्रित राजस्थानी मे तदुपरान्त शुद्ध हिन्दी व राजस्थानी मे मिलती है। आलोच्य काल से पूर्व जैन कवियों मे जयसागर, दरडागोत्रीय,[2] दयाल,[3] ऋषिवर्द्धन-सूरि,[4] मतिशेखर,[5] पद्मनाभ,[6] पार्श्वचन्द्र सूरि,[7] कुशल-लाभ[8] तथा समयसुन्दर[9] आदि के नाम उल्लेखनीय है।

राजस्थान मे जैन विद्वानों द्वारा जिस साहित्य की रचना की गई है उसे सुविधा के लिए पाच भागों मे

---

१. परम्परा पत्रिका में प्रकाशित—अगरचन्द नाहटा का लेख, पृ० ६१।
२. जैन गुर्जर कवियो—भाग १, पृ० २७ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई।
३. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० माहेश्वरी, पृ० २५०।
४. जै० गु० क० भाग १ पृ० ४८ श्री देसाई।
५. जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास—पैरा ७६८।
६. राजस्थान के जैन शास्त्र की भंडारो की सूची—भाग ३ (प्रस्तावना)।
७. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह।
८. राजस्थान भारती भाग १ अं० ४ जन० ४७।
९. जै० गु० क० भाग १ पृ० १३६।

विभाजित किया जा सकता है—

१. धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य।
२. वर्णनात्मक साहित्य।
३. काव्य, महाकाव्य और मुक्तक काव्य।
४. वैज्ञानिक साहित्य।
५. ऐतिहासिक तथा राजनैतिक साहित्य।

आलोच्य काल मे भी उपर्युक्त सभी प्रकार के साहित्य की रचना राजस्थान के विभिन्न भागो मे हुई। इस काल के कवियो मे बीकानेर के श्री हर्षनन्दन[1] जयतसी, भावप्रमोद, लाभवर्द्धन, लक्ष्मीवल्लभ, धर्ममन्दिर, जीवराज, वच्छराज, उदयचन्द्र, गुणचन्द्र, क्षमाकल्याण, शिवलाल, सावतराम, रघुपति,[2] आदि जैसलमेर के जयकीर्ति,[3] बूदी के दिलराम,[4] भरतपुर के नथमल बिलाला[5] तथा अन्य कवियो मे रामविजय,[6] चरित्रनन्दन आदि साहित्यकारो के नाम उल्लेखनीय है।

जयपुर राज्य में जैनधर्म

जयपुर राज्य मे जैनधर्म का व्यापक प्रसार मध्यकाल मे हुआ। जयपुर निर्माण से पूर्व आमेर राज्य के राजाओ मे मानसिह एव मिर्जा राजा जयसिंह के शासनकाल मे अनेक जैन मन्दिरो का निर्माण हुआ। १६५४ ई० मे सागानेर के प्रसिद्ध गोधो के मन्दिर का निर्माण मिर्जा राजा जयसिंह के शासन काल मे ही हुआ था। आमेर के प्रसिद्ध जैन मन्दिर विमलनाथ का निर्माण भी जयसिंह के समय में उनके प्रधानमन्त्री मोहनदास खण्डेलवाल (जैन) के द्वारा १६५६ ई० मे हुआ था, जिस पर सोने का कलश था।[8]

जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिह के समय रामचंद्र छावडा, राव कृपाराम और विजयराम छावड़ा दीवान रहे। दीवान रामचन्द्र ने जयपुर व रामगढ़ के मध्य शाहबाद के प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण कराया। राव कृपाराम ने चाकसू तथा जयपुर मे अनेक मन्दिर निर्मित कराये। जयसिह के शासनकाल मे सम्यक्त्व कौमुदी तथा कर्मकाण्ड सटीक की भी रचना हुई।[9]

सवाई माधोसिह का शासन काल जैनधर्म के लिए उल्लेखनीय है। इनके समय मे बालचन्द्र छावडा सन् १७६१ मे राज्य के मुख्यमन्त्री बने। उन्होने अनेकों जैन मन्दिरो का निर्माण तथा जीर्णोद्धार करवाया।[10] १७६४ (स० १८२१) मे बालचन्द्र छावड़ा के प्रयत्नो से यहाँ "इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव" मनाया गया तब तत्कालीन जयपुर नरेश माधवसिंह जी ने "थाँ के पूजाजी के अर्थि जो वस्तु चाहि जे सो ही दरबार सूँ ले जाओ" कह कर सब प्रकार की सुविधा और सहायता प्रदान की थी।[11] दीवान रतनचन्द, नन्दलाल, केसरीसिह व नन्दलाल ने भी जयपुर और सवाई माधोपुर मे जिन मन्दिरों की स्थापना करवाई। सवाई जगतसिंह के दीवान बखतराम ने दुर्गापुरा तथा चौडा रास्ता जयपुर में यति यशोदानन्द जी के मन्दिर बनवाये। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक राजा के शासन काल मे मन्दिरों का निर्माण जैनधर्म के प्रभाव को स्थायी बनाये रखने मे बड़ा सहायक हुआ।

जिस प्रकार प्रत्येक राजा के शासनकाल मे जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है उसी प्रकार यहां साहित्य रचना भी हुई है। भारामल के शासन काल मे पाण्डवपुराण, हरिवशपुराण, महाराजा भगवानदास के शासनकाल मे वर्धमानपुराण, राजा मानसिंह के समय में हरिवंशपुराण[12] की रचना हुई तथा इसी पुराण की सं० १६०४ व १६०५ मे दो प्रतिलिपियाँ राजमहल[13] तथा संग्रामपुर[14] में की गई। इन हस्तलिखित लिपियों को सग्रह करने की

---

१. राजस्थान भारती, भाग १ अक ४।
२. बीकानेर के जैन शिलालेख—अगरचन्द नाहटा पृ० १८-२३।
३, ४, ५, ६, ७. जैनिम इन राजस्थान बाई. के. सी. जैन।
८. एनयूअल रिपोर्ट, राजपूताना म्यूजियम, अजमेर १९२५-२६, नं० ११।
९. प्रशस्ति सग्रह—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल।
१०. जैनिज्म इन राजस्थान बाई, के० सी० जैन पेज ४६-४७।
११. वीरवाणी पृ० २६-३०।
१२. प्रशस्ति संग्रह पृ० ७३।
१३. वही, पृ० ७२।
१४. वही, पृ० ७२।

प्रवृत्ति चल पडी और इस प्रकार कई शास्त्र भण्डार बन गये । जयपुर मे इस प्रकार के शास्त्र भंडारो की सख्या लगभग १५ है जिनके नाम निम्नलिखित है ।

(१) आमेर शास्त्र भडार :—

इस भडार की स्थापना आमेर में की गई थी। लेकिन अब लगभग २५ वर्षों से यह जयपुर के चौडा-रास्ता स्थित महावीर भवन मे परिवर्तित कर लिया गया है । अटारहवी शताब्दी मे इसे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति शास्त्र भडार के नाम से जाना जाता था । वर्तमान मे इस भंडार मे लगभग ४,००० हस्तलिखित प्रतियाँ एव १५० गुटके है ।[१]

(२) बड़ा मन्दिर का शास्त्र भण्डार—

२६३० हस्तलिखित प्रतियाँ एवं ३२४ गुटके हैं ।[२]

(३) बाबा दुलीचन्द शास्त्र भंडार,

(४) बधीचन्द मन्दिर का भंडार,

(५) सघी जी का मन्दिर शास्त्र भंडार,

(६) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर छोटे दीवान जी का,

(७) शास्त्र भडार, जैन मन्दिर गोधो का,

(८) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर पार्श्वनाथ,

(९) शास्त्र भडार, दिगम्बर जैन मदिर जोबनेर,

(१०) शास्त्र भंडार, विजयराम पाण्ड्या,

(११) शास्त्र भडार, दिगम्बर जैन नया मन्दिर,

(१२) शास्त्र भडार, पाटोदी का मन्दिर,

(१३) शास्त्र भडार, श्वेताम्बर जैन ग्रंथागार,

(१४) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर, मेघराज जी का,

(१५) शास्त्र भडार, जैन मन्दिर, यशोदानद जी का ।

१. आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की ग्रन्थ सूची—सं० डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ।

२. राजस्थान के जैन भडारो की ग्रन्थ सूची—स. डा० कासलीवाल ।

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में

प्रकाशक का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वि मासिक
मुद्रक का नाम	वंशीधर शास्त्री
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	वंशीधर शास्त्री स० मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेमसागर, बडौत
	यशपाल जैन, दिल्ली
	परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली
स्वामिनी सस्था	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

मैं वशीधर घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है ।

१७-२-७२

ह० वंशीधर

(वंशीधर)

आगरा से जैनों का सम्बन्ध और प्राचीन जैन मन्दिर

बाबू ताराचन्द रपरिया

[इस लेख के लेखक बाबू ताराचन्द जी रपरिया जैन समाज के पुराने कार्य कर्ता है। अच्छे विद्वान और समाज सेवी है। शौरीपुर तीर्थक्षेत्र के कई वर्षों तक मंत्री रहे है। आगरा एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। मुगल साम्राज्य के समय वहां अनेक प्रतिष्ठित जैनियों का निवास था। अनेक प्रसिद्ध विद्वान कवि भी रहते थे। वहा की अध्यात्म गोष्ठी प्रसिद्ध थी। उस गोष्ठी के प्रभाव से अनेक व्यक्ति जैनधर्म के धारक हुए थे। बनारसीदास, भगौतीदास, रूपचन्द, कुंवरपाल, भूधरदास, द्यानतराय, जगतराय, मानसिंह, विहारीदास, हीरानन्द, जगजीवन, बुलाकीदास, शालिवाहन, नथमल विलाला आदि कवियों की रचनाएं आगरा में ही रची गई हैं। पं० नयविलास ने ज्ञानार्णव की संस्कृत टीका साहू टोडर के पुत्र ऋषभदास की प्रेरणा से बनायी थी। प० दौलतराम कासलीवाल ने स० १७७७ मे पुण्यास्रव कथा कोष का पद्यानुवाद बनाया था। समयसार कलश टीका के कर्ता पांडे राजमल को भी आगरा मे अकबर के समय रहने का अवसर मिला था। कविवर भगवतीदास ने स० १६५१ मे अर्गलपुर जिनवन्दना बनाई थी, जिसमे अकबर कालीन दिगम्बर श्वेताम्बर मंदिरो का उल्लेख किया है प० नन्दलाल ने स० १६०४ मे योगसार की टीका बनाई है।

इन सब उल्लेखो से आगरे की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है। अतः आगरे की जैन समाज का कर्तव्य है कि वह आगरा के जैन मन्दिरो के मूर्ति लेख और आगरा के शास्त्र भडारो के हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची का निर्माण कराये, जैन साहित्य और इतिहास के लिए इसकी महती आवश्यकता है, आशा है आगरा समाज इस ओर अपना ध्यान देगी।

—सम्पादक]

कृष्ण साहित्य मे वृज के चौरासी वनो का उल्लेख मिलता है जिनमे एक अग्रवन भी है। वर्तमान आगरा की स्थिति भी उसी अग्रवन मे है (सम्भव है नगर बसने के उपरान्त अग्रलपुर—अग्रसेनपुर—अर्गलपुर या अग्रपुर—अर्गलपुर आदि नाम पर हो) यह वन यमुना नदी के किनारे, यमुना के कछार मे फैले हुए थे। वृन्दावन की भाँति अग्रवन भी जमुना के तीर पर वसा था। शौरीपुर या शूरसेन नगर यादवो की राजधानी थी। श्री कृष्ण के पिता वसुदेव व ताऊ समुद्रविजय आदि दशार्णव व पितामह अन्धक विष्णि आदि यादवो का निवास स्थान शौरीपुर था। प्रसिद्ध योद्धा कर्ण और जैनो के २२वे तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ का जन्म शौरीपुर मे हुआ था। वे श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। उनके पिता का नाम समुद्र विजय था।

श्री कृष्णजी का जन्म मथुरा मे अपनी ननसाल (ननिहाल) मे हुआ था। मथुरा से आगरा ३६ मील उत्तर पश्चिम मे है और आगरा से शौरीपुर ४४ मील दक्षिण पूर्व मे जमुना के किनारे स्थित है। मथुरा से शौरपुर तक का क्षेत्र यादवो की क्रीडास्थलि थी और श्रीकृष्ण भक्त वैष्णवों तथा श्री नेमिनाथ भक्त जैनों के लिए पूज्य पवित्र एवं तीर्थ तुल्य थी। आगरा, मथुरा व शौरीपुर के मध्य मार्ग पर स्थित होने से आगरे मे जैनो का निवास निर्विवाद था और उनके मन्दिर आदि का भी प्राचीन काल से होना इतिहास से सिद्ध होता है।

जैन साहित्य मे "निर्वाणकाण्ड अतिशय क्षेत्र काण्ड" नामक निर्वाण भक्ति प्राकृत भाषा में बहुत पुरानी एव प्रामाणिक स्तोत्र है। दश भक्तियों मे निर्वाण भक्ति भी एक है जिसका नित्य पाठ करना, जैन साधु और श्रावकों के लिए आवश्यक होता है। इस में "अग्गल देवं" नाम से एक प्रतिमा को नमस्कार किया गया है। प्राकृत 'अग्गल, का संस्कृत रूप 'अर्गल, होता है। जैसा

कि शिलालेखो से जाना जाता है, आगरा का एक नाम अर्गल पुर भी है । अत: मालम पड़ता है कि आगरा मे प्राचीन काल में कोई अतिशय क्षेत्र था जिस की पूजनीय प्रतिमा अग्गल देव के नाम से उस समय प्रख्यात थी । निर्वाण भक्ति वि. स. ४६ मे होने वाले श्री १०८ आचार्य कुन्द कुन्द की रचना मानी जाती है । अत: अग्गल देव का अस्तित्व वि. की प्रथम शताब्दी से पूर्व होना चाहिए; क्योंकि श्री कुन्द कुन्द के समय मे वह मुख्य अतिशय क्षेत्रो मे गिना जाता था, प्रसिद्धि प्राप्ति मे स्थापना से कम से कम २००-२५० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा । अत: अग्गल देव की स्थापना ई० पू० दूसरी शताब्दी मे हुई होगी ।

इस समय अग्गल देव की प्रतिमा व मदिर का कोई चिन्ह अवशिष्ट नही है और इतने लम्बे काल मे मुस्लिम व अन्य लोगों द्वारा जैनों पर होने वाले आक्रमणों के कारण, पाया जाना भी सम्भव नही है । परन्तु १८७३ में जार्ज कनिघम को किले के पूर्व जमुना के पास एक प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेष व एक विशाल काय श्याम वर्ण प्रतिमा मिली थी । यथा—

"The ancient remains at Agra of the pre. Musalman period are very few. Out side the water gate of the fort of Agra, between the fort and the river, several square pillars of black basalt have been unearthed as well as a very massive and elaborately sculptured statue of black basalt representing Munisuvrata Nath the twentieth Jain Tirthankara, with a dedicatory inscription in Kutila characters, dated Samvat 1063 or A.D. 1006. There can be no doubt that these pillars formed the colonnade to the entrance, from the river, of some ancient Jain temple which are probably pulled down and destroyed when the fort was built."[1]

अर्थात् मुसलमान काल से पूर्व के प्राचीन अवशेष आगरा मे बहुत थोड़े है । आगरा किले के जलद्वार के बाहर, किले और नदी (जमुन) के बीच कई काले पाषाण के स्तम्भ खुदाई में पाये गये थे और एक बहुत भारी विशाल काले पाषाण की कलापूर्ण मूर्ति जो जैनो के २० वे तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत नाथ की थी, खुदाई मे मिली थी इस पर कुटिला अक्षरो मे स० १०६३ खुदा था । नि:सन्देह स्तम्भ प्राचीन जैन मन्दिर के द्वार के थे जो नदी की ओर था और जो शायद जब किला बनाया गया, गिरा दिया गया हो ।"

कनिघम ने सवत् को विक्रम संवत मान कर १००६ ई० सन् माना है । परन्तु कुटिला अक्षर और उस समय के सवतो को देने की प्रथा को ध्यान मे रखते हुए यह वीर संवत् भी हो सकता है । इससे जान पडता है कि मुसलमानों के आने के पहिले से इस स्थान पर कोई प्राचीन मन्दिर मौजूद था । प्रतिमा के सम्बन्ध मे पता नही लगता है कि वह कहाँ चली गई । बहुतो का विचार है कि रोसन मुहल्ला मे स्थित श्री शीतल नाथ की प्रतिमा यही है, परन्तु उस पर कोई चिन्ह या और कोई शिलालेख नही दिखलाई पडता है सम्भव है मिट गया हो, अलबत्ता चरण चौकी पर जो फूल-पत्तियाँ बनी हुई है वे कच्छुआ सरीखे भी दिखाई पड़ते हैं शायद इस कारण से कनिघम ने उसको श्री मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा मान लिया हो । प्रतिमा का वर्तमान नाम करण उस शिलालेख के कारण प्रचलित हुआ जान पडता है जो मन्दिर मे दरवाजे के दाहिनी ओर लगा हुआ है । यथा —"प्रथम बसन्त सिरी सीतल जु देव हू की प्रतिमा नगन गुन दस दोय भरी है[2] ।"

शिला लेखो और मूर्ति प्रशस्तियों मे आगरे का पुराना नाम उग्रसेन पुर व अरगल पुर, मिलता है । शाहजहाँ तक के समय मे उग्रसेन पुर व अर्गलपुर प्रसिद्ध थे । अकबर के आगरा बसाने से पहिले शायद यही नाम प्रचलित थे । अकबर के आगरा बसाने के बाद अकराबाद

१. Archeological Reports, Vol. VI, page 221-247. सं० १८७३-७४ व Monumental antiquities and inscriptions N.W.P. and Oudh Vol. II, 1891, Page 75.

२. प्राचीन जैन शिला लेख संग्रह भाग २

नाम दिया गया परन्तु वह ज्यादा प्रचलित हुआ मालूम नहीं होता। यथा—'संवत १६८८ वर्षे असोज सुदी १५ श्री **अर्गलपुरे** जलालुद्दीन पातिसाह श्री **अकब्बर** सुत जहांगीर सुत सवाई साहिजा विजय राज्य......।[३]

"...जैनागमे यन्मति तद्वाक्य श्रवणेन निर्मलधीया निर्मापितोय ग्रहं श्री **अकब्बराबाद पुरे**...।"[३]

" ... १६७१ ... विक्रमादित्य भूपते...**उग्रसेनपुरे** रम्ये...।" [४]

जगदगुरु आचार्य श्री हीर विजय जी व तीर्थमाला के लेखक श्री शीलविजय जी ने भी आगरा ही लिखा है, कभी-कभी अकबराबाद भी। पं० बनारसीदास जी, भैय्या भगवतीदास जी, भूधरदास जी आदि ने 'आगरा' व अकबराबाद दोनों ही नाम लिखे है। बहुत-सी प्रतिमा लेखो मे भी आगरा ही लिखा मिलता है इससे जान पडता है कि १६वी, १७वी शताब्दी मे ही आगरा नाम प्रसिद्धि पा गया था। मुसलमानी राज्य के व गदर के कुछ समय बाद भी लिखा मिलता है। सौरीपुर के भट्टारको को जो सनदे बादशाह शाह आलम गाजी ने दी थी उनमे भी अकबराबाद ही लिखा है।

उग्रसेनपुर और अर्गलपुर नाम अकबर के द्वारा नगर बसाने के पहिले हिन्दू राज्य काल में रहा था। पुरातत्व की खोजों से जान पडता है कि अकबर द्वारा नगर बसाने से बहुत पहिले यहाँ समृद्धशाली हिन्दू व जैन राज्य था जो मालूम पडता है कि प्राम्भिक मुसलमानी आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त कर दिया था। ११वी शताब्दी में मोहम्मद गौरी और गजनी की आगरा के निकट रपरी[५] और चन्दवार[६] के चौहान राजाओ से लडाइयो का उल्लेख इतिहास मे पाया जाता है।

जैनों का सम्बन्ध—इस प्रकार हम देखते है कि आगरा प्रदेश से जैन धर्मावलम्बियो का सम्बन्ध प्राचीनकाल से रहा है। आगरा के कलेक्टर नेविल ने अपने आगरा गजेटियर (१६०५) मे लिखा है कि आगरा से इटावा तक का प्रदेश—जमुना, चम्बल और क्वारी के त्रिकोण म बसा हुआ क्षेत्र पूर्णतया अहिंसक है। इस क्षेत्र मे कोई शिकार तक नहीं खेलता न मांस खाता है। इससे जैन व वैष्णव प्रभाव प्रगट होता है।

अकबर व अन्य मुगल सम्राटों के राज्य मे जैनो का अच्छा सम्मान पाया जाता है। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि जगद्गुरु हीरविजय जी को अकबर ने आमंत्रित और सम्मानित किया था और उनसे जैन तत्वो का वर्णन सुना था। पर्वों के दिनो मे हिंसा न करने का भी फरमान निकाला था।

इन बादशाहो के समय मे आगरा मे बहुत से जैन कवि व विद्वान व सेठ हुए है। यहाँ दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो आम्नाए वालो का अच्छा प्रभाव था और दोनो सम्प्रदायो मे सौहार्द था। एक दूसरे के उत्सव आदि मे सम्मिलित होते थे। एक दूसरे की सहूलियत के लिए मदिरों मे दोनो सम्प्रदाय की मूर्तिया रहती थी और बिना किसी रुकावट के दर्शन पूजन होती थीं।

आगरे की प्राचीन बस्तियो मे जमुना पार नुनिहाई, सिकन्दरा (जो सिकन्दर लोदी के समय मे बसा हुआ था) शाहगंज, ताजगज, मोती कटरा, रोसन मुहल्ला मुख्य थे जहाँ जैनियो की बस्तियाँ थी, मन्दिर थे और बडे-बडे राज्यमान सेठ व धनाढ्य रहते थे।

शाहगज मे प० भूधरदास जी रहते थे। उस समय वहां पार्श्वनाथ स्वामी जो चिन्तामणि पार्श्वनाथ कहे जाते थे का मन्दिर था। किसी समय वहाँ जैनो की बस्ती न रहने से मन्दिर उठ गया। बताया जाता है कि श्री पार्श्वनाथ स्वामी की विशाल मूर्ति वहां से लाकर ताजगज के मन्दिर मे विराजमान कर दी गयी थी और अन्य बहुत-सी मूर्ति मोती कटरा के मन्दिर मे तहखाने में रख दी गई थी। इन मूर्तियो के शिलालेख व प्रशस्तियों को संग्रह किया जाय तो आगरे के प्राचीन जैन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडे परन्तु दुर्भाग्यवश दिगम्बर जैनो मे नवीन प्रतिष्ठाओ का अधिक महत्व है, प्राचीन गौरव का नही। इस समय शाहगज के पास श्वेताम्बर जैनोका 'दादा वाडी' नाम का प्राचीन मन्दिर है।

ताजगंज के मन्दिर मे जो पार्श्व नाथ तीर्थङ्कर की श्याम वर्ण विशाल मूर्ति विराजमान है उसका प० बनारसी दास जी, भूधर दास जी, नन्दराय जी आदि ने"

२. ३. ४. : प्राचीन जैन शिलालेख संग्रह भाग २

५. ६ इस सम्बन्ध मे विशेष खोज की आवश्यकता है।

चिन्तामणि पार्श्वनाथ" के नाम से उल्लेख किया है। नन्दराम जी ने तो यहाँ तक लिखा है कि इनके दर्शन करने से मुझे स्वरूप-आत्मा का ज्ञान-सम्यक् दर्शन हुआ है" ताजगज के मन्दिर मे एक श्रुत यत्र है जिसकी प्रशस्ति से मालूम होता है कि पं० बनारसीदास जी व भैय्या भगवतीदास यत्र को करहल (मैनपुरी) मे प्रतिष्ठा करा कर लाये थे। यहाँ के सरस्वती-भण्डार मे कई प्राचीन ग्रन्थ है जिनमे 'जीव सिद्धि' और स्वर्ण अक्षरो से लिखा हुआ उर्दू लिपि मे पं० बनारसी दास का समयसार नाटक भी था। जब १९३० मे हम लोगों ने आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी के आगमन पर नशिया पीर कल्याणी पर शास्त्र प्रदर्शिनी की थी तब उक्त दोनो ग्रन्थों को देखा था।

मोती कटरा मे दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय के विशाल एव प्राचीन मंदिर है जिन मे ऐतिहासिक प्रतिमाएँ विराजमान है। शास्त्रभण्डार भी है। दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर को तो प्राचीन प्रतिमा और शास्त्रो का आगार ही कहना चाहिए। प० बनारसी दास जी भी मोती कटरा मे रहते थे। यहाँ के शास्त्रो व प्रतिमाओ की प्रशस्तियाँ यदि प्रकाश मे आ जावे तो जैन इतिहास को बहुत सामग्री मिले। सुना है शीघ्र ही यहाँ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा होने जा रही है। अच्छा हो यदि सयोजक गण इस उपयोगी महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य के लिए भी आयोजन करे। आगरा के श्वेताम्बर मन्दिरो की प्रतिमाओ के शिलालेख तो सग्रहीत होकर प्रकाशित हो चुके है। उन्ही के आधार पर आगरे के प्राचीन जैन इतिहास की झलक मिलती है। यदि शास्त्रो की प्रशस्तिया भी प्रकाश मे आ जाती तो और अधिक जानकारी मिलती।

प्रसिद्ध स्वर्गीय जती श्री चुन्नीलाल जी जती कटरा मे रहते थे। उनके कारण ही उसका जती कटरा नाम पडा। स्व० जती जी यंत्र, मत्र ज्योतिष व वैद्यक आदि के अच्छे ज्ञाता थे और दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों मे उनका प्रभाव व मान था। अनेक दिगम्बर उनके शिष्य थे। मोती कटरा जैन जोहरियो की वस्ती होने से इस का नाम मोती कटरा पड़ा जान पड़ता है। जती कटरा में भी दिगम्बर व श्वेताम्बर मन्दिर है। जिनमे प्राचीन व मनोग्य प्रतिमाएं विराजमान हैं।

नुनिहाई व सिकंदरा भी पुरानी बस्तियां है और दिगम्बर जैन मदिर भी हैं परन्तु प्राचीनता प्रायः नष्ट हो गई या श्रावको की आधुनिक एव नवीन प्रियता के कारण लुप्त हो गई है। बादशाही जमाने मे नुनहाई व शहादरा सम्पन्न वस्तिया थी। पुराने मकानो के खडहर व भग्नावशेष इस बात के द्योतक है। नुनिहाई सहादरा-आगरा मुगलसराय मार्ग पर स्थित होने से बादशाही काल में मुगल फौजो का पड़ाव रहता था। नुनिहाई के पास ही जमुना किनारे-किनारे बादशाही इमारतो की लाइन है जिनमें रामबाग, सैयद का बाग, चौबुरजा, चीनी का रोजा, ग्यारह सिड्ढी आदि व नवलखा बाग (जो आजकल नवल गज कहलाता है।) आदि मुख्य है। इस समय बेलनगज, धूलियागज, पत्तलगली गुदड़ी, घाटिया, आजम खा, राजा मन्डी, नाई मन्डी, छीपीटोला, पीर कल्याणी आदि मोहल्लो मे करीब ३० मदिर व चैत्यालय दिगम्बर जैन आम्नाय के और मोती कटरा व रोशन मोहल्ला के अलावा बेलनगंज मे भी श्वेताम्बर आम्नाय के मंदिर है यह प्रायः सब मदिर १०० साल के अन्दर के बने हुए हैं। कोई-कोई १०-१२ वर्ष के पुराने ही है। नित्य पूजन दर्शन करना यद्यपि प्रत्येक जैन स्त्री-पुरुष-बाल-वृद्ध के लिए आवश्यक है परन्तु अब यह प्रवृत्ति घटती जा रही है खास कर पढ़े-लिखे आधुनिक युवा वर्ग मे सिवाय मेले उत्सवों मे मनोरजनार्थ सम्मलित होने के मदिर जाने की प्रवृत्ति मिटती जाती है। कभी-कभी यह सोचकर कि इतने मंदिरों की रक्षा, व व्यवस्था भविष्य मे किस प्रकार होगी, खेद होता है परन्तु फिर भी नित्य नवीन मदिर और मूर्ति निर्माण की प्रवृत्ति-समाज मे धन वृद्धि के साथ-साथ बढ रही है। यह आश्चर्य और चिन्ता का विषय है। ★

नोट—नुनिहाई मे वार्षिक कलशाभिषेक प्राचीन काल से होते चले आये है। उत्सव के उपरान्त जनता एतमादुल्ला के बगीचे में ठहर कर भोजन करती थी। गत २ वर्षों से जैनों की उपेक्षा और कमजोरी के कारण पुरातत्व विभाग बन्द कर दिया है। इसी प्रकार सिकन्दरा व ताऊ के बगीचो मे भी उत्सव के बाद भोजन करने का अधिकार बादशाही जमाने से चला आता है।

जैन दर्शन में आत्म-तत्त्व विचार

श्री लालचन्द जैन शास्त्री एम. ए.

आत्मा दार्शनिक जगत् का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। इसलिए संसार के सभी ऋषि, मुनि, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने आत्मा को अपने चिंतन का केन्द्रबिन्दु बनाया है। जीवन के चारों पुरुषार्थ[1] का एक मात्र साधन आत्मा ही है ऐसा प्रायः सभी दार्शनिकों[2] ने स्वीकार किया है।[3] जैन दर्शन मे आत्मा उपयोगस्वरूप, स्वामी, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, अमूर्तिक और कर्म-संयुक्त माना गया है।[4] [आत्मा को स्वदेह परिमाण मान कर दार्शनिक जगत को आश्चर्य मे डाल दिया] आत्मा का परिमाण एवं उसके निवासस्थान के विषय मे काफी मतभेद दृष्टिगोचर होता है।[5]

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण मे कोई एक सुनिश्चित विचारधारा परिलक्षित नही होती है। कही पर आत्मा को व्यापक[5] स्वीकार किया गया है[5] तो अन्यत्र अणुपरिमाण वाला मान कर हृदयस्थ[7] माना गया है। इसी प्रकार दूसरे स्थान मे आत्मा को नख से सिख तक व्याप्त मानकर देह परिमाण माना गया है।[8] किन्तु गीता में स्पष्ट रूप से व्यापक बतलाकर सर्वत्र उसका निवास-स्थान स्वीकार किया गया है।[9]

बाद के भारतीय दर्शन में आत्मा के परिमाण के विषय में तीन प्रकार की विचारधाराएं उपलब्ध होती है।

१—आत्मा अणुपरिमाण वाला है

रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभ मतानुयायी, निम्बार्काचार्य, महाप्रभु चैतन्य, कबीरदास एवं मीराबाई ने आत्मा को बाल हजारवें भाग के बराबर अणुपरिमाण वाला माना है।[10] यह अणु परिमाण वाला आत्मा हृदय मे निवास करता है।[11] बादरायण का मत है कि जीवात्मा एक शरीर को छोडकर लोकान्तर मे जाता है इससे सिद्ध है कि आत्मा अणु रूप है। निम्बार्काचार्य ने आत्मा को अणु परिमाण वाला मान कर आत्मगुणों की अपेक्षा से उसे विभु स्वीकार किया है।[12] रामानुजाचार्य का मत है कि अणु परिमाण वाला जीव ज्ञानरूपी गुण के द्वारा समस्त शरीर के सुखादि संवेदन को अनुभव करने में समर्थ है। जैसे दीपक की शिखा यद्यपि छोटी होती है तथापि सकोच विस्तार गुण से युक्त होने के कारण समस्त पदार्थों को प्रकाशित करती है।[13] यदि आत्मा को अणु न न माना जाय तो परलोक गमन नही हो सकता है। अणु आत्म परिमाण मानने वालो का मत है कि व्यापक आत्मा परलोक गमन नही कर सकता एवं देह परिमाण

---

१. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये है।

२. भौतिकवादी दार्शनिकों को छोड़कर।

३. पञ्चास्तिकाय गाथा २७।

४. पञ्चदशी ६।७८।

५. महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति।
कठो० १।२।२२

वेदाहमेतमजर पुराण, सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात्।
श्वे० ३।१।२

६. अंगुष्टमात्रः पुरुषो आत्मनि तिष्ठिति।
कठो० २।१:१३, श्वे० ३।१३, बृहदारण्यक ५।६।७, छा० ३।७४।३।

७. कौषीतकी ४।२०।

८. मनु० १।५६।

९. गीता २।२४—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातनः

१०. पञ्चदशी ६।८१।

११. डा० राधाकृष्ण—भारतीय दर्शन पृ० ६६२।

१२. डा० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन भाग २, पृ० ७५३

१३. ब्रह्मसूत्र रामानुज भाष्य २।३।२४-२६, डा० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग २ पृ० ६९३।

आत्मा अनित्य हो जाता है इसलिए आत्मा को अणु परिमाण मानना ही उचित है ।।

अणु परिमाणवाद की समीक्षा

(१) आत्मा के अणु परिमाण के सिद्धान्त की सभी दार्शनिकों ने आलोचना की है । जैन दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा को अणु परिमाण मानने पर शरीर की समस्त संवेदनाओं का अनुभव होना असम्भव है ।[1] जिस स्थान विशेष मे आत्मा रहता है सिर्फ उसी स्थान के सवेदनों का वह अनुभव कर सकेगा । इसलिए आत्मा को अणु परिमाण मानना उचित नहीं है ।

(२) अणु रूप आत्मा अलातचक्र के समान पूरे शरीर मे तीव्र गति से घूम कर समस्त शरीर मे सुख दुःखादि का अनुभव कर लेता है । ऐसा मानना भी उचित नही है क्योकि जिस समय आत्मा किसी अंग मे; चक्कर करता हुआ पहुँचेगा; उसी समय अन्य अगों से उसका संबध नही रहेगा इसलिए वे अचेतन हो जायेगे । अतः अन्तराल मे ही सुख का विच्छेद हो जायेगा । इसलिए आत्मा को अणु रूप मानना उचित नही है ।[2]

(३) अणु परिमाण आत्मा मानने से युगपद दो इन्द्रियों मे ज्ञान नही होना चाहिए, मगर नीबू का नाम सुनते ही रसना इन्द्रिय मे विकार उत्पन्न हो जाता है । इससे सिद्ध है कि आत्मा अणु परिमाण नही है । अमितगति श्रावकाचार (४।३-४) मे एवं स्वामी कार्तिकेय ने (का० अनु० भाग०, २३५) मे इस मत की समीक्षा की है ।

आत्मा सर्वत्र व्यापक है

अणु परिमाण सिद्धान्त की शांकरार्य ने भी कड़ी आलोचना की है ।[3] इसलिए अद्वैत और वेदान्त, न्याय-वैशेषिक साख्य-योग, प्रभाकर और कुमारिल ने आत्मा को अणु परिमाण न मान कर आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक (विभु) एव महापरिमाण वाला माना है ।[4] जिस तरह से आकाश सर्वत्र व्यापक है, कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ आत्मा न हो उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र व्यापक है । विभु आत्मा अपने कर्म के अनुसार प्राप्त भोगायतन मे रहकर अपने सुख-दुखों का अनुभव करता है ।[5] आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानने वाले आत्मा को निष्क्रिय मानते है । आत्मा को व्यापक मानने का कारण यह है कि अदृष्ट आत्मा का गुण है जो सर्वत्र व्याप्य रहता है, क्योंकि सर्वत्र भोग की उपलब्धि होती है ।[6] गुण बिना गुणी के नही रह सकता, इससे मानना पडता है कि आत्मा व्यापक है । यदि आत्मा को व्यापक न माना जाय तो उसे या तो अणु परिमाण मानना पड़ेगा या मध्यम परिमाण किन्तु अणु परिमाण और मध्यम परिमाण दोनों सदोष हैं इसलिए आत्मा को व्यापक मानना ही उचित है । देह परिमाण सिद्धान्त मे सावयव आत्मा अनित्य हो जायेगा, जिससे कृत नाश अकृताभ्यागम दोष उत्पन्न हो जायेगा । कहा भी है :—

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयो: को वारको भवेत् ।।[7]

अतः आत्मा को व्यापक मानना ही उचित है ।

व्यापक आत्मवाद की समीक्षा

जैन दार्शनिक आत्मा व्यापक नही मानते है क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण से अपने शरीर मे ही सुखादि स्वभाव वाले आत्मा की प्रतीति होती है, दूसरे के शरीर मे और अन्तराल (बीच) मे आत्मा का अनुभव नही होता है । यदि सभी को सर्वत्र अपनी आत्मा की प्रतीति होने लगे तो सभी सर्वज्ञ हो जायेगे एवं भोजनादि व्यवहार मे भयकर (मिश्रता) दोष होने लगेगा ।[8] अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि आत्मा व्यापक नहीं है ।

---

१. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० ४०१, प्रमे० र० मा० पृ० २९५ ।
२. प्रमेय रत्नमाला पृ० २९५ ।
३. राधाकृष्णन — भारतीय दर्शन भाग २, पृ० ५९६-७, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।३।२९ ।
४. तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत्सर्वगतो निरशः श्रुति संयतः ।।
पञ्चदशी ६।८६
५. प्रकरण पञ्चिका, पृ० १५७-८ ।
६. स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद विभुः,
परममहत् परिमाण वानित्यर्थ : ।
केशव मिश्र—तर्क भाषा, पृ० १४९
७. पञ्चदशी ६।८५ ।
८. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ५७०, न्याय कुमुदचंद्र पृ. २६१

अनुमान प्रमाण से भी यह सिद्ध नहीं होता है कि आत्मा व्यापक है। जैसे—आत्मा परममहत् परिमाण का अधिकरण नही है क्योंकि वह क्रियावाला है, जो क्रियावाला होता है वह परममहत-परिमाण का का अधिकरण नहीं होता है। मैं 'एव योजन गया', 'मैं आ गया' इत्यादि अनुभवों से आत्मा क्रिया वाला है, यह सिद्ध हो जाता है। मन अथवा शरीर क्रियावान नही है क्योकि 'अहं' प्रत्यय के द्वारा मन अथबा शरीर की प्रतीति नही होती है। अन्यथा चार्वाक सिद्धान्त मानना पड़ेगा।[१] एक और अनुमान से भी आत्मा मे अव्यापकत्व सिद्ध किया जा सकता है—आत्मा व्यापक नही है क्योंकि वह चेतन है, जो व्यापक होता है वह चेतन नही होता है जैसे आकाश आत्मा चेतन है इसलिए आत्मा व्यापक नही है।[२]

आत्मा को व्यापक मानने मे यह तर्क दिया गया था कि आत्मा व्यापक है क्योंकि अणु अरिमाण का अधिकरण नही है तथा आकाशादि की तरह नित्य द्रव्य है।

जैन दार्शनिको का कथन है कि 'आत्मा अणुपरिमाण वाला नही है' यह निषेध पर्यु दासरूप है अथवा प्रसज्य रूप ? यदि निषेध पयुदास रूप माना जाता है तो उस प्रतिषेध या तो महापरि होगा अथवा मध्यम परिमाण, क्योंकि पयुदास भावान्तर स्वरूप होता है। यदि पर्यु दास महापरिमाण स्वरूप माना जाय, तो हेतु साध्य के समान हो जायेगा। इसलिए अणुपरिमाण निषेध का अर्थ महापरिमाण तो माना नहो जा सकता है। इसी प्रकार से आवान्तर परिमाण भी नही माना जा सकता है, क्योंकि हेतु आत्मा मे व्यापकत्व की सिद्धि न करके मध्यम परिमाण की सिद्धि करेगा, इसलिए विरूद्ध हेत्वाभास नामक दोषसे हेतु दूषित हो जायेगा। अतः 'अणुपरिमाण के निषेध' का अर्थ पयुदास रूप नही है यह सिद्ध हो जाता है।[३]

यदि 'अणुपरिमाण के प्रतिरोध' का तात्पर्य प्रसज्ज रूप माना जाय तो हेतु असिद्ध हेत्वाभास से दूषित हो जाने के कारण साध्य की सिद्धि संभव नही है। क्योकि प्रसज्जरूप अभाव तुच्छाभाव होता है जो किसी प्रमाण का विषय न होने से सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि तुच्छाभाव को सिद्ध मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि यह साध्य का स्वभाव है अथवा कार्य ? यदि तुच्छाभाव को साध्य का स्वभाव माना जाय। तो हेतु की तरह साध्य मे भी तुच्छाभाव मानना पड़ेगा। तुच्छाभाव में कार्यत्व कभी सिद्ध नही हो सकने के कारण उसे साध्य का कार्य भी नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार 'आत्मा व्यापक है' इस साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिया था वह सदोष होने से 'आत्मा व्यापक है, यह सिद्ध नहीं होता है।[४]

अदृष्ट आत्मा का गुण न होकर कर्म है, इसलिए 'अदृष्ट क्रिया का हेतु है' यह मानना भी ठीक नही है। यदि पूर्वपक्ष कहे कि अदृष्ट क्रिया हेतु है; क्योकि देवदत्त के शरीर से संयुक्त आत्मप्रदेश मे वर्तमान अदृष्ट द्वीपान्तर वर्ती मणिमुक्तादि की देवदत्त की प्रतिक्रिया मे हेतु है। ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि शरीर संयुक्त आत्मप्रदेश मे वर्तमान अदृष्ट का द्वीपान्तरवर्ती द्रव्यों से सबंध होना असभव है। अब यदि यह माना जाय कि द्वीपान्तरवर्ती द्रव्य से संयुक्त आत्म-प्रदेश मे वर्तमान अदृष्ट मणिमुक्तादि की प्रतिक्रिया मे हेतु है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यत्र किया गया।

प्रयत्न दूसरे स्थान की क्रिया में हेतु नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सुअदृष्ट सर्वत्र रहता है इसलिए क्रिया मे हेतु है, तो ऐसा मानना भी ठीक नही है। क्यों कि यदि अदृष्ट सर्वत्र रहता है तो उसे द्रव्यों की क्रिया में हेतु होना चाहिए। ऐसा मानना भी ठीक नही कि जो अदृष्ट जिस द्रव्य को उत्पन्न करता है वह उसी द्रव्य में क्रिया करता है, अन्यथा नही। क्योंकि शरीर के आरम्भक अणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए उनमे अदृष्ट से क्रिया न हो सकेगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'अदृष्ट' क्रिया में हेतु नहीं होने के कारण, आत्मा व्यापक है यह सिद्ध नहीं होता है।[५]

---

१. प्रमेयकमल मार्तण्ड पृ० ५७० ।

२. वही पृ० ५७१ ।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ५७१, न्यायकुमुदचन्द पृ० २६२, प्रमेयरत्नमाला पृ० २९२

४. प्रमेय क० मा० पृ० ५७१, प्रमेयरत्नमाला पृ० २९७

५. न्यायकुमुद चन्द्र पृ० २६४ ।
प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० ५६४ ।

आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिए दिया गया अनुमान "आत्मा के गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होती है, इसलिए आत्मा आकाश की तरह व्यापक है।" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'सर्वत्र गुणों की उपलब्धि होती है' इसका तात्पर्य क्या यह है कि अपने ही शरीर में सर्वत्र गुणों की उपलब्धि होती है ? यदि हाँ तो ऐसा मानने से हेतु विरुद्ध हो जायेगा क्योंकि स्वशरीर मे गुणों की उपलब्धि होने से आत्मा भी स्वशरीर मे ही रहेगा अन्यत्र नहीं। अब पूर्वपक्ष यह कहे कि स्वशरीर की तरह पर-शरीर मे भी गुणों की उपलब्धि होती है, इसलिए आत्मा व्यापक है। पर शरीर में बुद्ध्यादिगुणो की उपलब्धि नही देखी जाती है इसलिए हेतु असिद्ध हो जाने से उक्त कथन भी ठीक नहीं है। यदि पर शरीर मे बुद्धयादि गुणों की उपलब्धि होने लगे तो प्रत्येक प्राणी को सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। इसी प्रकार से शरीर शून्य प्रदेश मे गुणों की उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए अन्तराल मे भी गुणों की उपलब्धि होती है, यह भी सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि गुणो की सर्वत्र' उपलब्धि होती है।' यह हेतु सदोष होने के कारण 'आत्मा व्यापक है' यह सिद्ध नही होता।[1]

आत्मा को व्यापक मानने में एक कठिनाई यह भी है कि आत्मा ईश्वर मे भी व्याप्त हो जायेगी। जिसके कारण आत्मा और ईश्वर मे भेद करना असभव हो जायेगा[2]। इसी प्रकार से व्यापक आत्मा मानने से कर्ता, भोक्ता, बध मोक्ष आदि असम्भव हो जायेंगे[3]। इसलिए आत्मा को व्यापक मानना ठीक नही है[4]। अमितगति ने एवं स्वामी कार्तिकेय ने भी इस सिद्धान्त की समीक्षा की है[5]।

(३) आत्मा मध्यम परिमाण वाला है

जैन दर्शन मे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला अर्थात् देह परिमाण के बराबर माना है[1]। क्योंकि आत्मा के गुण ज्ञानादि आत्मा में पाये जाते हैं[1]। जिसके गुण जहाँ होते हैं वहाँ वह वस्तु होती है जैसे घड़ा के रूप-रंग आदि जिस स्थान पर पाये जाते हैं वहाँ घडा अवश्य होता है। इसी प्रकार आत्मा का गुण चैतन्य पूरे शरीर में ही पाया जाता है। जिस वस्तु के जहाँ गुण उपलब्ध नहीं होते है वहाँ वह वस्तु नहीं होती है जैसे अग्नि के गुण जल मे नही रहते हैं इसलिए अग्नि जल मे नही उपलब्ध होती है। इसी प्रकार आत्मा के गुण शरीर के बाहर कही भी उपलब्ध नहीं होते है। इसलिए आत्मा शरीर के बाहर कही नही है। अतः चेतनता पूरे शरीर मे व्याप्त होने के कारण आत्मा को भी पूरे शरीर में व्याप्त मानना चाहिए[7]। दूसरी बात यह है कि शरीर के किसी भी भाग में वेदना होती है उसकी अनुभूति आत्मा को अवश्य होती है[8]। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पूरे शरीर मे व्याप्त है। सुख-दुःख का प्रभाव शरीर के किसी स्थान विशेष पर न पडकर शरीर के प्रत्येक भाग पर पडता है - जब किसी व्यक्ति को सुखद समाचार प्राप्त होता है [जैसे पुत्र रत्न की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, इष्ट सयोग आदि] तो उस समय उसका चेहरा खिल जाता है एव एक नवीन कान्ति की आभा मुखमण्डल पर छा जाती है, शरीर में रोमाच उत्पन्न हो जाता है, शरीर मे उत्साह उत्पन्न हो जाता है, आत्मिक शक्तियाँ विकसित हो जाती है। इसी प्रकार से दुखद समाचार सुनकर अथवा इष्ट जनो के वियोग होने से मुख उदास हो जाता है, अग शिथिल हो जाते है, हृदय उत्साहहीन हो जाता है, शरीर की चमक नष्ट हो जाती है एव आत्मिक शक्तियां सिकुड जाती है। सुख-दुःखादि के प्रभाव से आत्मा एव शरीर दोनो प्रभा-

---

१. प्रमेयक पृ० ५६६।
२. स्याद्वाद मञ्जरी पृ० ६६।
३. विशेषावश्यक माहम (गण०) गा० १३७६।
४. अमितगति श्रा. ४।२५-२६, का. अनुप्रेक्षा गा. १७७
५. "देहमात्र परिच्छिन्नो मध्यमो जिनसम्मतः॥" दर्शन मीमांसा ५ से उद्धृत केशवमिश्र तर्कभाषा पृ० १५३।

६. जीवो तणुमेत्तत्थो जध कुभो तग्गुणोवलभातो।
अवधाऽणुवलभातो भिण्णम्मि घडे पडस्सेव॥
—विशेषावश्यक भाष्य (गणधर वाद) १५८६
स्याद्वाद मञ्जरी श्लोक ६,

७. दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम्।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेदानग्रश्रुते रपि॥
पञ्चदशी ६।८२

८. जीव एव शरीरस्थश्चेष्टते सर्वदेहगः।
शरीर व्यापिनीः सर्वाः स च गृह्णातिसद्गति वेदनाः॥
के० तर्कभाषा पृ० ५२

न्वित होते हैं इससे सिद्ध है कि आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। "आत्मा के रहने का स्थान विशेष जानने के लिए मनुष्य के कर्मों को ध्यानपूर्वक देखना एवं अन्वीक्षण करना होगा।......। इस प्रकार सुख या दुःख देने वाले कार्य का प्रभाव आत्मा की प्रत्येक शक्ति, मानसिक चेष्टा एवं शरीर के प्रत्येक भाग पर पड़ता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इन कार्यों का प्रभाव केवल मस्तिष्क, हृदय या अन्य किसी निश्चित स्थान पर पड़ता हो और अन्य स्थान प्रभावित न होते हों। इस घटना से शरीर का प्रत्येक भाग प्रभावित होता है—प्रकट होता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग मे विद्यमान है[1]।

आत्मा को मध्यम परिमाण मानने का दूसरा कारण यह है कि आत्मा को जैन दर्शन में अस्तिकाय[2] नामक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है[1]। काय का अर्थ है प्रदेश, एक अविभागी परमाणु आकाश के जितने स्थान को घेरता है उसे प्रदेश कहते है। [यद्यपि 'प्रदेश' को अवयव कह सकते है मगर अवयव और 'प्रदेश' में भेद माना जाता है। स्याद्वाद म० पृ० ६७] इस तरह के 'प्रदेश' एक आत्मा में असख्य होते है[3]। ये असख्यात् प्रदेश वाले अनन्तान्त जीव लोकाकाश मे रहते है[4]। किन्तु एक जीव कम से कम लोकाकाश के असख्यातवें भाग में रह सकता है। यहाँ पर शंका यह होती है कि आत्मा और आकाश के प्रदेश के बराबर है तो एक जीव लोक के असख्यातवे भाग मे किस प्रकार रहता है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा में दीपक की तरह संकोच विस्तार की शक्ति होती है[5] इसी शक्ति के कारण एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में भी रह सकता है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है—"प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्[6]" यहाँ पर 'सहार' शब्द का अर्थ है सिकुड़ना, जिस तरह से सूखा चमड़ा सिकुड़ कर छोटा हो जाता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में भी संहार की शक्ति होती है। इसी प्रकार विसर्प शब्द से तात्पर्य है फैलना। जिस प्रकार तेल की एक बूंद पूरे पानी में फैल जाती है उसी प्रकार जीव के प्रदेश विसर्प शक्ति के कारण शरीर मे फैल सकते है[7]। उदाहरणार्थ—यदि एक दीपक को खुले मैदान में रख दिया जाय तो पूरे मैदान को प्रकाशित करता है। और यदि उसी दीपक को एक बन्द कमरे मे रख दिया जाय तो वह प्रकाश को संकुचित करके उसी कमरे को प्रकाशित करेगा[8]। इसी प्रकार संसारी आत्मा संकोच रूप विसर्प शक्ति के कारण शरीर के परिमाण अनुसार होकर उसी में पूर्ण रूप से प्राप्त होकर रहता है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जिसका जैसा सूक्ष्म, स्थूल, छोटा, बड़ा शरीर होता है उसकी आत्मा भी उसी प्रकार की होती है। जिस प्रकार शरीर की वृद्धि होती है उसी प्रकार आत्मा का परिमाण भी बढ़ता है। यदि शरीर के अनुसार वही आत्मा न बढती तो बचपन की स्मृति युवावस्था मे नही होनी चाहिए, मगर स्मृति होती है इससे सिद्ध है कि शैशवास्था और युववस्था में वही आत्मा रहती है जो शरीर के परिमाण के अनुसार 'घटती-बढ़ती रहती है[9]।

आत्मा में संकोच विस्तार होने का कारण—आत्मा में संकोच विस्तार की शक्ति क्यो? इसका उत्तर यह है

---

१. रतनलाल जैन—आत्म रहस्य पृ० ६०।

२. सति जदो तेणेदे अत्थित्ति, भणति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेशा तम्हा, काया य अत्थिकाया य॥
द्रव्य संग्रह ६।२४
तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।१।७
जीवा पुग्गल काया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
× × ×
ते होंति अत्थि काया......"
पञ्चास्तिकाय गाथा ४-५

३. असख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम्।
तत्त्वार्थ सूत्र ५।८

४. लोकाकाशेऽवगाहः।—वही ५।१२

५. लोकासंख्येयभागादावस्थानां शरीरिणाम्।
अंशाः विसर्प-सहारौ दीपानामिव कुर्वते॥
योगसार—प्राभृत २।१४

६. ५।१६।

७. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।१६।१।

८. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० ४०९।

९. वही पृ० ४०९।

जिसे अन्य दर्शनों में सूक्ष्म शरीर कहा गया है उसी को जैन दर्शन में कार्मण शरीर कहा गया है। यही कार्मण शरीर के कारण आत्मा के प्रदेशों में सकोच विस्तार होता है[1]। यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है किन्तु अनादिकाल से कर्मों के साथ रहने के कारण कथंचित् मूर्तिक भी है। इसलिए कर्म के अनुसार ससारी आत्मा को जैसा शरीर उपलब्ध होता है उसे उसी मे रहना पड़ता है। यहा तक कि चीटी की आत्मा हाथी के शरीर में [विसर्पण शक्ति के कारण पूर्व जन्म में] व्याप्त होकर रह सकता है और इसी प्रकार हाथी (कर्म के अनुसार मृत्यु के बाद) की आत्मा चीटी के शरीर में रह सकता है। जब तक कार्मण शरीर रहता है तब तक ससारी आत्मा में संकोच विस्तार अवश्य ही होता रहता है[2]। किन्तु जब कार्मण शरीर के साथ नहीं होता है उस समय आत्मा मे संकोच विकास नहीं होता है। यही कारण है कि मुक्त आत्मा कार्मण शरीर से रहित होने के कारण संकोच विस्तार की परिक्रमा से रहित होती है[3]। मुक्तावस्था मे आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए ससारी आत्मा में ही कार्मण शरीर के कारण सकोच विस्तार होता है। किन्तु केवली समुद्घात अवस्था की दृष्टि से आत्मा तीनो लोकों मे व्याप्त हो सकता है[4]। इसी तरह से ज्ञान की दृष्टि से भी आत्मा को सर्वव्यापक जैन दर्शन मे माना गया है। क्योंकि जैन दर्शन मे ज्ञान और आत्मा को भिन्न-भिन्न न मानकर अभिन्न माना गया है। ज्ञान सर्वगत है इसलिए इस दृष्टि से आत्मा सर्वव्यापक है[5]।

मगर यहाँ पर ध्यान देने को बात यह है कि इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने 'ज्ञान' की दृष्टि से आत्मा को देह परिमाण स्वीकार करके, उसे संकोच विस्तार गुण वाला माना है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संसारी आत्मा देहपरिमाण ही है और वह पूरे शरीर मे ही व्याप्त होकर रहता है। शरीर के बाहर आत्मा के गुण उपलब्ध न होने से आत्मा शरीर के बाहर नहीं रहता है। अतः आत्मा देहपरिमाण ही है। कहा भी है[6]—

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिक्रियानुमेया स्याद्यून: कान्ता समागमे ॥

आक्षेप और परिहार

सभी भारतीय दर्शनों ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। संक्षेप मे कुछ आक्षेपों का विवेचन किया जाता है—

(१) यदि आत्मा संकोचविस्तार शक्ति युक्त है तो वह सिकुड़ते-सिकुड़ते इतना छोटा क्यों नही हो जाता है कि आकाश के एक प्रदेश में एक ही जीव रह सके? और इसी प्रकार 'विसर्पण' शक्ति के कारण सम्पूर्ण लोक में (लोकाकाश और अलोकाकाश) क्यों नही फैल जाता है? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा कार्मण शरीर के कारण असकुचित होता है और कार्मण शरीर छोटा से छोटा अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर ही हो सकता है, इसलिए जीव इससे छोटा नही हो सकता है। जीव कांड[7] में अगुल के असख्यातवे भाग शरीर परिमाण वाला जीव सूक्ष्म निगोदियालब्धपर्याप्तिक बतलाया गया है। इससे छोटा कोई जीव नही होता है। इसी प्रकार विसर्पण शक्ति के कारण आत्मा अपने को लोकाकाश तक ही विस्तृत कर सकता है। क्योकि लोकाकाश के बराबर ही जीव के प्रदेश होते है। इसलिए स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य में रहने वाला महामत्स्य, जो कि हजार योजन लम्बा पाँचसो योजन चोड़ा और ढाई सौ योजन मोटा होता है। सबसे बड़ा जीव है, इससे बड़ा कोई जीव नहीं होता है[8]। अलोकाकाश तक जीव के फैलने का दूसरा कारण वहाँ 'धर्म' द्रव्य का अभाव है।

---

१. पुंसा संहार विस्तरौ संहारे कर्मनिमित्तौ।
तत्त्वानुशासन २३२

२. पञ्चास्तिकाय गाथा ३२-३३, तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० ४००।

३. मुक्तौ तु तस्य तौ नएत: क्षयात्द्धंतुकर्मणाम्।
तत्त्वानुशासन श्लो० २३२

४. स्याद्वाद मञ्जरी १०३।

५. प्रवचनसार १।२३-२७।

६. अनन्तवीर्य—प्रमेयरत्नमाला पृ० २९७

७. गोम्मटसार जीव कांड गाथा ९४

८. वही गाथा ९५

(२) मध्य परिमाण सिद्धान्त में अन्यदर्शनों की भाँति शकर ने भी यह दोष बतलाया है कि आत्मा अवयव वाले एव अनित्य शरीर में रहता है तो उसे भी अनित्य मानना पड़ेगा और अनित्य होने से मोक्षादि संभव न हो सकेंगे[1]। उक्त प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आत्मा को अनित्य तो उस समय माना जा सकता था, यदि उसके अवयव किसी अन्यद्रव्य के संघात से कारण पूर्वक बने होते। जिस वस्तु के अवयव सकारण होते हैं वह विनाशशील होती है। जैसे कपड़ा तंतु अवयवो सा बना होता है इसलिए तंतुओं के क्षीण-जीर्ण होने से कपड़ा नष्ट हो जाता है। किन्तु जिस पदार्थ के अवयव अकारण पूर्वक होते है उसके अवयव नष्ट नहीं होते है। जैसे परमाणु के अवयव किसी कारणपूर्वक नही होते हैं इसलिए अवयव विश्लेषण करने पर वह नष्ट नही होता है। इसी प्रकार अविभागी द्रव्यस्वरूप आत्मा के अवयव घट-पट जैसे न होकर परमाणु की तरह अकारण पूर्वक होते है इसलिए आत्मा अवयव विश्लेषण करने पर नष्ट नही होता है। अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य या विनाशशील नही है। इसलिए मोक्षादि के अभाव की समस्या जैन सिद्धान्त में नही उत्पन्न होती है[2]। दूसरी बात यह है कि पर्यायार्थक नय की अपेक्षा जैन सिद्धान्त में आत्मा को कथचित् अनित्य माना है। क्योंकि शरीर के कटे हुए अग मे कम्पन क्रिया विना आत्मप्रदेशो के संभव नही हैं। कमल नाल का उदाहरण देकर यह भी बतलाया गया है कि छिन्न अंग मे आत्म-प्रदेश अपने पहले वाले शरीर के आत्मप्रदेशो मे पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं, यही कारण है कि यह नही कहा जा सकता है कि छिन्न अंग की आत्मा पूर्व शरीर की आत्मा से भिन्न है[3]। इसलिए यह कहना कि आत्मा अनित्य है सिद्ध नहीं होता।

(३) मध्यम परिमाण सिद्धान्त में एक कठनाई यह भी कही जाती है कि सक्रिय आत्मा मूर्तिक हो जाने से मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि यदि पूर्वपक्ष मूर्त का अर्थ 'असर्वगत' द्रव्य परिमाण मानता है तब तो जैन सिद्धान्त मे कोई दोष नही है क्योकि इस सिद्धान्त मे असर्वगत द्रव्य परिमाण वाला आत्मा स्वीकार किया गया है। और यदि मूर्तिक से तात्पर्य 'रूपादिवाला' है, तो मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई व्याप्ति नहीं है कि जो सक्रिय हो वह मूर्तिक ही हो। और यदि उक्त व्याप्ति मानी भी जाय तो न्यायवैशेषिक सिद्धान्त मे सक्रिय मन को रूपादियुक्त मूर्ति को मानना पड़ेगा। अतः समान दोष होने से जिस प्रकार मूर्तिक मन शरीर मे प्रवेश कर सकता है उसी प्रकार मूर्तिक आत्मा का शरीर में प्रवेश समझना चाहिए[1]। इसके अलावा जल आदि रूपादियुक्त मूर्तिक द्रव्य का पृथ्वी आदि मूर्तिक द्रव्य मे प्रवेश प्रत्यक्ष देखा ही जाता है। इसलिए आत्मा को सक्रिय मानने में कोई दोष नही है। यदि आत्मा को सक्रिय न माना जाय तो उसे निष्क्रिय मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से संसार का अभाव हो जायेगा; क्योकि निष्क्रिय आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में गमन क्रिया नही कर सकती है[2]।

(४) एक वह भी आपत्ति दी जा सकती है कि देह परिमाण आत्मा दिग्देशान्तवर्ती परमाणुओं को अपने शरीर के योग्य विना सयोग किये कैसे ग्रहण कर सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि यह कोई नियम नही है कि दो असंयुक्त पदार्थों में आकर्षण नही हो सकता है। यद्यपि लोहा चुम्बक से संयुक्त नहीं होता है तो भी लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने शरीर के योग्य परमाणुओं विना संयोग किये आकर्षित कर लेता है[4]। इसलिए उक्त दोष आत्म देह परिमाण सिद्धांत मे सभव नही है। अतः आत्मा देह परिमाण है, और वह पूरे शरीर मे व्याप्त रहता है।

---

१. शाकर भाष्य २।३३-३६, डा० राधा कृ० भा० द० भाग १ पृ० २८६
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४०६
तत्वार्थराजवार्तिक पृ० ४५६
३. स्याद्वादमञ्जरी पृ० १०२ प्रमेय क० मा० पृ० ५८६

१. न्याय कुमुदचन्द्र पृ० २६८
२. स्याद्वाद मं० पृ० १०१
३. प्रमेय क० मा० पृ० ५८०
४. न्याय कुमुदचन्द्र २६६

रणतभँवर (रणथंभोर) का कक्का : एक ऐतिहासिक रचना

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों मे कितनी ही ऐतिहासिक रचनाएं भी उपलब्ध हुई है उनमे से एक रणथंभोर का कक्का है । इन भंडारों में कक्का या बारहखड़ी के रूप मे कई रचनाए मिलती है किंतु रणथभोर का कक्का नामक रचना एक नई कृति प्रतीत होती है । क से लेकर ह तक वर्णों के प्रथमाक्षर से दोहों मे यह रचना की गयी है। दोहे का पहला अक्षर कका, गगा, चचा, आदि वर्ण से प्रारम्भ होता है। इस रचना मे व्यंजन संख्यानुसार ३३ दोहे हैं । अन्तिम दोहा पूर्ण उपलब्ध नहीं है । प्रति का अन्तिम पृष्ठ फट गया है । सभव है ३३ से आगे भी कोई परिचयात्मक दोहे दिये हो किन्तु कृति अप्राप्य है। रचना सीताराम गूजरगौड ब्राह्मण के पुत्र वेणीराम के पौत्र मोहन की है जिसका उल्लेख ३२वें दोहे मे निम्न प्रकार है—

ससा—सीताराम सुत मोहनो बिरामण गूजर गोड ।
नाती वेणीराम को कको बणायो जोड ।।३२।।

रणथभोर के किले का कवि ने बडे ही सुन्दर ढग से महत्व बतलाते हुए यशोगान किया है। यह किला संसार मे प्रसिद्ध है तथा सभी बावन किलों का दुल्हा है । इस किले मे अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर है जिनमें गणेशजी तथा शकर के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक किले की ८४ घाटियाँ तथा चारों ओर ४ दर्रे हैं । महाराणा-हम्मीर के समय में विद्वानों एव बहादुरों का सम्मान किया जाता था । हिन्दू तथा मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं था। पंडित तथा खानू सत्ती वहां रहते थे । मंदिर तथा मस्जिदें धर्माराधन के लिए बनी हुई थी । चारों ओर अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलो एवं स्वादिष्ट फलो से वृक्ष सुशोभित थे । बड़े अच्छे-अच्छे बगीचे थे। सदा नौबत तथा शहनाई महाराणा हमीर का यशोगान करती रहती थी । यहाँ के प्रसिद्ध जौरा-भौरा दोनों ही भण्डार सदैव अटूट संपत्ति से भरे रहते थे। यहां गुप्त गंगा का निवास लक्ष्मीनाथ रामचन्द्र विकटविहारी आदि के मन्दिर थे । राजमहलों के बाहर नजदीक ही मे नौबतखाना तथा जले चौक सुशोभित था। बड़े-बडे कुण्ड तालाब बावडी आदि में कमल खिले हुए थे। किले का स्थान बड़ा ही रमणीक था । इसके चारों ओर चार दर्वाजे तथा सात पोल थे ।

किले का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि मोहन जयपुर के महाराजा माधवसिह मे प्रशंसको मे से एक था । इस किले पर महाराजा माधवसिह का आधिपत्य था, तथा वहाँ किसी समय पद्मऋषि तपस्या करते थे । सब प्रकार के फलफूल खिलते थे तथा वहां के स्थान एक से एक बढ कर थे। जयपुर के हवामहल के सदृश जगन्नाथ के मन्दिर तथा महल थे। इस किले का नाम रणतभँवर था तथा इसकी शोभा अपरम्पार थी । इसका वर्णन कवि के शब्दों मे देखिए—

या शोभा रणथंभ की वरणो अकल विचार ।
यो किल्लो सुवस बसो रणत भँवर जगजाहर ।।

इस किले में शीतला माता की पूजा होती थी तथा

आत्मा के परिमाण के विषय मे उपर्युक्त विचारधाराओं के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकालना कि कौनसा सिद्धान्त उत्तम है, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । पुनरपि अणुपरिमाण सिद्धान्त सर्वमान्य हो नहीं सकता है, क्योंकि हरम मे रहकर आत्मा शरीर के अन्य भागों को किसी भी प्रकार से सचेतन नहीं बना सकता है देकार्ड को भी अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था । आत्मा का सर्व व्यापक सिद्धान्त पहले की अपेक्षा युक्तियुक्त है। पाश्चात्य दर्शन में स्पिनोजा ने ईश्वर का गुणमान कर आत्मा को सर्व व्यापक ही स्वीकार किया है ।

★

यहाँ बड़ा भारी मेला होता था। यहाँ सोलह सौ गणपतियों की पूजा होती थी तथा पीर पैगम्बर आदि और पूजे जाते थे। इस किले के पास मे ही शेरपुरा, खिलचीपुरा, माधोपुर, आलणपुर आदि गाँव थे तथा चारों ओर पहाड़ पर परकोटा था एवं यह किला सब किलो का सरताज था।

यद्यपि रचना में कोई रचनाकाल नही दिया है किंतु सम्भवतः यह रचना वि० सं० १७८३ अर्थात् जयपुर बसने की बाद की तो निश्चित ही है। इसमें अन्तिम ३३वें दोहे में महाराज जयसिंह के शासनकाल मे किले पर उनकी ओर से किलेदार रखा जाना प्रतीत होता है। हवा महल के सदृश महलों की उपमा तथा जयपुर के जलेब चौक के सदृश वहाँ भी महलों के समीप मे जलेब चौक बतलाना इसके प्रमाण है।

रचना ढूंढारी भाषा में है। शब्दो का चयन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। शब्दों को तोड़ मरोड़ कर रखने का प्रयत्न कतई नही किया गया है। । रचना का क्रम भी अधिक सुन्दर है। मामूली पढ़ा लिखा भी अच्छी तरह अर्थ को हृदयंगम कर लेता है।

यह भी सम्भव हो सकता है कि उस समय मे सवाई-माधोपुर से जैनों के कई मन्दिर भ्रष्ट हो गये थे और उसी साम्प्रदायिक विवेक के कारण रचनाकार मोहन ब्राह्मण ने जैन मन्दिर का उल्लेख किया हो। कुछ भी हो रचना ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण है अतः उसे पाठको की जानकारी के लिए ज्यों की त्यों दी जाती है।

—अथ रणतभंवर को कक्को लिख्यते—

कका—कही कहूं बांको विकट, किल्लो है रणथंव।
आसि पासि सुरंगुके, सदा बजावं बंब ॥१॥
खखा—खलकम्यान जानतसबें, महिमा आगम अगाध।
लालो बावन गढन को, देत मरदकूं दाधि ॥२॥
गगा—गवरी पुत्र गणेश जी, राज रहे सुर राज।
शिवशंकर राजत लहा, सकल सुधारत काज ॥३॥
घघा—घाटी बवरासी विकट, वरा च्यार चहु ओर।
घुघरमल भर्क दरो, छणि खुस्याली ओर ॥४॥
नना—नारी नर की कहा क[हूं], चली जवो लारीत।
पंडित खानू है सा और जमा महजीत ॥ ५ ॥
चचा—चंप चमेली मोगरो, मधुमालती सुगंध।
केलि के बड़ो केतकी, जाबिचि गढ रणथभ ॥६॥
छछा—छाया सीतल वृक्ष की, राज बाग की मोज।
होद कवल परवण कली जाणि सुकल की दोज ॥७॥
जजा—जगत सरावत है सबै, धन्य कहत सब देस।
झुके आम दाड़िम सरस, ना गी अम्र वेस ॥८॥
झझा—कहां दणवत बजरंगबली जैन तलाई होर।
सदा विराजत है तहां खेतर पाल ओर ॥९॥
नना—नोबत बाजत है तहां, अर बाजत सहनाय।
छोटी बड़ी असा रहै, हमीर कं चढनाय ॥१०॥
टटा—टोटा नहीं भंडार में भरेज दोन्यू खास।
जोंरा भोरा है दोइ गणपति गग को वास ॥११॥
ठठा—ठाकुर मिंदर वहाँ लिखमीपति रघनाथ।
रामलाल गोपाल जी विकट विहारी नाथ ॥१२॥
डडा—डंडोवत करिये सदा मरलीधर चित लाय।
त्रिभवनपति महाराजि जु ठाकुर दानेराय ॥१३॥
ढढा—ढोल धडावलि दुंदुभी, नोबति खानो ढीक।
उपमा चोक जलेबकी, त सू महल नजीक ॥१४॥
णणा—राणा राजा रास के वाकै तुव ज्या बान।
येस भरै रण थंमकूं, वाकी आज्ञा मानै ॥१५॥
तता—ताल जंगाली पदम लो सागराणी होद।
बब वान बड़ी कूप में, पाणी भरे कमोद ॥१६॥
थथा—थाड़ो रमणीक अति, जहां देवन को वास।
जहां देवी ककालिका, वीरमाण उजयास ॥१७॥
ददा—दरवाजा च्यारूं तरफ, अरसुन्दर सातूं पोलि।
दो दरवाजे हैं तहां, नवलख सूरज खोलि ॥१८॥
धधा—धन्य दरवाजो वोह को, करयो मिसरको सोय।
दरवाजा सोहत सवा, आछ्या लागत मो ॥१९॥
नना—नरपति माधो सिंघ जी, पायो गढ रणथभ।
आगण सुदि वारसि दिना, पदरा साल रंब (?) ॥२०॥
पपा—पदम रिषी सुर वहां तपै, नीर भरत सब नारि।
बंदा ऊपर घाट पै, कुसम बाग की भार ॥२१॥
फफा—फूलत गुलतुर्रा तहां, चंप मोगरो वेस।
वहां राजत बजरंगबली, राजत और महेस ॥२२॥
बबा—बड़े एक सूं एक है, कमठाना अदभूत।
जगन्नाथ के महल है, हवा महल की सूत ॥२३॥

खजुराहो के जैन मन्दिरों के डोर-लिटल्स पर उत्कीर्ण जैन देवियां

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

चदेलो के शासनकाल मे निर्मित खजुराहो के पार्श्वनाथ व आदिनाथ जैन मंदिर और अन्य कई नवीन जैन मदिर, जिनमे स्थित मूर्तियां चदेलो के काल की ही है। एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे मे स्थित है। चदेलो के शासन काल में निर्मित एक अन्य जैन मदिर घण्टाई, जिसका अब केवल अर्धमण्डप और महामण्डप ही शेष है, नवीन परकोटे से कुछ ही दूर पर पश्चिम की ओर स्थित है। खजुराहो के जैन शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से समस्त जैन मंदिरो के डोर-लिटल्स पर उत्कीर्ण जैन देवियो का अध्ययन विशिष्ट महत्व रखता है। खजुराहो के उपर्युक्त तीन प्राचीन जैन मदिरों से प्राप्त कुल ५ डोर-लिटल्स के अतिरिक्त अन्य १७ डोर-लिटल्स खजुराहो के पुरातात्विक सग्रहालयों (नवीन व जोर्डन) और आदिनाथ मदिर के पीछे बावली से सटे संग्रहालय में स्थित है, और कई नवीन मदिरों के निर्माण में प्रवेश द्वार के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। कुल २२ डोर-लिटल्स में से १५ पर जेन सम्प्रदाय को विशिष्ट देवियो, यथा चक्रेश्वरी अंबिका, सरस्वती, लक्ष्मी और पद्मावती को अनेकश: उत्कीर्ण किया गया है, जब कि शेष ७ मे से ५ पर तीर्थंकरो की संक्षिप्त आकृतियाँ अंकित है। अन्त दो डोर-लिटल्स हिन्दू सम्प्रदाय के तीन प्रमुख देवो ब्रह्मा, विष्णु और महेश का चित्रण करते है। ये डोर-लिटल्स शांतिनाथ मदिर (मंदिर न० १) के प्रवेश द्वार में और आदिनाथ मदिर के पीछे स्थित संग्रहालय (नं० के १०८) मे देखी जा सकती है। ये उदाहरण निश्चय रूप से हिन्दू मदिरो के डोर-लिटल्स प्रतीत होते है, क्योकि जैन मदिरो के डोर-लिटल्स पर सर्वदा इन्ही देवो का अकन प्राप्त होता है। इस प्रकार जैन मदिरो से सम्बन्धित २० डोर-लिटल्स, जिनमे से तीन तो पार्श्वनाथ मदिर मे देखे जा सकते है, निश्चित रूप से खजुराहो में १७ जैन मदिरों के अस्तित्व का सकेत करते है, जो पार्श्वनाथ, घण्टई, और आदिनाथ मदिरों के समान विशाल न होकर छोटे छोटे देवालय रहे होगे। प्रस्तुत लेख में हम पार्श्वनाथ व घण्टई मंदिरों के डोर-लिटल्स के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट डोर-लिटल्स की मूर्तियों का भी अध्ययन करेगे। आदिनाथ मंदिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियों का अध्ययन हम अनेकान्त के पिछले अंक मे कर चुके हैं। डोर-लिटल्स की समस्त आकृतियों को ललितासन मुद्रा में एक पैर नीचे लटकाये और दूसरा मोड़कर आसन पर रखे हुए चित्रित किया गया है। सभी आकृतियां ग्रीवा मे हार, स्तनहार, कुण्डल, केयूर, पायजेब, धोती आदि से सुसज्जित हैं। सभी

भभा— भली भांति छतरी [वर्णी] लगे बतीसूं खम।
बीठल की छतरी वहां, अति सोहत रणथब ॥२४॥
ममा—मीदर छतरी महल है, केती ही महजीत।
को लग वरणो या छवी, सब देवन की रीति ॥२५॥
यया—या सोभा रणथभ की, वरणी अकल विचार।
यो किल्लो सुवस बसो रणत भवर जग जाहर ॥२६॥
ररा— रण के डूंगर शीतला, पूजत नारि सुधीर।
नर नारी पूजत सदा भामो भाणको पार ॥२७॥
लला – लागत गढ प्यारो सदा, गंग बिहारी दास।
रोना भोना है दोऊ, सकल सुधारत काम ॥२८॥
ववा—वहां मेला कई जडें, होत धमाधम भीर।
सोलं से गणपति पुजै, सदर दीन औ पीर ॥२९॥
शशा—शेरपुरी खिलची पुरो, बसत किला की वोट।
माधोपुर आलण पुरो, चहुदिसि डूंगर कोट ॥३०॥
षषा—साईतर बन कियो, कवल धार जग नेर-
चसमा की सुन्दर हवा, बधा जाल की मेर ॥३१॥
ससा—सीताराम सुत मोहनो विरामण गूजर गोड।
नाती बेणी राम को, ककी बणायो जाति ॥३२॥
हहा—है नरपति जैत्यंघ बली किलोदर ॥३३॥

... ...

आकृतियां मस्तक पर या तो अलंकृत मुकुट या धम्मिल से युक्त है।

सर्वप्रथम हम पार्श्वनाथ मंदिर (६५४ ईसवी) स प्राप्त डोर-लिंटल्स की देवियों का अध्ययन करेंगे। पार्श्वनाथ मंदिर से प्राप्त तीन डोर-लिंटल्स मे से दो मदिर के मण्डप और गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर और तीसरा मदिर के पश्चिमी भाग में संयुक्त अतिरिक्त छोटे मंदिर, जो मूल मंदिर मे सम्भवत: बाद मे जोड़ा गया था, के प्रवेश द्वार पर देखे जा सकते हैं। पार्श्वनाथ मंदिर के मण्डप के डोर लिंटल के मध्य में (ललाट-बिंब) दस भुजाओं से युक्त चक्रेश्वरी को मानव रूप में प्रदर्शित गरुड़ पर आसीन चित्रित किया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि ललाट-बिंब की चक्रेश्वरी आकृति, जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षी है, और साथ ही गर्भगृह में स्थापित मूल प्रतिमा के सिंहासन पर उत्कीर्ण बैल चिन्ह के आधार पर इस मंदिर का ऋषभनाथ को समर्पित होना निश्चित है। १९वीं शती मे निर्मित काले प्रस्तर की पार्श्वनाथ प्रतिमा के आधार पर ही इसे मूल से पार्श्वनाथ मंदिर समझा जाने लगा। देवी की दाहिनी भुजाओं मे क्रमश: ऊपर से नीचे, पद्म (?), चक्र, गदा, खड्ग और वरदमुद्रा प्रदर्शित है, और वाम भुजाओं में उसी क्रम से चक्र, धनुष, खेटक, गदा और शंख। खजुराहो में चक्रेश्वरी का यह अकेला चित्रण है, जिसमें देवी को दस भुजाओं से युक्त प्रदर्शित किया गया है। डोर-लिंटल के बायें कोने पर चतुर्भुज ब्रह्माणी की त्रिमुख मूर्ति उत्कीर्ण हैं। देवी का वाहन हंस अनुपलब्ध है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओ क्रमश: शक्ति और पुस्तक चित्रित है, जबकि निचली भुजाओं में अभयमुद्रा(?) (दाहिनी) और (बायीं) देखा जा सकता है। दाहिनी ओर की आकृति भी चतुर्भुज और त्रिमुख ब्रह्माणी का अंकन करती है। देवी के समीप ही उसका वाहन हंस चित्रित है। देवी की ऊर्ध्व भुजाओं मे पूर्ववत् शक्ति और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दाहिनी भुजा मे बीजपुरक (फल) और बायीं मे कमण्डलु अंकित है। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त डोर-लिंटल के अतिरिक्त अन्य किसी भी डोर-लिंटल पर ब्रह्माणी को उत्कीर्ण नहीं किया गया है।

पार्श्वनाथ मंदिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार की आकृतियां वस्तुत: डोर-लिंटल के दाहिने और बाये दीवार पर उत्कीर्ण हैं। फलत: इसे डोर-लिंटल का अंकन स्वीकार नहीं भी किया जा सकता है, पर उनके प्रवेश द्वार की देवियां होने मे कोई संदेह नही है। बायी ओर की चतुर्भुज देवी को ऊर्ध्व भुजाओ मे सनाल कमल प्रदर्शित है। देवी की निचली दाहिनी व बायी भुजाओं मे क्रमश: अभयमुद्रा और कमण्डलु उत्कीर्ण है। भुजाओं में धारित कमल के ऊपर दोनों ओर गज आकृतियां उत्कीर्ण हैं। गज आकृतियों और कमल के आधार पर इस आकृति की निश्चित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है। दाहिनी ओर की आकृति के ऊपरी दाहिने व बायें हाथों में क्रमश: सनाल कमल और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दोनों भुजाओं में देवी ने वीणा धारण किया है। पुस्तक और वीणा के आधार पर इस आकृति की निश्चित पहचान सरस्वती से की जानी चाहिए। पार्श्वनाथ मंदिर के पीछे संयुक्त एक अतिरिक्त छोटे मंदिर के डोर-लिंटल के मध्य की आकृति के ऊपरी दोनों हाथों में सनाल कमल स्थित है, जबकि निचली दाहिनी भुजा भग्न है, और बायीं में देवी ने कमण्डलु धारण किया है। हाथों में प्रदर्शित पद्म इसके लक्ष्मी से पहचान की पुष्टि करता है। बायीं ओर की आकृति के ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमश: सनाल कमल और पुस्तक चित्रित है, जबकि निचली दोनों भुजाओं मे वीणा प्रदर्शित है। दाहिनी ओर की आकृति के हाथों में भी पूर्ववत सनाल कमल और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दोनो भुजाओं मे वीणा के स्थान पर वरद मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। उपर्युक्त दोनों ही आकृतिया नि:संदेह सरस्वती का अंकन करती हैं।

योजना मे पार्श्वनाथ मंदिर के सदृश घन्टई मन्दिर को स्थापत्य, मूर्तिकला और स्तंभों पर उत्कीर्ण लिपि संबधी साक्ष्य के आधार पर दसवी शती के अंत में निर्मित माना जा सकता है। प्रवेश द्वार के ललाटबिंब में चक्रेश्वरी की अष्टभुजी मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसमे देवी को मानव रूप मे उत्कीर्ण गरुड़ पर आसीन व्यक्त किया गया है। चक्रेश्वरी की ऊपरी चार भुजाओं में चक्र प्रदर्शित है, जबकि शेष तीसरी चौथी दाहिनी भुजाओं में घण्ट और मातुलिंग

स्थित है। तीसरी और चौथी बायी भुजाओं में क्रमशः धनुष (?) और कलश (?) उत्कीर्ण है। डोर-लिटल के दोनो कोनों पर जैन देवियो के स्थान पर तीर्थंकरो की संक्षिप्त (खड़ी) आकृतिया उत्कीर्ण है।

एक विशिष्ट डोर-लिटन सप्रति पुरातात्विक संग्रहालय (जार्डेन संग्रहालयः नं० १४६७) में संगृहीत है (चित्र स०-१)। मध्य मे गरुड़ पर आसीन चतुर्भुज चक्रेश्वरी की आकृति उत्कीर्ण है। देवी की ऊर्ध्व दाहिनी व बायी भुजाओं मे क्रमशः गदा और चक्र प्रदर्शित है, जबकि निचली दाहिनी भुजा से वरद मुद्रा व्यक्त है। देवी की निचली वाम भुजा सप्रति खण्डित है। बाये कोने की चतुर्भुज आकृति २२वे तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी अंबिका का चित्रण करती है। देवी ने दो ऊपरी भुजाओं मे सनाल कमल धारण किया है, जबकि निचली दाहिनी भुजा मे आम्रलुंबि चित्रित है। देवी का निचला बाम हस्त बायी गोद मे बैठे बालक को सहारा दे रहा है। बालक अपने हाथों से देवी का स्तन स्पर्श कर रहा है। देवी के दाहिने पार्श्व में आसीन एक आकृति, जिसकी भुजाओं मे फल प्रदर्शित है, की पहचान देवी के दूसरे पुत्र से की जा सकती है। देवी के शीर्ष भाग में आम्र फल से युक्त टहनियां भी चित्रित हैं, जिसके मध्य एक संक्षिप्त जिन मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी के आसन के समीप ही उसका वाहन-सिह उत्कीर्ण है। दाहिने कोने की चतुर्भुज आकृति २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती का अकन करती है। शीर्ष भाग मे सप्त सर्प फणों के घटाटोपों से आच्छादित देवी के ऊपरी व निचली दाहिनी भुजाओ में क्रमशः पाश और वरद मुद्रा प्रदर्शित है, जबकि ऊपरी वाम भुजा मे अकुश चित्रित है। देवी की निचली भुजा भग्न हो चुकी है। देवी के चरण के समीप उसका वाहन हस चित्रित है। यहां यह ध्यातव्य है कि ग्रथों में देवी का वाहन सर्प या कुक्कुट वर्णित है। इस डोर-लिटल को निश्चत रूप से ११वी शती के प्रारंभ मे तिथ्यांकित किया जा सकता है।

आदिनाथ मदिर के सग्रहालय मे स्थित एक डोर-लिटल में मध्य में चतुर्भुज चक्रेश्वरी की गरुड़ासीन मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी की ऊपरी दोनों भुजाएं खण्डित हैं, और निचली दाहिनी व बायी भुजाओ मे क्रमशः वरद मुद्रा और शख प्रदर्शित है। डोर लिटल के दोनों कोनों पर अंबिका की चतुर्भुज आकृतिया उत्कीर्ण है, जिनके हाथों मे प्रदर्शित प्रतीक समान है। चरण के समीप देवी का वाहन सिह उत्कीर्ण है, और शीर्षभाग मे भी आम्रफल से युक्त टहनिया अंकित है। अंबिका के ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओ मे कमल और पुस्तक प्रदर्शित है और निचली दाहिनी मे आम्रलुंब और बायी भुजा से गोद मे बैठे बालक को सहारा दे रही है।

एक अन्य विशिष्ट उदाहरण शातिनाथ मंदिर के अन्दर स्थित मंदिर नं० ११ के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। मध्य मे चक्रेश्वरी की षष्ठभुजी आकृति उत्कीर्ण है, जो अन्य चित्रणों के समान ही गरुड़ पर ही आसीन है। देवी के ऊपरी चार भुजाओ मे चक्र प्रदर्शित है, जबकि निचली दाहनी व बायी भुजाओं मे क्रमशः वरद मुद्रा और शंख स्थित है। बायी ओर की लक्ष्मी की चतुर्भुज आकृति ऊर्ध्व भाग मे दो गजों द्वारा अभिषिक्त हो रही है। देवी की ऊपरी दो भुजाओ मे कमल और निचली मे अभय-मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायी) प्रदर्शित है। दाहिनी ओर की आकृति चतुर्भुज सरस्वती का अंकन करती है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः कमल और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचले दोनों हाथो में वीणा स्थित है।

एक अन्य विशिष्ट उदाहरण नवीन मदिर में नं० २४ के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। ललाटबिंब की चतुर्भुज आकृति की दाहिनी ऊपरी व निचली भुजाओं मे क्रमश. कमल और वरद मुद्रा प्रदर्शित हैं। देवी का ऊपरी बायां हाथ खण्डित है, जबकि निचले मे कमण्डलु धारण किया है। देवी की संभावित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है। बायी ओर की आकृति के दोनों दाहिनी भुजाओं में कमल (ऊपरी) और वरद मुद्रा (निचली) प्रदर्शित हैं। देवी के दोनों वाम हस्त खण्डित है। देवी के दाहिने पार्श्व में उसका वाहन मयूर उत्कीर्ण है, जिसके आधार पर इसकी पहचान सरस्वती से की जा सकती है, और माना जा सकता है कि देवी के खण्डित दोनों हाथों में पुस्तक और कमण्डलु स्थित रहा होगा। दाहिनी ओ.

की आकृति के ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओ मे क्रमशः खड्ग और चक्र (या खेटक.?) स्थित है, जबकि निचले दोनो हाथों में वरद-मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। देवी के चरणो के समीप प्रदर्शित वाहन सिंह है। इस आकृति को निश्चित पहचान २४वे तीर्थंकर महावीर की यक्षी सिद्धायिका स की जा सकती है, क्योकि खजुराहो से प्राप्त महावीर की मूर्तियो मे यक्षी के रूप मे उत्कीर्ण चतुर्भुज सिद्धायिका की भुजा मे चक्र और वाहन के रूप मे सिंह की उपस्थिति सभी उदाहरणो मे देखी जा सकती है। साथ ही नवीन मंदिर नं० २१ के पीछे के दीवाल पर रखी महावीर की मूर्ति (क २८।१) मे देवी को ऊपरी भुजा मे प्रस्तुत मूर्ति के समान ही खड्ग भी प्रदर्शित है और शेष भुजाओ के आयुध भी समान है, मात्र निचली वाम भुजा को छोड़कर, जिसमे देवी ने प्रस्तुत मूर्ति के कमण्डलु के स्थान पर फल धारण किया है। सिद्धायिका का अंकन करने वाला यह अकेला डोर-लिंटल है। आदिनाथ मंदिर के डोर-लिंटल के समान ही इस उदाहरण मे भी मध्यवर्ती आकृति के दोनो ओर तीन-तीन स्त्री आकृतियां उत्कीर्ण है। मध्यवर्ती आकृति के वाम पार्श्व की समस्त चतुर्भुज आकृतियो के ऊपरी दोनो भुजाओं में कमल, और निचली मे वरद मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायी) चित्रित है। मध्य की आकृति के दाहिने पार्श्व की तीनों आकृतियां द्विभुज है। प्रथम दो आकृतियों की दाहिनी भुजा से अभय मुद्रा व्यक्त है और बायी से वे गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। तीसरी आकृति की दोनों भुजाओं मे एक हार प्रदर्शित है। बायीं ओर की पहचान लक्ष्मी और दाहिनी ओर की दो द्विभुज आकृतियो की पहचान अम्बिका से की जा सकती है। पार्श्वनाथ, घण्टई, और जार्डन संग्रहालय के डोर-लिंटल्स के अतिरिक्त समस्त उदाहरणों को ११वी १२वीं शती में निर्मित स्वीकार किया जा सकता है।

अन्य सभी डोरलिंटल्स पर चतुर्भुज चक्रेश्वरी, अंबिका लक्ष्मी और सरस्वती को चित्रित किया गया है, जिनके अंकन मे कोई नवीनता नही प्राप्त होती है और आयुधों आदि का प्रदर्शन पूर्व वणित उदाहरणों के सदृश ही है। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि चक्रेश्वरी जिसको बहुलता से ललाट बिंब मे उत्कीर्ण किया गया है, के अतिरिक्त अन्य सभी देवियां सदैव चतुर्भुज अंकित की गई हैं। समस्त प्रमुख जैन देवियां के अंकन मे उनसे संबंधित विशिष्टताओं का प्रदर्शन इस बात का संकेत करता है कि कलाकार ने उनके चित्रण में प्रतिमाशास्त्रीय ग्रंथों मे वर्णित मूलभूत विशेषताओं का निर्वाह किया है। पर साथ ही आयुधो के प्रदर्शन के क्रम में अंतर और कुछ नवीनताओं का समावेश या तो किसी अप्राप्य प्रतिमालाक्षाणिक ग्रंथ के आधार पर उनके निर्मित होने के कारण है, या फिर स्वयं कलाकार या आचार्य, जिसके निर्देशन में मूर्तियां उत्कीर्ण की गई, की देन है।

'तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का तीसवां सूत्र' एक अध्ययन

सनमत कुमार जैन एम० ए० शोध-छात्र

आगमकाल में प्राकृत भाषा में निबद्ध सम्यक्ज्ञान के पाँच भेदो का जब तत्त्वार्थ सूत्रकार ने सर्व प्रथम संस्कृत मे सूत्र रूप से सूत्रित किया तब यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि एक साथ एक आत्मा मे कितने ज्ञान हो सकते है? बस, इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने के पूर्व तत्त्वार्थ सूत्रकार ज्ञान के पांचो भेदो का सम्यक् प्रतिपादन कर चुके थे। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का तीसवां सूत्र उपर्युक्त जिज्ञासा का शमन करने हेतु उपस्थित किया गया :—

"एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः[1]"

अर्थात् "एक आत्मा मे एक साथ एक से लेकर चार ज्ञानो तक का विभाग करना चाहिए।"

क्या इस सूत्र से जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त हो सकी? नहीं, उसकी जिज्ञासा की शान्ति के लिए भाष्य,

१. तत्त्वार्थ सू० १।३०।

टीका–प्रटीकाओं का प्रणयन किया गया। राई को पर्वत बनाया गया। सूत्र का आपरेशन किया गया, उसका विश्लेषण किया गया।

दिगम्बर सम्प्रदाय मे उपलब्ध सर्वप्रथम प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है इसके रचयिता है आचार्य पूज्यपाद। इन्होंने सूत्र को विश्लेषित करते हुए बतलाया कि आत्मा में यदि एक ज्ञान होता है तो वह केवल ज्ञान होता है क्योंकि वह असहाय है तथा क्षायिक है। यदि दो होते हैं तो वह मति, श्रुत होते है तीन होतेहै मति, श्रुति अवधि या मनः पर्यय होते हैं। यदि चार होते है तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय होते हैं। परन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ नही हो सकते[१]।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे उलब्ध 'स्वोपज्ञ', कहा जाने वाला वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य[२] मे आत्मा मे एक ज्ञान की विवक्षा मे मतिज्ञान को स्वीकार किया गया है। उन्होने पूज्यपाद की तरह 'एकादीनि' में एक का तत्पर्य केवलज्ञान से नही लिया है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक[३] में अकलंक ने यद्यपि दोनों मतों का कथन किया है फिर भी उनके विवेचन से यह स्पष्ट झलकता है कि उनका 'एकादीनि' मे एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से है न कि केवलज्ञान से। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'एक' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त देखा जाता है[४] परन्तु यहाँ विवक्षा से प्राथम्य वचन रूप जानना चाहिए[५]। इस प्रकार से प्राथम्य वचन रूप मतिज्ञान ही होता है। अतः इस रूप मे 'वाचक उमास्वाति' और 'अकलंक' एकमत हैं। परन्तु 'अकलंक' ने 'अपर आह[६]' के द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि' मान्य प्रधान रूप से या असहाय रूप से 'केवलज्ञान' का भी उल्लेख किया है। वे इससे सहमत है या असहमत यह नही कहा जा सकता। यदि असहमत होते तो इसकी मीमांसा या समीक्षा करते, और यदि सहमत होते तो इसका स्पष्टीकरण करते। परन्तु उन्होंने उल्लेख भर किया है, अपना मन तो सूत्र के प्रथम वार्तिक में 'एक' का तात्पर्य प्राथम्य वचन कह कर ही प्रकट कर दिया था।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिककार 'विद्यानन्द' ने अपनी समन्वयात्मक दृष्टि का पूरा उपयोग करते हुए—'एक' शब्द के 'प्रथम' तात्पर्य की। विवक्षा में मतिज्ञान अथवा 'एक' शब्द के 'प्रधान' अर्थ की विवक्षा मे केवलज्ञान दोनों को ही ग्रहण किया है[७]।

परन्तु प्रश्न इस बात का है कि 'सर्वार्थसिद्धिकार' ने 'एकादीनि' मे 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से क्यों नही लिया केवलज्ञान से ही क्यों लिया? या अन्य आचार्यो ने 'एकादीनि' मे 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से ही क्यो लिया केवलज्ञान से क्यो नही लिया? क्या ये सूत्रकार के मन्तव्य को भलीभाँति नही समझ सके थे? एक ही परम्परा के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रतिपादन क्यो किया? क्या अकलक 'अपर आह' के द्वारा सर्वार्थसिद्धिकार की ओर इगित नही कर रहे हैं? यदि कर रहे है, तो फिर उसका खण्डन क्यों नही किया जबकि उन्होने 'एक' का तात्पर्य प्रथम वचन लेकर मतिज्ञान स्वीकारकर लिया था? इस प्रकार नाना शकाए उद्भूत होती है।

प्रथम शका के समाधान हेतु यह कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद ने 'एकादीनि' पद का विच्छेद करके ही 'एक' का तात्पर्य 'केवलज्ञान' से लिया है। उनके

---

१. एकं तावत्केवलज्ञान, न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मति श्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुत मनःपर्यय ज्ञानानि वा चत्वारि मतिश्रुताऽवधिमनः पर्ययज्ञानानि।"
सर्वार्थसि० १।३०

२. कस्मिश्चिज्जीवे मत्यादीनामेक भवति—तत्त्वार्थाधिगम भा० (वाचक उमा०) १।३१।

३. तत्त्वार्थ रा० वा० (अकलक) १।३०।

४. अयमेकशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगा:। क्वचित्संख्यायां वर्तते, एको द्वौ बहवः इति। क्वचिदन्यत्वे, एके आचार्याः-अन्ये आचार्याः इति। क्वचिदसहाये, एकाकिनस्ते विचरन्ति वीराः इति। क्वचित्प्राथम्ये-एकमागमनम् प्रथममागमनम् इति। क्वचित्प्राधान्ये, एक हतां सैनां करोमि-प्रधान हता सेनां करोमिइत्यर्थः।
तत्त्वार्थ रा० वा० (अकलक) १।३०।१

५. तत्रेह विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दो वेदितव्यः। वही० १।३०।१

६. वही० १।३०।१० भाष्य।

७. प्राच्यमेकं मतिज्ञान श्रुतिभेदानपेक्षया। प्रधान केवल वा स्यादेकाम युगपन्नरिः।
तत्त्वार्थ श्लो० वा० (विद्यानन्दि) १।३०।२

विभाजन के अनुसार—"एक आदिर्येषा तानि इमान्येकादीनि" अर्थात् एक है आदि जिनका अर्थात् जिन ज्ञानों का आदि अर्थात् प्रारम्भ एक है वह एकादि है। पांच ज्ञानों में मात्र केवल ही एक ऐसा ज्ञान है जो एक है अकेला है और असहाय है। एक आत्मा में एक साथ मति और श्रुत दो हो सकते है, मति, श्रुत और अवधि या मन: पर्यय तीन हो सकते हैं तथा मति, श्रुत, अवधि और मन: पर्यय चार हो सकते हैं परन्तु केवलज्ञान अकेला ही होगा, एक ही होगा। इस धारणा को ध्यान में रख कर ही सर्वार्थसिद्धिकार ने 'एक' का तात्पर्य 'केवलज्ञान' से लिया है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धिकार सैद्धान्तिक अधिक थे, जबकि अकलंक तार्किक। अकलक स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि एक शब्द सख्यावाची मानकर अकेला मति ज्ञान भी एक हो सकता है क्योकि अग प्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान प्रत्येक को हो भी और न भी हो[1]। अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि अकलंक की दृष्टि मतिज्ञान की ओर ही झुक रही है। तभी तो परवर्ती टीकाकार विद्यानन्दि ने दोनों के समन्वय की ओर ध्यान दिया। 'अपर आह' के द्वारा अकलंक का लक्ष्य 'सर्वार्थसिद्धि' के शब्दो की ओर है। यह कोई आवश्यक नही कि उसका खण्डन या मण्डन किया ही जाये। उल्लेख मात्र हो उसकी स्वीकारता की कसोटी है अर्थात् यदि 'एक' का तात्पर्य केवलज्ञान से लिया जाता हैं तो अकलक को कोई आपत्ति नही।

इस प्रकार क्या अकलंक के ऊपर वाचक उमास्वाति का प्रभाव पडा जो 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से लेते है? वैसे वाचक उमास्वाति ने एक का तात्पर्य मतिज्ञान से लिया है परन्तु अकलक ने 'एकादीनि' पद मे 'एक' का, 'आदि' का और एकादीनि का पूर्ण रूप से विवेचन करके ही उसे स्वीकार किया है[3]। पूर्ववर्ती होने मे वाचक उमास्वाति का प्रभाव माना जा सकता है परन्तु विवेचना की दृष्टि से उनकी मौलिक उद्भावना भी हो सकती है।

इस प्रकार प्रधान, असहाय और क्षायिक होने से 'एकादीनि' मे एक का तात्पर्य 'केवलज्ञान' से लिया गया तथा 'एक' का तात्पर्य प्राथम्य वचन लेकर मतिज्ञान को स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार का मन्तव्य तो इतना ही था कि एक साथ एक आत्मा में पांचों ज्ञान नहीं हो सकते, चार तक ही होंगे।

सूत्र पर जब मैं गहन दृष्टि डालता हूँ तो एक उलझन मस्तिष्क मे सहसा उठ खड़ी होती है कि—एक ज्ञान की विवक्षा मे 'युगपद्' पद का व्यवहार कैसे होगा जबकि 'एक' का तात्पर्य 'मतिज्ञान' से लिया जाये? एक आत्मा में एक साथ एक ज्ञान नही बतलाया गया है वरन् आदि के चारो ज्ञानो का कथन किया गया है। 'युगपद्' की व्याप्ति चारों ज्ञानों के साथ है न कि एक ज्ञान के साथ। तो फिर एक आत्मा में 'युगपत्' मति और श्रुत दो हो सकते है या मति, श्रुत और अवधि या मनःपर्याय तीन हो सकते है, ये कथन कैसे बनेंगे? बस यही आकर उलझन की वास्तविकता का एहसास हो जाता है। अतएव सर्वार्थसिद्धिकार ने 'एक' की विवक्षा मे प्रधान रूप से जो केवलज्ञान को स्वीकार किया है वह उचित ही जान पड़ता है। क्योंकि 'केवलज्ञान' ज्ञान के अन्य भेदों के साथ नही रह सकता, तथा केवलज्ञान क्षायिक अन्य ज्ञान क्षायोपशमिक। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक ज्ञान की विवक्षा में मतिज्ञान नही हो सकता; क्योंकि जिस जीव के केवलमति ज्ञानवरण कर्म का क्षयोपशम हुआ है उसके तो केवल मतिज्ञान ही होना है इसीलिए अकलंक 'एक' का प्राथम्य ग्रहण करके मतिज्ञान स्वीकार करते है।

सर्वार्थसिद्धिकार का 'एक' की विवक्षा मे केवलज्ञान रखने का यह भी कारण हो सकता है कि मति ज्ञान और श्रुतज्ञान कारण कार्य रूप है और कारण के होने पर कार्य होता है अतः मति, श्रुत दो हो सकते हैं अकेला मति नही परन्तु क्षयोपशम की दृष्टि से अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है।

इस प्रकार प्रधान और प्राथम्य रूप दो दृष्टियों के माध्यम से इस सूत्र का विश्लेषण किया गया है। एक आत्मा मे एक साथ आदि के चारों ज्ञान रह सकते हैं पर उनका उपयोग तद्तद् ज्ञान की अपेक्षा ही होता है अर्थात् किसी जीव में यदि तीन ज्ञान हैं तो एक काल में एक ही ज्ञान का उपयोग होगा अन्य ज्ञान लब्धि रूप से रहेंगे।

प्रस्तुत लेख मे उठाई गई शकाओं के बारे में विद्वान् अपने-अपने विचार लिखें तथा विषय को विशद बनायें।

---

१. सर्वार्थसि० १।३०।
२. तत्त्वार्थ रा० वा० १।३०।१० भाष्य।
३. वही० १।३०।१, २, ५।

भद्रबाहु श्रुतकेवली

परमानन्द जैन शास्त्री

अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की गुर्वावलियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय वे गगा-यमुना संगम के समान पुनः मिल जाती हैं। तथा भद्रबाहु श्रुत केवली के स्वर्गवास के पश्चात् जैन परम्परा स्थायी रूप से दो विभिन्न श्रोतों मे प्रवाहित होने लगती है। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवली दोनों ही परम्पराओ मे मान्य है।

भद्रबाहु रग्रिमः समग्रबुद्धि सम्पदा,
सुशब्द सिद्ध शासनं सुशब्द-बन्ध-सुन्दरम्।
इद्ध-वृत्त-सिद्धिरत्रबद्धकर्मभित्तपो,
वृद्धि-वद्धित-प्रकीर्तिरुद्धे महर्धिकः।
यो भद्रबाहुश्रुतिकेवलीना मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता, सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन॥

श्रवणवेलगोल शिला० १०८

पुण्ड्रवर्धन देश मे देवकोट्ट नाम का एक नगर था, जिसका प्राचीन नाम 'कोटिपुर' था। इस नगर मे सोमशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री से भद्रबाहु का जन्म हुआ था। बालक स्वभाव से ही होनहार और बुद्धि का धनी था। उसका क्षयोपशम और धारणा शक्ति प्रबल थी। आकृति सौम्य और सुन्दर थी। वाणी मधुर और स्पष्ट थी। एक दिन वह बालक नगर के अन्य बालकों के साथ गंटुओं (गोलियों) से खेल रहा था। खेलते-खेलते उसने चौदह गोलियो को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा कर दिया। ऊर्जयन्तगिरि (गिरिनार) के भगवान नेमिनाथ की यात्रा से वापिस आते हुए चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्द्धन स्वामी सघ सहित कोटि ग्राम पहुँचे। उन्होने बालक भद्रबाहु को देखकर जान लिया कि यही बालक थोड़े दिनों मे अन्तिम श्रुतकेवली और घोर तपस्वी होगा। अतः उन्होंने उस बालक से पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है, और तुम किसके पुत्र हो। तब भद्रबाहु ने कहा कि मैं सोमशर्मा का पुत्र हूँ और मेरा नाम भद्रबाहु है। आचार्य श्री ने कहा, क्या तुम चलकर अपने पिता का घर बतला सकते हो? बालक तत्काल आचार्यश्री को अपने पिता के घर ले गया। आचार्यश्री को देखकर सोमशर्मा ने भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना की। और बैठने के लिए उच्चासन दिया। आचार्यश्री ने सोमशर्मा से कहा कि आप अपना बालक हमारे साथ पढने के लिये भेज दीजिये। सोमशर्मा ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि बालक को आप खुशी से लेजाइये, और पढाइये। माता-पिता की आज्ञा से आचार्यश्री ने बालक को अपने सरक्षण में ले लिया। और उसे सर्व विद्याए पढ़ाई। कुछ ही वर्षों में भद्रबाहु सब विद्याओं मे निष्णात हो गया। तब गोवर्द्धनाचार्य ने उसे अपने माता-पिता के पास भेज दिया। माता-पिता को उसे सर्वविद्या सम्पन्न देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। भद्रबाहु ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मागी और वह माता-पिता की आज्ञा लेकर अपने गुरु के पास वापिस आ गया। निष्णात बुद्धि भद्रबाहु ने महावैराग्य सम्पन्न होकर यथा समय जिन दीक्षा ले ली। और दिगम्बर साधु बनकर आत्म-साधना मे तत्पर हो गया।

एक दिन योगी भद्रबाहु प्रातःकाल कायोत्सर्ग मे लीन थे कि भक्तिवश देव असुर और मनुष्यों से पूजित हुए। कुछ समय बाद गोवर्द्धन स्वामी का स्वर्गवास हो गया। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात् भद्रबाहु बहु सिद्धि सम्पन्न मुनि पुंगव हुए। चतुर्दश पूर्वधर और अष्टांग महानिमित्त के पारगामी श्रुतकेवली विद्वान हुए। अपने संघके साथ उन्होंने अनेक देशों मे विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण किया।

भद्रबाहु श्रुतकेवली यत्र-तत्र देशों में द्वादश सहस्र मुनियों के सघ के साथ विहार करते हुए उज्जैन पधारे, और सिप्रा नदी के किनारे उपवन म ठहरे। वहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने उनकी वन्दना की, जो उस समय प्रांतीय राजधानी मे ठहरा हुआ था। एक दिन भद्रबाहु श्रुत-

केवली आहार के लिए नगरी मे गए। वे एक मकान के आंगन में प्रविष्ट हुए, जिसमे कोई मनुष्य नहीं था, किन्तु पालना में झूलते हुए एक बालक ने कहा, मुनि तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ, चले जाओ। तब भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहां बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पडने वाला है। १२ वर्ष तक वहां वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होगे। धन-धान्य से समृद्ध यह देश शून्य हो जायेगा। और भूख के कारण मनुष्य-मनुष्य को खा जायेगा। यह देश राजा, मनुष्य और तस्करादि से विहीन हो जायेगा। ऐसा जानकर आहार लिए बिना ही जिन मन्दिर में आकर आवश्यक क्रियाएं सम्पन्न की। और अपराह्न काल मे समस्त सघ में घोषणा की कि यहां बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष होने वाला है। अतः सब सघ को समुद्र के समीप दक्षिण देश मे जाना चाहिए।

जब सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यह सुना कि यहाँ द्वादश वर्ष का घोरदुर्भिक्ष पडने वाला है। तब उसने भी भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण की[1]। जैसा कि तिलोयपण्णत्ती की निम्न गाथा से स्पष्ट है: —

मउडधरेसुं चरिमो जिण दिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरावुं पव्वज्ज णेव गेण्हंति॥
—तिलोय पण्णत्ती ४-१४८१

भद्रबाहु वहाँ से चलकर ससघ श्रवण बेलगोल तक आये। भद्रबाहु ने कहा मेरा आयुष्य अल्प है अतः मै यहीं रहूँगा और विशाखाचार्य ससंघ आगे चले गए। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त वहीं रह गए। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का दीक्षा नाम 'प्रभाचन्द्र' था, वे भद्रबाहु के साथ कटवप्र पर ठहर गए।

और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया। भद्रबाहु की समाधि का भगवती आराधना की निम्न गाथा में उल्लेख है: —

ओमोदरिये भद्दबाहुय सकिलिट्ठ मदी
घोराए तिगिंच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥१५४४

इस गाथा मे बतलाया गया है कि भद्रबाहु ने अवमोदर्य द्वारा न्यून भोजन की घोर वेदना सहकर उत्तमार्थ की प्राप्त की। चन्द्रगुप्त ने अपने गुरू की खूब सेवा की। भद्रबाहु के दिवगत होने के बाद श्रुतकेवली का अभाव हो गया। क्योंकि वे अन्तिम श्रुति केवली थे।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु के जन्मादि का परिचय हरिषेण कथाकोष, श्रीचन्द्रकथाकोष और भद्रबाहु चरित आदि मे मिलता है। और भद्रबाहु के बाद उनकी शिष्य परम्परा अग-पूर्वादि के पाठियों के साथ चलती है। जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

श्वेताम्बर परम्परा मे, कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नन्दिसूत्र, ऋषि-मडलसूत्र और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व मे भद्रबाहु की जानकारी मिलती है। कल्पसूत्र की स्थविरावली मे उनके चार शिष्यों का उल्लेख मिलता है। पर वे चारों ही स्वर्गवासी हो गए। अतएव भद्रबाहु की शिष्य परम्परा आगे न बढ़ सकी। किन्तु उक्त परम्परा भद्रबाहु के गुरू भाई सभूति विजयके शिष्य स्थूलभद्र से आगे बढ़ी। वहाँ स्थूलभद्र को अन्तिम श्रुत केवली माना गया है।

दिगम्बर परम्परा मे भद्रबाहु का पट्टकाल २९ वर्ष माना जाता है।
और श्वेताम्बर परम्परा में पट्टकाल १४ वर्ष बतलाया है और व्यवहार सूत्र– छेद सूत्रादि ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित कहे जाते है। और वीर निर्वाण सवत्से १७० वर्ष बीतने पर स्वर्गवास माना है। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर नि० स० के ६२वें वर्ष अर्थात् ३६५ वर्ष ई० पूर्व माना जाता है। दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित साहित्य नही मिलता। इसमें आठ वर्ष का अन्तर विचारणीय है।

---

१. भद्रबाहु वचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वर तपः।
चन्द्रगुप्त मुनि शीघ्रं प्रथमो दश पूर्विणाम्।
सर्व सघाधिपो जातो विसषाचार्य सज्ञकः॥
हरिषेण कथाकोष ३८,३९

(अ) चरिमो मउडधरीसो णरवइणा चदगुत्त णामाए।
पचमहव्वय गहिया अवरिं रिक्खा (य)-वोच्छिणा॥
श्रुत स्कंध ब्र० हेमचन्द्र

(अ) तदीय शिष्योजनिचन्द्रगुप्तः समग्रशीलानत देववृद्धः।'
विवेश यस्तीव्रतपः प्रभावप्रभूत-कीर्तिर्भुवनान्तराणि॥ ९
श्रवणबेलगोल शि० पृ० २१०

१. योगीन्द्र स्थूलभद्रो ऽभूद थान्त्य श्रुतकेवली।
—पट्टावली समुच्चय पृ २५

२. श्रीवीर मोक्षात् वर्ष शते सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहु रपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥
परिशिष्ट पर्व हेमचन्द

संकट की स्थिति में समाज कल्याण बोर्डों का योगदान

एम० सी० जैन

देश में समाज कल्याण गतिविधियों के प्रोत्साहित करने और उन्हें बढ़ावा देने की आवश्यकता हमेशा से महसूस की जा रही है, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह अनुभव किया गया कि राष्ट्रीय स्तर पर समाज कल्याण कार्यक्रमों का संचालन तभी किया जा सकता है जब स्वैच्छिक संगठन और स्वैच्छिक कार्यकर्ता इन कार्यक्रमो के लिए साधन जुटाने मे गहरी दिलचस्पी लें। एक ओर स्वैच्छिक अभिकरणों और स्वैच्छिक कार्यकर्ताओ और दूसरी ओर सरकारी मशीनरी के प्रयासो को मजबूत बनाने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का गठन किया गया। यह एक सर्वथा नवीन प्रयोग था। गत अठारह वर्षो के कार्यकाल में बोर्ड ने राष्ट्रीय स्तर पर कल्याण कार्यक्रमों को बढ़ावा देने के साथ-साथ समाज के दुर्बल वर्गों के प्रति जन-चेतना पैदा की है और राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर गैर सरकारी कार्यकर्ताओं को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के सरकारी अभिकरणों के साथ कधे से कंधा मिलाकर काम करने के लिए प्रेरित किया है। विभिन्न स्तरो पर बोर्ड के विभिन्न कार्यक्रमों का सचालन करने वाले अभिकरणों में ८० हजार के ऊपर कार्यकर्ता सलग्न है और इनमें से लगभग २० हजार व्यक्ति स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्य में सक्रिय रूप से सलग्न है। बोर्ड के कार्य के लिए क्षेत्र ढूंढ निकाले हैं, जिनमें सहस्रों निःस्वार्थ कार्यकर्ता, विशेष रूप से महिलाए स्वेच्छा से कार्यरत है। अब इन स्वैच्छिक तथा वैतनिक कार्यकर्ताओं पर हमेशा पूरी तरह निर्भर रहा जा सकता है और राष्ट्रीय, प्राकृतिक या अन्य विपत्तियों की अवस्था में लोगों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से इन पर उपयोग लिया जा सकता है।

सीमावर्ती क्षेत्रों में कल्याण-कार्य

पहली बार सन् १९६२ मे चीनी आक्रमण के समय जवानों के लिए सामग्री, उपहार और ऊनी वस्त्र इकट्ठे करने के लिए बोर्ड की मशीनरी का उपयोग किया गया था। मोर्चे पर जाने वाले जवानों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने की दृष्टि से केंटीनों का संगठनकिया गया। हिमालय के सीमावर्ती क्षेत्रों और राजस्थान के मरुस्थलों में प्रसूति सेवाओं, डाक्टरी सहायता, बालवाड़ी, शिल्प प्रशिक्षण तथा महिलाओ के लिए समाज शिक्षा जैसी बहुद्देशीय गतिविधियो से युक्त कल्याण विस्तार परियोजनाएं संगठित की गई थीं। इन परियोजनाओं का उद्देश्य सीमावर्ती क्षेत्रों के लोगो मे विश्वास पैदा करना तथा देश के शेष भागो के साथ उनका सांस्कृतिक और भावनात्मक एकीकरण करना था।

सन् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय भी मोर्चे पर जाने वाले जवानों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने और जवानों के परिवारों के लिए कल्याण कार्यक्रम संगठित करने की दिशा मे बोर्ड किसी से पीछे नही रहा।

हाल ही में सन् १९६९ में जब आंध्र मे बाढ़ आई तो इन दोनों राज्यों के समाज कल्याण संगठनों ने बाढ़ पीड़ितों के लिए धन राशि तथा सामग्री के सग्रह में सक्रिय भाग लिया। सन् १९७१ के अंत में जब उड़ीसा में तूफान आया तो उड़ीसा राज्य बोर्ड ने पीड़ितों के लिए धन राशि तथा सामग्री के संग्रह के साथ-साथ कल्याण सेवाओं का संगठन भी किया।

शरणार्थी शिविरों की स्थापना

मई, १९७१ में पाकिस्तानी सैनिक शासकों के जघन्य अत्याचारों और कत्लेआम के कारण हमारे देश में पूर्व बंगाल से लाखों शरणार्थियों के आने से बड़ी गम्भीर स्थिति पैदा हो गई। इस कत्लेआम से लोगों में दहशत फैल गई और वे आसाम, मेघालय, त्रिपुरा तथा पश्चिमी बंगाल के शिविरों मे इकट्ठे होने लगे। सरकार और बंगला देश सहायता समिति के प्रयासों की पूर्ति के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्षता की ओर से

देश के ८ स्वेच्छिक और वैतनिक कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया गया कि वे सहायता और आश्रय के लिए भारत के द्वार खटखटाने वाले शरणार्थियों के लिए दिल खोलकर दान दें। बोर्ड ने बंगला देश के शरणार्थी शिविरों के लिए पूर्णतः सज्जित चलते-फिरते अस्पतालों के लिए धनराशि देने का प्रस्ताव रखा।

पश्चिम बगाल और त्रिपुरा मे बंगाल देश सहायता समिति के क्षेत्रीय अधिकारियों को बोर्ड के राज्य स्तर के अभिकरणों ने शरणार्थियों के लिए सीधे ही सामग्री और वस्त्र भेजे। इसके अलावा बोर्ड के स्वेच्छिक तथा वैतनिक कर्मचारियों ने इन शरणार्थियों को राहत पहुँचाने की दृष्टि से ५० हजार रुपये से अधिक इकट्ठे किए। इसके अतिरिक्त अरुणांचल, त्रिपुरा पश्चिम बगाल, हिमाचल प्रदेश और हरियाणा के राज्य बोर्डों ने एक लाख रुपये से अधिक संग्रह किए और यह धनराशि सीधे ही प्रधान मंत्री, सबद्ध राज्यों के मुख्य मंत्री या बगला देश सहायता समिति के अधिकारियो को दी।

त्रिपुरा, अरुणाचल और पश्चिम बगाल के राज्य बोर्डों की अध्यक्षाओ के नेतृत्व मे स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं ने अपने सीमित साधनो और दुर्गम सचार व्यवस्था के बावजूद बगला देश के लाखों शरणार्थियों को आश्रय दिया। कार्यकर्तृयो ने शरणार्थियो को बहुमुखी सेवाएं उपलब्ध कराने की दृष्टि से शरणार्थी राहत समिति का निर्माण किया।

बगला देश में स्वतंत्र नागरिक के रूप मे स्वदेश वापस लौटाने वाले शरणार्थियों के लिए महिला सामाजिक कार्यकर्ता आवश्यक सुविधाएं जुटा रहे हैं।

जवानों की विधवाओं और परिवारों के लिए कल्याण कार्यक्रम—

हाल ही मे दिसम्बर, १९७१ मे पाकिस्तान के साथ संघर्ष के दौरान बोर्ड ने चुनौती का फिर सामना किया। युद्ध में स्थानीय रूप से अपंग होने वाले या वीर गति पाने वाले जवानो की विधवाओं और परिवारों के पुनर्वास के लिए केन्द्रीय नागरिक परिषद तथा स्थल, जल एव वायुसेना पत्नी संघों के साथ घनिष्ठ सहयोग से काम किया। केन्द्रीय स्तर पर, अस्पतालों में जवानों के मनोरजन के लिए पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें इकट्ठी की गई।

सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वेच्छिक संगठनों का योगदान

राज्य बोर्डों की अध्यक्षाओं ने जवानों के लिए उपहार; सिगरेट, मेवा प्रसाधन वस्तुएं तथा ऊनी वस्त्र इकट्ठा करने के लिए स्वेच्छिक सगठनों और स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं के नाम अपील जारी की। स्वेच्छिक कार्यकर्ता जिला और ग्राम स्तरों पर जवानों के परिवारों की आवश्यकताओं का आकलन करने के लिए, उनके साथ सीधे संपर्क स्थापित कर रहे हैं और शिक्षा में सक्षिप्त पाठ्यक्रम जैसे समुचित पुनर्वास कार्यक्रमों की योजना बना रहे हैं ताकि दो साल के अन्दर-अन्दर जवानों की महिला सदस्यों को मिडिल या मैट्रिक तक की शिक्षा दी जा सके और उन्हें उत्पादन एकतों मे प्रशिक्षण दिया जा सके जहाँ वे काम द्वारा अपनी रोजी कमा सकें और परिवार की आय में पर्याप्त वृद्धि कर सकें।

संघर्ष के दौरान बोर्ड के स्वेच्छिक संगठनों ने जनता के मनोबल को ऊचा उठाने की दिशा में कार्य किया और उसे रक्तदान के लिए प्रेरित किया। महिला सामाजिक कार्यकर्ता अस्पतालो में गए और उन्होंने घायल जवानों के लिए कल्याण सेवाओं की व्यवस्था की। राजस्थान मे स्वेच्छिक सगठनों ने बाड़मेर और जैसलमेर के इलाकों मे लड़ने वाले जवानों के लिए शानदार काम किया। जवानों के परिवारों के लिए ट्रांजिस्टर, प्रेशर कुकर तथा अन्य उपहार और घायल सैनिकों के लिए वस्त्र इकट्ठे किए गए। उन्होने युद्ध में वीर गति प्राप्त या अपंग परिवारों के पते इकट्ठे किए और उन्हे सहायता पहुँचाने के लिए उनसे सपर्क स्थापित किया।

उत्तर प्रदेश में कल्याण कार्यों का सगठन

उत्तर प्रदेश राज्य बोर्ड के एक अधिकारी ने बुलन्दशहर जिले मे एक घायल जवानों की पत्नी से संपर्क स्थापित किया और उसके कई नजदीकी संबन्धियों, पड़ोसियों, और अस्पताल तथा जिला अधिकारियो के सहयोग से इस प्रकार की समुचित व्यवस्था की, जिससे उसे कोई कठिनाई न हो। एक जवान से कुछ महत्वपूर्ण सैनिक कागजात खो गए थे। उत्तर प्रदेश के महिला कार्यकर्ताओं ने इन कागजात की छानबीन करने और उन्हें

समुचित अधिकारियों तक पहुँचाने की दिशा में बहुत शानदार काम किया।

उत्तर प्रदेश में, सभी जिलों में, जिलामजिस्ट्रेटों के सहयोग से केन्द्रीय जिला नागरिक परिषदे बनाई गई। परियोजना स्तर पर परियोजना के कर्मचारी और स्वैछिक कार्यकर्ता जवानों के लिए चंदा और सामान एकत्रित करने की दिशा मे हर सभव प्रयास कर रहे हैं।

देहरादून मे कई स्वेच्छिक सगठनों ने केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के एक सदस्य के प्रभावशाली नेतृत्व में सहस्रों रुपये मूल्य की प्रसाधन सामग्री और ऊनी वस्त्र इकट्ठे किए।

अरुणांचल में शिलांग के ठेलैट्स क्लब की महिलाओं ने, अरुणांचल राज्य बोर्ड की अध्यक्षा के नेतृत्व में, ३ दिसम्बर, १६७१ से ही युद्ध प्रयासो मे अपना निरंतर योगदान···देना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होने प्राथमिक चिकित्सा कक्षाओं का संगठन किया, ब्लैक आउट सबंधी निर्देशो का पालन कराने मे अधिकारियों की सहायता की, लोगों को रक्त दान के लिए प्रेरित किया, अस्पतालों में वे घायलों को देखने गए, घायल जवानों मे उन्होंने पाठ्य सामग्री, फल, सिगरेट, अन्तर्देशीय पत्र, बिजली के हीटर, मिट्टी के वर्तन और जुराबें वितरित की। उन्होने सैनिक अस्पतालों मे एम्प्लीफायर और लाउडस्पीकर लगाए। अब वे अपग सैनिकों के घर वापस लोटने पर एक नई चुनौती का सामना करने के लिए अपने को तैयार कर रहे है।

राज्य प्रतिज्ञा समितियों के साथ युद्धयोग

जवानो के परिवारों के साथ सपर्क स्थापित करने और राज्य सरकार द्वारा स्थापित राज्य प्रतिरक्षा समितियों के साथ सक्रिय सहयोग करने के अलावा, आन्ध्रप्रदेश की स्वेक्षिक सस्थाओ ने स्थानीय कपडा मिलों से ५ हजार रुपये से अधिक का कपड़ा इकट्ठा किया और जवानों के परिवारों मे वितरण के लिए इसके वस्त्र तैयार किए। जवानों और उनके परिवारो की न्यूनतम आवश्यकताओं की शर्तें हेतु धन सग्रह के लिए वे फिल्म शो और चेरिट शो का आयोजन कर रहे हैं। वे कानपुर की ऊन मिलों से रियायती कीमतों पर ऊन उपलब्ध कराने के लिए उत्तर प्रदेश राज्य बोर्ड के साथ संपर्क स्थापित कर रहे हैं।

सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रयासों का ही यह परिणाम है कि तमिलनाडू के लोग राज्य सरकार और सैनिक अधिकारियों के साथ मिलकर काम कर रहे हैं। उन्होंने सैनिकों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने की दृष्टि से सरकारी अधिकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, व्यापारियों तथा सैनिक अधिकारियो की बैठकों का आयोजन किया है। उन्होंने सैनिकों के लिए सामान इकट्ठा किया है, उनके लिए अस्पतालों में सेवाएं उपलब्ध कराई है और रक्तदान के आन्दोलन को बढ़ावा दिया है।

पंजाब के कनिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता

पंजाब मे स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं ने हास्पिटल वेलफेयर सोसाइटी और पंजाब की केन्द्रीय नागरिक परिषद के साथ मिलकर जवानों के लिए सुविधाएं उपलब्ध कराई है। परिवार और बाल कल्याण परियोजनाओं को कार्यकारी समितियो ने जिला अधिकारियों के साथ मिलकर काम किया और जवानों के कल्याण के लिए अधिक से अधिक सहायता दी। उन्होने जवानो के लिए कैंटीनों का सगठन किया और उन सैनिकों को चिकित्सा सेवाएं उपलब्ध कराई, जिन्हे इनकी आवश्यकता थी। उन्होने रक्त दान के लिए वातावरण तैयार किया और जवानों के लिए धनराशि एकत्रित की तथा अन्य सामान जुटाया। उन्होंने युद्ध मे वीरगति प्राप्त या अपग सैनिकों को संभव सहायता पहुँचाने की दिशा मे शानदार काम किया और उनके परिवारों के पुनर्वास के लिए समूचित योजनाएं बनाईं।

माधापुर गांव की महिलाओं का प्रशंसनीय कार्य

हाल के हिन्द-पाक सघर्ष मे जब दुश्मन के हवाई हमलों से हमारे एक हवाई अड्डे को भीषण क्षति पहुँची तो भुज-खवाड-बन्नी परिवार और बाल कल्याण परियोजना के मुख्य केन्द्र माधापुर गाव की लगभग १५० कामकाजी महिलाओं ने प्रतिरक्षा अधिकारियो के अनुरोध पर तत्काल ही नजदीक के गांवों से ट्रकों तथा अन्य

आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध किया और बिना कुछ पारिश्रमिक लिए चार दिन के अन्दर हवाई पट्टी की मरम्मत कर दी। प्रतिरक्षा अधिकारियों के आकलन के अनुसार उन्हें इस प्रकार की मरम्मत में एक महीने से ऊपर लगता।

गुजरात बोर्ड की अध्यक्षता का दौरा

गुजरात राज्य बोर्ड की अध्यक्षा ने युद्ध-पीडित लोगों से मिलने के कुछ, बनासकण्ठा और जामनगर जिलों के सीमावर्ती गांवों का निरीक्षण किया। वह दन्तिवाडा, भुज, जामनगर, अहमदाबाद, ध्रंगाध्रा और ओखा मे सेना मुख्यालय के सैन्य अधिकारियों से मिली ताकि शत्रु के हवाई और समुद्री हमलो के कारण क्षतिग्रस्त समुद्र-तटवर्ती गांवो मे कल्याण विस्तार परियोजनाए संचालित की जा सके और गाव वालों के मनोबल को ऊचा उठाया जा सके। इन क्षेत्रो मे दर्जीगिरि और बुनाई के एकक, बालवाडी तथा महिला मडल और महिलाओ के लिए वयस्क साक्षरता कक्षाए स्थापित करने का प्रस्ताव है।

जवानों के परिवारों के लिए कल्याण कोष

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने सारे देश के स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं को सक्रिय करने, बाहरी आक्रान्ताओ की चुनौती का सामना करने तथा बाढ़ और तूफान जैसी दैवी विपत्तियों का मुकाबला करने के अलावा, सभी अवसरों पर स्फूर्तिमान नेतृत्व प्रदान किया है। युद्ध में मारे गए या अपग हुए जवानों के परिवारो पुनर्वास की चुनौती का सामना करने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने शिक्षा के संक्षिप्त पाठ्यक्रम और उत्पादन एकक जैसे विशिष्ट कार्यक्रम शुरू करने के लिए सन् १९७१-१९७२ में अपने बजट में से ६.५ लाख रुपये की धनराशि निर्धारित की है। समस्या की विशालता को देखते हुए यह धनराशि अपर्याप्त है, इसलिए बोर्ड ने जवानों के परिवारो के लिए कल्याण कोष की स्थापना की है और बोर्ड की अध्यक्षता ने इस कोष मे दिल खोलकर दान देने के लिए जनता से अपील की है। विशिष्ट आवश्कताओं और स्थानीय परिस्थितियों को दृष्टि मे रखते हुए और कल्याण योजनाए शुरू की जाएगी। बोर्ड द्वारा सहायता प्राप्त ६ हजार संस्थाओं के अलावा, अब भी बहुत से लोगो की विशाल सख्या ऐसी है जो समाज की सेवा के लिए आतुर हैं, परन्तु नेतृत्व और समुचित मार्गदर्शन के अभाव मे उसका प्रभावकारी और ठीक ढंग से उपयोग नही किया जा सका है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड देश भर के सामाजिक कार्यकर्ताओ और स्वेच्छिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करने का सदैव यत्न करता रहा है ताकि वे न केवल समाज के दुर्बल वर्गों के लिए विशिष्ट कार्यक्रम सगठित करने की दिशा मे अपने प्रयासों को एकजुट कर सके बल्कि राष्ट्रीय स्थानीय स्तरों पर मानव या प्रकृति द्वारा प्रस्तुत चुनौती का सामना करने के लिए समुचित वातावरण की दृष्टि कर सके और जनता को प्रोत्साहित कर सकें।

शोध-कण

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दी साहित्य के कवियों का अभी तक जो इतिवृत्त संकलित हुआ है, उसमे बहुत से कवियों का इतिवृत्त संकलित नहीं हो सका, इतना ही नहीं किन्तु उनका नाम और रचनादि का कोई परिचय नही लिखा गया। उसका कारण तद्विषयक अनुसन्धान की कमी है। अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा मे जैनियो का बहुत सा साहित्य रचा गया है जिस पर तुलनात्मक और समालोचनात्मक निबन्धों के लिखे जाने की आवश्यकता है। वर्तमान मे हिन्दी साहित्य पर जो थीसिस (निबन्ध) लिखे जा रहे हैं, जिन पर लेखको को यूनिवर्सिटियो से पी० एच० डी० की डिग्री मिलती है। उन थीसिसो मे अनेक स्थूल और भद्दी भूले रहने पर भी उनको सुधारने

की ओर कोई कदम नही उठाया जाता, और न उनका निर्णय करने वाले विद्वान उन निबन्धों का आद्योपान्त अध्ययन ही करते है इसलिए परिमार्जन की ओर उनका ध्यान जाता ही नही। ऐसी स्थिति मे उन निबन्धो मे निहित भूलों का परिमार्जन नही हो पाता, और वे भूलें बराबर बनी रहती है। यहाँ एक ऐसे ही निबन्ध की भूल की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो निबन्ध 'अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद' पर लिखा गया है। जिसके लेखक है डा० वसुदेव सिह एम० ए०। यह शोध प्रबंध सं. २०२२ मे प्रकाशित भी हो चुका है। मैंने उसकी एक प्रति अभी मुन्शीलाल, मनोहरलाल नई सडक से खरीदी है। उसके तृतीय अध्याय के पृष्ठ १२२ पर (१६) पाडे हेमराज शीर्षक के नीचे उनका और उनकी कृतियों का परिचय कराया गया है। जिसमे हेमराज नाम के दो विभिन्न जातियो के विद्वानो को एक हेमराज के रूप मे संकलित कर लिया है और दोनो की रचनाओं को भी एक हेमराज की रचना मान ली गई हे।

साथ ही आगरावासी पाडे हेमराज अग्रवाल का परिचय और सागानेर तथा कामावासी हेमराज खंडेलवाल गोदिका परिचय दोनों को एक रूप मे सम्बद्ध कर दिया है। अनेकान्त पत्र में द्वितीय हेमराज ने अपने प्रवचनसार के पद्यानुवाद में लिखा है कि इसके सम्बन्ध में पहले संकेत भी किया जा चुका है लेखक ने इस संबध में कोई अन्वेषण नही किया, और न यह सोचने-समझने का प्रयत्न ही किया है कि आगरावासी हेमराज की प्रवचनसार की गद्यटीका[1] (सं० १७०६) को देखकर जो बनाई उसे देखकर कामावाले हेमराज गोदिका ने प्रवचनसार का पद्यानुवाद[2] करने का उल्लेख किया है[1]।

१. सत्रहसै नव ओतरै माघमास सित पाख।
पंचमि आदितवार को पूरन कीनो काम।

२. सत्रहसै पच्चीसको वरतै सवत सार।
कातिक सुदि तिथि पचमी पूरन सभी विचार।
—प्रवचनसार पद्यानुवाद टीका

३. पांडे हेमराज कृत टीका पढ़त बढ़त सबका हित नीका
गोपि अरथ परगट करि दीनो, सरल वचनि का रचि सुख लीन्हों।

प्रवचनसार टीका हेमराज गोदिका स. १७२५ में प्रस्तुत हेमराज गोदिकाने आगरे वाले हेमराजकी टीका को देखकर प्रवचनसार का पद्यानुवाद बनाया है। प्रथम हेमराज की रचना प्रवचनसार टीका, भक्तामर स्तोत्र पद्यानुवाद, श्वेताम्बर चौरासीबोल, समयसार टीका, कर्मप्रकृति टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है। और दूसरे हेमराज ने प्रवचनसार पद्यानुवाद, दोहा शतक आदि ग्रथ लिखे है। इस सक्षिप्त परिचय पर से डा० वासुदेवसिंह अपनी भूल का परिमार्जन करने मे समर्थ हो सकेगे।

यह तो थीसिस की सबसे स्थूल भूल का नमूना मात्र है। जिसमें दो विभिन्न जातीय विद्वानो के माता-पिताओं, स्थानो और कृतियों को एक ही बतलाया गया है, जिससे स्पष्ट जान पडता है कि लेखक ने इस पर शोध करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्यथा ऐसी स्थूल भूल नही हो सकती थी। अब लेखक की दूसरी भूल का परिचय देखिए।

इसी प्रबन्ध के पृष्ठ ८६–८७ पर भगवतीदास का परिचय देते हुए लिखा है कि—"प० परमानन्द शास्त्री ने भगवतीदास नाम के चार विद्वानों की कल्पना की है। आपके मत से प्रथम भगवतीदास पाण्डे जिनदास के शिष्य थे दूसरे बनारसीदास के मित्र थे। तीसरे अम्बला के निवासी और प्रसिद्ध कवि तथा अनेक ग्रंथो के रचयिता थे और चौथे भैया भगवतीदास १८वी शताब्दी के कवि थे शास्त्री जी का यह अनुमान अस्पष्ट और कथन परस्पर विरोधी है। बनारसीदास के मित्र भगोतीदास और कवि भगोतीदास को भिन्न-भिन्न व्यक्ति क्यों माना गया शास्त्री जी ने इसका कोई कारण नहीं बतलाया।"

इस प्रबन्ध के लेखक डा० वासुदेवसिंह जी ने जो निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है, वह युक्त युक्ति नही है। क्योंकि मैनें अपने भगवतीदास नाम के चार विद्वान नामक के लेख मे उनका आधार भी दिया है और लिखा है एक 'पाण्डे जिनदास के गुरु ब्रह्मचारी भगवतीदास थे'। मैंने अपने लेख में यह कही नही लिखा कि—"प्रथम

× × ×

पाडे हेमराज उपगारी नगर आगरे मे हितकारी।
तिन यह प्रथसटीक बनायो बालबोधकरि प्रगट दिखायो।
—वही प्रवचनसार टीका प्रशस्ति

१. देखे अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६, पृ० ५४।

भगवतीदास पाण्डे जिनदास के शिष्य थे।'' यह वाक्य आपने कैसे लिखा ? मैंने ब्रह्मचारी भगवतीदास को पाण्डे जिनदास का शिष्य नहीं गुरु लिखा है। अतः यह आपकी दूसरी भूल है। मैंने तो पाण्डे जिनदास के जम्बू स्वामी चरित की प्रशस्ति का निम्न वाक्य भी प्रस्तुत किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डे जिनदास ब्रह्म भगवतीदास के शिष्य थे। "ब्रह्मचारी भगोतीदास, ताको शिष्य पाण्डे जिनदास।" अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी भगवती दास के शिष्य जिनदास थे न कि जिनदास के शिष्य भगवतीदास। ऐसी उल्टो मान्यता की कल्पना आपने कैसे करली, इसका कोई प्रमाण उपस्थित नही किया। लेखक को चाहिए कि वह अपने इस विपरीत कथन की पुष्टि मे कोई ठोस प्रमाण उपस्थित करे। अन्यथा अपनी भूल स्वीकार करें।

दूसरे यह भी विचारणीय है कि पाडे जिनदास के गुरु भगवतीदास सं० १६४० से पूर्व के विद्वान है। उनका कोई परिचय अभी तक नही मिला। सम्भवतः इन ब्रह्मचारी भगवतीदास से बनारसीदास का परिचय भी नही हुआ जान पडता। क्योकि इनके शिष्य जिनदास ने स० १६४० मे जम्बूस्वामी चरित बनाया, तब बनारसीदास का जन्म भी नही हुआ था।

दूसरे भगवतीदास जिन्हे बनारसीदास ने नाटक समयसार प्रशस्ति मे 'सुमति भगोतीदास' लिखा है। और प० हीरानन्द जी ने पचास्तिकाय की प्रशस्ति मे 'तहाँ भगोतीदास है ज्ञाता' रूप से उल्लेख किया है। वे कौन से भगोतीदास हैं, और कहाँ के निवासी हैं, कुछ कुछ ज्ञात नहीं होता। बूढ़ियावाले तृतीय भगवतीदास का सम्बन्ध आगरा से जरूर रहा है।

रहे तीसरे भगवतीदास जी बूढ़िया जि० अम्बाला के निवासी थे उनकी जाति अग्रवाल थी, उनके पिता का नाम किसनदास था। वह दिल्ली गद्दी के भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे।

पर इन्होने बनारसीदास का उल्लेख तक नहीं किया। और न अन्य सूत्रों से ही ज्ञात हो सका कि प्रस्तुत भगवतीदास बनारसीदास की गोष्ठी के विद्वान हैं। भट्टारक विद्वान होने के नाते इनसे उनका साक्षात्कार भी नहीं हुआ जान पडता।

यह भगवतीदास आगरा में जरूर रहे है[१]। स. १६५१ मे उन्होने अर्गलपुर जिन वन्दना नाम की रचना बनाई थी, वहाँ के मन्दिरों का दर्शन किया। उनके साथ रामनगर के अनेक सज्जन उस यात्रा मे साथ थे। स० १३९६ में आगरा मे उन्होंने कोई ग्रथ भी लिखाये। इनकी रचनाएँ सं० १६५१, १६६४, १६८०, १६८७ १७०१ और अन्तिम रचना स० १७०४ मे सुलतानपुर (आगरा) मे लिखी गई यह दीर्घजीवी विद्वान थे। यह भट्टारकीय विद्वान थे तथा कवि थे।

इन्हें डाक्टर साहब ने अम्बाला का निवासी लिखा है, यह अम्बाला के निवासी नहीं है। यह जगाधरी के पास बूढिया के निवासी हैं पहले यह सम्पन्न कस्बा था। अब यह खंडहरों मे परिणत होगया है। यह कस्बा पजाब मे था, और उसका जिला अम्बाला है। जिला मे रहने से कवि अम्बाला के निवासी नहीं कहे जा सकते।

चतुर्थ भगवतीदास ओसवाल थे[३]। और अध्यात्म विषय के अच्छे विद्वान थे, उनकी कविता प्रौढ़ है। और अध्यात्म रस से सरावोर है। यह १८वी शताब्दी के विद्वान हैं और ब्रह्मविलास के कर्ता हैं। इनका गोत्र कटारिया था। ब्रह्मविलास मे इनकी ६७ रचनाओं का— सं० १७३१ से १७५५ तक का संकलन है।

पाठक देखे इनके परिचय मे क्या असमंजस और असम्बद्धता है यह पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। वे इसे पढ़कर डा० वासुदेवसिंह की सम्बद्धता का अच्छा परिचय पा सकेंगे। और इससे उनका भी समाधा न हो सकेगा।

---

१. सवत्सर सोरहसैभए चालीस तास ऊपर ह्वै गए।
भादोवदि पांचमि गुरुवार, ता दिन कियो कथा उच्चार।

२. नगर बूडिए वसै भगोती, जन्मभूमि है आसि भगोती।
अग्रवाल कुलवंसल गोती, पडित पद जन निरख भगोती
—सीतासतु प्रशस्ति

इनका विशेष परिचय के लिए देखे।
—अनेकान्त वर्ष २०, किरण २, पृ० १०४

३. इनके परिचय के लिए देखें।
—अनेकान्त वर्ष १४, किरण १० पृ० २२७ और ३५६

उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र

परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय इतिहास में अहिच्छत्र का प्राचीन नगर के रूप में उल्लेख मिलता है। यह नगर उत्तर पाचाल की राजधानी था। यहाँ अनेक राजाओं ने राज्य किया है। अहिच्छत्र भगवान पार्श्व नाथ की वह तपो भूमि थी, जहा उन्होने ८४६ ईसवी पूर्व पापी कमठ के जीव द्वारा किये गए घोर उपसर्गों को सहा था। और घरणेन्द्र पद्मावती ने उसका निवारण किया था। उपसर्ग दूर होते ही पार्श्वनाथ को कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। उसी समय से इसका नाम अहिच्छत्र पडा।

महाभारत के अनुसार पांचाल का विशाल क्षेत्र हिमालय पर्वत से चम्बल नदी तक विस्तृत था। उत्तरीपाँचाल या रुहेलखण्ड की राजधानी अहिच्छत्र थी। और दक्षिण पाचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। महाभारत के युद्ध से पूर्व (१४३० ईसवी के लगभग) पाचाल में द्रुपद नाम का राजा राज्य करता था। कौरव-पाण्डवके गुरु द्रोणाचार्य ने उस पर विजय प्राप्त की थी। द्रोण ने उत्तरी पाचाल पर स्वय अधिकार कर लिया था। परन्तु राज्य का दक्षिणी भाग द्रुपद को वापिस कर दिया था। अहिच्छत्र जिस जनपद की राजधानी थी उसका नाम महाभारत मे एक स्थान पर अहिच्छत्र विषय उल्लिखित है:—

> अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ।
> एवं राजन्नहिच्छात्रा पुरी जनपदा युता ॥

उत्तर और दक्षिण पंचाल की सीमा के मध्य गगा नदी थी। किन्तु उत्तरी पांचाल की सीमा निश्चित नही थी। संभवत: हिमालय पर्वत उसकी उत्तरी सीमा का निर्मापक रहा हो।

वैदिक साहित्य में अहिच्छत्र का नाम 'परिचक्रा' मिलता है। हो सकता है कि उस समय इस नगर का स्वरूप चक्राकार या गोलाकार रहा हो। महा भारत काल मे परिचक्रा के स्थान पर अहिच्छत्र' नाम रूढ हो गया था। किन्तु यह जिस जनपद की राजधानी थी उसका नाम 'पाचाल' था। पुराणों मे जनपद का पांचाल नाम पडने का कारण एक राजा के पाच लडके थे। उनमें राज्य के पांच भाग बाटे जाने के कारण इसे 'पांचाल संज्ञा प्राप्त हुई। हो सकता है इसका और अन्य कोई कारण रहा हो, विष्णु पुराण मे लिखा है कि जिस राज्य के संरक्षण करने के लिए पांच समर्थ व्यक्ति यथेष्ट हों उस राज्य की संज्ञा 'पाचाल है' 'पञ्च अलं इति पंचालम्।

यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यको तथा उपनिषदों में देश तथा उसमे निवास करने वाले लोगो के लिए पचाल नाम का उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती सस्कृत साहित्य, पाली निकाय ग्रथों और जैन साहित्य मे पंचाल के अनेक उल्लेख मिलते है।

प्राचीन अहिच्छत्र नगर के अवशेष उत्तर प्रदेश के बरेली जिले मे वर्तमान राम नगर गाव के समीप टीलों मे बिखरे पड़े है। अहिच्छत्र पहुँचने के लिए पहले बरेली से आवला नामक स्टेशन जाना पड़ता है। और आवला से कच्ची सडक द्वारा १० मील उत्तर मे मोटर या तांगे से चलकर अहिच्छत्र पहुँचते है। इस पुरातन नगरी के ढूह कई मील के विस्तार में फैले हुए है। रामनगर से लगभग डेढ़ मील आगे अहिच्छत्र के पुराने अवशेष मिलते हैं। यह किला आजकल आदि कोट के नाम से प्रसिद्ध है। इस किले के सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि इसे राजा आदि ने बनवाया था, और वह जाति से अहीर था। एक दिन वह किले की भूमि पर सोया हुआ था, उसके ऊपर एक नाग ने छाया कर दी थी। द्रोणाचार्य उसे इस

---

१. विमल चरण लाहा पंचालज एण्ड देयर केपिटल 'अहिच्छत्रा' (मेवायर आफ दि आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया सख्या ६७) पृ० १-३।

अवस्था में देखकर भविष्य वाणी की था कि वह किसी दिन उत्तर प्रदेश का राजा होगा। कहते हैं कि वह भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई, और वह इस नगर का राजा बना। कोट का वर्तमान घेरा साढ़े तीन मील के लगभग है। इस किले के चारों ओर एक चौड़ी परिखा खाई थी जिसमें पानी भरा रहता था। खाई के चिन्ह अब भी दिखाई पड़ते हैं। पुराने कोट के टीले रामनगर के आस-पास तक फैले हुए हैं। ये टीले प्राचीन मंदिरों, स्तूपों और अन्य इमारतों के सूचक जान पड़ते हैं।

बौद्धों ने उक्त जनश्रुति मे परिवर्तन किया। क्यों कि ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि नगर के बाहर नागह्रद अथवा सर्प सरोवर था जिसके समीप बुद्ध ने सात दिवस तक नागराज के पक्षमें प्रचार किया था। और सम्राट् अशोक ने इस स्थान पर स्तूप बनवाया था मेरा अनुमान है कि बौद्ध कथा मे नागराज को फण फैलाकर बुद्ध पर साया करते दिखलाया गया है मेरा यह भी विचार है कि उक्त घटना के स्थान पर बनाए गए स्तूप का नाम अहिच्छत्र (सर्पछत्र) रखा होगा।

पार्श्वनाथ बनारस के राजा विश्वसेन और वामा देवी के पुत्र थे। पार्श्वनाथ कुमार अवस्था मे एक दिन गंगा नदी के तट पर घूमने गए। वहां उन्होने कुछ तपसियो को अग्नि जलाकर तप करते देखा। पार्श्वनाथ ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह जानकर उन्होने तापस से कहा कि जलती हुई लकड़ियों मे नाग नागिनी का एक युगल है। लकड़ी चीरने पर उसमे से सर्प युगल निकला। पार्श्वनाथ ने उन्हे मरणासन्न जानकर पच नमस्कार मत्र उनके कान में पढ़ा। उसके प्रभाव से वह युगल मर कर नाग कुमार देवों का अधिपति धरणेन्द्र और पद्मावती हुआ। इस घटना के बाद पार्श्वनाथ दीक्षित हो गए। विहार करते हुए वे अहिच्छत्र पहुँचे।

वास्तव मे यह घटना सन् ८७६ ईसवी पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तपस्वी जीवन से सम्बन्धित है। बुद्ध तो उस समय पैदा भी नही हुए थे। और न उनके जीवन के साथ ऐसी कोई घटना ही घटी है। ऐसी स्थित में बौद्धों के साथ इस घटना का सम्बन्ध बतलाना उचित प्रतीत नही होता। जब वे अहिच्छत्र में ध्यानस्थ थे उस समय कमठ का जीव संवर देव विमान में कहीं जा रहा था। उसका विमान इकाइक रुक गया, उसने नीचे उतरकर देखा तो उसे पार्श्वनाथ दिखाई पड़े। उन्हें देखते ही उसके पूर्व भव का वैर स्मृत हो उठा, पूर्व वैर के स्मृत होते ही उनने क्षमाशील पार्श्व नाथ पर घोर उपसर्ग किया। इतनी अधिक वर्षा की कि पानी पार्श्वनाथ की ग्रीवा तक पहुँच गया, किन्तु फिर भी पार्श्वनाथ अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। तभी धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और उसने अवधिज्ञान से पार्श्वनाथ पर भयानक उपसर्ग होना जानकर तत्काल धरणेन्द्र पद्मावती सहित आकर उन्हें ऊपर उठाकर उनके सिर पर फण का क्षत्र तान दिया। उपसर्ग दूर होते ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। पश्चात् उस सम्बर देव ने भी उनकी शरण मे सम्यकत्व प्राप्त किया। और अन्य सात सौ तपस्वियो ने भी जिन दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया। इस घटना का उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में किया है।

अहिच्छत्र का उल्लेख आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू [शक सं० ८८१—वि० सं० १०१६] के उपासकाध्ययन मे किया है[1]।

हरिषेण ने अपने कथाकोश की १२वीं कथा मे अहिच्छत्र के राजा दुर्मुख का उल्लेख किया है[2]। और २० वी कथा मे केवल अहिच्छत्र का उल्लेख ही नहीं किया किन्तु वहाँ के राजा वसुपाल ने एक उत्तुग सहस्त्र कूट चैत्यालय का निर्माण कराया था और भगवान पार्श्वनाथ की एक सुन्दर कलात्मक मूर्ति तय्यार कराकर उसमें विराजमान की थी। राजा ने एक कलाकार द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति का निर्माण कराया, किन्तु वह उसे पूरी नही बना सका। और भी अनेक कलाकार आए, पर वे भी उसे बना नहीं सके। बहुत दिनों बाद दूसरा कुशल

---

१. पाञ्चाल देशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथ परमेश्वरयशः प्रकाशने मन्त्रे अहिच्छेत्रे चन्द्राननाङ्गनारतिकुसुम चापस्य द्विष तपस्य भूपते रुदितोदित.........।
—उपासकाध्ययन पृ० ८४

२. अहिच्छत्रपुरे राजा दुर्मुखोऽभवदिद्धधी।
—हरिषेण कथाकोश पृ० २२

कलाकार आया वह विनीत वेश में राजा के सामने उप. स्थित हुआ। राजा ने बड़े क्रोध में उससे कहा। कलाकार देखो, हमने अनेकों कलाकारों को असीम धन दिया, किन्तु वे मूर्ख थे इसीलिए मूर्ति का निर्माण नहीं कर सके। तुम अद्भुत चित्रकार के रूप में आए हो, अतः इस प्रतिमा को शीघ्र तय्यार करो। इस उपलक्ष मे मैं तुम्हें बहुत धन दूंगा। यदि तुम कला में पारंगत न हो तो इसी समय यहां से चले जाओ। कलाकार ने कहा कि आप अब अधिक न कहिए। मैं प्रतिमा तय्यार करता हूँ। राजा ने कलाकार को ताम्बूल देकर विदा किया। कलाकार घर चला गया। वहां उसने बड़ी भक्ति से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की, और वहां स्थित आचारनिष्ठ मुनि का स्तवन किया। और गुरु के समक्ष बैठकर भक्ति से उनकी विनय करने लगा। उसने मुनिराज से निवेदन किया, कि हे मुनि नाथ! जब तक भगवान पार्श्वनाथ की पूजा नही हो जाती तब तक के लिए मुझे मद्य, मास, मधु, पंचोदुम्बर फल, दूध, दही घी, और स्त्री सेवन के त्याग का नियम प्रदान कीजिए। कलाकार की इच्छानुसार मुनि ने कलाकार को व्रत दिए और उनका विधि-विधान भी बतलाया। कलाकार अपने घर लोट आया। और सर्वलक्षण-सम्पन्न, सर्वाङ्ग सुन्दर पार्श्वनाथ की प्रतिमा का निर्माण किया। जब राजा वसुपाल ने उस नव निर्मित प्रतिमा के दर्शन किए तब उसका शरीर हर्ष से भर गया। उसने उस कलाकार को विपुल धन दिया[३]।

विविध तीर्थकल्प मे अहिच्छत्र नगर का प्राचीन नाम-'संख्यावती' लिखा है। जो कुरुजांगल प्रदेश की राजधानी थी। उसमे लिखा है कि जब भगवान पार्श्वनाथ उक्त संख्यावती नगरी मे ठहरे हुए थे। तब कमठ नामक दानव ने उनके ऊपर वर्षा की झडी लगा दी। जब नागराज धरणेन्द्र को यह बात मालूम हुई तब वह सपत्नीक उस स्थान पर आया, जहां पार्श्वनाथ ध्यानस्थ थे। उसने भगवान के शरीर को चारों ओर से परिवेष्टित कर लिया। और फणो द्वारा उनके शिर की रक्षा की। अतः उसका नाम अहिच्छत्र लोक में प्रसिद्ध हुआ[१]।

उत्तरपुराण में भी पार्श्वनाथ के उपसर्ग निवारण का उल्लेख है। और उपसर्ग दूर होते ही केवलज्ञान प्राप्ति का वर्णन किया गया है[२]।

दक्षिणी पंचाल की राजधानी काम्पिल्य में दशवाँ चक्रवर्ती हरिषेण हुआ और बारहवाँ चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त। रामायण में भी पांचाल के राजा ब्रह्मदत्त की चर्चा मिलती है।

महाभारत युद्ध के बाद उत्तर पांचाल तथा अहिच्छत्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नही होता। कहा जाता है कि पंचाल के उत्तर पश्चिम मे नाग जाति का प्राबल्य हुआ और इस जाति के नेता द्वारा परीक्षित की मृत्यु हुई। कुरु पांचाल जनपद पर उसका क्षणिक प्रभुत्व रहा। परन्तु जन्मेजय ने उन्हें बड़ी संख्या में विनष्ट किया।

सोलह जनपदो मे पचाल का नाम आया है। इनमें पंचाल जनपद के दो भाग बतलाये गए हैं। उत्तर और दक्षिण। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण की राजधानी काम्पिल्य थी। इन जनपदों की स्थिति बहुत काल तक एक सी न रह सकी। इनमे से

३.

१. इहेव जंबूद्दीवे भारहेवासे मज्झिमखंडे कुरु जगल जणवए सखावई णाम नगरी रिद्धसमिद्धा होत्था। तत्थ भयव पाससामी छउमत्थविहारेण विहरंतो काओसग्गे ठिओ। पुव्वनिबद्धवेरेण कमठासुरेण अविच्छिन्नधारापवाऐहिं वरिसंतो अबुहेरो विउव्विओ। तेण सयले महिमडले एगवण्णवीभूए आकंठमग्गंगं भगवंतं ओहिणा आभोएऊण पचग्गि साहणुज्जय कमढमुणि आणाविअकट्ठखोडीअंतरडज्झत सप्पभवउवयारं सुमरंतेण धरणिदेण नागराएण अग्गमहिसीहिं सह आगंतूण मणिरयण चिचइअं सहस्सफणा मडलछत्तं सामिणो उवरिंकरेऊण हिट्ठे कुंडलीकय भोगेण संगिण्हिअ सो उवसग्गे निवारिओ। तओ परंतीमे णयरीए अहिच्छत्त त्ति नामं संजायं।

—विविधतीर्थकल्प पृ० १४

२. देखो, उत्तरपुराण ७३।१३९—१४४ श्लोक, पृ० २३८।

कुछ ने दूसरों को दबाना या उन पर अधिकार करने का प्रयत्न करना शुरू कर दिया। महात्मा बुद्ध के समय तक मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति। ये चार राज्य उत्तर भारत में अवशिष्ट थे। शेष की स्थिति गौण हो गई। बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष बाद शायद पंचाल स्वतन्त्र रहा। चौथी शताब्दी ई० पूर्व मे उसे महापद्म-नन्द ने मगध साम्राज्य में मिला लिया। नन्दों के बाद पंचाल क्रमशः मौर्य और शुंग शासन के अन्तर्गत रहा। शुंग कालीन जिन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में बड़ी संख्या मे मिले हैं। उनके नाम अग्नि मित्र, भानु मित्र, भद्रघोष, जेठ मित्र, भूमि मित्र आदि मिलते है।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ में उत्तर पांचाल का राजा आषाढसेन था, जिसके समय के दो लेख कोशाम्बी के पास पभोसा से मिले है[1]। एक लेख मे आषाढसेन को राजा वृहस्पति मित्र का मामा बताया गया है[2]। मित्रवशी शासकों के बाद अच्युत नाम के राजा का पता चलता है। इसके सिक्के अहिच्छत्र तथा रुहेलखण्ड के अन्य कई स्थानो से प्राप्त हुए है। सम्भवतः यह वीर राजा था। जिसे सम्राट् समुद्रगुप्त ने परास्त कर पचाल पर अपना अधिकार कर लिया था और तब से पचाल गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत रहा जान पड़ता है। क्योंकि अहिच्छत्र के उत्खनन मे एक मुहर मिली है जो गुप्त कालीन है, जिससे स्पष्ट है कि अहिच्छत्र गुप्त साम्राज्य की भुक्ति बना[3]। गुप्त काल मे अहिच्छत्र बड़े नगर के रूप में रहा ज्ञात होता है। इस काल की अनेक कला-कृतियाँ वहाँ मिली है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अहिच्छत्रा के मुक्ताओं का उल्लेख किया है[4]। इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः उस समय अहिच्छत्र नगर मुक्ता व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध हो गया था।

अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया। विविध प्रान्तों में शासक स्वतन्त्र रहने लगे। उत्तर भारत में राजनैतिक अस्थिरता मुखरित हो उठी। और सन् १८५ ई० पूर्व अन्तिम मौर्य शासक वृहद्रथ को मार कर पुष्पमित्र ने शुंग साम्राज्य की स्थापना की। अन्य प्रदेशो की तरह पांचाल भी स्वतन्त्र हो गया। यह स्वतन्त्रता लगभग २०० ई० पूर्व प्राप्त हुई। उस समय से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी के मध्य तक पाचाल मे कई राजवंशों ने शासन किया। इन राजाओं की राज-धानी अहिच्छत्र ही रही। अहिच्छत्र मे और उसके आस-पास जो सिक्के मिले है। उनसे ज्ञात होता है कि ई० पूर्व २०० के लगभग ५० ईस्वी पूर्व तक अहिच्छत्र पर पाल और सेन नाम के राजाओ ने शासन किया है। मगध शुगवशी शासको के साथ इनका क्या सम्बन्ध था यह कुछ ज्ञात नही हुआ। गुप्त नाम वाले रुद्र गुप्त, जय गुप्त और दास गुप्त। तीन शासको के सिक्के मिले है। पाल वंशी राजाओ मे बगपाल का नामोल्लेख मिलता है। इनका समय ईस्वी पूर्व दूसरी सताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। बगपाल के उत्तराधिकारी विश्वपाल यज्ञपाल हुए। इनके नाम सिक्कों से ही ज्ञात हो सके हैं।

अहिच्छत्र मे अभिलिखित कुशान कालीन जो बुद्ध प्रतिमा मिली है, वह मथुरा के लाल बलुए पत्थर की है। उसकी निर्माण शैली से स्पष्ट है कि वह मथुरा से अहिच्छत्र लाई गई होगी। कुषाण काल मे मथुरा मूर्ति-निर्माण कला का बडा केन्द्र हो गया था। कुशाण काल में निर्मित मूर्तियाँ पश्चिमोत्तर मे तक्ष शिला से लेकर पूर्व मे सारनाथ तक और उत्तर मे श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में सांची तक भेजी जाती थी। उस काल की निर्मित मूर्तिया सुन्दर एव कलापूर्ण होती थी। उन्हें देखते

---

१. अधिछत्रा या राज्ञो शोनकायन पुत्रस्य वंगपालस्य, पुत्रस्य राज्ञो तेवणी पुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण, वैहिदरी पुत्रेण आषाढसेनेन कारित।"

२. दूसरे लेख में आषाढसेन को राजा वृहस्पति मित्र का मामा कहा गया है।
एपि ग्राफिया इण्डिका। जिल्द २ पे० २४०-४१

(क) राज्ञो गोपालीपुत्रस, बहसति मित्रस मातुलेन गोपाली या वैहिदरीपुत्रेन [आसा] आसाढ़सेनेन लेन कारित [उदाकस] दसमे सवछरे कश्शयीमानं अरह [त] व। —जैन लेख स० भ० २ पृ० १३

३. 'श्रीअहिच्छत्रा भुक्तो कुमारामात्यकारणस्य'
देखो अहिच्छत्रा—कृष्णदत्त वाजपेयी संग्रहाध्यक्ष मथुरा पृ० ११

४. देखिए अर्थशास्त्र का शामशास्त्री सस्करण।

ही दर्शक का हृदय हर्षोफुल्ल हो जाता था। अहिच्छत्र में भी मूर्तियों का निर्माण होता था। जैसा कि हरिषेण कथा कोष की १२वीं कथा से जान पड़ता है[1]।

अहिच्छत्र के विद्वान पात्र केसरी

अहिच्छत्र के निवासी पात्रकेसरी ब्राह्मण विद्वान थे[2]। जो वेद वेदांग आदि मे निपुण थे। उनके पाचसौ विद्वान शिष्य थे। जो अवनिपाल राजा के राज्य कार्य मे सहायता करते थे। उन्हे अपने कुल (ब्राह्मणत्व) का बडा अभिमान था। पात्रकेशरी प्रातः और सायंकाल संध्या वन्दनादि नित्य कर्म करते थे और राज्य कार्य को जाते समय कौतूहलवश वहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर मे उनकी प्रशान्त मुद्रा का दर्शन करके जाया करते थे[3]। एक दिन उस मन्दिर में चारित्रभूषण नाम के मुनि भगवान पार्श्वनाथ के सन्मुख 'देवागम स्तोत्र' का पाठ कर रहे थे। पात्रकेसरी सध्या वन्दनादि कार्य सम्पन्न कर जब वे पार्श्वनाथ मन्दिर मे आये, तब उन्होंने मुनि से पूछा कि आप अभी जिस स्तवन का पाठ कर रहे थे। क्या उसका अर्थ भी जानते है। तब मुनि ने कहा मैं इसका अर्थ नही जानता। तब पात्रकेसरी ने कहा, आप इस स्तोत्र का पुनः एक बार पाठ करे। मुनिवर ने उसका पाठ पुनः धीरे-धीरे पढकर सुनाया। पात्र केसरी की धारणा शक्ति बडी विलक्षण थी। उन्हें एक बार सुनकर ही स्तोत्रादि कंठस्थ हो जाया करते थे। अतः उन्हें देवागम स्तोत्र कंठस्थ हो गया। वे उसका अर्थ विचारने लगे। उससे प्रतीत हुआ कि भगवान ने जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप कहा है, वह सत्य है। पर अनुमान के सम्बन्ध मे उन्हें कुछ सन्देह हुआ। वे घर पर यह सोच ही रहे थे कि पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ। वह वहाँ आई और उसने पात्र केसरी से कहा कि आपको जैनधर्म के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है। आप इसकी चिन्ता न करे। कल आपको सब ज्ञात हो जावेगा। वहाँ से पद्मावतीदेवी पार्श्वनाथ के मन्दिर मे गई। और पार्श्वनाथ की मूर्ति के फण पर निम्न श्लोक अंकित किया।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

प्रातःकाल जब पात्र केसरी ने पार्श्वनाथ मन्दिर मे प्रवेश किया तब वहाँ उन्हे फण पर अंकित वह श्लोक दिखाई दिया। उन्होंने उसे पढकर उस पर गहरा विचार किया, उसी समय उनकी शंका निवृत्त हो गई। और ससार के पदार्थों से उसकी उदासीनता बढ़ गई। उन्होने विचार किया कि आत्म-हित का साधन वीतराग मुद्रा से ही हो सकता है। और वही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। जैनधर्म मे पात्रकेसरी की आस्था अत्यधिक सुदृढ हो गई। और उन्होने दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली। आत्म-साधना करते हुए उन्होने विभिन्न देशों में विहार किया और जैन धर्म की प्रभावना की।

पात्र केसरी दर्शनशास्त्र के प्रौढ विद्वान थे। उनकी दो कृतियो का उल्लेख मिलता है। उनमे पहला ग्रंथ त्रिलक्षण कदर्थन है। जिसे उन्होने बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रस्थापित अनुमान विषयक हेतु के त्रैरूपात्मक लक्षण का खण्डन करने के लिए बनाया था इससे हेतु के त्रैरूप्य का निरसन हो जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है किन्तु वह ग्रन्थ बौद्ध विद्वान शान्तिरक्षित और कमलशील के समय उपलब्ध था। और अकलंकदेवादि के समय भी रहा था। तत्त्वसंग्रहकार शान्तिरक्षित ने तो पृ० ४०४ में तो उसका खडन करने का प्रयत्न किया है। पात्रकेसरीने उक्त 'त्रिलक्षकदर्थन' में हेतु के त्रैरूप्य का युक्ति पुरस्सर खंडन किया था। इस कारण

---

१. हरिषेण कथा कोष।

२. विप्र वंशाग्रणी : सूरिः पवित्रः पात्र केशरी।
स जीयाज्जिन-पादाब्ज-सेवनैक मधुव्रतः॥
—सुदर्शन चरित्र

भूभृत्पदानुवर्ती सन् राजसेवापरांगमुखः।
सयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेशरी॥
—नगरतालुकशिलालेख

३. निवासे सारसम्पत्ते देशे श्रीमगधाभिधे।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरैर्नगरे वरे॥१८॥
पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः।
प्रान्तं राज्यं करोत्युच्चैर्विप्रैः पञ्चशतैर्वृतः॥१९॥
विप्रास्ते वेद वेदाङ्ग पारगाः कुलगर्विताः।
कृत्वा सन्ध्या वन्दनां द्वे सन्ध्या च निरंतरम्॥२०॥
—आराधना कथाकोष

यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण कृति था। आपकी दूसरी कृति बहुत छोटी सी 'जिनेन्द्र गुण संस्तुति' नाम की है। जिसका अपर नाम 'पात्र केसरी स्तोत्र' है। जो स्तुति ग्रंथ होते हुए भी उसमें दार्शनिक दृष्टि से अर्हन्त के विविध गुणों को अनेक युक्तियो से पुष्ट किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य पात्र केसरी अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे। शिला लेखों में सुमति या सुमतिदेव से पहले पात्र स्वामी का नाम आता है। उनका सबसे पुरातन लेख बौद्धाचार्य शान्तिरक्षित का समय (ई० ७०५-७६३) है। और कर्णगोमी का समय ईसा की ७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ८वीं का पूर्वार्द्ध है। अत: पात्र स्वामी का समय बौद्धाचार्य दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्ति रक्षित के मध्य होना चाहिए। अर्थात् पात्र स्वामी ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान होना चाहिए।

अहिच्छत्र का उत्खनन

अहिच्छत्र की खुदाई मे जो बहुमूल्य कलात्मक वस्तुएं प्राप्त हुई, उनमे मूर्तियाँ, मिट्टी के वर्तन, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, सभा मण्डप, स्तूप और अयाग पट आदि मिले है। सभा मन्दिर और मोहरों से भरा हुआ वर्तन भी मिला था। अनेक ताँबे के सिक्के भी मिले थे जो विभिन्न राजवंशों के थे। जिन्होंने अहिच्छत्र पर शासन किया है इससे स्पष्ट है कि अहिच्छत्र में जैन, बौद्ध, वैष्णव और शिव के मन्दिर रहे हैं। इन सभी धर्मों की मूर्तियां भी वहाँ मिली हैं। जो कला की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान हैं।

सन् १८९१-९२ के उत्खनन में डा० फुरहर को पार्श्वनाथ का एक मन्दिर मिला था, जिसकी तारीख कुशान काल की बतलाई गई है। और कई नग्न दिगम्बर मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं, जिनमे से कुछ पेर सन् ९३ से १५२ तक की तारीखें थीं। इसके उत्तर में एक छोटे मन्दिर के खडहर भी मिले थे। कटारी खेड़ा से कनिंघम को एक बहुत बड़ी नग्न जैन मूर्ति मिली थी। वहाँ डा० फुरहर को जो स्तम्भ मिला था उस पर निम्न लेख अंकित था[1]—**'महाचार्य इन्द्रनन्दि शिष्य पार्श्व पतिस्स कोट्टारी'** इसके अतिरिक्त छोटा पाषाण भी मिला था जिस पर नवग्रह बने हुए थे।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र प्राचीन काल से ही जैनों का केन्द्र रहा है। वह आज भी जैन तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध है। अनेक यात्री वहाँ दर्शन-पूजन के लिए पहुँचते है। वार्षिक मेला भी वहाँ लगता है।

१. एपि ग्राफिया इंडिका जिल्द १०, सन् १९०९-१० पृ० १०६-१२१ तथा गर्जेटियर १९१०, १९११। देखो अहिच्छत्रा पृ०

जैन दर्शन में आत्म-तत्त्व विचार

[पृष्ठ २४९ का शेषांश]

मगर विचार करने पर यह सिद्धान्त भी बालू की दीवार की तरह ढह जाता है। क्योकि व्यापक आत्मा शरीर के बाहर आज तक किसी भी योगी, महात्मा को दिखलाई नहीं दिया है। इसलिए निष्कर्ष यही निकला कि आत्मा स्वदेह परिमाण वाला है। स्वामी कार्तिकेय जी ने कहा भी है :—

लोय पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छिदे खेत्ते।
उग्गाहण-सत्ती दो संहरण विसप्प-धम्मादेण[1] ॥१७६

अर्थात् जीव लोक प्रमाण है और व्यवहार नय की अपेक्षा देह प्रमाण भी है क्योंकि इसमें संकोच विस्तार करने की शक्ति रहती है। इससे स्पष्ट है आत्मा देह प्रमाण है।

१. स्वामी का० अनु० गा० १०६

ध्यानशतक : एक परिचय

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ध्यानशतक—यह एक ध्यानविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भाषा उसकी प्राकृत व गाथासंख्या १०५ है। वह सुप्रसिद्ध हरिभद्र सूरि विरचित टीका के साथ श्री विनयभक्तिसुन्दरचरण ग्रन्थमाला द्वारा वि. सं. १९९७ में प्रकाशित हो चुका है। हरिभद्र सूरि ने उसे अपनी आवश्यकसूत्र की टीका मे पूर्णरूप से उद्धृत कर दिया है। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक के प्रकरण मे **'पडिक्कमामि तिहि सल्लेहि'** इत्यादि सूत्र के अन्तर्गत **'पडिक्कमामि चउहि झाणेहि—अट्टेणं झाणेणं रुद्देणं० धम्मेणं० सुक्केणं०'** इसकी वहा व्याख्या करते हुए उन्होने ध्यान के निरुक्तार्थ, काल, भेद और फल का निर्देश मात्र करते हुए यह कह दिया है कि 'यह ध्यान का समासार्थ है, उसका विस्तृत अर्थ **ध्यानशतक** से जानना चाहिए। वह यह है'—इतना कहते हुए उन्होंने उसे महान् अर्थ से गर्भित शास्त्रान्तर—एक पृथक् ही ग्रन्थ बतलाया है[1]।

ग्रन्थकार—यहां हरिभद्र सूरि ने उसके रचयिता के नाम आदि का कुछ निर्देश नही किया। श्री विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित उसके सस्करण मे उसे 'जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विरचित' निर्दिष्ट किया गया है, पर वहा इसका आधार कुछ नही बतलाया। इसी संस्करण के अन्त मे मुद्रित उक्त हरिभद्र सूरि विरचित वृत्ति के ऊपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा निर्मित टिप्पण[2] मे भी प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता आदि का निर्देश नही किया गया।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में एक गाथा (१०६) और भी उपलब्ध होती है, जिसमे यह सूचित किया गया है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मुनि जन के लिए कर्मविशुद्धयर्थ १०५ गाथाओं मे ध्यान का व्याख्यान किया है। श्री पं. दलसुख भाई मालवणिया की कल्पना है कि वह निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा रचा गया है[3]।

रचयिता उसका कोई भी रहा हो[4] पर ग्रन्थ की रचना सुव्यवस्थित व विषय का विवेचन उत्कृष्ट एवं असाम्प्रदायिक है—दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों मे वह प्रतिष्ठित रहा है। हरिभद्र सूरि ने जहां अपनी आवश्यकसूत्र की टीकामें उसे पूरा ही उद्धृत कर दिया है वहा षट्खण्डागम के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य वीरसेन ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामनिर्देश के बिना उक्त षट्खण्डागम के अन्तर्गत वर्गणा खण्ड मे कर्म अनुयोगद्वारगत तप:कर्म का व्याख्यान करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की लगभग ४१ गाथाओं को उद्धृत किया है[5]। वहा तपश्चरण का प्रकरण होने से उन्होने आर्त-

---

१. अथ ध्यानसमासार्थ:, व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेय:। तच्चेदम्—ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुत: शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह— (आव. सू. पूर्व भाग पृ. ५८२)

२. यह टिप्पण मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा हरिभद्र सूरि विरचित आवश्यकसूत्र की समस्त वृत्ति पर लिखा गया है, जो स्वतंत्र रूप मे देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत से मुद्रित हुआ है. (ई. १९२०)।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४, पृ. २५०-५१

४. तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ९वें अध्याय मे २७-४५ (श्वे. २७-४६) सूत्रो के द्वारा जो ध्यान का विवेचन किया गया है उसकी प्रस्तुत ग्रन्थगत उस ध्यान के विवेचन से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् उसके आधार से रचा गया है। कारण यह कि तत्त्वार्थसूत्र का प्रभाव इसके ऊपर स्पष्ट रहा दिखता है।

५. षट्खण्डागम पु. १३, पृ. ६४-७७.

रौद्र ध्यानो की उपेक्षा करके अधिकांश गाथायें धर्मध्यान प्रकरण की उद्धृत की हैं, कुछ गाथायें शुक्लध्यान प्रकरण की भी है। ध्यानशतक की जिन गाथाओं को षट्खण्डागम की उक्त टीका में उद्धृत किया गया है उनकी क्रमिक संख्या इस प्रकार है—

ध्यानशतक				धवला पु. १३ पृष्ठ	गा.
२	...	...	...	६४	१२
३९-४०	...	...	...	६६	१४-१५
३७	...	...	...	,,	१६
३५-३६	...	...	...	६६-६७	१७-१८
३८	...	...	...	६७	१९
४१	...	...	...	,,	२०
४२-४३	...	...	...	,,	२१-२२
३०-३४	...	...	...	६८	२३-२७
४५-४९	...	...	...	७१	३३-३७
५०	...	...	...	७२	३९
५१	...	...	...	,,	४१
५२-५६	...	...	...	७३	४३-४७
३४	...	...	...	७६	५१-५२
६६-६८	...	...	...	,,	५३-५५
९३	...	...	...	७७	५६
१०२	...	...	...	,,	५७

दोनों ग्रन्थगत इन गाथाओं मे जो थोड़ा सा शब्दभेद है वह प्रायः नगण्य है। जैसे—होज्ज=होइ, झाइज्जा=ज्झाएज्जो, पसम थेज्जाइ=पसमत्थेयादि; इत्यादि।

ग्रन्थ का विषय-परिचय

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता ने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप इंधन को भस्मसात् कर देने वाले योगीश्वर[1] वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए ध्यानाध्ययन के कहने की प्रतिज्ञा की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ध्यानाध्ययन रहा है। पर जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, हरिभद्र सूरि ने उसका उल्लेख 'ध्यानशतक' नाम से किया है।

ध्यानसामान्य का लक्षण व काल—यहाँ स्थिर अध्यवसान को—एकाग्रता का अवलम्बन लेने वाली मन की परिणति को—ध्यान कहा गया है। वह एक वस्तु-विषयक छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवो के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही हो सकता है, इससे अधिक काल तक वह नही हो सकता। इस स्थिर अध्यवसानरूप ध्यान को छोड़कर जो मन की चचलता होती है उसे चित्त कहा गया है जो भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता स्वरूप है। ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है। ध्यान से च्युत होने पर जो मन की चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा कहा गया है। भावना व अनुप्रेक्षा से रहित मन की प्रवृत्ति का नाम चिन्ता है।

केवलियो का ध्यान चित्त की स्थिरतारूप न होकर योगो के निरोधस्वरूप है और वह उन्ही के होता है, छद्मस्थों के नही होता।

छद्मस्थों के अन्तर्मुहूर्त के बाद या तो पूर्वोक्त चिन्ता होती है या फिर ध्यानान्तर होता है। ध्यानान्तर से यहाँ अन्य ध्यान का अभिप्राय नहीं रहा, किन्तु उससे भावना या अनुप्रेक्षारूप चित्त को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार का ध्यानान्तर उसके पश्चात् होने वाले ध्यान के होने पर ही सम्भव है। इस प्रकार बहुत—अन्यान्य—वस्तुओं के संक्रमण द्वारा ध्यान की परम्परा दीर्घ काल तक भी सम्भव है।

ध्यान के भेद—वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमे अन्तिम दो—धर्म और शुक्ल—ध्यान निर्वाण (मुक्ति) के साधक हैं और आदि के दो—आर्त और रौद्र—संसार के कारण है। यह सामान्य निर्देश है। विशेष रूप से आर्त ध्यान को तिर्यंचगति, रौद्रध्यान को नरकगति, धर्मध्यान को वैमानिक देवगति और शुक्लध्यान को सिद्धगति का कारण समझना चाहिए।

---

१. गाथोक्त 'जोईसर' शब्दका अर्थ हरिभद्रसूरि ने 'योगेश्वर योगीश्वरं वा' किया है। योगेश्वर के अर्थ को प्रगट करते हुए उन्होंने वीर को अनुपम योगो से प्रधान बतलाया है। तत्पश्चात् विकल्प रूप में 'योगीश्वर' को ग्रहण करते हुए उन्होंने उसके स्पष्टीकरण मे केवलज्ञानादि से योग (सम्बन्ध) करा देने वाले धर्म व शुक्ल ध्यानो से युक्त ऐसे योगियों से अथवा योगियों का ईश्वर बतलाया है।

आर्तध्यान—इसके चार भेदों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अनिष्ट इन्द्रियविषयों के वियोग का एवं भविष्य में उनके असंयोग का निरन्तर चिन्तन, शूल व शिरोरोगादि जनित वेदना के वियोग का एवं भविष्य में उनके पुनः उद्भूत न होने का चिन्तन, अभीष्ट इन्द्रिय-विषयों के सर्वदा बने रहने का चिन्तन, तथा इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की विभूति की प्रार्थना; यह सब आर्तध्यान है। वह राग, द्वेष व मोह से कलुषित रहने वाले प्राणियों के होता है जो तिर्यंचगति का प्रधान कारण होने से संसार का बढ़ाने वाला है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोग आदि के निमित्त से जो शोक व विलाप आदि होता है, ये उसके परिचायक लिंग है। वह अविरत—मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि, देशविरत (श्रावक) और प्रमादयुक्त सयत जीवों के होता है[1]। (गा. ५-१० व १८)

रौद्रध्यान—यह भी हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी के भेद से चार प्रकार का है[2]। रौद्रध्यानी प्राणी सदा क्रोध के वशीभूत होता हुआ निर्दयतापूर्ण अन्त करण से दूसरे प्राणियो के वध, बन्धन एवं जलाने आदि का चिन्तन किया करता है; वह धूर्तता से अपने पापाचरण को छिपाता हुआ अनेक प्रकार से असत्य, कठोर एव गर्हित आदि भाषण करता है; तीव्र क्रोध व लोभ से अभिभूत होकर निरन्तर दूसरे के द्रव्य के अपहरण का विचार करता हुआ उससे होने वाली नरकादि दुर्गति की ओर भी ध्यान नही देता तथा विषयो के साधनभूत धन के सरक्षण मे सदा व्यापृत रहता हुआ 'न जाने कौन कब क्या करेगा' इस प्रकार से शंकालु होकर सभी के धात का कलुषित विचार किया करता है। यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान चूंकि राग, द्वेष व मोह से मलिन जीव के होता है; इसीलिए वह नरकगति का मूल कारण होकर संसार का—जन्म-मरण की परम्परा का—बढ़ाने वाला है। रौद्रध्यानी निर्दय होकर दूसरो की विपत्ति में अकारण ही हर्षित होता है तथा इसके लिए वह कभी पश्चात्ताप भी नहीं करता। इसके अतिरिक्त वह स्वय पाप कार्य करके आनन्द का अनुभव करता है। (गा. १९-२४)

१. तुलनात्मक अध्ययनके लिए देखिये। त. सू. ९, २७-३४
२. त. सू. ९—३५.

धर्मध्यान—इसका विवेचन करते हुए यहाँ प्रथमतः दो गाथाओं (२८-२९) में भावना, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल; इन बारह द्वारों—उक्त धर्मध्यान के प्ररूपक अन्तराधिकारो—का निर्देश करते हुए उनको जानकर मुनि से उसके चिन्तन के लिए प्रेरणा की गई है। तत्पश्चात् इस धर्मध्यान का अभ्यास हो जाने पर ध्याता को शुक्लध्यान की ओर आकृष्ट किया गया है। आगे क्रमशः उक्त बारह द्वारों के अनुसार उस धर्मध्यान का विवेचन किया गया है।

१. भावना—भावनाओ के द्वारा धर्मध्यान का पूर्व में अभ्यास कर लेने पर ध्याता चूंकि ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है, इसीलिए उन भावनाओं का जान लेना आवश्यक है। वे भावनाएं चार है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य। ज्ञान (श्रुत) के अभ्यास से मन की प्रवृत्ति अशुभ को छोड़कर शुभ व्यापार में होती है तथा उसके आश्रय से जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध होता है, जिससे ध्याता स्थिरबुद्धि होकर ध्यान में प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान-भावना का प्रभाव है। जो सम्यक्त्व के अतिचार रूप शका-कांक्षा आदि दोषों से रहित होता हुआ प्रशमादि—प्रशम[3], सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—गुणों के साथ जिनशासनविषयक स्थिरता आदि गुणो से युक्त होता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है। इस विशुद्ध सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वह ध्यान के विषय मे निश्चल होता है। यह दर्शनभावना की महिमा है। चारित्र-भावना से—सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप चारित्र के अभ्यास से—नवीन कर्मों का अनास्रव (सवर) और पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा होती है, इससे ध्याता अनायास ही ध्यान को प्राप्त होता है। वैराग्यभावना से मन के सुवासित हो जाने पर जगत् के स्वभाव का ज्ञाता ध्याता विषया-

३. गाथोक्त (३२) 'पसम' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि ने प्रथमतः उसका सस्कृत रूप प्रश्रम' मानकर उसका अर्थ स्व-पर तत्त्व के अधिगमविषयक प्रकृष्ट खेद किया है, तत्पश्चात् विकल्प रूप मे 'प्रशम' संस्कृत रूप को ग्रहण करके उससे प्रकृत प्रशमादि पाँच गुणों का ग्रहण किया गया है।

नुराग से रहित, निर्भय और इस लोक व परलोक संबंधी आशंसा (अभिलाषा) से विहीन होता हुआ ध्यान में निश्चल होता है।

२. देश—ध्यान के योग्य स्थान वह होता है जहाँ युवती स्त्री, पशु, नपुसक और कुशील—जुवारी व शराबी आदि—जन का संचार न हो। यह अपरिपक्व ध्याता को लक्ष्य करके कहा गया है, किन्तु जो सहनन और धैर्य से बनिष्ठ होते हुए ज्ञानादि भावनाओ के व्यापार मे अभ्यस्त हो चुके है ऐसे मुनि जन के लिए ध्यान का कोई स्थान नियत नही है—उनके लिए जनसमुदाय से व्याप्त ग्राम और निर्जन वन मे कोई विशेषता नही है। तात्पर्य यह कि मन को स्थिर कर लेने वाले वैसे मुनि जन जिस किसी भी स्थान मे निश्चलतापूर्वक धर्मध्यान कर सकते है[1]। ध्याता के लिए जहाँ भी मन, वचन व काय योगो का स्वास्थ्य—स्वरूपस्थिति—सम्भव है वही स्थान ध्याता के लिए उपयुक्त होता है। इतना अवश्य है कि वह प्राणिहिंसा आदि से रहित होना चाहिए।

३ काल—इसी प्रकार काल भी ध्यान के लिए वह उत्तम माना गया है जिसमे उपर्युक्त योगो का समाधान प्राप्त होता है—उसके लिए दिन-रात आदि का कुछ नियम नही है।

४. आसन—यही बात आसन के विषय मे भी समझना चाहिए—पद्मासनादि रूप शरीर की जो अवस्था ध्याता के धर्मध्यान मे बाधक नही होती वही आसन ध्यान के लिए उचित माना गया है। विशेष इतना है कि उसमे भी योगो का समाधान होना चाहिए। अभिप्राय यही है कि ध्यान के लिये देश, काल और चेष्टा (आसनादि रूप शरीर की अवस्था) का कोई नियम नही है। इन सबमें केवल योगो का समाधान अभीष्ट है। कारण यह कि कैवल्य आदि की प्राप्ति का एक प्रधान कारण वही है।

५. आलम्बन—आगम से सम्बद्ध वाचना, प्रच्छना, परावर्तन और अनुचिन्तन ये तथा समीचीन धर्म से अनुगत सामायिक आदि ये सब धर्मध्यान के आलम्बन है। जिस प्रकार विषम स्थान के ऊपर चढ़ने के लिये लाठी या रस्सी आदि का सहारा लिया जाता है उसी प्रकार उत्तम ध्यान पर आरूढ़ होने के लिये उक्त वाचना आदि का आलम्बन लेना आवश्यक समझना चाहिए।

६. क्रम—ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम केवली के भवकाल मे—मुक्तिप्राप्ति के निकटवर्ती अन्तर्मुहूर्त में (शैलेशी अवस्था मे)—मनोनिग्रह आदि रूप है—प्रथमतः मनोयोग का निग्रह, पश्चात् वचनयोग का निग्रह और तत्पश्चात् काययोग का निग्रह करना है। केवली को छोड़कर अन्य ध्याता के जिस प्रकार से भी समाधान होता है उसे ही ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम जानना चाहिए।

७. ध्यातव्य—ध्यातव्य का अर्थ है ध्यान का विषय, जिसका कि उसमें चिन्तन किया जाता है। वह आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है[2]। आज्ञा के विषय मे ध्याता वह विचार करता है कि जिन भगवान् उस दीपक के समान है जो समीपवर्ती पदार्थों को बिना किसी भेदभाव के प्रकाशित करता है। दीपक से उनमे यह एक विशेषता भी है कि वे लोक मे वर्तमान सभी त्रिकालवर्ती पदार्थों को प्रकाशित करते है—उन्हे उदासीनभाव से केवल जानते-देखते है। इस प्रकार सर्वज्ञ व वीतराग होने के कारण वे तत्त्व का अन्यथा प्ररूपण नही कर सकते। इसीलिये उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुस्वरूप का जिनाज्ञा के आश्रय से उसी प्रकार का श्रद्धान करना चाहिए। यदि बुद्धि की मन्दता, उपदेशक आचार्य आदि के अभाव अथवा सूक्ष्म पदार्थों की दुरवबोधता के कारण जिज्ञासित पदार्थ का निर्णय नही होता है तो भी 'जिन भगवान् अन्यथा कथन करने वाले नही है' इस प्रकार की दृढ श्रद्धा के साथ उसे वैसा ही मानकर उसके विषय मे शका आदि से रहित होना चाहिए।

अपायके विषय मे ध्याता यह विचार करता है कि जो जीव राग, द्वेष एवं आस्रव आदि क्रियाओं मे प्रवृत्त रहते है वे इस लोक और परलोक दोनों लोकों मे दुःख भोगते है, इसीलिए आत्महितेच्छु के लिए उनका त्याग करना आवश्यक है।

---

१. आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः। एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥ (द्वात्रिंशतिका अमित. २५)

२. त. सू. ९-३६।

विपाक का अर्थ कर्मका परिपाक है। वह प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का है। इन चारों मे प्रत्येक शुभ व अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। यह कर्म का विपाक मिथ्यादर्शनादि के आश्रय से विविध प्रकारों मे परिणत होता है। इस प्रकार धर्मध्यान का ध्याता कर्मविपाक के विषय मे अनेक प्रकार से चिन्तन किया करता है।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) मे ध्याता धर्म व अधर्म आदि द्रव्यो के लक्षण, आकार, आधार, भेद और प्रमाण के साथ उनकी उत्पाद, स्थिति एवं भग (व्यय) रूप अवस्थाओं का भी विचार करता है[1]। साथ ही वह पंचास्तिकायस्वरूप अनादिनिधन व नाम-स्थापनादि रूप अनेक (८-९) भेदो मे विभक्त लोक का विचार करता हुआ उसमें अवस्थित पृथिवियो, वातवलयो, द्वीप-समुद्रों, नारक-बिलों, देवविमानों और भवनो आदि के आकार का विचार करता है। वह यह भी विचार करता है कि उप-योगस्वरूप जो जीव है वह अनादिनिधन, शरीर से भिन्न, अरूपी, कर्ता और अपने कर्म का भोक्ता है। अपने ही कर्म से निर्मित उसका ससाररूप समुद्र जन्म-मरणादिरूप अपरिमित जल से परिपूर्ण, मोहरूप आवर्तों (भँवरो) से सहित और अज्ञानरूप वायु से प्रेरित सयोग व वियोग रूप लहरों से व्याप्त है। उससे पार कराने मे समर्थ वह चारित्ररूप विशाल नौका है जिसका बन्धन सम्यग्दर्शन और कर्णधार (नाविक या मल्लाह) सम्यग्ज्ञान है। इसी चारित्ररूप नाव पर चढ़कर मुनिजनरूप व्यापारी निर्वाणरूप नगर को प्राप्त हुए है।

८ **ध्याता**—उक्त धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादो से रहित व ज्ञानरूप धन से सम्पन्न क्षीणमोह (क्षपक) और उपशान्तमोह (उपशामक) मुनि माने गये है। ये ही धर्मध्यान के ध्याता पूर्व दो शुक्लध्यानों—पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार—के भी ध्याता हैं। विशेष इतना है कि वे अतिशय प्रशस्त संहनन (प्रथम) से युक्त होते हुए चौदह पूर्वों के धारक होते है[1]। अन्तिम दो शुक्लध्यानो—सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति और व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती—के ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते है।

९ **अनुप्रेक्षा**—जिस मुनि ने पूर्व मे धर्मध्यान के द्वारा अपने अन्तःकरण को सुवासित कर लिया है वह धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन मे निरत होता है।

१०. **लेश्या**—धर्मध्यानी के क्रम से विशुद्धि को प्राप्त होने वाली तीव्र-मध्यमादि भेदयुक्त पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याये हुआ करती है।

११. **लिंग**—धर्मध्यान का परिचायक लिंग जिन-प्ररूपित पदार्थों का श्रद्धान है जो आगम (सूत्र), उपदेश—सूत्र के अनुसार कथन, आज्ञा (अर्थ) और निसर्ग (स्वभाव) से होता है। प्रकृत धर्मध्यानी जिन-साधुओ के गुणों का कीर्तन—सामान्य से उल्लेख—और उनकी भक्ति-पूर्वक प्रशसा करता हुआ विनय और दान से सम्पन्न होता है। साथ ही वह सामायिकादि बिन्दुसार पर्यन्त श्रुत, व्रतादि के समाधानस्वरूप शील और सयम मे रत रहता है।

१२. **फल**—पुण्य का आस्रव, सवर, निर्जरा और देवसुख की प्राप्ति यह सब शुभानुबन्धी उस धर्मध्यान का फल है[2]। इस प्रकार उपर्युक्त बारह द्वारो के समाप्त हो जाने पर धर्मध्यान का कथन समाप्त होता है।

शुक्लध्यान—'शोधयति अष्टप्रकार कर्ममल शुचं व क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो ज्ञानावर-

१. यहा टीकाकार हरिभद्र सूरि ने धर्माधर्मादि द्रव्यो की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपता को सिद्ध करते समय प्रमाण के रूप मे "घट-मौलि-सुवर्णार्थी ..." आदि जिन दो कारिकाओं को उद्धृत किया है वे आप्त-मीमांसा की ५९-६० सख्या की कारिकाये है। ये दोनो कारिकाए उक्त हरिभद्र सूरि के शास्त्रवार्ता-समुच्चय (७, २-३) मे भी समाविष्ट है।

१. यहा (६४) हरिभद्रसूरि ने गाथोक्त 'पूर्वधर' विशेषण अप्रमाद वालो (अप्रमत्तो) का बतलाया है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होने यह कहा है कि इस प्रकार से उक्त आदि के दो शुक्लध्यान माष-तुष मरुदेवी आदि अपूर्वधरों के भी घटित होते हैं।

२. इस फल का निरूपण यहा न करके आगे शुक्लध्यान के प्रकरण में (गा. ९३) किया गया है।

णादि रूप आठ प्रकार के कर्म-मल को शुद्ध करता है अथवा शोक को दूर करता है उसका नाम शुक्लध्यान है। इस शुक्लध्यान की प्ररूपणा मे भी वे ही बारह द्वार हैं जिनका निरूपण धर्मध्यान में किया जा चुका है। उनमे भावना, देश, काल और आसनविशेष इनकी प्ररूपणा धर्मध्यान के ही समान हैं—उससे कुछ विशेषता नही है—इसीलिये इनका निरूपण यहा फिर से नहीं किया गया है।

आलम्बन—क्रोध, मान, माया और लोभ के परित्यागस्वरूप, क्रम से क्षान्ति, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये प्रकृत शुक्लध्यान के आलम्बन है; जिनके आश्रय से मुनि उस पर आरूढ होता है।

क्रम—प्रथम दो शुक्लध्यानो के क्रम का कथन धर्मध्यान के प्रकरण मे किया जा चुका है (४४)। विशेषता यहां यह है कि छद्मस्थ (अल्पज्ञ) ध्याता तीनों लोको को विषय करन वाले मन को क्रम से—प्रतिवस्तु के परित्याग रूप परिपाटी से—परमाणु मे सकुचित करके अतिशय निश्चल होता हुआ शुक्लध्यान का चिन्तन करता है। तत्पश्चात् प्रयत्नपूर्वक मन को उससे भी हटाकर अमन (मन से रहित) जिन होता हुआ अन्तिम दो शुक्लध्यानों का ध्याता होता है। उनमे भी शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान का ध्याता होता है। और शैलेशी अवस्था मे अन्तिम व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का ध्याता होता है। उक्त छद्मस्थ ध्याता तीनों लोको के विषय करने वाले मन को किस प्रकार से परमाणु में संकुचित करता है और तत्पश्चात् उससे भी उसे कैसे हटाता है, इसे निम्न दो-तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मान्त्रिक सब शरीर मे व्याप्त विच्छू आदि के विष को मत्र द्वारा डंक (भक्षणस्थान) मे रोकता है और तत्पश्चात् अतिशय प्रधान मत्र के योग से उसे डक से भी दूर कर देता है उसी प्रकार तीनों लोको के विषय करने वाले मन रूप विष को ध्यान रूप मत्र के सामर्थ्य से जिनदेव रूप वैद्य उसे परमाणु में स्थापित करता है और तत्पश्चात् उससे भी उसे हटा देता है। अथवा जिस प्रकार ईंधन के समूह को क्रम से हटाने पर अग्नि अल्प मात्रामें शेष रह जाती है और अन्त में थोड़े से शेष रहे ईंधन के भी हट जाने पर वह पूर्णतया बुझ जाती है इसी प्रकार प्रकृत मन के विषय में भी समझना चाहिये। इसी प्रकार क्रम से वचनयोग का और काययोग का भी निरोध कर के शैलेश—पर्वतो के स्वामी मेरु—के समान स्थिर होकर शैलेशी[1] केवली हो जाता है।

ध्यातव्य—पूर्वगत श्रुत के अनुसार अनेक नयों के आश्रय से उत्पाद, स्थिति और भंग (व्यय) आदि पर्यायों का जो अणु आदि रूप एक द्रव्य मे चिन्तन होता है यह पृथक्त्ववितर्क सविचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान है। वह राग परिणाम से रहित (वीतराग) के होता है। अर्थ (द्रव्य), व्यजन (शब्द) और योग इनके सक्रमण—अर्थ से व्यंजन व व्यंजन से अर्थ आदि के परिवर्तन—का नाम विचार है। इस विचार से सहित होने के कारण इसे सविचार कहा गया है (७८)। जो चित्त (अन्तःकरण) वायुविहीन दीपक के समान अतिशय निश्चल रहकर पूर्वोक्त उत्पादादि पर्यायो मे से किसी एक ही पर्याय को विषय करता है। वह पूर्वोक्त विचार से रहित होने के कारण एकत्ववितर्क-अविचार (द्वितीय) शुक्लध्यान कहलाता है[2] (८०)। यह भी पूर्वगत श्रुत के अनुसार होता है। निर्वाणकाल मे कुछ योगों का विरोध करने वाले—मन व वचन योगों का पूर्णतया निरोध करके आधे काययोग का भी निरोध कर देने वाले—केवली के तीसरा—सूक्ष्म क्रिया-अनिवर्ती—शुक्लध्यान होता है। उस समय केवली के उच्छ्वास-निःश्वास रूप सूक्ष्म काय की क्रिया रह जाती है। वे ही केवली योगों का पूर्ण रूप से निरोध हो

---

१. शैलेशी का अर्थ हरिभद्र सूरि ने कुछ प्राचीन गाथाओं के आधार से अनेक प्रकार किया है। जैसे—१ शैलेश (मेरु) के समान जो स्थिरता को प्राप्त हो चुका है उसे शैलेशी कहा जाता है, २ शैल के समान स्थिर (अडिग) ऋषि शैलर्षि (प्रा. सैलेसी) कहलाता है, ३ सैव अलेश्यी=सैलेशी, अर्थात् लेश्या से रहित वही केवली, यहां 'अ' का लोप हो गया है, ४ शील का अर्थ सर्वसंवर है, उसका जो ईश (स्वामी) हो चुका है वह शीलेश या शैलेशी है।

२. त. सू. ६, ४१-४४।

जाने पर जब शैल (पर्वत) के समान स्थिर होकर शैलेशी भाव को प्राप्त हो जाते हैं तब उनके व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती (अनुपरत स्वभाववाला) नाम का चौथा परम शुक्लध्यान होता है।

उक्त चार शुक्लध्यानों मे प्रथम—पृथक्त्ववितर्क-सविचार शुक्लध्यान—मन आदि एक योग मे अथवा सभी योगों में होता है। दूसरा—एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान—तीन योगो मे से किसी एक ही योग वाले के होता है, क्योकि इसमे योगसंक्रमण का अभाव हो चुका है। तीसरा—सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती शुक्लध्यान—एक काययोगमे ही होता है, अन्य किसी योगमे नही होता है। चौथा —व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान काययोग का भी पूर्णतया निरोध कर देने वाले अयोगकेवली के होता है[1] (८३)।

यहाँ यह शका हो सकती थी कि केवली के जब मन नष्ट हो चुका है तब उनके अन्तिम दो शुक्लध्यान कैसे सम्भव है, क्योकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है। इसके समाधान रूप मे यहाँ यह कहा गया है कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन को ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है। कारण यह कि योगसामान्य की अपेक्षा मनयोग और काययोग मे कुछ विशेषता नही है।

इस पर पुनः यह शका उपस्थित हो सकती थी कि अयोगकेवली के तो काययोग का भी निरोध हो चुका है, फिर ऐसी अवस्था मे उनके चौथा शुक्लध्यान कैसे माना जा सकता है? इसके समाधान मे कहा गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक[2] घूमने के निमित्तभूत दण्ड के अलग कर देने पर भी पूर्व के प्रयोग से घूमता रहता है उसी प्रकार केवली के मन आदि योगों का अभाव हो जाने पर भी उपयोग के सद्भाव मे भावमन के रहने से केवली के भी ध्यान सम्भव है। दूसरा हेतु कर्मनिर्जरा दिया गया है; जिसका अभिप्राय है यह कि निर्जरा का कारण जब ध्यान है तब उस कर्मनिर्जरा के होने से उसके कारणभूत ध्यान को उनके मानना ही चाहिये। तीसरा हेतु शब्द की अर्थबहुलता है। तदनुसार शब्द के अनेक अर्थ सम्भव होने से यहां ध्यान शब्द का काययोग के निरोध रूप अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अन्तिम (चौथा) हेतु जिनागम है, जिसका अभिप्राय यह है कि ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के सद्भाव के विषय मे आगम को प्रमाणभूत मानना चाहिए।

अनुप्रेक्षा—जिसका अन्तःकरण शुक्लध्यान से सुवासित हो चुका है वह ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी चारित्र से सम्पन्न ध्याता आस्रवद्वाराऽपाय, संसाराऽशुभानुभाव, अनन्त भवसन्तान और वस्तुओ का विपरिणाम; इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है।

लेश्या—आदि के दो शुक्लध्यानो के समय सामान्य से शुक्ललेश्या और तीसरे मे परम शुक्ललेश्या रहती है। चौथा शुक्लध्यान लेश्या मे रहित है।

लिंग—अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये उस शुक्लध्यान के लिंग—अनुमापक हेतु है; जिनसे यह जाना जाता है कि मुनि का चित्त शुक्लध्यान मे निरत है। शुक्लध्यानी परीषहो व उपसर्गों के द्वारा न ध्यान से विचलित होता है और न भयभीत होता है, यह अवध लिंग है। वह सूक्ष्म पदार्थों के विषय मे व अनेक प्रकार की देवमाया मे सम्मोह को प्राप्त नही होता। वह आत्मा को शरीर आदि से भिन्न देखता है, यह विवेक लिंग है। तथा वह शरीर और अन्य बाह्य उपधि का परित्याग करता है, यह उसका व्युत्सर्ग लिंग है[3]।

फल—धर्मध्यानके फलरूप मे जिन शुभ आस्रव आदि का निर्देश पूर्वमे(देखो पीछे पृ.२७५)किया गया है वे उनकी प्राप्ति अनुत्तर विमानवासी देवो के सुख की प्राप्ति, यह

[शेष टाइटिल पेज ३ पर]

१. त. सू. ९–४०।

२. त. सू. १०–७ मे इसका दृष्टान्त मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन को सिद्ध करते हुए दिया गया है।

३. त. सू. ९–२६ मे अभ्यन्तर तप के भेदभूत व्युत्सर्ग तप के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—बाह्योपधि-व्युत्सर्ग और अभ्यन्तर-उपधिव्युत्सर्ग। इनमें बाह्य-उपधिव्युत्सर्ग मे धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह का त्याग तथा अभ्यन्तर-उपधिव्युत्सर्ग मे कषायो व शरीर का त्याग अभिप्रेत रहा है (स. सि. ९-२६ व त. भा. ९-२६)।

साहित्य-समीक्षा

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम खण्ड) लेखक एवं निर्देशक आचार्य हस्तीमल जी, प्रकाशक जैन इतिहास समिति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभंडार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर - पृष्ठ संख्या ७३३, मूल्य सजिल्द प्रति का २५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ जैन धर्म के मौलिक इतिहास का तीर्थंकर नाम का प्रथम खण्ड है। इसमे २४ तीर्थङ्करो का इतिवृत्त श्वेताम्बरीय आगम साहित्य के आधार पर दिया गया है। *श्वेताम्बर साहित्य मे उक्त सम्बन्ध मे जो* सामग्री मिलती है उसे इस ग्रंथ मे सुन्दर ढंग से सजोया गया है। ग्रन्थ मे यथा स्थान मतभेदो और दिगम्बर मान्यताओ का निर्देश किया है। लेखन शैली मे कही भी कटुता और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उभार नही होने पाया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अपनी बात और सम्पादकीय मे अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओ का स्पष्टीकरण कर दिया है। भगवान महावीर के निर्वाण समय तक का इतिवृत्त इस ग्रंथ मे अंकित किया गया है। ग्रन्थ के आधे भाग मे ऋषभदेवादि तेईस तीर्थंकरो का जीवन परिचय संक्षिप्त एव सरल रूप मे जीवन घटनाओ के साथ दिया गया है। और शेष आधे भाग मे भगवान महावीर का जीवन परिचय अनेक घटनाक्रमो के साथ निबद्ध है। तीर्थंकरो के जीवन परिचय लिखने मे बहुत कुछ सावधानी वर्ती गई है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन परिचय तुलनात्मक रूप मे दिया गया है। जैन और जैनेतर ग्रथो के आधार पर तीर्थंकर अरिष्ट नेमि की वशावली भी दी है। तीन परिशिष्ट भी दिये है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। उसमे गति एवं प्रवाह है।

आगमिक टीकाकारों ने 'अचेल' शब्द का जो अर्थ अल्पमूल्य वाले जीर्ण-शीर्ण वस्त्र दिया है वही अर्थ इस ग्रन्थ मे भी दिया गया है। टीकाकारो के समय मे उनके संभवतः सम्प्रदाय के सब मुनि वस्त्र धारण करते थे। अतः वे अचेलक का अर्थ नग्न कैसे कर सकते थे? जब महावीर का अचेलक धर्म सचेल बन गया, तब भगवान पार्श्वनाथ का सान्तोत्तर धर्म महामूल्यवान वस्त्र धारण करने वाला हो गया इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है? सवस्त्र मान्यता के समर्थन मे केशी गौतम सवाद की भी कल्पना की गई है। केशी ने गौतम का पचयाम तो स्वीकृत कर लिया परन्तु वस्त्र का परित्याग करना स्वीकार नही किया। ऐसी स्थिति मे अचेल का वह साम्प्रदायिक अर्थ उचित ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को तो अविवाहित माना है और पार्श्वनाथ तथा महावीर को विवाहित स्वीकृत किया है। जब कि पांचो ही तीर्थंकर कुमार अवस्था मे दीक्षित हुए है। कुमार शब्द का प्रसिद्ध अर्थ कुमारा ही है किन्तु कुमार शब्द का अर्थ युवराज स्वीकृत कर पार्श्वनाथ और महावीर को तो विवाहित घोषित कर दिया। भले ही कुमार शब्द का उक्त अर्थकर समवायाग तथा ठाणांग सत्रो और आवश्यक निर्युक्ति से विरुद्ध पडता हो। क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति की गाथा २५१ मे स्पष्ट लिखा है कि कुमार अवस्था मे दीक्षा धारण करने वाले महावीर, अरिष्ट, नेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पांच तीर्थंकरो को छोडकर शेष १९ तीर्थंकरो ने ही विषयो का सेवन किया है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरो मे महावीर के विवाह सम्बन्ध की दो मान्यताए है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे वासुपूज्य, मल्लि, नेमि और पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान को बाल ब्रह्मचारी और कुमार काल मे दीक्षित माना गया है। इसका उल्लेख भी किया है। परिशिष्टों में तीर्थ करो को लेकर विविध मान्यता भेद श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर चार्टों द्वारा प्रदर्शित किये है, जो बहुत उपयोगी है। सम्पादक मण्डल की शैली प्रशसनीय है। पुस्तक पठनीय और सग्राह्य है। कागज, छपाई, बाइंडिंग और प्रकाशन सभी आकर्षक और सुन्दर है। —परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त के २४वें वर्ष की वार्षिक विषय-सूची

[पृष्ठ २७७ का शेषांश]

प्रथम दो—शुक्लध्यानों का सल है। अन्तिम दो शुक्ल-ध्यानों का फल मोक्ष की प्राप्ति है। चिरसंचित कर्मरूप ईधन को भस्मसात् करने का उपाय यह ध्यानरूप अग्नि ही है, इस बात को यहां अनेक उदाहरणों (९७—१०२) द्वारा पुष्ट किया गया है। अन्त में ऐहलौकिक फल का भी निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसका चित्त ध्यान मे मग्न है वह ईर्ष्या, विषाद व शोकादिरूप मानसिक दुःखों से तथा शीत व आतप आदि शारीरिक दुःखों से भी सक्लेश को प्राप्त नही होता (१०३-४)। इस प्रकार वह अतिशय प्रशस्त ध्यान चूंकि दृष्ट व अदृष्ट सुख का साधक है, इसीलिए यहां (१०५) उसके श्रद्धान करने व चिन्तन करने की प्रेरणा दी गई है।

□□□

R. N. 0591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो का सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ . अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।